

वे तालपञ्चविंशतिका

(कथासरित्सागर एवं बृहत्कथामंजरी के अनुवाद)

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

स्वराज संस्थान संचालनालय
मध्यप्रदेश

वे तालपञ्चविंशतिका

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

© प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण 2012

वि.सं. 2069

संपादन

श्रीराम तिवारी

मूल्य :

आवरण :

माध्यम

प्रकाशक

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

स्वराज संस्थान संचालनालय

मध्यप्रदेश

1, उदयन मार्ग, उज्जैन - 456 010

मुद्रक :

पंचायतीराज मुद्रणालय, उज्जैन



सम्राट् विक्रमादित्य सम्बन्धी 'वेताल पच्चीसी' जन-जन में बहुलोकप्रिय पुस्तक है। इसका मूल विक्रमादित्य से एक शताब्दी बाद की प्राकृत पुस्तक बृहत्कथा में मिलता है। बाद में हुए संस्कृत रूपान्तरों में भी यह विद्यमान है। विभिन्न भाषाओं में भी उसके अनेक रूपांतर मिलते हैं। मूल संस्कृत पाठ के साथ इसका हिन्दी अनुवाद भी सुधिजनों की सुविधा के लिए दिया जा रहा है।

आशा है यह वेतालपंचविंशतिका पुस्तक जिज्ञासुओं के लिए प्रेरणा एवं आनन्द का स्रोत बनेगी।

(लक्ष्मीकांत शर्मा)

मंत्री

संस्कृति, जनसम्पर्क, उच्च शिक्षा,
तकनीकी शिक्षा एवं प्रशिक्षण
धार्मिक न्यास और धर्मस्व
मध्यप्रदेश

पूर्वरङ्ग

विक्रमादित्य भारतीय अस्मिता का आदर्श है। उसकी कथाएँ गुणादय की बृहत्कथा के परवर्ती संस्कृत रूपांतरों में प्राप्त होती हैं। उन कथाओं में वेतालपंचविंशति सर्वाधिक लोकप्रिय है। उन कथाओं में सामाजिक, नैतिक या ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न समस्याओं का समाधान दिया गया है। प्रश्नोत्तर की परंपरा भारतीय परंपरा में पुरातन काल से रही है। प्रश्नोपनिषद् प्रसिद्ध है ही। भगवद्गीता या पुराणों में भी जिज्ञासा की शांति के कथात्मक प्रयास हैं। महाभारत के यक्षप्रश्न या पालि के मिलिन्दपञ्चो में सीधे-सीधे प्रश्नोत्तर हैं। परन्तु वेतालपंचविंशति में प्रश्न कथात्मक हैं और उत्तर एकदम सीधे-सादे सटीक सतर्क। इस प्रकार यह एकदम विपरीत स्थिति है। ऐसा प्रतीत होता है कि हर कथा एक केस डायरी है और उस पर न्यायाधीश विक्रमादित्य तत्काल देश-कालोचित फैसला सुना देता है। त्वरित और विवेकपूर्ण न्याय का यह आदर्श है। इन प्रश्नकथाओं का आधुनिक विधि के संदर्भ में विधिवेत्ताओं द्वारा निष्पक्ष और गहन विश्लेषण होने से इनकी प्रासंगिकता को रेखांकित किया जा सकता है।

1. विक्रमादित्य का सभारत्न वेतालभट्ट था। वेतालभट्ट का 'नीतिप्रदीप' छोटी-सी नीतिपरक रचना है। यह सम्भव है कि इस वेतालपञ्चविंशति का रचयिता भी वेतालभट्ट हो और ऐसी अनोखी रचना का कर्ता विक्रमादित्य का सभारत्न हो, यह भी सम्भव है। वेतालपंचविंशति की चिरकाल से ही लोकप्रियता बढ़ती ही गयी। इसके संस्कृत सहित भारतीय विभिन्न भाषाओं में अगणित रूपांतर हुए हैं। यही नहीं मंगोली, तिब्बती, नेवारी (नेपाली) आदि में भी रूपांतर (कल्चरल हेरिटेज आव इंडिया, भाग-1, पृ. 723-728) प्राप्त होते हैं।

बारहवीं सदी के शिवदास की वेतालपंचविंशतिका गद्य-पद्य में है। जम्भालदत्त की पुस्तक गद्य में है (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1952)। एक अज्ञात लेखक ने भी संस्कृत गद्य में इसकी रचना की है। वल्लभदेव ने इसे संक्षेप में प्रस्तुत किया है। क्षेत्रिय भाषाओं में तो भारत भर में अगणित रूपों में इसे प्रस्तुत किया जाता रहा और किया जाता है।

इसका नायक बहुधा संस्करणों में उज्जैन का राजा विक्रमादित्य बताया गया है। कहीं इसे धार का राजा बताया जाता है। कथासरित्सागर में इसका नाम त्रिविक्रमसेन बताया गया है जो प्रतिष्ठान का राजा था। परन्तु वहाँ कथा के अंत में बताया गया है कि उज्जैन का राजा विक्रमादित्य इस त्रिविक्रमसेन का ही पूर्वजन्म का नाम था। दोनों का

लक्ष्य म्लेच्छों को नष्ट करना रहा। दोनों के एकीकरण के श्लोक इस प्रकार हैं -

त्वमादौ विक्रमादित्यः सृष्टोऽभूः स्वांशतो मया ।

म्लेच्छरूपावतीर्णानामसुराणां प्रशान्तये ॥

अद्य चोद्दामदुर्वृत्तदमनाय मया पुनः ।

त्वं विक्रमसेनाख्यो हीरः सृष्टोऽत्र भूपतिः ॥12/32/33-34

विक्रमादित्य की उपाधि या नाम परवर्ती काल में धारण करते लोगों की ओर भी यह स्पष्ट संकेत है। ये विद्रोहियों-दुष्टों के विनाशक होते रहे।

2. भविष्योत्तरपुराण के अनुसार विक्रमादित्य जैसा ही राजा चन्द्रगुप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त स्वयं विक्रमादित्य नहीं था। विभिन्न पुराणों में गर्दभिल्ल राजा तथा उसके वंशजों की चर्चा पायी जाती है। यह उल्लेखनीय है कि गर्दभ के मुखौटा वाला प्राचीन सिक्का उज्जैन जिले के महिदपुर के अश्विनी संग्रह में विद्यमान है। भविष्यपुराण में 'प्रमर' या परमार राजवंश की सूची में गन्धर्वसेन के पुत्र विक्रम का उल्लेख हुआ है। दसवीं-ग्यारहवीं शती के 'नवसाहसांकचरित' में भी ऐसा ही उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती विभिन्न चारण-भाटों की परमार या पँवार वंशावलियों में विक्रमादित्य के नाम पाये जाते हैं।

द्वारपाल अथवा शव पर अधिकार रखने वाला भूत वेताल कहलाता है। वेताल का भक्त जादूगर वैतालिक कहलाता है। वैतालिक शब्द भाट या चारण अर्थ में अधिक प्रचलित है। बड़ई को भी वैतालिक कहते थे। उज्जैन पर वेताल परम्परा के राजाओं का भी राज्य रहा। इसी विरोध के कारण प्रद्योत के एक पुत्र कुमारसेन की महाकाल के समक्ष तालजंघ ने हत्या कर दी थी। ऐसे वेतालों की परम्परा के आतंकी अग्निवेताल को विक्रमादित्य ने वश में कर लिया था।

भविष्यपुराण में भी वेतालपंचविंशतिका विद्यमान है। कथासरित्सागर की अपेक्षा बृहत्कथामंजरी में यह कथा संक्षिप्त है और भविष्यपुराण में इससे भी संक्षिप्त है। और उसमें वेताल भूत नहीं, ब्राह्मण है जो राजाओं को राजसभा में कथा सुनाकर उत्तर पूछता है। उसमें कथाओं को बहुधा वैदिक परम्परा की पोषक भी बताया गया है। विक्रमादित्य-सभा का एक रत्न कवि वेतालभट्ट 'वेतालपंचविंशति' में वेताल (भूत रूप में कथा कहता है और वह जगत्प्रसिद्ध हो गयी। विक्रमादित्य सभा के ही एक दूसरे रत्न कालिदास का 'मेघदूत' भी यक्ष (भूत) द्वारा गायी गयी गाथा है। विद्वानों-रसिकों में

मेघदूत लोकप्रिय हुआ और वेताल कथा सब लोगों में जैसी लोकप्रिय हुई वैसी अन्य कोई पुस्तक नहीं।

वेतालपंचविंशतिका के विभिन्न रूप विभिन्न भाषाओं में प्रायः एक सहस्राब्दी से प्रचलित हैं। प्रथम शताब्दी की वड्ढकहा के तीन संस्कृत रूपांतर ही अब सुलभ हैं जो नौवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के हैं। उनमें से नौवीं शती का रूपांतर अत्यन्त संक्षिप्त होने से उसमें वेतालपंचविंशतिका नहीं है। परन्तु शेष दोनों में है। वे मूल कथाएँ भविष्यपुराण में भी प्राप्त होती हैं। अतः सभी मूल कथाएँ एकत्र एक ही पुस्तक में आ जाने से स्रोत सामग्री के रूप में अध्येताओं के लिए उनकी महत्ता बढ़ जाती है जिससे मूल कथाओं और परवर्ती कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन हो सके। पौराणिक मूल कथा का अलग प्रकाशन होना है। पाठकों की सुविधा के लिए मूल संस्कृत के साथ ही उसका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। परिशिष्ट में बृहत्कथामंजरी और कथासरिसागर के लम्बकों का तुलनात्मक क्रम भी दे दिया गया है।

स्वराज संस्थान के संचालक श्रीराम तिवारीजी का मैं आभारी हूँ जिनकी उदारता के कारण ही यह प्रकाशन शीघ्र हो पाया है। सुन्दर और शीघ्र मुद्रण के लिए पंचायती राज मुद्रणालय के श्री उपाध्याय जी का मैं आभारी हूँ।

- भगवतीलाल राजपुरोहित

कथासरित्सागर

वेतालपञ्चविंशतिका

उन विघ्नविजेता गणेशजी की जय हो जिनके नर्तन के समय हाथों के टकराने से आकाश से पुष्पवर्षा के समान तारावली (तारों की कतार) गिर जाती है।

तब रात बिताकर सुबह वन से प्रचण्डशक्ति आदि सचिवों के साथ मृगांकदत्त रवाना हुआ। वह मृगांकदत्त शशांकवती के लिए शेष मन्त्रियों को खोजते हुए उज्जयिनी की ओर गया। उसने जाते हुए मार्ग में मन्त्री विक्रमकेसरी को देखा जिसे आकाश में एक बहुत भोण्डा आदमी उठाकर ले जा रहा था। जब तक वह अन्य मन्त्रियों को दिखाए तब तक हड़बडाता हुआ वह मन्त्री आकाश से उसके पास उतर पड़ा। उस पुरुष के कन्धे से उतर कर पास आकर उसने आँखों में आँसू भरकर मृगांकदत्त के पैर पकड़ लिये। प्रसन्न होकर क्रमशः वह सब मन्त्रियों के गले मिला और 'याद करने पर मेरे पास आना' यह कहकर उस आदमी को छोड़ दिया। तब मृगांकदत्त ने कौतुक से उससे पूछा तो वन में बैठकर विक्रमकेसरी ने अपना विवरण कहा (2-8)।

आपके नागशाप से छूटकर घूमता-घामता बहुत दिनों तक मैं आपके बारे में सोचता रहा कि उज्जयिनी जाता हूँ। वहाँ वे निश्चय ही पहुँचते होंगे। यह तय कर मैं उस नगरी की ओर प्रस्थित हुआ। क्रमशः उसके पास ब्रह्मस्थल नामक गाँव पहुँचकर बावड़ी के किनारे एक वृक्ष के तने से टिककर बैठ गया। वहाँ आकर सर्पदंश से दुःखी एक वृद्ध ब्राह्मण मुझसे बोला - हे पुत्र! यहाँ से मत उठना, वरना मेरे जैसी हालत हो जाएगी। यहाँ एक महासर्प है। उसने मुझे काट लिया है। उस रोग से व्यथित होकर मैं इस विशाल बावड़ी में कूद मरने को तैयार हूँ। यह कहने वाले उसे कृपा कर देह त्याग से रोका और मैंने वहीं उस ब्राह्मण को विष विद्या से निर्विषकर दिया (9-14)। तब उस ब्राह्मण ने मुझसे बड़े आदर के साथ साग्रह पूरी बात पूछी और पूरी बात जानकर बड़े प्रेम से इस प्रकार बोला - हे श्रेष्ठ वीर आपने मुझे प्राण प्रदान किये इसलिए यह वेताल साधन मन्त्र ले लो। इसे मैंने पिता से प्राप्त किया था। तुम्हारे जैसे शक्तिशाली इसकी सिद्धि करने में उपयुक्त हैं। मेरे जैसे कायर इसका क्या कर पाते ? उसके यह कहने पर उस ब्राह्मणों में उत्तम को मैंने उत्तर दिया - मृगांकदत्त से बिछड़ा मैं वेतालों का क्या करूँगा ? यह सुनकर हँसते हुए वह ब्राह्मण मुझसे फिर इस प्रकार बोला - क्या तुम जानते नहीं कि वेताल से

समस्त मनचाहा पाया जा सकता है ? वेताल की कृपा से प्राचीन काल में क्या राजा त्रिविक्रमसेन ने विद्याधर का ऐश्वर्य नहीं प्राप्त कर लिया था ? (15-20) और वह कथा मैं तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो। गोदावरी नदी के किनारे प्रतिष्ठान नामक देश है। वहाँ पहले कभी विक्रमसेन का इन्द्र के समान पराक्रमी और यशस्वी त्रिविक्रमसेन नामक पुत्र था। प्रतिदिन राजसभा में आकर उन राजा की सेवा में क्षान्तिशील नामक भिक्षु फल भेंट करता था। वह राजा भी वह फल लेकर निकटवर्ती कोषागार के अधिकारी के हाथ में दे देता था। इस प्रकार दस बरस बीतने पर एक बार राजा को फल देकर भिक्षु के राजसभा से जाने पर उस राजा ने वह फल भाग्य से वहाँ रक्षकों के हाथ से छूट कर आये खेत के बन्दर के बच्चे को दे दिया। बन्दर वह फल खाने लगा तो उस फल में से उत्तम बहुमूल्य रत्न निकल आया। यह देखकर वह लेकर राजा ने उस भण्डारी से पूछा - भिक्षु के लाये फल जो मैंने नित्य तुम्हारे हाथ में दिये, उन्हें तुमने प्रतिदिन कहाँ रखा ? यह सुनकर डरकर कोषाध्यक्ष ने उसे बताया - वे तो मैंने गोखड़े से पेटी खोलकर उसमें डाल दिये। हे देव यदि आदेश दें तो उसे खोलकर खोज करूँ। यह कहा तो राजा की अनुमति से उसी समय जाकर उस कोषाध्यक्ष ने फिर जाकर स्वामी को बताया। खजाने में सूखे-बिखरे वे फल तो नहीं दिखाई देते परन्तु स्वामी किरणों की ज्वाला से भरा रत्नों का समूह दिख रहा है। यह सुनकर वे मणियाँ राजा ने सन्तुष्ट होकर कोषरक्षक को प्रदान कीं। दूसरे दिन पहले के समान आये उस भिक्षु को राजा ने पूछा - हे भिक्षो, धन का व्यय करके तुम मेरी सेवा क्यों कर रहे हो ? जब तक नहीं बताआगे तब तक अब फल नहीं लूँगा। राजा ने यह कहा तो राजा को भिक्षु ने एकान्त में कहा - वीर की सचिवता की अपेक्षा से मैं मन्त्रसाधन कर रहा हूँ। हे वीरेन्द्र उसमें आपकी सहायता चाहता हूँ। यह सुनकर राजा ने उसे स्वीकृति दे दी (21-36)। तब सन्तुष्ट होकर श्रमण ने उस राजा को फिर कहा - "तो आगामी कृष्ण चतुर्दशी के दिन संध्या के समय यहाँ के महाश्मशान के वट वृक्ष के नीचे मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगा। हे देव वहीं मेरे पास आवें।" राजा ने कहा - "ठीक है ऐसा ही करूँगा।" तब वह क्षान्तिशील श्रमण प्रसन्न होकर अपने निवास स्थान पर चला गया। इसके बाद वह महाबली कृष्ण चतुर्दशी आने पर उस भिक्षु की प्रार्थना पूरी करने की बात याद करते हुए राजा के प्रदोष के समय काले कपड़े पहनकर सिर पर तमाल (सांप्रदायिक तिलक) लगाकर हाथ में तलवार लेकर गुप्त रूप से राजधानी से निकल पड़ा। और घोर सघन अन्धकार में व्रत से मलीन चिताग्नि के उग्र नयन ज्वाला से भीषण दर्शन वाले,

असंख्य नर कंकाल, कपालादि की हड्डियों से विशाल, आसपास प्रसन्न ऊँचे ऊँचे भूत, वेताल से घिरे भैरव के अन्य रूप के समान गम्भीर भीषण, सियारों की महाध्वनियाँ जहाँ आ रही हैं ऐसे श्मशान में निश्चल हो पहुँचा (37-44)। यहाँ वट वृक्ष के नीचे खोजा तो वह भिक्षु मिल गया। वह मण्डल का न्यास कर रहा था। उसने पास में जाकर कहा - “हे भिक्षो यह मैं आ गया। बोल तेरे लिए क्या करूँ?” यह सुनकर प्रसन्न होकर भिक्षु ने राजा को देखकर उसे कहा - “हे राजन् आप कृपा करना चाहते हैं तो यहाँ से दक्षिण की ओर मुख करके दूर अकेले जाने पर एक अकेला शीशम के पेड़ पर कोई एक मरा आदमी लटका हुआ है। जाकर उसे यहाँ मेरे पास ले आओ वीर। यह सुनकर ‘ठीक है’ यह कहकर सत्यवादी वह वीर राजा दक्षिण दिशा की ओर चला गया। जलती चिता के मण्डल से दिखाई देते मार्ग से उसने जाकर अन्धकार में किसी तरह वह शीशम का पेड़ पा लिया। उसके स्कन्ध (भड़ या तने) पर चिता के धुएँ से जले दुर्गन्धी शव को पेड़ पर भूत के समान लटका हुआ देखा (59)। पेड़ पर चढ़कर उसने रस्सी काट दी और भूमि पर उसे गिरा दिया। गिरते ही वह अचानक चीखा मानो व्यथित हो गया हो। तब उतरकर दया करके उसमें जीव की आशंका से राजा ने उसके शरीर का स्पर्श किया तो उस शव ने अट्टहास किया। तब राजा ने उसे वेताल वाला मानकर ‘हँसता क्या है, आ चलें।’ निडर यह कहा तब तक तो धरती पर वेताल सहित वह शव दिखाई नहीं दिया और देखा कि वहाँ वृक्ष पर वह लटका हुआ है। तब फिर से ऊपर चढ़कर उसे उतारा। वीरों का चित्त रूपी रत्न वज्र से भी नहीं टूटता है। वेताल सहित उस शव को कन्धे पर डालकर वह त्रिविक्रमसेन राजा प्रस्थान करने लगा तो चलते चलते कन्धे पर पड़े उस शव में विद्यमान वेताल बोला- “हे राजन् मार्ग के मनोविनोद के लिए तुझे एक कहानी सुनाता हूँ। सुन (52-58)।”

तरंग - 8

वेताल-1

शिवजी की निवास स्थली वाराणसी नामक एक नगरी है। पुण्यवानों द्वारा सेवित कैलास पर्वत की मानो भूमि हो। पास ही प्रचुर जल से भरी हुई गंगा उसकी माला सी स्थायी बनी रहती है। प्राचीन काल में उसमें प्रताप मुकुट नामक राजा था जिसने अपनी प्रताप की आग से विपक्ष के कुल का वन जला दिया था। उसका पुत्र वज्रमुकुट था जिसने रूप से कामदेव का और वीरता से शत्रुओं का गर्व चूर कर दिया। उस राजकुमार का शरीर से भी बढ़कर मित्र अत्यन्त मेधावी बुद्धिशरीर नाम का था जो मन्त्री का पुत्र था।

उस मित्र के साथ खेलता हुआ वह राजकुमार किसी समय शिकार के प्रसङ्ग से बहुत दूर चला गया। अपने तीरों से सिंहरों के अमाल वाले सिर काटता जा रहा था मानो वीरता की लक्ष्मी के वे चँवर हों। उस कामदेव के सभामण्डप में कोयल बन्दिनी कीर्तिपाठ कर रही थी। वृक्ष अपनी मंजरियों के डोलते चँवरों से उपकार या सेवा कर रहे थे (59-66)।

मन्त्री का पुत्र उसके पीछे-पीछे आ रहा था। उसने एक तालाब देखा। विचित्र कमलों की उत्पत्ति के धाम दूसरे सागर के समान था वह। तभी उसमें स्नान के लिए कोई दिव्य आकार की कन्या सेवक-सेविकाओं सहित आयी। मानो अपने लावण्य से सरोवर को भर रही हो। दृष्टिपात से मानो वहाँ नया नया नीलकमल वन रच रही हो। चन्द्रमा को जीतने वाले अपने मुख से कमलों को पराजित कर रही थी। उसने उसी पल उस राजकुमार का चित्त चुरा लिया। उस युवक ने भी उस राजकुमारी के नयनों को इस तरह आकर्षित कर लिया जैसे उस कन्या ने उसे न देखा हो, जैसे अपने अलंकरण लज्जा को न देखा हो। उस युवक के देखने पर साथी सहित ‘यह कौन हो सकती है’ स्वदेश आदि कहने के लिए विलास के बहाने इशारा किया। पुष्प के सेहरे से नीलकमल लेकर कान में लगाने लगी और बहुत देर तक वह लेकर दाँतों को सिंगारती रही (67-73)। बहाने से सिर पर कमल और हृदय पर हाथ रखा। पर राजकुमार उसके उस इशारे को समझ नहीं पाया। परन्तु उसका बुद्धिमान मित्र मन्त्रीपुत्र समझ गया। थोड़ी देर में अनुचरों द्वारा ले जाती हुई वह कन्या चली गयी। घर पहुँचकर पलंग पर उसने अपना शरीर डाला परन्तु चित्त अपने इशारे के लिए उस राजकुमार में अटका था। विद्या से भ्रष्ट विद्याधर के समान वह राजकुमार भी अपनी नगरी में पहुँचकर उस सुन्दरी के बिना दीन दशा में पहुँच गया। उस मित्र मन्त्री पुत्र ने तब एकान्त में पूछा तो उस दुर्लभ कन्या की बात करते हुए वह धीरे-धीरे बोलता - जिसका न नाम, न ग्राम, न वंश ज्ञात है। वह कैसे प्राप्त हो कि मुझे तुम झूठे ही ढाढस दे रहे हो (74-79)।

राजकुमार ने यह कहा तो मन्त्रीपुत्र ने उसे कहा - क्या तुमने वह नहीं देखा जो उसने इशारे से बताया? कान में नीलकमल रखकर उसने बता दिया कि कर्णोत्पल राजा के देश में मैं रहती हूँ। उसने दंतरचना की। उसके द्वारा उसने बता दिया कि वहाँ मुझे दंतघाटक की पुत्री समझना। उसने पद्म चोटी में लगाकर बता दिया कि उसका नाम पद्मावती है। हृदय पर हाथ रख कर उसने कह दिया कि प्राण तुममें ही हैं। कलिंगदेश में राजा कर्णोत्पल विख्यात है। उसका कृपा पात्र महान् दन्तघाटक (दाँत बनाने वाला) है।

उसका नाम संग्रामवर्धन है। उसकी तीनों लोकों की रत्न पद्मावती नाम की प्राणों से अधिक प्रिय कन्या है। हे देव यह सब मुझे लोगों से ऐसा ही ज्ञात हुआ। इसलिए मुझे उसके देश आदि बताने वाले सङ्केत ज्ञात हो गये। मन्त्रिपुत्र के यह कहने पर राजकुमार उस बुद्धिमान पर प्रसन्न हुआ कि उसे उपाय मिल गया। उसके साथ विचार विमर्श करके वह उसके साथ अपने घर से शिकार के बहाने प्रिया के लिए उसी दिशा में चल पड़ा। और आधे मार्ग में वायुवेग से चलने वाले घोड़े से सैनिकों को धोखा देकर केवल मन्त्रिपुत्र के साथ उस कर्लिंग प्रदेश में पहुँच गया (80-89)। वहाँ वे दोनों कणोत्पल राजा के नगर में पहुँचकर उस दन्तघाटक का भवन खोजकर उसे देखकर उसके पास ही निवास के लिए वे दोनों - मन्त्रिपुत्र और राजकुमार एक वृद्ध नारी के घर में गये। दोनों घोड़ों को जौ-पानी देकर गुप्त स्थान पर वहीं रखकर राजकुमार के सामने उस वृद्धा को मन्त्रिपुत्र ने कहा - माताजी क्या दन्तघाटक संग्रामवर्धन को जानती है? यह सुनकर वह वृद्धा नारी श्रद्धा सहित उससे बोली - जानती ही हूँ। मैं उसकी अपनी बेटी पद्मावती की धाय हूँ। क्योंकि मैं जेठी (वरिष्ठ) हूँ। अतः उसकी बेटी के पास मुझे अब रखा गया है। परन्तु कपड़े नहीं होने से मैं वहाँ हमेशा नहीं जाती। मेरा कुपुत्र चोर है। वह मेरे कपड़े देखते ही चुरा लेता है। यह कहने पर अपने उत्तरीय आदि देकर उसे सन्तुष्ट किया। फिर उस मन्त्रीपुत्र ने उससे कहा - हे माता आपसे एक गुप्त बात बताते हैं, वह हमारे लिए कर दो। दन्तघाटक की बेटी पद्मावती को जाकर कह दो कि तुमने तालाब पर जिस राजकुमार को देखा था उसने प्रेम से तुझे बताने के लिए मुझे भेजा है (90-98)।

तब पैसे देकर बस में की गयी वह वृद्धा यह सुनकर 'ठीक है' कहकर थोड़ी देर में पद्मावती के पास जाकर आ गयी। पूछने पर उसने राजकुमार और मन्त्रिपुत्र को कहा - चुपके से जाकर मैंने तुम्हारे आने की बात बतायी। सुनते ही उसने भला बुरा कहकर दोनों हाथों से मुझे पीटा- वे हाथ कपूर से भरे थे और मेरे मुख के दोनों गण्ड (कनपटी सहित गाल) पर उसने वे ठोक दिये। तब अपमान से उखड़ी-उखड़ी रोती हुई मैं यहाँ आ गयी। पुत्रो देखो मेरे मुख पर उसकी अँगुलियों की छाप। उसके ऐसा कहने पर राजकुमार निराशा से दुःखी हो गया। तब महामेधावी उस मन्त्रिपुत्र से उसे एकान्त में कहा - दुःखी मत हो क्योंकि रहस्य की रक्षा करने के लिए भला बुरा कहकर उसने इसके मुख पर कपूर से श्वेत दस अँगुलियाँ छाप दीं। तो उसने यह कह दिया कि इस शुक्ल पक्ष में चन्द्र वाली इरिमा दस रातों तक प्रतीक्षा कर। इनमें मिलना अनुचित है। इस प्रकार राजकुमार को उस

मन्त्रिपुत्र ने आश्वासन दिया। फिर हाथ का थोड़ा स्वर्ण बाजार में बेचकर उस वृद्धा द्वारा बढ़िया भोजन बनवाया। तब उस वृद्धा सहित उन दोनों ने भोजन किया। इस प्रकार दस रातें बिताकर जानने के लिए फिर से पद्मावती के पास उस वृद्धा को मन्त्रिपुत्र ने भेजा। वह भी बढ़िया खाने पीने के लोभ में उसके आग्रह से उसके घर जाकर वापस लौटी और बोली (99-109)।

यहाँ से जाकर मैं चुप रही। मैंने तुम्हारी कथा के अपराध की बात कही। फिर उसने स्वयं तेल भरी तीन अँगुलियाँ मेरी छाती पर मार दीं और यह मैं उसके पास से यहाँ आ गयी। यह सुनकर उस राजकुमार को मन्त्रिपुत्र ने स्पष्ट कहा - ऐसी वैसी शंका मत करो। इसके हृदय पर उसने तेल की तीन अँगुलियों की छाप द्वारा तरकीब बता दिया कि मैं तीन रात तक रजस्वला हूँ। राजकुमार को यह कहकर तीन दिन बाद मन्त्रिपुत्र ने उस वृद्धा को फिर पद्मावती के लिए पहुँचाया। वह उसके घर गयी। उसने आदर के साथ भोजन कराया। प्रेम से खिलाने पिलाने के खेलों द्वारा दिन भर मनोविनोद किया। शाम को जब उस वृद्धा ने घर आना चाहा तब तक बाहर भयंकर कोलाहल होने लगा। लोगों की चिल्लाहट सुनाई दे रही थी - हाय हाय यह मदमत्त हाथी खूँटे से छूट कर लोगों में भगदड़ मचाता भाग रहा है (110-117)। तब उस पद्मावती ने स्पष्ट रूप से उस वृद्धा से कहा - हाथी से रुके मार्ग से तेरा जाना ठीक नहीं। इसलिए सहायता की रस्सी से बाँधकर पीठ पर चढ़ाकर इस बड़ी खिड़की से तुझे यहाँ गृहोद्यान में फेंक देते हैं। तब पेड़ पर चढ़कर इस परकोटे को पारकर अन्य वृक्ष से उतरकर अपने घर चली जा। यह कहकर उसने खिड़की से उस बुढ़िया को सेविकाओं द्वारा बगीचे में फेंकवा दिया, जिसकी पीठ रस्सी से बँधी थी। फिर जैसा बताया, उस मार्ग से जाकर सब जैसा का तैसा राजकुमार और मन्त्रिपुत्र को बता दिया (118-122)।

तब वह मन्त्रिपुत्र उस राजकुमार से बोला - तेरा लक्ष्य सिद्ध हो गया। तरकीब से उसने मुझे मार्ग भी बता दिया। तो आज ही शाम के समय राजा के आने के समय इसी मार्ग से उस प्रिया के घर में घुस जा। यह कहा तो उसके साथ राजकुमार उस उद्यान में पहुँचा और वृद्धा ने बतलाया, उस परकोटे के मार्ग से गया। और वहाँ देखा कि पटिये सहित रस्सी लटकी हुई है। मार्ग की ओर देखती हुई सेविकाओं ने ऊपर रखी पीठिका वाली रस्सी लटका दी थी। वह चढ़ा तो उस रस्सी को दासियों ने देखते ही जल्दी से ऊपर खींच लिया और उस बड़े गोखड़े से वह प्रिया के पास पहुँच गया। उसके पहुँचने पर वह

मन्त्रिपुत्र वापस अपने स्थान पर चला गया और उस राजकुमार ने वहाँ उस पद्मावती को देखा जिसका मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसा था जिससे कान्ति की ज्योत्सना फैल रही थी। मानो कृष्णपक्ष के डर से पूर्णिमा की रात छिप कर बैठी हो। उसने भी उसे देखकर उठकर चिर काल की उत्सुकता के अनुरूप गले मिलना आदि उपचारों से मान दिया (130)। तब वह राजकुमार इच्छापूर्ण होते ही प्रिया के साथ छिपकर गान्धर्व विधि से वहाँ रहा। कुछ दिन रहकर रात में उस प्रिया से कहा - मन्त्रिपुत्र मेरा मित्र भी यहाँ आया ठहरा है। वह तेरी जेठी धाय के घर अकेला ठहरा है। जाकर उससे मिलकर हे छरहरी फिर तेरे पास आ जाऊँगा। यह सुनकर उस धूर्ता पद्मावती ने अपने प्रिय को कहा - अरे आर्यपुत्र मैं इशारे पूछती हूँ जो मैंने आपको किये थे। उन्हें तुम समझे थे या तुम्हारा मित्र वो मन्त्रिपुत्र। उसके ऐसा कहने पर वह राजपुत्र बोला (131-135)। मुझे कुछ भी समझ में नहीं आये। वे सब उसने समझकर मुझे बताये। वह मन्त्रीपुत्र दिव्यज्ञान से सम्पन्न है। यह सुनकर सोच कर ही वह स्त्री उससे बोली - यह तो बिल्कुल गलत किया कि यह सब बताने में तुमने इतनी देर कर दी। जो तुम्हारा मित्र है वह मेरा भाई है। उसका तो मुझे सबसे पहले ताम्बूल (पान) आदि से सदा सम्मान करना चाहिए। यह कहते हुए उसी पहले वाले मार्ग से वह राजकुमार अपने सखा को रात में ले आया। और बातचीत में प्रिया के सामने उसने वह सब बता दिया कि जो उसे संज्ञा (इशारे) का विज्ञान बताया। वह मन्त्रिपुत्र होने से उस पर श्रद्धा नहीं बना पायी। तब तक रात की सुबह हो गयी। इसके बाद इन दोनों की बात करते हुए सांध्य विधि पूर्ण कर ली तो पद्मावती की सखी पकवान और ताम्बूल हाथ में लेकर आ गयी (136-142)। उसने कुशल पूछकर मन्त्रिपुत्र से औपचारिकता निभाई, तरकीब से वहाँ राजकुमार के भोजन का निषेध करने के लिए। बातचीत के दौरान भोजन आदि में अपनी प्रतीक्षा करती स्वामिनी की बात और उसके आगमन की बात बताकर थोड़ी देर में चुपचाप वहाँ से चली गयी। तब उस राजकुमार से मन्त्रिपुत्र ने कहा - हे देव देखो अब आपको मैं एक कौतुक (तमाशा) बताता हूँ। यह कहकर खाने के पकवान में से एक कुत्ते को दिया तो वह खाते ही मर गया। यह देखकर उस राजकुमार ने पूछा - यह कैसी विचित्र बात है ! तब मन्त्रिपुत्र ने उसे यह उत्तर दिया (147)।

तुममें अनुरक्ता उस कामिनी ने संज्ञा ज्ञान (सङ्केत ज्ञान) के कारण मुझे धूर्त समझ कर, मुझे मारने की इच्छा से उसने मेरे लिए विषैला भोजन भेजा। इसके रहते राजकुमार

केवल मेरे अधीन नहीं रह सकता। इसकी अधीनता से मुझे मुक्त कर अपनी नगरी को चले जाएँ। इसलिए महात्मा बन्धु त्याग से उस पर क्रोध मत करो। इसलिए आप अपहरण की तरकीब करो। वह मैं सोचकर बताता हूँ। ऐसा कहते हुए उस मन्त्रिपुत्र की राजकुमार प्रशंसा करने लगा - सचमुच तू बुद्धिशरीर ही है। वह निःशंक था। तब तक बाहर दुःख से व्यथित जनता की आवाज सुनाई दी - हाय हाय धिक्कार है। राजा का बच्चा बेटा मारा गया, आपदा में पड़ गया। तब यह सुनकर प्रसन्न होकर मन्त्रिपुत्र ने राजकुमार को कहा - अरे आज रात में पद्मावती के घर जाओ। वहाँ उसे तब तक पिलाओ जब तक पीने के नशे से बेसुध होकर चेष्टा रहित निष्प्राण सी न हो जाए। तब उस सोती हुई की कमर में आग से तपे सूर्य से दाग देकर और उसके आभरणों की राशि लेकर उस गवाक्ष (बड़े गोखड़े) से रस्सी के सहारे निकलकर आ जाओ। इसके बाद जो भला हो वह मैं बताऊँगा। यह कहकर गोद में बच्चा लिए के समान त्रिशूल उस राजकुमार को दे दिया। तब राजकुमार ने कान्ता और मित्र के चित्त के समान लोहे से बने दृढ़, कुटिल और कर्कश त्रिशूल को हाथ में लेकर 'ठीक है' कहकर पहले के समान रात में पद्मावती के घर चला गया। अपने पवित्र मन्त्री की बात पर स्वामी विचार नहीं करते। वहाँ मदिरा से बेहोश उस पद्मावती के जाँघ पर त्रिशूल से निशान बनाकर अलंकारों को लेकर उसके घर से वह मित्र के पास आ गया (160)। आकर सब गहने बताकर वह सब कह दिया जो उसने किया। तब उस मन्त्रिपुत्र ने भी माना कि मनचाहा हो गया। प्रातः श्मशान में जाकर उसने तपस्वी का वेश धारण कर लिया और राजपुत्र को मनचाहा शिष्य बना लिया और उससे कहा कि यहाँ से इन अलंकारों में से यह मोतियों की माला लेकर तुम बाजार में बेचने जाओ। मूल्य इतना अधिक बताना कि कोई इसे ले न सके। और ले जाते हुए इसे हर कोई देख भी ले। यदि नगर रक्षक तुझे पकड़ लें तो दृढ़ता से कहना कि मुझे यह बेचने के लिए गुरुजी ने दी है। यह कहकर भेजा तो वह राजकुमार बाजार में पहुँचकर मोतियों का हार लेकर दिखाता हुआ, घूमने लगा। ऐसा होने पर उसे देखकर नगर रक्षकों ने पकड़ लिया जो दन्तघाटक की बेटी सूचना पर चोर की खोज कर रहे थे। उसी समय वे उसे नगराध्यक्ष के पास ले गये और उसने भी इसे तपस्वी वेश में देखकर सान्त्वना देते हुए पूछा - हे भगवन् यह मोतियों का हार कहाँ से हरण किया गया ? रात में दन्तघाटक की कन्या के गहने चोरी हो गये हैं (161-169)। यह सुनकर तपस्वी वेश वाले राजकुमार ने उससे कहा - मुझे गुरुजी ने दी। इसलिए उनसे ही पूछिये। तब उसके पास आकर प्रणाम करते

हुए नगराध्यक्ष ने पूछा - भगवन् तुम्हारे शिष्य के हाथ में यह मोतियों का हार कहाँ से आया। यह सुनकर सबको हटाकर अकेले में उस धूर्त ने कहा - “ मैं तपस्वी हूँ। जंगलों में सदा इधर उधर जाता रहता हूँ। ऐसे में भाग्य से इस श्मशान में रात में ठहरा था। देखा कि इधर उधर योगिनी-समूह आया है। उनमें एक योगिनी ने आकर हृदय कमल खोलकर राजकुमार समर्पित कर दिया भैरव को। मदिरापान से मदमत्त वह तप करने वाले मुझसे रुद्राक्ष की माला छीनने लगी। वह महामाया मुख पर अनेक विकार कर रही थी। जोर जबरदस्ती करने लगी तो मैंने उसकी जाँघ पर क्रोधित होकर मंत्र से जलते त्रिशूल से निशान बना दिया। तभी उसके गले से मैंने यह मुक्तावली छीन ली। तपस्वी के लिए अयोग्य होने से उसे ही मैं बेच रहा हूँ।” यह सुनकर नगर के अध्यक्ष ने जाकर राजा के बताया। राजा ने भी उस मोती की माला को वही समझकर देखने के लिए भेजी गयी विश्वसनीय वृद्धा स्त्री ने आकर बताया कि उसकी जाँघ पर शूल का निशान दिखाई देता है यह सच है, यह सुनकर उसे निश्चय हो गया कि मेरे बेटे को इस डाकन ने ही पकड़ा है। राजा ने स्वयं जाकर मन्त्रीपुत्र तपस्वी से पूछकर उसकी बात पर उस पद्मावती को गिरफ्तार कर लिया। माता-पिता चिन्ता करते रहे और उसे नगर से बाहर निकाल दिया। भगाने के बाद जंगल में रहते हुए निन्दित होने पर भी वह मरी नहीं। मन्त्री पुत्र ने तब उसके लिए यह उपाय किया। शाम के समय जब वह विचार कर रही थी तब तपस्वी का वेश त्यागकर वे मन्त्रीपुत्र और राजकुमार पहुँचे। उसे आश्वासन दिया। घोड़े पर बिठाया और उसे अपने देश ले गये। उसके साथ सन्तुष्ट होकर वह राजकुमार रहने लगा (170-184)।

दन्तघाटक ने भी मान लिया कि जंगल में बेटा को हिंसक जंतु खा गये होंगे। उसने आत्महत्या कर ली और उसकी पत्नी भी उसके पीछे मर गयी।

यह कहकर उस राजा को वेताल से फिर कहा - तो इसमें मेरी यह शंका दूर कर कि इन पति-पत्नी के वध का पाप मन्त्रीपुत्र को लगा कि राजकुमार को लगा कि यह पद्मावती को लगा ? तू बुद्धिमानों में श्रेष्ठ है राजन्। जानते हुए भी यदि तू मुझे नहीं बताएगा तो निश्चय ही फूटकर तेरे इस सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे। वेताल ने यह कहा तो शाप के डर से उसे समझते हुए त्रिविक्रमसेन राजा ने यह उत्तर दिया - हे योगेश्वर यह स्पष्ट कि इनमें तीनों में से किसी का भी दोष नहीं है। वह पाप तो कर्णोत्पल का है। वेताल ने भी राजा से कहा - राजा कैसे कारण हुआ। कारण है तो वे तीनों हैं। हंस धान खा जाएँ

तो कौओं का क्या अपराध ? तब राजा ने उससे कहा कि उन तीनों का कोई दोष नहीं है। मन्त्री का पुत्र स्वामी का काम कर रहा था। अतः पापी नहीं। पद्मावती और राजकुमार काम से आहत होने से उनमें सोच समझ नहीं थी। स्वार्थ में थे तो दोष नहीं। राजा कर्णोत्पल नीतिशास्त्र का ज्ञाता नहीं है। अपनी प्रजा में गुप्तचरों द्वारा वास्तविकता खोजते हुए यह धूर्त के चरित, संकेत आदि न जान पाने से उसने बिना विचार जो किया इसलिए वह पापी है। यह सुनकर मौन तोड़कर राजा ने ठीक उत्तर दे दिया है - माया बल से उसके कन्धे से दृढ़तापूर्वक मनुष्य के शरीर में बैठा वह वेताल अतर्क्य स्थान पर कहीं चला गया। अविचलित राजा ने उसे फिर पाने का निश्चय किया (185-196)।

महाकवि श्री सोमदेव भट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक की अष्टम तरंग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-9

वेताल -2

तब उस वेताल को लाने के लिए वह राजा त्रिविक्रमसेन शीशम वृक्ष के पास फिर पहुँचा। रात में चिता के प्रकाश के कारण वह वहाँ मिल गया। तब तक देखा कि वह शव भूमि पर कूजन कर रहा है। उसके बाद मृत शरीर में स्थित उस वेताल को यह महामति कन्धे पर उठाकर लाने के लिए चुपचाप तेजी से खाना हुआ। तब कन्धे से वह वेताल फिर उस राजा से बोला - हे राजन् आप इस महान् और अनुचित कष्ट में पड़ गये हो। इसलिए आपके मनोरंजन के लिए एक कथा कहता हूँ, सुनो। यमुना नदी के किनारे ब्रह्म स्थल नामक एक अग्रहार (दान का गाँव) है। वहाँ अग्नि स्वामी नामक वेद पारंगत एक ब्राह्मण था। उसकी अति रूपवती 'मन्दारवती' नामक कन्या हुई (1-6)। जिसका निर्माण करके निश्चय ही विधाता ने अपने ही स्वर्ग सुन्दरियों के निर्माण पर निश्चय ही घृणा की होगी। जब वह युवती हुई तो कान्यकुब्ज से वहाँ तीन ब्राह्मण पुत्र आये जो समस्त गुणों में एक समान थे। उनमें से एक एक ने अपने लिए वह कन्या उसके पिता से माँगी। प्राण जाने पर भी किसी अन्य को वह न देता हुआ पिता ने उनमें से किसी एक को भी नहीं दी। अन्य दोनों से वध से डरा था। अतः वह कन्या ही बनी रहे (10)। और वे तीनों भी उस कन्या के मुखचन्द्र पर नजर गढ़ाये चकोर का व्रत पालन करते हुए रात दिन वहीं रहने लगे। तब अचानक दाहज्वर के कारण उस मन्दारवती की मृत्यु हो गयी। तब वे ब्राह्मण पुत्र उसकी मृत्यु के दुःख से व्यथित होकर सजाधजा कर उसे श्मशान ले गये और अग्नि

में मिला दिया। उनमें से एक ने वहीं छोटा मठ (मठिका) बना लिया, उसकी भस्म पर ही सोता रहा और बिना माँगी भिक्षा से पेट पालता रहा। दूसरा उसकी हड्डियाँ लेकर गंगाजी चला गया। तीसरा तपस्वी होकर परदेस घूमता रहा। घूमता हुआ वह तपस्वी वक्रोलक नामक गाँव पहुँचा। वहाँ किसी ब्राह्मण का अतिथि बनकर घर में गया। उस ब्राह्मण ने इसकी पूजा की और जब तक भोजन आरम्भ करे तब तक वहाँ एक शिशु रोने लगा। वह चुप कराने का प्रयास करने पर भी चुप न हुआ तो क्रोध से हाथों में उठाकर गृहिणी ने उसे जलती अग्नि में फेंक दिया। कोमल शरीर का वह बच्चा फेंकते ही भस्म हो गया। यह देखकर रोमांचित होकर वह अतिथि तपस्वी बोला - धिक्कार है मुझे कि मैं ब्रह्म राक्षस के घर में आ गया। यह तो साक्षात् पाप (अपराध) है। अब मैं यहाँ अन्न नहीं खाऊँगा। वह ऐसा कहने लगा तो वह गृहस्थ बोला - पढ़कर सिद्ध किये मेरे मंत्र की मृतजीवनी शक्ति देखो। यह कहकर उस मंत्र-पुस्तिका को लेकर उसका पाठ करके उस भस्म में अभिमंत्रित धूल उसने फेंकी। उससे उसी रूप वाला वह बालक जीवित होकर उठ खड़ा हुआ। तब सन्तुष्ट होकर उस विप्र-तापस ने वहाँ भोजन किया। उस गृहस्थ ने भी उस पुस्तिका को खूँटी पर रख दिया। भोजन करके रात में उसके साथ ही वह तापस भी सो गया। गृहपति के सो जाने पर बेधड़क उठकर उस शंका करते हुए तपस्वी ने वह पुस्तिका ले ली, प्रिया को जीवित करने के लिए (11-25)।

लेते ही निकलकर रात दिन चलता हुआ वहाँ पहुँचा जिस श्मशान में उसकी प्रिया जली थी। उसी समय उसने देखा कि वहाँ वह दूसरा भी आ गया जो गंगा जल में उसकी अस्थियाँ डालने गया था। तब उसे और कन्या भस्म पर सोने वाले और मढ़ी बनाकर रहने वाले, उन दोनों को उसने कहा - इस मढ़ी को हटा। किसी भी मन्त्र शक्ति से मैं भस्म से उस कान्ता को जीवित करके उठाता हूँ। इस प्रकार उन दोनों की प्रेरणा से बेरोक उस मढ़ी को लुड़काकर वह तपस्वी ब्राह्मण पुस्तक खोलकर उसे पढ़ने लगा। मन्त्र से अभिमंत्रित करके धूलि को भस्म पर जैसे ही फैंका वैसे ही उससे वह मन्दारवती जीवित होकर उठ खड़ी हुई (31)। उसका शरीर पहले से अधिक काँति वाला था जो अग्नि में प्रवेश कर निकला था। तब उसका शरीर ऐसा लगता था मानो कंचन से बना हो। वैसी की वैसी पुनः उत्पन्न उसे देखते ही वे कामातुर हो गये। उसे पाने के लिए वे तीनों आपस में झगड़ने लगे। एक कहता - यह मेरी पत्नी है क्योंकि मेरे मंत्र के बल से प्राप्त हुई है। दूसरे ने कहा - यह मेरी भार्या है जो तीर्थ के प्रभाव से उत्पन्न हुई है। तब तीसरे ने कहा -

यह मेरी भार्या है क्योंकि इसकी भस्म की मैंने यहाँ रक्षा की तो ही जीवित हो सकी। हे राजन् इस विवाद के निर्णय में तुम निश्चय करके बताओ कि यह कन्या किसकी पत्नी होना उचित है। जानते हुए भी नहीं कहेगा तो मैं तेरा सिर तोड़ डालूँगा। वेताल से ऐसा सुनकर वह राजा उससे इस प्रकार बोला - कष्ट झेलते हुए भी जिसने मन्त्र से इसे जीवित किया वह उसका पिता है, पति नहीं। उस कार्य का कारण होने से। जो हड्डियाँ लेकर गंगाजी गया वह उसका बेटा माना जाता है। जो भस्म की शय्या पर उसका आलिंगन करके तपस्या करता हुआ श्मशान में ही उसके प्रेम में रहा वह उसका पति कहलाता है कि उसने गहरे अनुराग के अनुरूप किया। इस प्रकार राजा त्रिविक्रमसेन से सुनकर मौन छूट जाने से उसके कन्धे से वह वेताल अचानक अपने स्थान पर चला गया। राजा ने भी भिक्षु के लिए उसे पाने का फिर मन बनाया। धीरे लोभ प्राण जाने पर भी अभी लक्ष्य पाये बिना नहीं रहते (32-42)।

महाकवि श्री सोमदेव भट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लंबक की नवम तरंग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-10

वेताल-3

इसके बाद वह श्रेष्ठ राजा त्रिविक्रमसेन वेताल को लाने के लिए उस शीशम के पेड़ के पास गया। वहाँ मृत देह में उसे पाकर पुनः कन्धे पर लेकर चुपचाप आने लगा। चल रहा था तो उसकी पीठ पर के वेताल ने उसे कहा - आश्चर्य है राजन् कि रात में आने जाने से तुम्हें उद्वेग नहीं होता। तुम्हें थकान न हो इसलिए फिर से तुम्हें एक कथा का वर्णन करता हूँ, सुनो। पृथ्वी पर पाटलिपुत्र नामक एक विख्यात नगर है। पहले कभी वहाँ एक विक्रम केसरी नामक राजा था। विधाता ने उसे गुणों के समान रत्नों का भी आश्रय बनाया था। वहाँ दिव्य विज्ञान वाला शुक शाप से उतरा। वह समस्त शास्त्रों का ज्ञाता था और विदग्ध चूड़ामणि नाम से विख्यात था। उसके द्वारा पढ़ायी गयी चन्द्रप्रभा नामक मागधी राजकुमारी से राजकुमार ने विवाह किया जो उसके योग्य पत्नी थी। उस राजकुमारी की भी वैसी ही समस्त विज्ञान सम्पन्न सोमिका नामक की सारिका (मेना) थी। वे दोनों शुक और सारिका एक ही पींजरे में थे जो अपने विज्ञानों से उन पति-पत्नी की सेवा करते रहते थे (1-9)।

एक बार वह तोता उस मैना से अभिलाषा करते हुए बोला - हे सुभगे अपन एक ही शय्या, आसन और आहार के हैं तो मेरे पास आ। तब सारिका ने उत्तर दिया कि मैं पुरुष से संसर्ग करना नहीं चाहती। क्योंकि पुरुष दुष्ट और कृतघ्न होते हैं। तब तोते ने कहा कि पुरुष दुष्ट नहीं होते, स्त्रियाँ क्रूर होती हैं। इस प्रकार तोते के फिर कहने पर उन दोनों में विवाद होने लगा। हारने पर दास हो जाऊँगा, हारने पर भार्या हो जाऊँगी - ऐसा दाव लगाकर वे दोनों पक्षी आपस में निश्चय करके निर्णय के लिए राज सभा में राजकुमार के पास पहुँचे। पिता की राजसभा में उनके विवाद की बात सुनकर उसने सारिका से पूछा- बोल पुरुष कृतघ्न कैसे होते हैं? तब उस मैना कहा - सुनो और अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए पुरुष दोष बताने वाली यह कहानी कही (10-15)।

पृथ्वी पर कामदिका नाम की जो महानगरी है, उसमें एक महाधनी अर्थदत्त नामक बनिया है। उसके धनदत्त नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पिता के मरने पर वह युवक उच्छ्रंखल (आवारा) हो गया। जुआ आदि की संगति में धूर्तों ने मिलकर उसे गिरा दिया। यद्यपि व्यसन-वृक्ष का मूल है दुर्जनों की संगति। शीघ्र ही दुर्व्यसन के कारण धन समाप्त हो जाने से दुर्गति से लज्जित हुआ तो वह अपना देश छोड़कर घूमने के लिए परदेस चला गया। जाते हुए चन्दनपुर नामक स्थान पहुँचकर वह भोजन के लिए एक बनिये के घर में गया। उस व्यापारी ने उसे सुकुमार देखकर उसका कुल वंशादि पूछकर यह जानकर कि यह कुलीन है, उसका स्वागत सत्कार कर अपना लिया और दैवयोग से उसे अपनी रत्नावली नामकी पुत्री धन सहित दे दी। तब वह धनदत्त यहाँ ससुराल में रहा। कुछ दिन बीतने पर सुख में उसने अपनी दुर्गति भूलकर अपने देश में जाने की इच्छा की। धन मिल गया था और यह व्यसनी है। तब भी किसी प्रकार विवश ससुर से अनुमति प्राप्त कर उस अकेली संतान पुत्री को साथ लेकर उस प्रदेश से प्रस्थित हो गया। उसकी भार्या अलंकृत थी। उसके साथ एक वृद्धा स्त्री थी। इसके सहित ये तीन लोग चल पड़े। चलते चलते दूर वन आया तो यह कहकर कि यहाँ चोर लुटेरों का डर है, वह पत्नी के अलंकारों को लेकर हड़प गया। देखिये द्यूत, वेश्या आदि दुःखद व्यसन के साथी कृतघ्न लोगों के हृदय चाकू-छुरी जैसे कठोर होते हैं। तब उस पापी ने धन के लिए गुणवती पत्नी को भी मारने के लिए उस वृद्ध स्त्री के साथ गड्ढे में फेंक दिया। फेंक कर उसके जाते ही वह बुढ़िया मर गयी। परन्तु उसकी पत्नी लता के झुँड में अटक जाने से नहीं मरी (16-29)।

तब वह गड्ढे से धीरे-धीरे करुणा पूर्वक रोती चिल्लाती हुई घास-लतादि को पकड़कर उठी और आयु शेष रहने के कारण अंग भंग होने पर भी पग पग पर मार्ग पूछती हुई वह जिस मार्ग से गयी थी उसी मार्ग से बड़ी कठिनाई से पिता के घर आ गयी। वहाँ अचानक ऐसी दशा के बारे में हड़बड़ाते हुए माता-पिता ने पूछा तो रोते हुए उस सीधी सादी लड़की ने यह कहा - मार्ग में हमें चोरों ने लूट लिया। मेरे पति को वे बाँध कर ले गये। बाँधकर गड्ढे में फेंकने से बुढ़िया मर गयी परन्तु मैं नहीं मरी। तब किसी दयालु पथिक ने आकर मुझे गड्ढे से निकाला और भाग्य से यहाँ आ गयी। उसने यह कहा तो माता-पिता ने उसे आश्वासन दिया। तब वह सती रत्नावली वहाँ पति में चित्त लगाकर रहने लगी। समय बीतने पर स्वदेश गये उसका पति वह सारा धन जुएँ में हार गया। तब धनदत्त ने सोचा फिर जाकर ससुर से धन माँग लाता हूँ। उसे वहाँ जाकर कह दूँगा कि तुम्हारी बेटी मेरे घर पर है। इस प्रकार मन में सोचकर वह ससुर के घर चला गया। वहाँ पहुँचा तो दूर से उसकी पत्नी ने उसे देख लिया। उस पापी के पैरों पर वह दौड़ती हुई जा गिरी। पति दुष्ट होने पर भी सज्जन स्त्रियों के मन में ऐसी वैसी प्रवृत्ति नहीं होती (30-39)। और उस डरे हुए को उसने पूरी बात बता दी और माता-पिता को यह झूठी कही बात भी उसे बता दी कि चोरों का हमला हुआ था। तब ससुराल में उसी पत्नी के साथ निर्भय प्रवेश किया। घर में आने पर सास-ससुर ने बड़े हर्ष से देखकर उसका अभिनन्दन किया। भाग्य से चोरों ने छोड़ दिया और यह जीवित है। इसलिए उसके ससुर ने सब भाई बन्धुओं के साथ मिलकर बड़ा उत्सव मनाया। तब वह यहाँ ससुर का धन भोगते हुए उस रत्नावली पत्नी के साथ सुखपूर्वक रहने लगा। एक बार रात में उसने यह किया कि कथा में बाधा के कारण चुप रहने और न कहने लायक होने पर भी कहते हैं। छाती से लगी सोयी उस पत्नी को मार कर उसके गहनों की राशि लेकर वह चुपचाप अपने देश आ गया। ऐसे होते हैं पापी पुरुष-ऐसा मैना के कहने पर राजकुमार ने शुक से कहा कि अब तू कह। तब तोते ने कहा - हे देव स्त्रियाँ असह्य साहस (दुष्कृत्य) वाली होती हैं। वे चरित्रहीन, पापिन होती हैं। उस सम्बन्ध में एक कथा सुनिये (40-47)।

हर्षवती नाम की नगरी है। वहाँ बहुत से करोड़ों का स्वामी प्रमुख वणिक् हुआ जिसका नाम धर्मदत्त था। उसकी अनुपम सुन्दरी वसुदत्ता नाम की बेटी थी। वह उस वणिक् की प्राणों से अधिक प्रिय थी। वह लड़की मानवीय रूप-यौवन सम्पन्न, श्रेष्ठ नारियों के नेत्र रूपी चकोर की अमृत किरण, सज्जन समुद्रदत्त नामक वणिक् पुत्र को

प्रदान की गयी जो श्रेष्ठ जनों की निवास नगरी ताम्रलिप्ती का निवासी था (48-51)। किसी समय जब उसका पति अपने देश में था और वह अपने पिता के घर थी तब उस बनिये की बेटी ने दूर से किसी पुरुष को देखा। वह युवक बड़ा कमनीय था। वह चंचला काम से मोहित हो गयी। वह गुप्त रूप से सखी से कहलवाकर छिपे कामुक से मिली। तब से वहाँ उसके ही साथ रात में उसका वरण करती और उसमें ही उसका मन आसक्त हो गया। एक बार उसका वह कुमार पति स्वदेश से आया तो उस लड़की के माता-पिता की प्रसन्नता साकार हो गयी। वह दिन तो उत्सव में बीता। रात में साज सिंगार कर माता ने भेजी पर वह शय्या पर पति के पास नहीं गयी। उस युवक ने कहा भी तो अनमनी सी उसने झूठे सोने का बहाना किया। राह की थकान और मदिरापान के नशे से उसे भी नींद आ गयी। खा-पीकर सब लोगों के सो जाने पर धीरे से सेंध लगाकर उस शयन कक्ष में एक चोर घुसा। उस समय उसे न देखती हुई वह बनिये की बेटी उठकर अपने यार के बताये स्थान पर जाने के लिए चुपचाप निकल पड़ी (52-59)।

उसे देखकर उस विघ्न भरी इच्छा वाले चोर ने सोचा - जिन गहनों के लिए मैंने प्रवेश किया उन्हें ही पहनकर यह आधी रात में निकल गयी। तो देखता हूँ कि यह कहाँ जाती है। यह सोचकर निकल कर वह चोर उस बनिये की बेटी वसुदत्ता के पीछे-पीछे छिपते हुए, उस पर नजर रखे, चला गया। वह लड़की भी सखी के साथ एक हाथ में पुष्प लेकर संकेत (मिलन) स्थल पर पहुँची और उद्यान में चली गयी। जाकर बाहर से उसने वृक्ष से लटके हुए अपने कामुक को देखा। रात में मिलन स्थल पर आये कामुक को नगर रक्षकों ने चोर समझकर रात में पकड़कर गले में फंदा डालकर लटका दिया, तो वह मरा लटक रहा था। तब वह विचलन से चक्कर खाती हुई - हाय मारी गयी मैं - यह कहती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ी। करुण विलाप कर रोने लगी। तब उसे वृक्ष से उतार कर अपने मरे कामुक को विभिन्न मण्डनों से मंडित कर फूलों से अलंकृत किया उसने। प्रेम और दुःख से अन्धे मन वाली उसने उस अचेत का आलिंगन करके मुख ऊपर कर जब तक उसका मुख चूमने लगी। तब तक अचानक उसका उस निर्जीव परपुरुष ने जिसमें वेताल प्रवेश कर गया था, दाँतों से उसकी नाक काट डाली (60-68)। उससे विह्वल होकर उस स्थान से भाग गयी, कहीं जीवित तो नहीं है यह देखने के लिए उस मरी ने फिर आकर देखा। और यह देखकर की उसमें से वेताल चला गया है, उसमें अब कोई हरकत नहीं है और मर ही गया है। वह डरती, अपमानित होती हुई धीरे-धीरे चल पड़ी। तब तक छिपे

खड़े उस चोर ने जो सब कुछ देखता रहा और सोचा कि इस पापिन ने यह क्या किया ? और सचमुच नारियों के मनोभाव सघन तमोगुण वाले और भीषण अन्धकूप के समान ऐसा कि गिरने पर बहुत गहरा है। तो अब यह क्या करेगी - यह सोचकर उस चोर ने कुतूहल से दूर से ही फिर उसका पीछा किया। उसने भी जाकर पति के सोये कमरे में प्रवेश करते ही अपने घर में ऊँचे स्वर में रोते हुए बोली - बचाओ इस दुष्ट पति रूप शत्रु ने मुझ निरपराध की नाक काट डाली। बार-बार की उसकी चिल्लाहट को सुनकर सब हड़बड़ाते हुए जाग कर उठे - पति, परिजन, पिता। तब आकर उसके पिता ने देखा कि कटी नाक गीली है। क्रोधित होकर उसके पति को बाँध दिया कि यह पत्नी का शत्रु है। उसने कुछ भी नहीं कहा। बँधने पर भी गूँगे जैसा रहा। ससुर आदि सभी विरोधी श्रोता हो गये थे। यह सब जानकर उस चोर के तेजी से भाग जाने पर वह कोलाहल भरी रात क्रमशः बीत गयी (69-79)।

तब प्रातः बनिया ससुर उस वणिक पुत्र को राजा के पास ले गया। साथ में उसकी कटी नाक की पत्नी भी थी और राजा ने ज्ञात किया कि यह अपनी पत्नी का शत्रु है। उसने आदेश दिया कि इस बनिये के बेटे का वध कर दिया जाए और उसकी बात पर ध्यान ही नहीं दिया। डोंडी बजाते हुए वह वध भूमि पर ले जाया जा रहा तब उससे चोर ने आकर राजपुरुषों को कहा - इसे अकारण नहीं मारना चाहिए। उसका सही विवरण मैं जानता हूँ। मुझे राजा के सामने पहुँचा दो। वहाँ मैं सब कह दूँगा (80-84)। यह कहने पर वे लोग उस निर्भय को राजा के सामने ले गये। चोर ने रात का पूरा विवरण कह दिया और बोला - हे देव यदि मेरी बात पर आपको विश्वास न हो तो अब भी उस नाक को उस शव के मुख में देख लीजिए। यह सुनकर नौकरों को देखने भेजा। और सच्चाई जानकर उस राजा ने उस बनिये के बेटे को वध-बन्धन से छोड़ दिया और उस लड़की के दोनों कान काटकर देश से भगा दी। उसके ससुर-सास आदि सबको दण्डित किया और राजा ने उस चोर को नगर-अध्यक्ष बना दिया। इस प्रकार स्त्रियाँ स्वभाव से धूर्त और विषम (बाँकी टेढ़ी) होती हैं। यह कहते ही वह शुक चित्ररथ नामक गन्धर्व बनकर, इन्द्र का शाप नष्ट होने से दिव्य रूप धारण करके स्वर्ग में चला गया और वह मैना भी तत्काल सुरनारी तिलोत्तमा बन गयी। उसका शाप नष्ट हो गया था। अचानक वह भी स्वर्ग में चली गयी (85-90)। और उन दोनों का विवाद सभा में अनिर्णित ही रह गया। इस प्रकार कथा कहकर वेताल ने फिर राजा से कहा - तो आप बताइए कि पापी पुरुष है या नारी ?

जानते हुए नहीं बताएगा तो तेरे सिर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे। कन्धे पर बैठे वेताल की यह बात सुनकर उस राजा ने कहा - हे योगेश्वर नारी पापिन है। पुरुष कोई कोई वैसा कहीं कभी दुराचारी होता है। परन्तु स्त्रियाँ तो प्रायः सदा ऐसी ही होती हैं। राजा के यह कहते ही पहले के समान उसके कन्धे से वह वेताल गायब हो गया। तब उस राजा ने फिर उसे लाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया (91-95)।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतीलंबक की दशम तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-11

वेताल-4

तब पुनः उस शीशम के पेड़ के पास श्मशान में उस राजा त्रिविक्रमसेन ने मानव शरीर में प्रविष्ट अट्टहास करते वेताल को पाया, तो अडिग होकर कन्धे पर उसे डालकर चुपचाप चल दिया और चलते हुए उसके कन्धे पर स्थित वेताल फिर बोला - हे राजन् दुष्ट भिक्षु के लिए तेरा यह कैसा श्रम ? इसमें तो निष्फल परिश्रम है। लगता है तुझमें विवेक नहीं है। तो मार्ग का विनोद करने वाली कथा तुझे सुनाता हूँ (1-4)।

धरती पर शोभावती नाम की सही नामवाली नगरी है। उसमें प्राज्य विक्रम (प्रचुर विक्रमशाली) शूद्रक¹ नामक राजा था। इसकी प्रतापाग्नि जय के कारण लगातार जलती रहती थी। शत्रुओं की बन्दी बनाई गयी ललनाएँ निरन्तर उस पर चँवर से हवा करती रहती हैं। बिना लोप हुए धर्म के आचरण सी बड़ी-चढ़ी पृथ्वी इस राजा के समय मानो राम आदि राजाओं को भी भूल गयी। उस राजा को वीर लोग पसन्द थे। उस राजा के पास किसी समय मालवा से एक वीर सेवा के लिए आया। नाम था वीरवर ब्राह्मण। उसकी पत्नी धर्मवती और पुत्र सत्यवर तथा पुत्री वीरवती थी। ये तीन घर के सदस्य थे। इन तीनों के अतिरिक्त सेवा परिवार में थे - कमर में कृपाणी (छुरी), एक हाथ में सुन्दर ढाल और दूसरे में भविष्य (5-10)। यही उसका परिवार था। उसने प्रतिदिन उस राजा श्री वृत्ति के लिए पाँच सौ दीनारें चाहीं। राजा को उसके आकार से लगा कि उसमें प्रचुर पौरुष है। यह देखकर शूद्रक ने उसे मनचाही वृत्ति दे दी। इसके पास छोटा परिवार है तो

1. यह कुछ हेरफेर से अवन्ती सुन्दरीकथा, दशकुमारचरित, लुप्त नाटक विक्रान्तशूद्रक सहित कई प्राचीन पुस्तकों में प्राप्त होती है। एक मालवी लोककथा भी ऐसी ही है जिसमें शूद्रक का स्थान विक्रमादित्य ने ले लिया।

भी स्वर्ण के इतने रुपये। क्या यह किसी दुर्व्यसन में पड़ा है अथवा कोई भलाई में व्यय करता है ? इस कौतुक से राजा ने उसका विवरण जानने के लिए उसके पीछे छिपे हुए गुप्तचर लगा दिये (11-14)। वह वीरवर प्रातःकाल राजा के दर्शन करने को दोपहर तक सिंहद्वार पर हथियार लेकर रहता। तब अपनी सेवा (नौकरी) की दीनारें लेकर सौ तो घर खर्च व भोजन के लिये पत्नी के हाथ में दे देता प्रतिदिन। सौ से वस्त्र, अंगराग, ताम्बूल खरीदता। स्नान कर विष्णु और शिव की पूजा में सौ दीनार लगा देता। ब्राह्मणों और दीनों को वह दो सौ दीनार दे देता। इस प्रकार पाँच सौ दीनारों को प्रतिदिन विभाजन कर देता था। तब अग्निकार्य (होमादि) करके भोजन करके रात में अकेला फिर सिंहद्वार पर हाथ में हथेली रखकर बैठा रहता। उस वीरवर की इस दैनिक चर्या (आचरण) को गुप्तचरों के मुख से सुनकर शूद्रक हृदय में प्रसन्न हुआ। तब उसका पीछा करने के लिए राजा ने उन्हें मना कर दिया और यह माना कि विशेष पूजा के योग्य है यह विशेष पुरुष (21)। इसके बाद कुछ दिन बीतने पर अवहेलना वाले ग्रीष्म निकल जाने पर वीरवर ने यहाँ सूर्य की तेज गर्मी के बाद उसकी ईर्ष्या से मानो हाथ में विद्युत लेकर धारा से प्रहार करने वाला गर्जन करता हुआ मेघ प्रकट होकर आया। तब घनघोर वर्षा दिनरात होने लगी। पर वह वीरवर सिंहद्वार पर वैसा ही अचल था (22-24)।

उस शूद्रक राजा ने अपने महल से दिन में उसे देखकर रात में फिर उसकी स्थिति देखने की चाह से वह महल पर चढ़ा और तब पूछा - “अरे यहाँ सिंहद्वार पर कौन है ?” यह सुनकर वह वीरवर भी बोला - “यहाँ मैं खड़ा हूँ।” अरे यह वीरवर तो मुझ पर पूरी भक्ति रखता है और मजबूत इरादे वाला है। अतः इसे अवश्य ही मुझे बड़ा पद देना चाहिए। यह सोचकर राजा शूद्रक महल से उतरकर रनिवास में प्रवेश कर बिछोने पर चला गया। दूसरे दिन लगातार मेघ धारासार तेज बरस रहे थे और साँझ के समय गुप्तभवन जैसा अन्धकार फैल जाने पर पुनः उस जिज्ञासु राजा ने महल पर चढ़कर चोर से कहा - “सिंहद्वार पर अकेला कौन है ?” और फिर वीरवर ने कहा - “मैं खड़ा हूँ।” तो राजा उसका धीरज देखकर चकित रह गया। तब तक कहीं दूर रोती स्त्री की आवाज अचानक सुनाई दी। दुःख से व्यथित अकेली करुण स्वर में रोती चिल्लाती जा रही थी। राजा ने सोचा - “मेरे देश में कोई न पराजित है, न दरिद्र न दुःखी है। तो यह रात में अकेली कौन रो रही है ?” राजा को करुणा हुई। तब नीचे अकेले खड़े उस वीरवर को उसने आदेश दिया। “अरे वीरवर सुन तो, दूर कोई स्त्री रो रही है। यह कौन रो रही है।

बात क्या है? जाकर तुम देखो तो (25-35)।” यह सुनकर ‘ठीक है’ कहकर वह वीरवर हाथ का खजाना छुरी बाँधकर चल पड़ा। न उसने बादल का अन्धेरा, न उससे जलने वाली विद्युत् की आँख, न मोटी जलधारा के पत्थरों की राक्षस रूप जैसी बरसात की गिना। ऐसी रात में उसे अकेले प्रस्थान करते राजा ने देखा तो वह करुणा और कौतुक से भर गया। महल पर से उतरकर तलवार लेकर वह भी अकेला उसके पीछे-पीछे चल पड़ा, राजा शूद्रक छिपता हुआ और वह वीरवर रोने की आवाज के पीछे-पीछे जाते हुए नगरी के बाहर एक तालाब पर पहुँचा और वहाँ देखा कि पानी के बीच एक स्त्री रो रही है। हाथ वीर, हा कृपालु, हा त्यागी। तुमसे सूनी मैं कैसे रह पाऊँगी। यह बोल रही थी। उसने आश्चर्य सहित पूछा - इस प्रकार रोने वाली तू कौन है? इतने में पीछे पीछे राजा भी आ गया था। उस स्त्री ने तब यह कहा - “हे वीरवर वत्स मुझे यह पृथ्वी ही समझो। मेरा अब पति धार्मिक राजा शूद्रक है और तीसरे दिन उस राजा की मृत्यु हो जाएगी। उस जैसा राजा पति अन्य कहाँ से पाऊँगी। इसलिए स्वयं दुःखी होकर मैं चिन्तित हो रही हूँ।” यह सुनकर परेशान सा वीरवर उससे बोला - “हे देवि उसके योग्य कोई उपाय भी है जिससे इसकी मृत्यु न हो जो जगत् की रक्षा करने वाली मणि है स्वामी।” यह सुनकर पृथ्वी ने कहा - तुझ सा वीर अन्य कौन है? उसका स्वामिभक्त है। शान्ति का यह उपाय सुन। राजमहल के पास में राजा ने जिस उत्तमा चण्डिका देवी की प्रतिष्ठा की है जो उत्कर्ष वाली है, उसे सत्त्व नामक अपना पुत्र भेट करो तो यह राजा नहीं मरेगा और आगे सौ साल जीएगा। आज ही तुम यह काम करो तो कल्याणकारी होगा। अन्यथा तीसरा दिन आते ही उसका जीवन नहीं रहेगा (52)। उस पृथ्वी ने जब यह कहा तो वीर वीरवर ने कहा - ‘हे देवी जाता हूँ। और यह अभी करता हूँ।’ तब ‘तेरा भला हो’ कहकर वह पृथ्वी लुप्त हो गयी। पीछा करने वाले राजा ने यह सब सुना। तब गहरी जिज्ञासा से राजा शूद्रक पीछा कर रहा था। वह वीरवर रात में ही शीघ्रता से घर गया। वहाँ पृथ्वी ने जिस प्रकार राजा के लिए पुत्र का उपहार बताया, वह सब धर्मवती पत्नी को उसने कह कर समझा दिया। यह सुनकर उस स्त्री ने उस वीरवर से कहा - ‘हे नाथ स्वामी का भला करो। इसलिए बच्चे को जगाकर, उसे आप ही कहिए।’ तब समर्थ श्रेष्ठ उस बालक को सोये से जगाकर पूरी बात उसे बताकर वीरवर ने यह कहा (53-58)। ‘इसलिए हे पुत्र चण्डिका देवी को तुम्हें भेट कर देने पर यह राजा जीवित रहेगा अन्यथा तीसरे दिन मर जाएगा।’ यह सुनते ही अपने नाम को सार्थक करता हुआ चित्त को कायर न बनाता हुआ वह सत्त्ववर पुत्र अपने पिता

से बोला - ‘पिताजी मैं कृतार्थ हूँ कि मेरे प्राणों से राजा जिन्दा रहेगा। उसका अन्न खाया है। अब मैं उसका प्रतिदान कर दूँगा। तो देर क्यों की जा रही है। देवी के सामने अभी ले जाकर मुझे भेट में चढ़ा दो। मेरे द्वारा प्रभु की शान्ति हो।’ सत्त्ववर ने जब यह कहा तो वीरवर ने कहा ‘बहुत अच्छा। सचमूच तू मेरा बेटा है।’ पीछा करता हुआ राजा बाहर खड़ा-खड़ा सब सुन करके सोचने लगा - अरे इन सबकी एक जैसी आत्मशक्ति है (59-64)।

तब आत्मशक्ति सम्पन्न पुत्र सत्त्ववर को कन्धे पर लेकर, पत्नी धर्मवती और कन्या वीरवती को साथ लेकर वे दोनों उस चण्डिका मन्दिर में गये। राजा शूद्रक भी छिपकर उन दोनों के पीछे-पीछे गया। वहाँ देवी के सामने माता-पिता ने उतारा तो सत्त्ववर देवी को प्रणाम करके वह धीरज सम्पन्न बोला - मेरा सिर लेकर राजा शूद्रक को जीवन देना। हे देवि वह और सौ बरस तक निष्कण्टक राज्य करता रहे। यह उसके कहने पर वह ‘साधु साधु’ कहते हुए पुत्र सत्त्ववर को हाथ से खींचकर शिशु का सिर काटकर वीरवर ने देवी चण्डिका को यह कहते हुए दे दिया- मेरे पुत्र के उपहार से राजा जीवित रहे। तब उसी समय अन्तरिक्ष से आकाशवाणी हुई - साधु साधु। हे वीरवर तेरे समान अन्य कौन स्वामिभक्त है कि जिसने अपने एकमात्र पुत्र के प्राण देकर राजा शूद्रक को जीवन और राज्य दे दिया। यह सब छिपकर राजा सुन रहा था और देख रहा था। तब वीरवर की बेटी वह वीरवती बाला मारे गये भाई का सिर लेकर अत्यन्त दुःखी होकर रोती हुई हृदयाघात से मर गयी। तब पत्नी धर्मवती ने वीरवर को कहा - राजा का भला तो कर दिया। अब मैं तुम्हें कहती हूँ कि यह अज्ञानी बालिका भी भाई के दुःख में मर गयी। दोनों बच्चों के मरने पर अब मेरे जीवित रहने से क्या?

राजा के हित में मैंने पहले ही देवी को अपना सिर नहीं दिया। अतः अब मुझे अनुमति दो कि बच्चों के शरीर लेकर अग्नि में प्रवेश कर लूँ। उसके इस प्रकार साग्रह बोलने पर वीरवर बोला - हे भद्रे ऐसा ही कर। अब हे मनस्विनी संतान के दुःख से भरे प्राणों में तेरा कोई प्रेम तो बचा नहीं। तुझे यह नहीं होना चाहिए कि यह दुःख मैं ही देता रहा। अब कोई मार्ग तो बचा नहीं तो मैं भी स्वयं को क्यों नहीं समाप्त कर दूँ। तो जब तक मैं तेरी चिता बनाता हूँ तब तक प्रतीक्षा कर, क्षेत्र निर्माण की इन लकड़ियों से। यह कहकर वीरवर ने उन लकड़ियों से चिता बनाकर आग लगाकर दोनों बच्चों को भी जला दिया। तब वह पत्नी धर्मवती उसके पैरों पर पड़कर, प्रणाम करके देवी चण्डी को उस पवित्रा ने

कहा - अगले जन्म में भी ये आर्यपुत्र ही मेरे पति हों और मेरे इस शरीर से स्वामी राजा का भी कल्याण हो। यह कहते ही वह साध्वी उस जलती चिता में जा गिरी। तब उस वीर वीरवर ने सोचा कि दिव्य वाणी ने जो कहा था मुझे, वह राजकाज तो पूरा हो गया। स्वामी राजा का जो अन्न खाया था उससे उन्नत हो गया। अब मेरे अकेले के जीवन का क्या लोभ? अपने प्रिय पूरे कुटुम्ब को नष्ट करके स्वयं अकेला जीवित रहते मेरे जैसा कौन शोभा पा सकता है! तो स्वयं को उपहार में देकर अम्बिका को प्रसन्न क्यों नहीं करूँ? यह सोचकर वह देवी के सामने पहुँचकर यह स्तुति करने लगा (65-89)।

जय हो महिषासुर को मारने वाली, हाथ में शूल लेकर रुरु दानव को विदीर्ण करने वाली आपकी जय हो। देवताओं का उत्सव करवाने वाली तथा तीनों लोक को धारण करने वाली श्रेष्ठ माता, जय हो। सारा विश्व आपके चरणों की पूजा करता है। भक्तों की मुक्ति का एक मात्र शरण, आपकी जय हो। सूर्य की किरणें धारण कर के दुःखद अन्धकार समूह का हरण करने वाली आपकी जय हो। हे कालि जय हो, हे कपालिनी जय हो, कंकालिनि जय हो, हे शिवे आपको प्रणाम। मेरे मस्तक का उपहार लेकर राजा शूद्रक पर प्रसन्न हो जाइये।

इस प्रकार उस देवी की उपासना करके उस वीरवर ने फिर तत्काल अपनी हथेली के शस्त्र आघात से अपना सिर काट डाला। वहाँ छिपे खड़े राजा शूद्रक ने यह सब देखकर आश्चर्य चकित होकर व्याकुल होकर सोचा - अरे इस सज्जन ने तो कुटुम्ब सहित मेरे लिए दुष्कर काम कर डाला, ऐसा कि नहीं अन्यत्र न देखा न सुना। इस अनोखे संसार में ऐसा धीर व्यक्ति कहाँ कि बिना प्रकट कहे चुपचाप स्वामी के लिए जो परोक्ष ही प्राण दे दे। इसके उपकार के लायक यदि मैं नहीं करूँ तो मेरी प्रभुता से क्या और पशु के समान जीवन से भी क्या मतलब? यह सोचकर राजा ने क्रोध से तलवार खींची और देवी के पास जाकर वीर राजा शूद्रक ने उसे कहा (90-98)।

“हे भगवति लगातार आपके शरणागत झुकते रहने वाला यह मेरा सिर अब आपको उपहार में देता हूँ, कृपा करो। यह वीरवर विप्र अपने नाम के अनुरूप गुणी है, उसने मेरे लिए अपने कुटुम्ब सहित सबके प्राण त्याग दिये, वह कुटुम्ब सहित जीवित हो जाए। यह कहकर वह राजा शूद्रक तलवार से सिर काटने के लिए तैयार हुआ, तब तक आकाशवाणी हुई। साहस मत कर। तेरे इस सत्त्व से मैं प्रसन्न हूँ। वीरवर ब्राह्मण अपनी पत्नी और संतान सहित जीवित हो जाए। यह कहकर वह वाणी जैसे ही थमी वह वीरवर अपने पुत्र, पुत्री, पत्नी सहित अक्षत रूप से जीवित होकर उठ खड़ा हुआ (99-103)।

यह अचरज राजा छिप कर फिर वह हर्ष के अश्रुओं से पूर्ण आँखों से देखते हुए तृप्त नहीं हो रहा था। वह वीरवर भी तत्काल सोये से उठ के समान स्वयं को, पत्नी को, बच्चों को देखकर मन ही मन बड़ा चकित रह गया। सबको अलग अलग नाम से पुकारते हुए उसने पत्नी-बच्चों से पूछा कि तुम तो भस्म हो गये थे, जीवित होकर खड़े कैसे हो गये? मैंने भी अपना सिर काट डाला था, अब कैसे जीवित हो गया? यह भ्रम है कि स्पष्ट ही देवी की कृपा है? यह कहने पर अलाक्षित होकर ही उसने कहा - हम सब जीवित हैं तो यह देवी की ही कृपा है। तब वह वीरवर यही सही मानकर अम्बिका को नमन करके सन्तान, पत्नी को साथ लेकर कार्य सिद्ध होने पर घर गया। घर में पुत्र, पुत्री, पत्नी को पहुँचाकर उसी रात वह फिर पहले के समान राजा के प्रासाद के सिंह द्वार पर पहुँच गया। राजा शूद्रक ने भी छिपकर यह सब देखकर जाकर अपने निवास के महल पर फिर चढ़ा और बोला - सिंह द्वार का रक्षक कौन खड़ा है तो तत्काल उसने कहा - हे प्रभो मैं हूँ वीरवर। आपके आदेश से मैं उस स्त्री के पास गया था। वह राक्षसी के समान थी। मेरे देखते-देखते वह गायब हो गयी। उस वीरवर की यह बात सुनकर वह राजा नितान्त चकित होकर सोचने लगा, जिसने सारी बातें देखी थीं। अरे समुद्र के समान गम्भीर और धीर चित्त वाले मनस्वी ऐसे अनोखे काम करके भी उसकी चर्चा तक नहीं करते? यह ज्ञात कर चुपचाप महल से वह उतरा। अन्तःपुर में गया और शेष रात व्यतीत की (104-116)।

प्रातः काल राजसभा के समय जब वह वीरवर दर्शन के लिए उपस्थित हुआ तो राजा ने समस्त बातें बड़े प्रेम से, रात का वृत्तान्त मन्त्रियों को बताया। वे सब भी आश्चर्य से अभिभूत हो गये। तब उस शूद्रक ने उस वीरवर को और पुत्र को लाट देश कर्णाट सहित दे दिया। तब वे एक समान वैभवशाली परस्पर उपकार करते हुए सुख से रहने लगे - वीरवर और राजा शूद्रक। वेताल यह अद्भुत कथा कहकर उस राजा त्रिविक्रम सेन से फिर बोला - बोल राजा इन सबमें अधिक वीर कौन है? जानते हुए भी नहीं बताएगा तो पहले बताया वैसा तेरा हाल होगा। यह सुनकर वह राजा उस वेताल से बोला - इन सबमें राजा शूद्रक सबसे वीर है। तब वेताल ने पूछा - वह वीरवर क्यों नहीं? उसके जैसा तो इस धरती पर कोई नहीं पैदा होता। उसकी पत्नी अधिक नहीं है क्या? क्योंकि जिसने स्त्री होते भी पशु के समान उपहार चढ़ते अपनी सन्तानों को अपने सामने देखा। या सत्यवर उसका बेटा अधिक नहीं है क्या? कि बालक होने पर भी उसका वैसा उत्कृष्ट सत्त्व था तो इन सब

में शूद्रक को अधिक कैसे बता रहे हो ? वेताल ने जब यह कहा तो राजा ने फिर कहा - ऐसा नहीं है। वीरवर और उस जैसा ही कुलपुत्र भी था। उसने अपने प्राणों, बच्चों व पत्नी द्वारा स्वामी की रक्षा के व्रत का पालन किया। उसकी पत्नी भी कुलवती थी, साध्वी व पतिव्रता थी कि पति के मार्ग पर चलने के सिवाय उसका अन्य धर्म नहीं था। उन दोनों का बेटा भी वैसा ही सत्यवर था। जैसा धागा होता है वैसा कपड़ा बनता है। जिन राजाओं की रक्षा सेवक लोग प्राण देकर भी करते हैं, उनके लिए अपने शरीर को भी त्यागने को तैयार हो जाए, ऐसा शूद्रक यहाँ विशेष है (117-131)।

यह बात सुनकर वह वेताल उस राजा के कन्धे से अदृश्य होकर अचानक अपनी माया से फिर अपने स्थान पर चला गया। राजा भी उसी मार्ग से उस रात में श्मशान में उसे फिर लाने के लिए चल पड़ा (132)।

महाकवि श्री सोमभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक की एकादश तरङ्ग सम्पूर्ण¹।

तरङ्ग-12

वेताल-5

तब उस शीशम के पेड़ के पास जाकर देखा कि मानव शरीर उसी तरह लटका हुआ है। अत्यन्त विकृत उस वेताल को उतारकर वह त्रिविक्रमसेन तेजी से चल पड़ा। चुपचाप आते हुए मार्ग में रात में महाश्मशान में कन्धे पर बैठा वह वेताल उससे फिर बोला - हे राजन् अत्यन्त कष्टदायी काम में लगे हो और अत्यन्त प्रिय हो। अतः आपके मन बहलाव के लिए एक कथा का वर्णन करता हूँ। सुनो ! (1-4)।

उज्जयिनी में राजा पुण्यसेन का सेवक हरिस्वामी नामक² विप्र था जो राजा का प्रिय अमात्य था और सद्गुण सम्पन्न था। उस गृहस्थ की उसके अनुरूप पत्नी को देवस्वामी नामक पुत्र हुआ जो उस जैसा ही गुणी था। उसके समान ही अद्वितीय रूप-लावण्य में प्रसिद्ध सोमप्रभा नाम की कन्या उसके बाद उत्पन्न हुई। अत्यन्त रूप के अभिमान में उस कन्या ने माता के द्वारा पिता और भाई को कहलाया कि वह वीर, ज्ञानी या विज्ञानी को दी जाए, अन्य को नहीं, यदि उसे जीवित रखना है तो। यह सुनकर उस

जैसा अनोखा वर खोजने में उसका पिता हरिस्वामी बहुत चिन्तित हो गया। तभी राजा पुण्यसेन ने युद्ध के लिए आये दक्षिण देश के राजा के पास दूत बनकर सन्धि के लिए भेज दिया (5-11)। जब काम पूरा हो गया तो वहाँ एक श्रेष्ठ ब्राह्मण ने आकर उससे उसकी बेटी माँगी जिसकी रूप-सम्पदा की ख्याति उसने सुन रखी थी। उसने कहा कि मेरी पुत्री विज्ञानी, ज्ञानी या वीर के अतिरिक्त अन्य को पति रूप में नहीं चाहती। तो इनमें से आप क्या हैं ? तब पत्नी के इच्छुक उस ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि मैं विज्ञान जानता हूँ। तब फिर उसने कहा - तो बताओ। तब विज्ञानी ने अपनी शक्ति से आकाश में चलने वाला रथ बनाया। माया के यन्त्र के रथ पर बिठाकर उस हरिस्वामी को पल भर में स्वर्ग आदि दिखा दिये और वापस उस सन्तुष्ट को उसी दाक्षिणात्य राजा की सेना में ले आया, जहाँ वह काम से आया था (12-18)।

तब हरिस्वामी ने उस विज्ञानी को अपनी पुत्री देने का वचन दे दिया। सातवें दिन विवाह का निश्चय कर दिया। उसी समय उज्जयिनी में आकर एक ब्राह्मण ने हरिस्वामी के पुत्र देवस्वामी से उसकी बहन माँगी। उसने भी कहा कि ज्ञानी, विज्ञानी या वीर के अतिरिक्त किसी को वह पति रूप में नहीं चाहती। उसने स्वयं को वीर बताया। उसने अस्त्र-शस्त्र विद्या दिखाई तो उसे अपनी बहन देने का देवस्वामी ने वचन दे दिया। उसे भी ज्योतिषी ने सातवें दिन विवाह का निश्चय माता को बिन बताये कर दिया। उसकी माता हरिस्वामी की पत्नी से भी उसी समय किसी तीसरे ने आकर अलग से उसकी बेटी चाही। उसने भी कहा कि हमारी बेटी का पति ज्ञानी, वीर या विज्ञानी होना चाहिए। उसने भी कहा कि माता मैं ज्ञानी हूँ। उससे भूत भविष्य की बात पूछकर उस ज्ञानी को वही सातवें दिन देने का वचन दे दिया (18-25)। दूसरे दिन अपना काम करके हरिस्वामी आ गया। और पत्नी तथा पुत्र को कन्यादान के निश्चय की बात कही। उन दोनों ने भी अपने अपने निश्चय अलग अलग बता दिये। तीन तीन वरों के निमंत्रण से वह हरिस्वामी व्याकुल हो गया। तब विवाह के दिन हरिस्वामी के उस घर तीनों वर आ गये - ज्ञानी, विज्ञानी और वीर। उसी समय यहाँ अनोखी बात हुई कि कन्या सोमप्रभा वधू बेधड़क कहीं चली गयी। खोजने पर भी नहीं मिली। तब हड़बड़ाते ज्ञानी से हरिस्वामी ने पूछा - अरे ज्ञानीजी अब जल्दी बताओ, वो मेरी बेटी कहाँ गयी ? यह सुनकर वह ज्ञानी बोला - धूमशिख नामक राक्षस अपहरण करके उसे विन्ध्य के वन में अपनी बस्ती में ले गया। ज्ञानी के यह कहने पर वह हरिस्वामी डरकर बोला - हाय हाय अब वह कैसे मिले और

1. इसी कहानी पर आधारित 'विक्रान्त शूद्रक' नाटक रचा गया जो अब दुर्लभ है। मालवी में यही लोककथा है जिसका नायक शूद्रक न होकर विक्रमादित्य है।
2. हरिस्वामी धर्माधिकारी उज्जैन में था जिसने शतपथ ब्राह्मण की श्रुत्यर्थविवृति लिखी थी।

तरङ्ग-13

वेताल-6

विवाह भी कैसे हो ? यह सुनकर विज्ञानी बोला - धीरज रखिये। आपको वहाँ ले चलता हूँ अभी, जहाँ ज्ञानी ने बताया है और जहाँ वह है। यह कहकर समस्त आयुधों वाले रथ पर बिठाकर हरिस्वामी, ज्ञानी और वीरवर को आकाश मार्ग से क्षण भर बाद ही विन्ध्य वन की भूमि पर पहुँचा दिया। ज्ञानी ने जहाँ राक्षस की बस्ती बताई थी वहाँ पहुँचा दिया (35)

वहाँ यहाँ यह सब जानकर क्रोधित राक्षस निकल आया। तब हरिस्वामी के आगे कर देने पर वह वीर उससे लड़ा। तब उस मनुष्य और राक्षस में आश्चर्यजनक युद्ध हुआ। उनके पास विचित्र हथियार थे। स्त्री के लिए जैसा राम और रावण में हुआ था ऐसा युद्ध हुआ और थोड़ी देर बाद ही उस युद्ध में अजेय राक्षस का सिर उस वीर ने अपने अर्धचन्द्र बाण से काट डाला। राक्षस के मारे जाने पर उसके पास से वह सोमप्रभा प्राप्त हो गयी। उसे तथा सबको वह विज्ञानी रथ से लेकर आ गया (36-39)। हरिस्वामी के घर पहुँचने पर लग्न का समय आ जाने पर ज्ञानी, विज्ञानी और शूरवीर में बड़ा विवाद छिड़ गया। ज्ञानी ने कहा - 'मैं नहीं बताता तो यह छिपाई कन्या कैसे मिलती। अतः यह मुझे दो। विज्ञानी ने कहा कि यदि मैं आकाशगामी रथ नहीं बनाता तो कैसे देवों के समान जाकर तत्काल आ जाते। और रथ वाले उस राक्षस से बिना रथ के युद्ध कैसे कर लेते ? इसलिए यह कन्या मुझे दो क्योंकि लग्न पर मैंने पहुँचाया सबको। शूरवीर ने भी कहा कि रणसैन्य में राक्षस को मैं नहीं मारता तो तुम दोनों के प्रयत्नों के बाद भी इस कन्या को कैसे लाते ? इसलिए यह मुझे दी जाए। इस प्रकार उनमें विवाद होने पर हरिस्वामी का मन विचलित हो गया और वह चुप रह गया। तो राजन् अब तुम मुझे बताओ कि वह किसे दी जाए। जानते हुए तो भी नहीं बोलोगे तो तुम्हारा सिर फूट जाएगा। वेताल से जब यह सुना तो मौन तोड़कर वह राजा त्रिविक्रमसेन यह बोला - शूरवीर को वह लड़की दी जाए जिस प्राणों की बाजी लगाकर अपने बाहुबल से उस राक्षस को युद्ध में मारकर उसे प्राप्त किया। ज्ञानी और विज्ञानी को तो परमात्मा ने उसके काम करने वाले बनाये। अरे ज्योतिषी और बढई तो सदा दूसरों का काम नहीं करते क्या ? जैसे ही राजा ने यह कहा - उसे सुनते ही उसके कन्धे पर से पहले के समान वेताल अपने स्थान पर चला गया और बिना विचलित हुए उसकी ओर फिर चल दिया वह राजा।

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक की द्वादश तरङ्ग सम्पूर्ण।

तब फिर उस शीशम के पेड़ पर जाकर उस वेताल को पहले के समान कन्धे पर लेकर वह राजा त्रिविक्रमसेन चुपचाप जब तक तेजी से आने लगा तब वह वेताल उससे फिर इस प्रकार बोला - हे राजन् बुद्धिमान्, धैर्यशाली हो। इसलिए मुझे प्रिय हो। अतः मनोरंजक कथा और मेरा प्रश्न सुनो। पृथ्वी पर यश केतु नामक एक विख्यात राजा था। उसकी राजधानी का नाम था - शोभावती नगरी (1-4)।

उस नगरी में गौरी का उत्तम मन्दिर था। उसके दक्षिण में गौरीतीर्थ नामक तालाब था। उसकी यात्रा आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी के दिन प्रतिवर्ष होती है और उसमें स्नान करने को इस दिन विभिन्न दिशाओं से महाजन आते थे (5-6)। एक बार उस तिथि पर एक धवल नामक युवा धोबी स्नान के लिए वहाँ ब्रह्मस्थल नामक ग्राम से आया। उस इस तीर्थ में शुद्धपट नामक धोबी की मन्दनसुन्दरी नाम की कन्या को देखा जो तीर्थस्थान के लिए आयी थी। चन्द्रमा की सुन्दरता भी हरण कर लेने वाली उसने उस धवल का मन हरण कर लिया। उसने उसका नाम कुल ज्ञात किया और काम से व्यथित होकर घर गया। उसके बिना उसे चैन नहीं मिल रहा था, भोजन नहीं करता था। माता ने पूछा तो अपने मन की बात बतादी। उसने जाकर विमल नामक अपने पति को बता दिया। उसने भी जाकर अपने पुत्र की दशा देखकर उससे कहा - पुत्र उसे पाना मुश्किल नहीं है। उसके लिए क्या चिन्ता करना ? मेरे माँगने पर वह शुद्धपट तुझे कन्या दे देगा। हम कुल, धन और कर्म में उनसे कमजोर नहीं हैं। मैं उसे जानता हूँ। वह मुझे जानता है। इसलिए मेरे लिए यह कठिन नहीं है। इस प्रकार पुत्र को ढाढस देकर उसे भोजन आदि में लगाकर उसके साथ विमल दूसरे दिन शुद्धपट के घर गया। और अपने बेटे धवल के लिए उस कन्या की माँग की तो उसने भी वचन दे दिया। दूसरे दिन का लग्न निश्चित करके शुद्धपट ने धवल को उसके योग्य मदनसुन्दरी दे दी (7-16)। विवाह करके उसे ही देखती हुई पत्नी के साथ वह धवल अपने पिता के घर चला गया। उसके बाद वह आराम से रह रहा था तो उसके ससुर का बेटा और उस मदनसुन्दरी का भाई वहाँ आया। वहाँ सबने आगे रहकर गले लगकर उसका सत्कार किया। सम्बन्धी की कुशलता पूछने पर आराम के बाद उनसे बोला - हमारे यहाँ देवी पूजा का उत्सव है। अतः पिताजी ने मदनसुन्दरी और दामाद को निमंत्रित करने के लिए पिताजी ने मुझे भेजा है। उसकी यह बात श्रद्धापूर्वक स्वीकारी और

यथोचित खाना-पीना करवाकर सम्बन्धी की उस दिन खातिरदारी की। प्रातःकाल उस साले और मदनसुन्दरी के साथ धवल अपने ससुराल की ओर चल पड़ा। वे तीनों शोभावती पहुँच। वहाँ गौरी के विशाल मन्दिर को देखा। तो पत्नी व साले से कहा कि श्रद्धापूर्वक इस भगवती देवी के दर्शन कर लें। यह सुनकर वह साला उसे मना करते हुए बोला कि खाली हाथ देवी का क्या दर्शन करें? तब धवल ने कहा कि तुम दोनों ठहरो। मैं अकेला दर्शन करके आता हूँ। और वह दर्शन करने चला गया। मन्दिर में प्रवेश करके उसने प्रणाम किया और देखा कि उसके अठारह हाथ हैं और उसने उन हाथों से उच्चण्ड दानव को काट डाला है। चरण कमल में पड़े महिषासुर को उसने मसल डाला है। परमात्मा की प्रेरणा से जगी बुद्धि से उसने यह सोचा - लोग प्राणियों के उपहारों से इस देवी की पूजा करते हैं। तो मैं भी सिद्धि के लिए स्वयं का उपहार देकर इसे प्रसन्न क्यों न कर लूँ? यह ध्यान आते ही उस निर्जन मन्दिर के गर्भगृह में जो किन्हीं यात्रियों द्वारा देवी को खड्ग भेंट की गयी थी। उसने घंटे की सांकल से अपने बालों द्वारा सिर बाँधकर उस खड्ग से उसे काट डाला और वह धरती पर जा गिरा। बहुत देर तक नहीं आया तो उसे देखने के लिए वह साला वहाँ गया। उसने देखा कि उसके बहनोई का सिर कटा पड़ा है तो बेहोश होते हुए उसने भी उसी प्रकार उसी तलवार से अपना सिर काट डाला। जब वह भी नहीं आया तो डाँवाडोल मन से वह मदनसुन्दरी भी देवी के मन्दिर में गयी। वहाँ प्रवेश करते ही उसने पति और भाई की यह दशा देखकर 'हाय मारी गयी' कहती हुई वह धरती पर जा गिरी। थोड़ी देर बाद उठकर सोचने लगी - ये दोनों बिना कारण मारे गये। अब मेरे इस जीवन से भी क्या मतलब? (17-36)। देह त्यागने को तैयार होती हुई उसने देवी से कहा - हे देवि, सौभाग्य और चरित्र विधान की एकमात्र अधिदेवता हो तुम। कामदेव के शत्रु शिवजी के आधे शरीर में विराजमान हो। समस्त नारी समाज की एक मात्र आप ही शरण हो। आप दुःख का हरण करने वाली हो। आपने मेरे पति और भाई का एक साथ क्यों हरण कर लिया? मैं तो आपकी सदा भक्ति करती हूँ। मेरे साथ आपने ठीक नहीं किया। तो आपके आश्रित शरण में आयी मेरी एक दयनीय वाणी सुन लो - दुर्भाग्य के मारे इस शरीर को यहीं मैं त्यागती हूँ। हे देवी फिर जहाँ कहीं किसी जन्म में उत्पन्न होने पर फिर मेरे ये दोनों ही भाई पति हों। इस प्रकार स्तुति करते हुए अपनी बात कहकर देवी को पुनः प्रणाम करके अशोक वृक्ष पर लता से फंदा बनाया। उसमें कंठ लंबा करके जब तक लगाने लगी तभी आकाश से यह वाणी आयी। पुत्री ऐसा साहस मत कर।

बाला होने पर भी तेरे इस उत्कृष्ट सत्त्व से मैं प्रसन्न हूँ। छोड़ दे इस फंदे को। भाई और पति के सिर अपने अपने धड़ से लगा दे तो मेरे वरदान से ये जीवित होकर उठ खड़े होंगे। यह सुनते ही प्रसन्न होकर उस फंदे को त्यागकर बड़ी तेजी से उस मदनसुन्दरी ने हड़बड़ाते हुए पति का सिर भाई के शरीर से जोड़ दिया और पति के शरीर से भाई का सिर जोड़ दिया - विधि विधान से। तब वे दोनों बिल्कुल स्वस्थ अक्षत खड़े हो गये। सिर बदलने से उनके शरीर आपस में मिश्रित हो गये। परस्पर जो वृत्तान्त हुआ उससे सन्तुष्ट होकर पार्वती देवी को प्रणाम कर वे तीनों इच्छानुसार चले गये। जाते हुए उस मदनसुन्दरी ने देखा कि उसने सिर इधर उधर लगा दिये हैं तो वह परेशान होकर किंकर्तव्यविमूढ हो गयी। तो हे राजन् बोल - मिश्रितों में कौन पति हुआ उसका? जानते हुए भी नहीं बोलेगा तो पहले वाला शाप तुझे लगेगा। यह कथा-प्रश्न वेताल से सुनकर राजा त्रिविक्रमसेन उससे इस प्रकार बोला - उसका पति वह है जिसके पति का सिर लगा है। क्योंकि अंगों में सिर ही प्रधान है और उससे ही पहचान होती है। यह कहते ही उस राजा के कन्धे से वह वेताल बिन सोचे चला गया और राजा फिर उसे लेने चला गया।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लंबक की त्रयोदश तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-14

वेताल-7

तब फिर जाकर शीशम के पेड़ से उस वेताल को कन्धे पर लेकर राजा त्रिविक्रमसेन चला तो मार्ग में वह वेताल बोला - हे राजन् थकान में विनोद के लिए कथा कहता हूँ, सुनो। पूर्वी सागर (बंगाल की खाड़ी) के किनारे ताम्रलिप्ति नाम की नगरी है। उस नगरी में चण्डसेन नामक राजा हुआ। वह परनारी से पराङ्मुख था, रणक्षेत्र से नहीं। वह शत्रुओं की लक्ष्मी का हरण करता था, दूसरों की धनसम्पदा नहीं। उस राजा के सिंह द्वार पर एक बार सत्त्वशील नामक लोकप्रिय दक्षिणात्य राजकुमार आया और स्वयं को निर्धन बताकर अन्य राजपूतों के साथ राजा के प्रति छल किया (1-6)। तब निर्धन यात्री बनकर वहाँ वह बहुत वर्षों तक सेवा करता रहा। परन्तु राजा से सेवा का फल नहीं पाया। यदि राजवंश में जन्म हो तो ऐसी निर्धनता और निर्धनता में भी क्या महा इच्छा से विधाता ने मेरी पूरी की? इस प्रकार सहायकों सहित मैं सेवा कर रहा हूँ। बहुत समय हो गया, भूख से पीड़ित हैं पर राजा अब भी ध्यान नहीं देता है। वह कार्पटिक इस प्रकार सोच रहा था तो एक बार

आखेट के लिए वह राजा निकला। लाठी लेकर आगे आगे वह पिछलग्गू, आगे आगे दौड़ रहा था तो वह घोड़े व पैदल के साथ प्राणियों के वन में पहुँच गया। वहाँ एक विशाल मतवाले सूअर का शिकार हेतु पीछा करते हुए थोड़ी देर में बहुत दूर दूसरे वन में पहुँच गया (7-12)। उस सूअर द्वारा हरण किया गया वह घास-पत्तों के ढके मार्ग वाले उस महावन में राजा थक गया और दिशा भी भूल गया। पिछलग्गू वह कार्पटिक पवन वेग से चलने वाले घोड़े के पीछे दौड़ता हुआ, प्राणों की परवाह न करता हुआ, भूख-प्यास से पीड़ित पैदल पहुँचा। उसे इस प्रकार पीछे पीछे आता देखकर राजा प्रेम से बोला कि जानते हो हम किस मार्ग से आये हैं? यह सुनकर हाथ जोड़कर वह पीछे चलने वाला बोला। जानता हूँ। पर थोड़ी देर यहाँ विश्राम कर लें स्वामी। इस समय दोपहर हो गयी है। आकाश वधू की करधनी की यह मध्यमणी किरणों के जाल को चमका रहा है सूर्य। यह सुनकर उस राजा ने उस रक्षक को कहा - तो फिर यहाँ कहीं पानी देखो। 'ठीक है' यह कहकर वह अनुचर ऊँचे पेड़ पर चढ़कर नदी देखकर उतरा और उस राजा को वहाँ ले गया। उसके घोड़े का पलान (सामान) उतारा, घोड़े ने लौट लगायी, फिर उसे घास-पानी करके थकानी उतारी। राजा ने स्नान किया तो कपड़े के आँचल से मनोहर आँवले खोलकर, धोकर उसे दिये। ये कहाँ से? यह राजा ने पूछा तो घुटने के बल बैठकर आँवले अंजलि में लेकर वह यह बोला (13-22)।

पिछले दस वर्षों से प्रतिदिन यही वृत्ति आचरण कर रहा हूँ जो अनेकान्त (जैनदर्शन वाले) मुनियों का व्रत है। यह सुनकर हे 'सत्त्वशील' तेरा नाम सार्थक है - यह कहकर कृपावान् लज्जित होता राजा सोचने लगा। उन राजाओं को धिक्कार हैं जो यह नहीं जानते कि उसके सेवक कष्ट में या अकष्ट में। वह परिवार की धिक्कार योग्य है जो यह नहीं बताता (25)। यह सोचकर उस राजा ने दो आँवले उस अनुचर के अनुरोध पर किसी तरह उसके हाथ से ले लिये। खाकर पानी पीकर थोड़ी देर विश्राम किया। अनुचर ने भी आँवले खाये, पानी पीया। तब उसने घोड़ा तैयार किया। वह उस पर बैठा। आगे-आगे वह मार्ग बताता जा रहा था। राजा ने उससे कहा कि घोड़े पर पीछे बैठ जा, पर वह नहीं बैठा। राजा को उसके सैनिक मिल गये और अपनी नगरी पहुँच गया। वहाँ उसकी भक्ति की प्रशंसा करके उसे धन और राज्य देकर कार्पटिक की पूर्ति कर दी और तब भी उसका पूरा प्रतिदान नहीं माना (26-30)।

तब वह सत्त्वशील अनुचर का आचरण त्यागकर राजा चण्डसिंह के पास रहने लगा और एक बार उस राजा ने उसे अपने लिए सिंहल राजा की पुत्री का हाथ माँगने के लिए सिंहलद्वीप भेजा। इष्टदेव की पूजा करके सागरपथ से जाते हुए राजा द्वारा निर्दिष्ट ब्राह्मणों के साथ वह जलयान (नाव) पर बैठा। नाव से निश्चित जाते हुए उस सागर से चकित करता हुआ एक ध्वज प्रकट हुआ। आकाश को छूता हुआ विशाल जम्बूनद-निर्मित अनेक रंगों से फहराती वैजयन्ती से वह सुशोभित था। उसी समय अचानक वहाँ मेघमाला उठकर जोर से बरसने लगी और तेज हवा चलने लगी (31-36)। उस हवा और बरसात से वह ऐसे खिंचाने लगा मानो उसका कोई नाविक न हो, निराधार हो और उस ध्वज के स्तम्भ पर वह नाव का द्वीप सुशोभित होने लगा। इतने में वह ध्वज लहरों से लहराते उस सागर में उस नाव के साथ डूबने लगा। तब उसमें जो ब्राह्मण थे वे अपने राजा चण्डसिंह का नाम ले लेकर डरकर चिल्लाने लगे। यह सुनकर और यह सहन न करने वाले उस सत्त्वशील ने स्वामिभक्ति से उत्तरीय बाँधकर हाथ में हथियार लेकर उस ध्वज के पीछे-पीछे स्वयं को निरपेक्ष सागर में फेंक दिया। उसे आशंका थी कि इसका कारण सागर है। उस वीर ने उसका सामना करने के लिए यह किया। उसके डूबने पर वायु से उठी लहरों से फेंकी गयी नाव जलजन्तु के सामने जा गिरी। देखते देखते वह सत्त्वशील उस सागर में डूब गया। तब तक वहीं सागर नहीं, एक दिव्य नगरी दिखाई दी (37-43)। उसमें स्वर्ण के चमकदार भवन में मणियों के स्तम्भ चमक रहे थे। श्रेष्ठ रत्नों से बँधी सीढ़ियों वाली बावड़ी वाले उद्यान से वह सुशोभित थी। विविध मणियों की शिला की भीतों के रत्नों के उन्नत ध्वज वाला मेरु के समान बहुत ऊँचा कात्यायनी देवालय दिखाई दिया। वहाँ उस देवी को प्रणाम करके स्तुति की और यह कैसा आश्चर्यजनक जादू है यह सोचते हुए उसके सामने बैठ गया। तब तक देवी के सामने के प्रभामण्डल के भीतर से अचानक किवाड़ खोलकर दिव्य कन्या निकली। नीलकमल सी आँखें, खिले कमल जैसा मुख, फूल सी मुस्कुराती, कमल डंडी जैसे कोमल तन वाली वह चलती फिरती कमलिनी जैसी थी। हजार स्त्रियों के परिवार वाली उसने देवी के गर्भगृह में प्रवेश किया और उधर उसके साथ सत्त्वशील के हृदय में भी उसने प्रवेश किया। तब पूजा करके वह देवी के मन्दिर से निकली परन्तु सत्त्वशील के हृदय से वह किसी भी तरह नहीं निकली (44-50) और वह वहीं उस प्रभामण्डल में प्रवेश कर गयी और वह सत्त्वशील भी उसके पीछे-पीछे उसमें प्रवेश कर गया। और प्रवेश करके देखा कि वहाँ अन्य देव का उत्तम

नगर है मानो ऐसा मिलन उद्यान हो जिसमें समस्त भोग सम्पदाएँ हों। उसके भीतर मणियों से निर्मित पलंग पर उसे बैठी देखकर वह सत्त्वशील उस कन्या के पास जाकर बैठ गया। बैठा और उसके मुख पर आँखें गढ़ाये वह चित्त के समान निश्चल हो गया। काँपते पुलकित अंगों से मुख से आलिंगन करने को जो आतुर थी। उस कामातुर मुख को देखकर उस कन्या से संकेत पाकर सेविकाओं ने कहा - तुम हमारे यहाँ अतिथि हो। तो हमारी स्वामिनी के बनाये आतिथ्य को प्राप्त करो। उठो स्नान करो तब उसके बाद भोजन करो। यह सुनकर किसी तरह आशान्वित होकर तब वह उठा और उनकी बतायी एक बावड़ी पर गया जो उस उद्यान में थी। उसमें जैसे ही डुबकी लगायी तो वह उसी समय ताम्रलिप्ति में जा पहुँचा कि वह तो हड़बड़ाते हुए चण्डसिंह के उद्यान की बावड़ी में से बाहर आया। अचानक वहाँ स्वयं को पहुँचा देखकर सोचता रह गया - अरे यह क्या है? कहाँ यह उद्यान और कहाँ वह दिव्य नगर? और वहाँ अमृत के सार के समान कहाँ उसका दर्शन? और कहाँ इसके बाद ही उससे वियोग का यह महाविष (51-60)। यह स्वप्न तो नहीं था जो जागते हुए मैंने अनुभव किया। निश्चित ही उन पाताल कन्याओं ने मुझे मूर्ख बनाकर ठग लिया। यह ध्यान करते हुए उस कन्या के बिना वह पागल के समान उस उद्यान में काम पीड़ित भटकने और रोने लगा। पीली पुष्प पराग हवा से उड़कर उसके अंगों में लिपट गयी थीं मानो वियोग की आग लग गयी हो। उसे ऐसी स्थिति में देखकर उद्यान के रखवालों ने जाकर राजा चण्डसिंह को बताया तो हड़बड़ाते हुए उसने स्वयं आकर उसे देखा। उसे सान्त्वना देकर पूछा कि मित्र यह सब क्या है? बताओ। तुम कहाँ गये थे। कहाँ आ गये? तुम्हारा तीर कहाँ गिरा? यह सुनकर उस सत्त्वशील ने अपना पूरा विवरण राजा को सुना दिया। तब वह भी इस प्रकार सोचने लगा - अरे यह वीर भी मेरे पुण्यों से काम पीड़ित हो गया। अब अवसर आ गया है कि इसका ऋण मुझे उतार देना चाहिए (61-67)। मन यह सोचकर उस वीर राजा ने उसे कहा - तो यह बेकार दुःख छोड़। मैं तुझे उसी मार्ग से ले जाकर उस असुर कन्या तेरी प्रिया से मिला दूँगा। यह ढाढस बँधाकर राजा ने उसे स्नान आदि करवाया। दूसरे दिन मन्त्रियों को राज्यभार सौंपकर वह राजा उसके साथ उसके बताये मार्ग द्वारा यान पर बैठकर सागर में पहुँचा (68-70)। जैसे ही उसके मध्यभाग में पहुँचा तो देखा कि पहले के समान पताका सहित ध्वज उठा हुआ है। तब सत्त्वशील ने राजा से कहा - वही यह दिव्य प्रभाव वाला महाध्वज उठा हुआ है। मेरे डूबने पर आप इसे डुबे देवें। यह कहकर उस डूबते ध्वज के निकट पहुँचकर

उस सत्त्वशील ने पहले स्वयं को फेंका। तब राजा ने भी स्वयं को उसी प्रकार फेंका। भीतर डूबने पर वे दोनों उसी दिव्य नगर में पहुँचे। वहाँ आश्चर्य से उस राजा ने देवी पार्वती को देखकर प्रणाम किया और सत्त्वशील के साथ बैठ गया। तब उसके प्रभामण्डल से सखियों के साथ कन्या रूप धर प्रभा प्रकट हुई। जब सत्त्वशील ने कहा कि यही वह सुमुखी है तो राजा ने देखकर उसकी कन्या में आसक्ति उचित मानी। उस कन्या ने भी शरीर के शुभ लक्षणों वाले उस राजा को देखकर सोचने लगी कि यह अपूर्व अनोखा पुरुष कौन है। वह पूजा के लिए अम्बिका के मन्दिर में गयी। वह राजा भी अवज्ञापूर्वक सत्त्वशील को साथ लेकर उद्यान में चला गया। थोड़ी देर में वह दैत्य कन्या पूजाकर श्रेष्ठ पति की प्राप्ति की चाहकर के देवी के गर्भगृह के भीतर से निकली। निकलकर एक सखी से कहा - सखि खोज कर तो कि जिस महापुरुष को मैंने देखा था वह कहाँ ठहरा है? लाकर उसका आतिथ्य सत्कार करो और प्रसन्न करो। यह कोई उत्तम पुरुष पूज्य है (71-82)।

उसके ऐसा कहने पर वह सखी उद्यान में उसे देखती हुई अपनी स्वामिनी के बताये अनुसार उसे नम्रतापूर्वक निवेदन किया। यह सुनकर वह वीर राजा उपेक्षा करते हुए उससे बोला - यही हमारा आतिथ्य है, और क्या उपयोगी है? यह सुनकर उस सखी ने जाकर वह बात सुना दी तो दैत्य कन्या ने उसे सर्वथा मानने योग्य माना। तब उस निःस्वार्थ राजा के धैर्य के फंदे से आकर्षित होती हुई वह मनुष्य के अयोग्य आतिथ्य में भी पति के लिए पार्वती की सेवा की परिपक्वता में समर्पित उस उद्यान में स्वयं असुर पुत्री प्रवेश कर गयी। सब ओर से विचित्र पंछियों की आवाज से, वायु से डोलती लताओं की भुजाओं से फूल बिखरते वृक्षों द्वारा प्रशंसा पाते हुए, अभिनंदित उसी प्रकार प्रश्रय से नम्र पहुँचकर आतिथ्य ग्रहण करने के लिए उसने राजा से प्रार्थना की (83-89)।

तब उस राजा ने उस सत्त्वशील को लक्ष्य मानकर उस कन्या से कहा - इसके कहने पर इस देवी के दर्शन हेतु मैं आया हूँ। ध्वज के मार्ग से प्राप्य अत्यन्त अद्भुत मन्दिर वाली इस गौरी के दर्शन के लिए। उनके दर्शन के बाद तुम्हारे दर्शन हो गये। अब अन्य और क्या आतिथ्य चाहिए हमें। यह सुनकर वह कन्या बोली - तो कौतुक से मेरे दूसरे नगर को देखने भी आइये जो तीनों लोक में अद्भुत है। उसके ऐसा कहने पर वह राजा हँसते हुए बोला - वह भी इसी ने बता दिया जहाँ वह स्नान की बावड़ी है। तब वह कन्या बोली - हे देव ऐसा मत कहिए। मैं छल नहीं कर रही। पूज्य से छल करने वाली मैं कौन

होती हूँ। तो आपकी उदात्तता ने मुझे सेविका बना दिया। इसलिए मेरी प्रार्थना इस प्रकार न तोड़े। यह सुनकर 'ठीक है' यह कहकर सत्वशील का वह मित्र उस कन्या के साथ प्रभा मण्डल के पास पहुँचा। और किवाड़ खोलते ही उसमें प्रवेश करते ही उसने उसका वह दूसरा दिव्य नगर देखा (90-97)। जहाँ सदा सब ऋतुएँ उपस्थित रहती हैं। सदा फूलते फलते वृक्ष हैं। मेरु के ऊपरी भाग के समान पूरा रत्नों और स्वर्ण से निर्मित है। बहुमूल्य रत्न के आसन पर राजा को बिठाकर वह समुचित अर्घ्य लाकर दैत्यराज की पुत्री बोली कि मैं असुरस्वामी महात्मा कालनेमि की पुत्री हूँ। मेरे पिता को विष्णु ने स्वर्ग पहुँचा दिया। पिता के समय में ही विश्वकर्मा द्वारा बनाये गये मेरे ये दो नगर हैं। यहाँ न वृद्धावस्था और मृत्यु की बाधा है। समस्त कामनाओं की यहाँ पूर्ति होती है (98-101)। अब तुम ही मेरे पिता तुल्य हो। मैं तुम्हारे वश में हूँ। इस प्रकार उसने अपना सब कुछ अर्पित कर दिया तो उस राजा ने उसे उससे कहा - यदि ऐसा है तो हे प्रशसनीय पुत्री मैं तुझे इस वीर, मित्र और बन्धु सत्वशील को देता हूँ। इस प्रकार देवी के प्रत्यक्ष सत्कार, प्रसाद रूप राजा ने उसे कहा तो उस गुणज्ञा ने नम्र होकर 'ठीक है' कहकर अनुमति दे दी। वह सत्वशील भी कृतार्थ हो गया। राजा ने उसका उससे पाणिग्रहण करवा दिया। तथा सुरपुर का ऐश्वर्य प्रदान कर उसने सत्वशील को कहा - तेरे दो आँवले मैंने खाये थे। उनमें से किसी तरह ऋण उतार रहा हूँ। वह सत्वशील उसके सामने झुक गया। तब उस दैत्यपुत्री से कहा - मुझे मार्ग बता जिससे मैं अपनी नगरी पहुँच सकूँ। तब उस दैत्य पुत्री ने उसे अपराजित नामक खड्ग और खाने योग्य एक ऐसा फल दिया जिससे वृद्धता और मृत्यु का हरण हो जाए। उन दोनों के साथ उसके द्वारा बतायी गयी बावड़ी में डूबकी लगाकर अपने देश में निकल आया। वह राजा समस्त कामों की सिद्धि सम्पन्न हो गया। क्रमशः वह सत्वशील भी दैत्य नगरी के नगर का राज्य शासन करने लगा। तो बता इन दोनों में से सागर में गिरने में कौन अधिक सत्त्व सम्पन्न है ? यह प्रश्न सुनकर वेताल के शाप से डरते हुए उस त्रिविक्रमसेन राजा ने उत्तर दिया - इन दोनों में सत्वशील मुझे अधिक सत्त्व वाला लगता है। वास्तविकता न जानते हुए वह बिना आस्था के सागर में गिर गया था। राजा ने तो वास्तविकता जानकर सागर में प्रवेश किया। दैत्य कन्या नाव के द्वारा साध्य और उसकी कामना से राजा ने यात्रा की। इस प्रकार मौन तोड़कर राजा ने बात कही तो उसे सुनकर वह वेताल पहले के समान उस शीशम के पेड़ पर अपने स्थान पर चला गया और राजा भी उसे फिर लाने के लिए तेजी से पीछे-पीछे गया। क्या बुद्धिमान् लोग प्रारम्भ किये कार्य को पूरा किये बिना ठंडे पड़ जाते हैं ? (102-115)

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक की चतुर्दश तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-15

वेताल-8

उस शीशम के पेड़ पर पहुँचकर फिर से उस वेताल को राजा त्रिविक्रमसेन कन्धे पर डालकर चल पड़ा। चलते हुए उसे कन्धे के वेताल ने फिर कहा - हे राजन् थकान भूलने के लिए मुझसे यह प्रश्न सुनो। अंगदेश में वृक्षघट नामक एक विशाल अग्रहार है। वहाँ विष्णुस्वामी नामक महाधनी याज्ञिक ब्राह्मण था। अपनी अनुरूप पत्नी से उसके तीन पुत्र क्रमशः तरुण हुए जो दिव्य विद्वत्ता से सम्पन्न थे। किसी समय वे तीनों कूर्म के लिए पिता के द्वारा भेजे गये। उसने उस समय यज्ञ आरम्भ किया था। वे तीनों भाई सागर पर पहुँचे। कूर्म प्राप्त कर सबसे बड़े ने दोनों छोटों को कहा - पिता के यज्ञ के लिए एक कूर्म तुम दोनों में से एक ले लो। मैं इसे नहीं ले सकता क्योंकि यह कच्चे माँस जैसा फिसलता है। ज्येष्ठ के यह कहने पर छोटे दोनों बोले - तुम्हें जैसा लगता है वैसा हमें कैसे नहीं लगता है ? यह सुनकर ज्येष्ठ बोला - तुम दोनों लेकर जाओ। वरना तुम्हारे कारण पिताजी की यज्ञक्रिया का लोप होगा। तब तुम दोनों और उनका निश्चय ही नरक में पतन होगा (1-9)। जब यह कहा तो वे दोनों छोटे भाई हंसे और बोले - हमारे ही बारे में धर्म जानते हो, अपने बारे में नहीं। तब ज्येष्ठ बोला - क्या तुम दोनों मेरी सुन्दरता नहीं जानते ? मैं भोजन से मनोहर हूँ। मैं गन्दी वस्तु नहीं छू सकता ? उसकी यह बात सुनकर बीच वाला भाई बोला - तो मैं तो और अधिक भला चंगा हूँ। नारियों के लिए सुन्दर और दक्ष हूँ। मध्यम के ऐसा कहने पर बड़े ने फिर कहा - तो फिर अपन दोनों से यह छोटा कछुआ उठाए। तब वह छोटा भी भोंहें चढ़ाता हुआ उन दोनों से बोला - अरे मूर्खों, मैं तो और विशेष सुन्दर हूँ क्योंकि तूलिका (रुई) द्वारा मनोहर हूँ।' इस प्रकार वे तीनों ही भाई आपस में कलह करने लगे। वे सब अभिमानी उस कछुए को छोड़कर निर्णय के लिए उस प्रदेश के प्रसेनजित नामक राजा के पास विटंकपुर नामक नगर में अचानक पहुँच गये (10-16)।

वहाँ प्रतीहार से कहलवा कर के भीतर प्रवेश करके उन सबने राजा को अपना वह सारा विवरण बता दिया। तब राजा ने उनसे कहा - जब तक मैं तुम तीनों की परीक्षा नहीं कर लूँ तब तक तुम यहीं ठहरो। 'ठीक है' कहकर वे सब राजा के कहने पर ठहर गये।

राजा ने अपने भोजन के समय उन तीनों को भी अपने सामने आसन लगाकर राजा के योग्य छः रसों का भोजन दिलाया। सब खा रहे थे तो उनमें से एक ब्राह्मण ने नहीं खाया। वह भोजन से मनोहर था। उसने घृणा करता मुँह बनाया। जब स्वयं राजा ने पूछा कि हे ब्रह्म यह स्वादिष्ट और सुगन्धित है फिर क्यों नहीं कर रहे भोजन ? तो वह ब्राह्मण धीरे से बोला - शव के धुँएँ से स्वाद बिगड़ जाने वाले हैं ये भात। इसलिए स्वामी, स्वादिष्ट होने पर भी इन्हें खाने की इच्छा नहीं हो रही। उसके ऐसा कहने पर राजा की आज्ञा से सबने सूँघकर कहा - यह भात निर्दोष है और सुगन्ध भी। इतना बढ़िया भोजन भी उसने नहीं खाया और नाक बंद कर रखी। तब राजा ने सोच-विचारकर क्रम से खोज खबर शुरू की। तब नियुक्त व्यक्ति से उस अन्न के बारे में ज्ञात हुआ कि ग्राम के श्मशान के समीप के खेत की साल (धान) का यह भात है। तब अत्यन्त चकित होकर राजा संतुष्ट होकर बोला - तुम सचमुच भोजन की शुद्धि जानते हो, अतः अन्य भोजन खाइए (17-26)। आहार हो जाने पर उन सब ब्राह्मणों को आवास गृहों में छोड़कर राजा अपनी एक उत्तम गणिका को लाया। उसे सजा धजा कर सांयकाल दूसरे ब्राह्मण के पास भेजा जो नारीचंग था। राजकीय सेवकों के साथ पूर्णिमा की रात जैसी पूर्ण चन्द्र जैसे मुखवाली कामोद्दीपन करने वाली वह गणिका उस ब्राह्मण के आवास पर गयी। सर्वथा आलोक से चमकते सदन में जैसे ही उसने प्रवेश किया वह बायें हाथ से नाक का अग्रभाग बंद करता हुआ मूर्च्छित होने लगा। राजसेवकों को उस नारी चंग ने कहा - निकालो इसे। नहीं तो मैं मर जाऊँगा। इससे बकरे की गन्ध आ रही है। यह कहने पर वे राजसेवक उस निन्दित गणिका को राजा के पास ले जाकर उसे सब विवरण बता दिया। राजा ने भी तत्काल उस नारीचंग को बुलाकर कहा - चन्दन, कपूर, काले गूगल की उत्तम गंध से जिसका प्रसाधन किया गया जिससे चारों और सुगन्ध फैल रही है। ऐसी गणिका में बकरे वाली गंध कहाँ से आ गयी ? राजा ने जब उसे यह कहा तो भी नारीचंग नहीं आया तो राजा विचार में पड़ गया। बड़ी तरकीब से उसने गणिका से पूछा तो ज्ञात हुआ कि उसका पोषण बकरी के दूध से हुआ है। उसकी माता तथा धाय माँ के वियोग होने पर बचपन में बकरी के दूध से वह बड़ी हुई। यह उसके ही मुख से ज्ञात हुआ। तो राजा नारीचंग की दक्षता पर बड़ा चकित हुआ। उसकी प्रशंसा करते हुए राजा ने उस तीसरे ब्राह्मण तूलिका चंग को बिछोना दिलाया, पलंग पर उस रस वाली संख्या में सात रुई की गादियाँ रखकर (27-38)। उस बहुमूल्य आवासगृह में धोये हुए कोमल कपड़े की चादर वाले

बिस्तर पर वह सो गया। आधा पहर रात की बीती और वह हाथ से बगल दबाकर कष्ट से चिल्लाता हुआ उठा। वहाँ के राजपुरुषों ने देखा कि उसकी बगल में बिल्कुल चिपका हुआ बाल की टेढ़ी लाल छाप लगी है। उन्होंने जाकर राजा से कहा तो राजा ने भी उनसे कहा कि तूलिकाओं के नीचे कुछ है तो नहीं - यह देखो। वे जाकर एक एक तूलिका (रुई की) गादी देखने लगे। तब सबसे नीचे की गादी के नीचे पलंग पर से एक बाल मिला। लाकर राजा को वह बताया। राजा ने भी देखा कि उसी रूप का निशान है तूलिका चंग के अंग पर। राजा यह देखकर चकित रह गया। रुई की सात गादियों के नीचे से बाल इसके शरीर पर कैसे लग गया ? यह अचरज करते हुए राजा ने किसी तरह वह रात व्यतीत की। प्रातः अद्भुत विदग्धता और सुकुमारता के लिए, उन तीनों चंगों को तीन लाख स्वर्ण दिये। तब वे सुखी होकर वहाँ रहने लगे और कच्छप को भूल गये। वे तीनों पिता के यज्ञ के फल में विघ्न के पापी थे। कन्धे पर का वह वेताल यह कथा कहकर प्रश्न पूछता हुआ उस राजा त्रिविक्रमसेन से बोला - हे राजन् पहले बताये शाप को याद करते हुए मुझे बता कि इन भोजन, नारी, शय्या चंगों में से सर्वाधिक चंग कौन है ? यह सुनकर वह बुद्धिमान् राजा उस वेताल से बोला - बिना किसी छल के मैं इनमें से अधिक चंग तूलिका चंग को मानता हूँ।¹ अन्य दो चंगता तो भले ही कहीं से भी ज्ञात हो जाए। उसके ऐसा कहते ही राजा के कन्धे से वेताल पहले के समान चल गया और राजा भी उसी प्रकार बिना किसी चिन्ता के पुनः उसकी ओर चला गया (39-52)।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर में शशांकवती लम्बक की पंचदश तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-16

वेताल-9

तब वह राजा त्रिविक्रमसेन पुनः उस शीशम के पेड़ पर से वेताल को पकड़कर कन्धे पर डालकर चल पड़ा। तब उसे उस वेताल ने कहा। हे राजन् कहाँ तो तेरा राज्य और कहाँ यह रात में इस श्मशान में भ्रमण ? क्या हेतु है कि तुम रात में भीषण भूतों से भरे, चिता के धुँएँ जैसे सघन अंधकार से भरे इस श्मशान की भी तुम परवाह नहीं कर रहे हो ? इस भिक्षु की यह तुम पर कैसी कष्टदायी पकड़ है कि उसके अनुरोध पर कष्ट सहन कर रहो हो। तो फिर मार्ग-विनोद का यह मेरा प्रश्न सुनो (1-4)।

1. ऐसी ही कोमल राजकुमारी मालवी लोककथा में भी है।

अवन्ति जनपद में एक नगरी है। युग के आरम्भ में इसे देवों ने बनाया। शिवजी के शरीर के समान जो उद्दाम रूप से भोगी-भूति से विभूषित है (शिवजी के शरीर पर सर्प और राख है उसी प्रकार नगरी भोगियों तथा वैभव से विभूषित है)। यह सत्ययुग में पद्मावती, त्रेता में भोगवती, द्वापर में हिरण्यवती और कलियुग में उज्जयनी नाम से प्रसिद्ध है। 15-6

उस नगरी में राजाओं में श्रेष्ठ वीरदेव नामक राजा हुआ। और उसकी रानी का नाम था पद्मरति। तब वह राजा अपनी रानी के साथ मन्दाकिनी नदी के किनारे जाकर तपस्या से पुत्र की कामना से शिवजी की आराधना करने लगा। बहुत समय तक तपस्या निरत रहने पर संतुष्ट शिवजी की यह आकाशवाणी उस राजा ने सुनी जब वह स्नान-पूजादि सम्पन्न कर चुका था कि हे राजन् तेरे कुल में एक वीर पुत्र और सुन्दरता में अप्सरा से भी बढ़कर अनुपम कन्या होगी। यह आकाशवाणी सुनकर अभीष्ट सिद्ध होने पर वह राजा वीरदेव अपनी रानी के साथ अपनी नगरी में आ गया (7-11)। वहाँ उसके शूरदेव नामक पुत्र प्रथम उत्पन्न होने पर उस रानी पद्मरति के एक कन्या उत्पन्न हुई। अनंग के भी रूप से यदि रति उत्पन्न करे ऐसी उस कन्या का पिता ने नाम रखा अनंगरति। जब वह बड़ी हुई तो पिता ने उसके योग्य वर हेतु पट-चित्र पृथ्वी के राजाओं के मंगवाये। उनमें से एक भी उसके योग्य प्रतीत नहीं हुआ। तब उस राजा ने वात्सल्य से उस बेटी से कहा - हे पुत्रि मुझे तो तेरे योग्य कोई पति नहीं दिखाई देता। इसलिए सब राजाओं को मिलाकर स्वयंवर कर ले। पिता की यह बात सुनकर उस राजकुमारी ने कहा - हे तात लज्जा के कारण मुझे स्वयंवर करने में उत्साह नहीं है। परन्तु एक सुन्दर आकृति के विज्ञान सम्पन्न अपूर्व युवक को आप जानते हैं। उसे आप दे दें। मुझे अन्य अधिक से कोई मतलब नहीं (12-18)।

इस प्रकार अपनी पुत्री अनंगरति की बात सुनकर उसके योग्य उस वर को उस राजा ने खोजना शुरू किया। जनता से यह सब सुनकर तब चार पुरुष दक्षिणापथ से राजा के पास आये जो वीर, विज्ञानी और भव्य थे। राजा ने उनका सत्कार किया तो उन्होंने एक एक कर उस राजकुमारी और राजा के सामने अपना अपना विज्ञान बताया जो उस कन्या के आकांक्षी थे। एक बोला - मैं पंचपट्टिक नामक शूद्र हूँ। पाँच उत्तम वस्त्र के जोड़े मैं अकेला बना देता हूँ। उनमें से एक देव को, एक ब्राह्मण को, एक कपड़ा अपने लिए रख लेता हूँ। एक पत्नी को देता हूँ यदि वह मेरी पत्नी बने तो। और एक बेचकर मैं खाने पीने की व्यवस्था करता हूँ (19-24)। इस प्रकार मैं विज्ञानी हूँ। अतः अनंगरति मुझे दे

दीजिए। इस प्रकार एक के कहने पर दूसरा पुरुष बोला - हे राजन् मैं वैश्य हूँ। समस्त पशु पक्षियों की भाषा जानता हूँ। नाम मेरा भाषाज्ञ है। अतः यह राजकुमारी मुझे दे दीजिए। दूसरे के यह कहने पर तीसरा बोला - मैं खड्गधर हूँ। नाम हे दोःशाली। क्षत्रिय हूँ राजन्। धरती पर मेरी बराबरी का कोई खड्गविद्या- विज्ञान का जानकार नहीं है। इसलिए हे राजन् यह कन्या मुझे दे दीजिए। तीसरे के यह कहने पर चौथा इस प्रकार बोला - मैं जीवदत्त नाम का विप्र हूँ। मेरा विज्ञान ऐसा है कि मृत जीव को भी लाकर तत्काल बता दूँ। वीर चर्या की सिद्धि है। अतः मुझे इसका पति बना दो (25-30)। ऐसा जब सब उन दिव्य आकृति के लोगों ने कहा तो उन्हें देखकर राजा वीरदेव बेटी के साथ असमंजस में पड़ गया। यह कथा कहकर वेताल ने पहले बताये गये शाप से डरे हुए उस राजा त्रिविक्रमसेन से पूछा - तो अब आप बताओ कि कन्या अनंगरति उन चारों में से किसे दी जाए राजन्। यह सुनकर राजा ने वेताल को उत्तर दिया। आप समय बिताने के लिए प्रायः मेरा मौन तुड़वा रहे हैं। अन्यथा हे योगेश्वर इस प्रश्न में क्या गहराई है? बताइए। शूद्र कुविन्द (जुलाहे) को कन्या कैसे दी जा सकती है? कन्या क्षत्रिय है तो वैश्य को भी कैसे दी जाए? पशु-पक्षियों का भाषाज्ञान काम पड़ने पर कैसे उपयोगी होगा? जो तीसरा पतित विप्र है उससे भी क्या जो अपने ब्राह्मणकर्म से गिरकर इन्द्रजाल में अपनी वीरता हाँक रहा है। अतः उस चतुर्थ क्षत्रिय खड्गधर को वह दी जाए जो अपनी वीरता की विद्या में दक्ष है। राजा की यह बात सुनकर वह कन्धे पर बैठा वेताल पहले के समान योग बल से तत्काल अपने स्थान पर चला गया और राजा भी फिर उसी प्रकार उसे लाने के लिए पीछे पीछे चला गया। जिनका एकमात्र घना उत्साह हो ऐसे वीर हृदय में थकान बाधा नहीं डालती (31-39)।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरितसागर में शशांकवती लम्बक की षोडश तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-17

वेताल-10

अनन्तर वह राजा त्रिविक्रमसेन शीशम के उस पेड़ से उस वेताल को कन्धे पर लेकर चल पड़ा। कन्धे पर पड़ा वह वेताल उससे बोला - राजन् तुम थक गये हो। अतः थकान मिटाने वाली यह कहानी सुनो (1-2)। समस्त राजाओं के मस्तक पर भी आज़ा चलाने वाला उत्तम राजा वीरबाहु नाम से विख्यात था। उसके श्रेष्ठ नगर का नाम

अनंगपुर है। वहाँ एक महाधनी अर्थदत्त नामक सार्थवाह था। उसके ज्येष्ठ पुत्र का नाम धनदत्त था। उसकी छोटी बेटी का नाम मदनसेना था। वह वणिगराज की कन्या रत्न थी। एक बार वह अपने उद्यान में सखियों के साथ खेल रही थी। तब भाई के मित्र धर्मदत्त नामक वणिक-पुत्र ने उसे देख लिया। उसने देखा कि सुन्दरता के रस से ऐसी भरी है कि उससे लावण्य झर रहा है। उसके स्तन कलश के आगे त्रिवली की तरङ्ग हैं। लगता था कि यौवन के हाथी के लीला-स्नान की बावड़ी हो। तो तत्काल काम बाण के समूह के संताप से उसके चित्त का हरण हो गया (3-8)। अरे इसके इस भास्कर रूप की धारा पर बैठकर कामदेव के द्वारा मेरा मन भाले से छेदने के लिए यह कामदेव ने बनाई है क्या ? यह सोचता हुआ जब देर तक वह सोचता रहा। तब तक उस चकवे के समान का दिन बीत गया। तब वह मदनसेना अपने घर में गयी। उसे देखने की व्यथा थी और धर्मदत्त का चित्त भी व्यथित था। उसके दर्शन न होने के दुःख की अग्नि के संताप से मानो जलता हुआ लाल सूर्य भी तत्काल पश्चिम सागर में जा गिरा। उस सुमुखी के घर के भीतर जाने की बात जानकर ही धीरे-धीरे उसके मुखकमल से जीता हुआ चन्द्रमा उग आया। तब घर जाकर वह धर्मदत्त उस कन्या के बारे में सोचता रहा। और चन्द्र किरणों से आहत होकर बिस्तर पर लोटता हुआ पड़ा रहा। बड़ी कठिनाई से मित्रों और कुटुम्बियों के पूछने पर भी कामग्रह से मोहित उसने कुछ भी नहीं कहा (9-15)। रात में कठिनाई से नींद आई तो सपने में उसे ही देखा कि बड़ी उत्सुकता से उस कान्ता का किस किस तरह अनुनय नहीं किया। प्रातः जगने पर जाकर देखा कि वह एकान्त में अकेली उद्यान में अपनी सखी की प्रतीक्षा करती खड़ी है। पास में जाकर प्रेम से कोमलता से आलिंगन की आकांक्षा से पैरों पर नत होते हुए वाणी से उसकी प्रशंसा करने लगा। तब उसने कहा - मैं कन्या हूँ और परायी नारी हूँ। अब तुम्हारी नहीं हूँ। पिताजी द्वारा समुद्रदत्त वणिक को मैं दे दी गयी हूँ। और कुछ ही दिनों में मेरा विवाह होने वाला है अब। इसलिए जाओ। चुपचाप किसी को मत देखो। उससे दोष लगता है। उसके यह कहने पर धर्मदत्त ने उसे बहुत कहा - जो भी हो, आपके बिना मैं जी नहीं पाऊँगा। यह सुनकर वह वणिक पुत्री बलात्कार के डर से व्याकुल होकर उससे बोली-तो फिर मेरा विवाह यहीं हो जाने दो। पिताजी बहुत समय से चाहते थे, वह कन्यादान का फल भी उन्हें मिल जाए। तब प्रेम से मैं निश्चित तुम्हारे पास पहुँच जाऊँगी (16-23)। यह सुनकर वह बोला कि मेरी प्रिया पहले अन्य की हो गयी हो उसे मैं नहीं चाहता। किसी अन्य द्वारा भोग किये कमल में क्या भँवरे की

आसक्ति हो सकती है ? उसने यह कहा कि मेरा तो विवाह हो जाय। पहले तेरे पास आ जाऊँगी फिर उस पति के पास चली जाऊँगी। उसने यह कहा तो विश्वास नहीं हुआ और उस वणिक पुत्र ने इसे नहीं छोड़ा। तब सौगन्ध सहित उसे सत्य बात से बाँध लिया। तब उसके द्वारा छोड़े जाने पर तेजी से वह अपने घर पहुँची। लग्न का दिन आया तो विवाह का मंगलकार्य सम्पन्न किया। पति के घर उत्सव सहित ले जायी गयी। वहाँ जाकर वह रात में सोने के कमरे में पति के साथ बैठी। वहाँ वह बिछोने पर बैठने पर भी उस पति के पास नहीं गयी। पति समुद्रदत्त ने आलिंगन किया तो उसने मुँह फेर लिया। उसने प्रार्थना की तो उसके आँसू आ गये। तब उसने हृदय में सोचा कि निश्चय ही यह मुझे नहीं चाहती है। वह बोला - हे सुन्दरी यदि मैं तेरा अनचाहा हूँ तो मुझे तुझसे कोई मतलब नहीं। जो तेरा प्रिय हो तू उसके पास जा। यह सुनकर सिर झुकाए वह उससे धीरे से बोली - तुम मेरे प्राण से भी अधिक प्रिय हो। परन्तु मेरी सूचना सुन लीजिए। प्रेम से बैठो। सौगन्ध से मुझे अभयदान दो तो हे आर्यपुत्र मैं तुम्हें कहूँ। ऐसा कहने पर उसने कठिनाई से वैसा किया तो लज्जा, विषाद और डरते हुए उसने कहा। घर के उद्यान में मुझे अकेली देखकर मेरे भाई के मित्र धर्मदत्त ने मुझे कामातुर होकर घेर लिया। लोक-लाज की रक्षा करते हुए तथा पिता के कन्यादान फल की रक्षा करते हुए मैंने उस हठ करने वाले को चुप किया कि विवाह करने के बाद पहले तुम्हारे पास आऊँगी तब प्रिय के पास। इसलिए हे प्रभो, अनुमति दो मैं अपने सत्य वचन का पालन कर लूँ (24-37)। मैं सत्य का उल्लंघन नहीं कर सकती। बचपन से उसका पालन कर रही हूँ कि जब तब उसके पास जाकर क्षण भर बाद तुम्हारे पास आ जाऊँगी। इस प्रकार उसकी वाणी के वज्रपात से वह अचानक मारा गया। वह समुद्रदत्त सत्य से बँधा हुआ क्षण भर के लिए सोचने लगा - अरे धिक्कार है। यह तो अन्य से प्रेम करती है तो इसे जरूर जाना चाहिए। तो क्या सच को मारूँ ? क्या चला जाए। कौन है इसका विवाह का ग्रह। यह विचार कर उसने उसे अनुमति दे दी कि वह इच्छानुसार जाए और वह भी अपने उस पति के घर से निकल पड़ी। तब तक उदयाचल के इन्द्र महल पर चन्द्रमा उग आया और जिसकी किरणों से पूर्व दिशा रूपी अंगना हँसने लगी। तब अन्धेरे में पर्वत की गुफा रूपी प्रिया आलिंगन कर सोने पर और भँवरों के भी अन्य चन्द्र के सेवन करने पर रात में अकेली जाती हुई उस मदनसेना को देखकर किसी चोर ने दौड़कर उसका आँचल पकड़ लिया। तू कौन है ? कहाँ जा रही है ? उसके यह कहने पर डरती हुई वह बोली - छोड़ मुझे, तुझे इससे क्या मतलब है ? (38-45)

तब मतवाला चोर बोला - चोर से तू कैसे छूटती है ? यह सुनकर उसने उससे कहा - मेरे गहने ले ले। तब चोर ने कहा - अरी पगली इन पत्थरों में क्या धरा है ? काले बालों वाली चन्द्रकान्त मुख वाली गारूड़ रत्न जब सामने हो। सुनरले अंगों के मध्य ब्रज और पद्मराग के चरण ले जानी वाली आप तो जगत् का गहना हो - तुम्हें तो मैं बिल्कुल नहीं छोड़ सकता। चोर के ऐसा कहने पर वह बनिये की बेटी विवश हो गयी। उसने अपना पूरा विवरण सुनाया और उससे प्रार्थना की - मुझे क्षमा कर। जब तक मैं सत्य का पालन करती हूँ। तू यहीं ठहर। तेरे पास मैं शीघ्र ही आ जाऊँगी। हे भद्र मैं अपनी इस सत्य वाणी का उल्लंघन नहीं करूँगी। उस सत्य पर अडिग रहने वाली की बात सुनकर उसे चोर ने छोड़ दिया (46-51)। वह उसके आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ वहीं ठहर गया। वह लड़की भी उस धर्मदत्त वणिक् के पास गयी। वह उस वांछित लड़की को उस निर्जन एकान्त में स्थित पाकर भी देखकर व पूरा विवरण पूछकर सोचकर पलभर बाद बोला - मैं सचमुच सतुन्ष्ट हूँ। तुझ परनारी से मुझे क्या करना ? जब तक तुझे कोई देख न ले तब तक तू जैसी आधी वैसी ही लौटकर चली जा (52-54) इस प्रकार उसके द्वारा छोड़े जाने पर 'ठीक है' कहकर वह मार्ग में प्रतीक्षारत चोर के पास आ गयी। तब उसने पूछा - तू गयी थी तो अपना विवरण बता। तो उसने 'बनिये द्वारा छोड़ने' की बात पूरी बता दी। तब उस चोर ने उससे कहा - यदि ऐसा है तो मैं भी तेरी सच्चाई के कारण छोड़ता हूँ। तू गहनों सहित अपने घर चली जा। इस प्रकार उसने भी छोड़ दिया और उसका अनुयायी बन कर उसकी रखवाली भी की। और वह अपने शील की रक्षा करती हुई प्रसन्न होकर अपने पति के घर आ गयी। वहाँ छिपकर उसने प्रवेश किया और प्रसन्नता से उसके पास आ गयी। देखकर पूछा तो उसने पति को सारी बात बता दी। उसने भी देखा कि उसके मुख की कांति का लोप नहीं हुआ है और उसमें संभोग का कोई भी निशान नहीं है। उसमें चरित न टूटने की संभावना तथा सत्य के लाभ में लीन सती होने का विश्वास करके भाग्य की इच्छानुसार पत्नी का कुलोचित अभिनंदन करके वह समुद्रदत्त उसके साथ सुखपूर्वक रहने लगा (55-61)।

इस प्रकार उस श्मशान भूमि में कथा कहकर वह वेताल उस राजा त्रिविक्रसेन से फिर बोला - हे राजन् बता उस चोर और बनिये में से त्यागी कौन है ? जानते हुए नहीं बताएगा तो तेरे सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे। यह सुनकर वह राजा मौन त्यागकर उस वेताल से बोला - इनमें त्यागी चोर है। वे दोनों बनिये नहीं। जो पति था उसके लिए तो

वैसी विवाहित होने पर भी उस अत्याज्या को छोड़ सकता था। वह कुलीन अन्य से लगी पत्नी को कैसे निभाए ? समय के साथ कामावेग क्षीण हो जाने से डर के कारण उस दूसरे ने भी उसे त्याग दिया कि उसके पति को मालूम होते ही प्रातः काल राजा को शिकायत कर देगा ? परन्तु चोर तो गुप्त आचरण करने वाला ही होता है। वह तो पाप कर्म ही करता है। वह यदि गहने पहने प्राप्त स्त्री रत्न को वैसी की वैसी छोड़ता है तो वह समचुच त्यागी है। यह सुनते ही उस राजा के कन्धे से वह वेताल फिर अपने स्थान पर चला गया। राजा फिर उसे लेने के लिए गया। उसका धीरज अखण्डित और उद्दाम था न।

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक की सप्तदश तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-18

वेताल-11

तब जाकर राजा त्रिविक्रमसेन ने शीशम के पेड़ से उस वेताल को कन्धे पर डालकर फिर चल पड़ा। कन्धे पर पड़ा वह वेताल उस राजा से बोला - हे राजन् एक विचित्र कथा कहता हूँ, सुनो। प्राचीन काल में उज्जयिनी में धर्मध्वज नामक राजा हुआ। उसकी तीन राजकुमारियाँ पत्नियाँ बनीं जो अत्यन्त प्रिय थीं। उनमें से इन्दुलेखा, दूसरी तारावली तथा अन्य मृगांकवती नामक थी। वे असामान्य शरीर और गुण वाली थीं। उन तीनों रानियों के साथ विहार करते हुए राजा बड़ा सुखी था। उसने अपने सब शत्रुओं को जीत लिया था (1-5)। एक बार वसन्त उत्सव का समय आने पर उन तीनों प्रियाओं के साथ वह राज उद्यान में खेलने लगा। वहाँ भौरों की पंक्ति की धनुष डोरी वाली फूलों से झुकी लताएँ देखते हुए लगता था मानो कामदेव का धनुष वसन्त ने सजा दिया हो। वहाँ के वृक्ष की ऊँची डाल पर बैठी कोयल की आवाज सुनते हुए लग रहा था कि सम्भोग एक रस है, ऐसी कामदेव की आज्ञा हो गयी। उस इन्द्र के समान राजा ने अपनी रानियों के साथ कामदेव के प्राणों का भी जीवन, मद के पान का सेवन किया। प्रिया के पिये से बचा मधु का पान करके वह मजा ले रहा था जो उनके बिम्बाफल जैसे ओठों से रोचक हो गया था और उनकी साँसों से सुगन्धित हो गया था। वहाँ उस इन्दुलेखा के राजा ने खेल में बाल पकड़े तो उसके हिलने-डुलने से कान में लगा नीलकमल गोद में गिर पड़ा। उससे जाँघ पर अचानक आघात लगा और घाव हो गया। वह श्रेष्ठ महादेवी 'हाय हाय' कहती मूर्च्छित हो गयी। यह देखकर परेशान व दुःखी होकर राजा

तथा सेवकों ने रानी को ढाढस पहुँचाया, धीरे-धीरे ठंडे पानी और हवा से। तब राजा उसे राजधानी में ले गया। उस प्रिया का वैद्यों ने दिव्य इलाज किया। घाव की पट्टिका खुल गयी। रात में उसे बिल्कुल ठीक देखकर वह राजा दूसरी तारावली रानी के साथ चन्द्र-प्रासाद पर चढ़ा (6-15)। वहाँ उस राजा की गोद में सोयी थी तो जालियों में से चन्द्रमा की किरणें वस्त्र डोलने से उसके अंग पर पड़ी। तब 'हाय हाय मैं तो जल गयी' यह कहती हुई वह पल भर में जाग गयी। उसके अंगों को छूती हुई बिछोने से अचानक उठ बैठी। हड़बड़ाता राजा 'यह क्या है' कहता हुआ जागा और उसने उठकर देखा - उसके प्रकट काम का फोड़ा निकलते हुए देखा। पूछने पर उस रानी तारावली ने उससे कहा - खुले अंग पर चन्द्र किरण पड़ने से मेरे यह हो गया (19)। यह कहती हुई चिल्लाने लगी, दुःखी होने लगी तो राजा ने उसकी सेविकाओं को बुलाया जो परेशान होकर भागती हुई आ गयीं। उस राजा ने पानी वाले कमल पत्रों का बिछौना लगवाया, अंग पर चन्दन का गीला लेप लगाया। तब वह जागकर उसकी तीसरी मृगांकवती प्रिया उसके पास आने के मन से अपने भवन से निकली। निकलने पर उसने उस नीरव रात में किसी घर में धान कूटते मूसल की ध्वनि दूर से साफ सुनी। सुनते ही 'हाय मैं तो मारी गयी' यह कहती हुई, हाथ पटकती, व्यथा से चिल्लाती वह मृगाक्षी मार्ग में बैठ गयी। तब सेविकाओं ने फिर उसे लौटाकर ले जाकर उस रोती बाला को अपने ही रनिवास में बिछौने पर डाल दिया (25)। रोते सेवकों ने देखा कि भँवरे बैठे कमलों के समान उसके दोनों हाथों पर घाव हो गये। यह बात राजा को बताई तो वह भी परेशान होता हुआ आया और उस धर्मध्वज ने अपनी प्रिया को पूछा - यह क्या है ? वह रोगी रानी भी हाथ बताती हुई उससे बोली - मूसल की ध्वनि सुनने से मेरे हाथों पर घाव हो गये। तब दाह ठंडा करने वाला चन्दन आदि का लेप उस दुःखी राजा ने उसके हाथों पर लगवाया। तो एक का नीलकमल गिरने से घाव हो गया, दूसरी का चन्द्र किरण से अंग जल गया और तीसरी को मूसल की ध्वनि सुनने से ही ऐसे दाफड़ निकल आये (26-31)। अरे आज तो अचानक में मेरी इन प्रियाओं का गुण का गौरव भी भाग्य से दोष बन गया। इस प्रकार सोचते हुए रनिवास में घूमते हुए राजा को वह रात सौ रातों के समान कठिनाई से निकली। और प्रातः काल में छाले मिटाने (छाल लाने वाली) के साथ वैद्य ने जो किया उससे उसका रनिवास फिर पहले जैसा स्वस्थ हो गया। ऐसी यह अद्भुत कथा कहकर कन्धे पर बैठा वह वेताल विक्रमसेन राजा से बोला - उच्चकुलीन इन रानियों में हे राजन् सबसे अधिक कोमल

कौन है ? जानते हुए भी नहीं बोलेगा तो पहले बताया गया शाप लगेगा राजन्। यह सुनकर वह राजा बोला - इनमें से सबसे सुकुमार वह रानी है जिसके अंग से मूसल की ध्वनि से ही दाफड़ हो गये।¹ नीलकमल या चन्द्रकिरण का स्पर्श होने से उन दूसरी दोनों को घाव हुए, उनसे इसकी समानता नहीं हो सकती। इस प्रकार उसके कहते ही वह वेताल राजा के कन्धे से तत्काल अपने स्थान पर चला गया और वह दृढ़ निश्चय वाला राजा भी उसी प्रकार उसके पीछे फिर गया (32-39)।

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक की अष्टादश तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-19

वेताल-12

उसके बाद वह राजा त्रिविक्रमसेन फिर उस शीशम के पेड़ पर जाकर वेताल को कन्धे पर डालकर पहले के समान चुपचाप चल पड़ा। तब फिर कन्धे पर से वह वेताल उससे बोला - हे राजन् इस तरह तुममें उद्वेग नहीं आया। अतः तुम मुझे प्रिय हो। तो थकान न लगे इसलिए तुझे मनोरंजक यह कथा सुनाता हूँ। प्राचीन काल में अंगदेश में यशःकेतु नामक राजा हुआ। वह अन्य अदग्ध कामदेव के समान अंग की रक्षा के लिए धरती का आश्रय था (1-4)। उसने अपने बाहुबल से समस्त शत्रु समूह को जीत लिया था। उसका दीर्घदर्शी नामक मन्त्री था जैसे इन्द्र का बृहस्पति। उस मन्त्री को निष्कंटक अपना राज्य भार सौंपकर वह राजा धीरे-धीरे अपनी आयु, रूप के मद से सुख में ही लीन रहने लगा (5-6)।

वह अन्तःपुर की स्त्रियों वाले भवन में ही स्थायी रूप से रहने लगा। राग रंग से भरे गीत सुनता था परन्तु हितैषियों की बातें नहीं सुनता था। वह जालीदार उजालदानों में बेफिकर मनोरंजन करता था। राजकाज में अनेक छेद थे, उनमें कभी रुचि नहीं लेता था। उसके राज्य का भार दूरदृष्टि सम्पन्न महामन्त्री रात दिन सावधानीपूर्वक वहन कर रहा था। नाममात्र के व्यवसन में धीरज सम्पन्न राजा को डालकर राजा की लक्ष्मी का अब उपयोग यह दीर्घदर्शी कर रहा है। जब यह जनवाद बड़ी मात्रा में होने लगा तो वह दीर्घदर्शी अपनी पत्नी से स्पष्ट बोला - हे प्रिये राजा के सुख में लीन रहने पर उसके राज्य का भार वहन कर रहा हूँ। परन्तु जनता में यह बदनामी हो रही है कि यह राज्य खा गया है।

1. ध्वनि प्रदूषण का नमूना

लोकवाद झूठा होने पर भी बड़े लोगों में दाग तो लगा ही देता है। क्या जनवाद के कारण राम ने भी जानकी को नहीं छोड़ दिया था ? सो अब मुझे क्या करना चाहिए ? उस मन्त्री के यह कहने पर वह धीरज वाली मेधाविनी पत्नी उससे अर्थवती बात कहने लगी - हे महामति तरकीब से राजा से पूछकर तीर्थ यात्रा के बहाने कुछ समय के लिए तुम्हारा विदेश जाना ठीक रहेगा। इससे तुम्हारी निस्पृहता प्रकट होकर बदनामी का निवारण होगा। तुम यहाँ नहीं रहोगे तो राजा स्वयं राजकाज देखेगा (7-16)। तब धीरे-धीरे इसका व्यसन कम होता जाएगा और आओगे तो तुम्हारे मन्त्रीपन की निन्दा भी नष्ट हो जाएगी। पत्नी के ऐसा कहने पर 'ठीक है' यह कहकर उस दीर्घदर्शी ने बातचीत में उस राजा यशकेतु को बताया - हे राजन् मुझे अनुमति दीजिए कि कुछ दिन के लिए मैं तीर्थयात्रा पर जाऊँ। धर्म मेरा अभीष्ट है। यह सुनकर वह राजा बोला - ऐसी बात नहीं है। तीर्थ के बिना भी दानादि का उत्तम स्वर्ग के योग्य धर्म क्या अपने घरों में ही नहीं होता ? तब वह मन्त्री बोला कि दान आदि में अर्थ की शुद्धि भी देखी जाती है। परन्तु हे राजन् तीर्थ तो सदा शुद्ध होते हैं। हे राजन् जब तक यौवन है तब तक बुद्धिमानों को चाहिए कि तीर्थयात्रा कर ले। शरीर का भरोसा नहीं। तब उन तीर्थों से संगम का योग कैसे हो पाता है ? (17-22) जब वह यह कह रहा था और राजा मना कर रहा था तभी प्रतिहार ने वहाँ प्रवेश कर राजा को सूचना दी - देव आकाश के सरोवर के मध्य में सूर्य डूबकी लगा रहा है। अतः उठो अब आपका स्नान का समय जा रहा है। यह सुनकर राजा स्नान के लिए अचानक उठ पड़ा और वह यात्रा के लिए तैयार मन्त्री भी उसे प्रणाम कर घर चला गया। वहाँ साथ चलने के लिए मना कर पत्नी को घर पर ही छोड़कर बिना तर्क किये वह तरकीब से सेवकों को छोड़कर प्रस्थित हो गया। अकेला घूमता हुआ भिन्न-भिन्न तीर्थों पर जाता हुआ वह दीर्घदर्शी दृढ़निश्चय वाला पुण्ड्र देश में पहुँचा। वहाँ के एक नगर में प्रवेश कर, सागर के निकट वो एक शिवजी के देवकुल में प्रवेश कर उसके आँगन में वह बैठ गया। वहाँ देवपूजा के लिए एक निधिदत्त नामक वणिक आया और उसे देखा जो सूर्य किरणों की गर्मी से थका और दूर मार्ग की यात्रा धूलसुसरित था। उसे यज्ञोपवीत धारी तथा अच्छे लक्षण वाला इस रूप में देखकर उत्तम विप्र मानकर उसे अपने घर अतिथि बनाकर ले गया। वहाँ उसका सत्कार किया। स्नान तथा उत्तम भोजन करवाया। विश्राम करने पर पूछा - कौन हैं, कहाँ से आये हैं और कहाँ जाना है ? उसने गंभीरता से कहा कि मैं दीर्घदर्शी नामक ब्राह्मण हूँ। अंग देश से यहाँ तीर्थयात्रा पर आया हूँ। तब उस

महावणिक निधिदत्त ने भी उससे कहा - मैं व्यापार के लिए सुवर्ण द्वीप जाने की तैयारी कर रहा हूँ। इसलिए जब तक मैं लौटता हूँ तब तक तुम मेरे घर ठहरे रहो। तीर्थयात्रा से थक गये हो। विश्राम के बाद चले जाना। यह सुनकर वह दीर्घदर्शी बोला - मेरा यहाँ क्या है ? हे सार्थवाह तुम्हारे साथ ही चलता हूँ। उसमें ही मुझे आराम मिलेगा। उस सज्जन ने कहा - ठीक है। ऐसा ही सही। उसके बाद बहुत समय बाद बिस्तर मिलने से उसके घर में उस मन्त्री ने वह रात बितायी। दूसरे दिन उस बनिये के साथ ही सागर पर जाकर बेचने की सामग्री से भरी नौका में बैठ गया (23-37)। उस नाव से जाते हुए अद्भुत और भयंकर सागर देखते हुए वह क्रमशः स्वर्णद्वीप पहुँच गया। कहाँ तो मंत्री की मुख्यता और कहाँ बाधक सागर का उल्लंघन। सज्जन लोग भी अपयश से डरकर क्या क्या नहीं कर डालते ? उस द्वीप पर वह उस बनिये निधिदत्त के साथ कुछ समय ठहरा रहा जो क्रय-विक्रय करता रहा। आते समय अचानक उसके साथ नाव पर था तो समुद्र की लहरों के साथ उठे एक कल्पवृक्ष को देखा। मूंगों की मनोहर शाखा, जम्बूनद जैसे उज्ज्वल उसके तने, मणियों के कमनीय फल और पुष्पों से सुशोभित। उसके तने पर श्रेष्ठ रत्नों के पलंग पर अनोखी कन्या को देखा जो बड़ी सुन्दर थी। अरे यह क्या है ? जब तक वह यह पलभर सोचने लगा तब तक वह वीणा बजाती कन्या इस प्रकार गाने लगी। जो कर्म का बीज जिसने पहले बोया, उसे वह भोगना ही है। पहले किये कर्म को विधाता भी नहीं हटा पाता (38-45)।

यह गाकर वह दिव्य कन्या कल्पवृक्ष, पलंग, शय्यादि सहित पल भर में उस सागर में विलीन हो गयी। यहाँ मैंने यह कुछ अनोखा ही देखा। कहाँ सागर, कहाँ देखा और गायब हो गया वह दिव्य नारी वाला वृक्ष। क्या यह सागर वन्द्य है जो ऐसे लक्ष्मी, चन्द्र, पारिजात आदि इससे कितनों ही का खजाना है। उस समय उस दीर्घदर्शी को ऐसा विचार करता चकित देखकर कर्णधार आदि बोले (46-49)। इसी प्रकार यह श्रेष्ठ कन्या सदा यहाँ दिखाई देती है और तत्काल डूब भी जाती है। तुम्हारे लिए यह नया दर्शन है। इस प्रकार उसके कहने पर उस निधिदत्त के साथ क्रमशः वह मंत्री चकित होता हुआ जहाज से सागरतट पर आ गया। उस बनिये ने सामान उतारा। फिर उसके और प्रसन्न सेवकों के साथ उत्सव मनाते हुए उसके घर गये। अधिक समय न ठहरकर वह उस निधिदत्त से बोला - हे सार्थवाह आपके घर मैं बहुत समय तक सुखपूर्वक रहा। अब मैं अपने देश जाना चाहता हूँ। आपका कल्याण हो। यह कहकर वह बनिये के न चाहने पर

भी उससे विदा लेकर वह दीर्घदर्शी अपनी आत्मशक्ति के साथ प्रस्थित हो गया। धीरे-धीरे दूर का मार्ग लाँघकर वह अपने अंग देश पहुँच गया। वहाँ सेवकों ने उसे नगर के बाहर आया देखा जिन्हें राजा यशःकेतु ने पहले से उसकी खोज में लगा रखा था। उन गुप्तचरों ने जाकर राजा के बताया तो राजा स्वयं नगर से निकल कर आया जो उससे बिछुड़ने से दुःखी था। आकर पहले गले लगाया, अभिनंदन करके राजा उसे भीतर ले गया जो चिरकाल की मार्गयात्रा से दुर्बल और धूल से भरा था। हमें छोड़कर क्या तू मन को ही नहीं ले गया ? और जब तक यह शरीर है स्नेह रहित कठोर दशा में पहुँचा दिया। भगवान् ही जाने क्या है भविष्य की गति ? कि अचानक तुम्हारी तीर्थयात्रा का विचार हो गया। अब बताओ कि किन किन देशों की यात्रा हुई और नया नया क्या देखा ? इस प्रकार राजा ने अपने मंत्री से पूछा। तब सुवर्ण द्वीप तक के वर्णन करते हुए यह भी बताया कि समुद्र से प्रकट वह दिव्य कन्या भी देखी। कल्पतरु पर बैठी तीनों लोकों की सार गाती हुई - आदि सब राजा को दीर्घदर्शी ने वैसी की वैसी बता दी (50-63)। उसकी बात सुनते ही राजा काम के वश में हो गया। मानो उसके बिना राज्य और जीवन निष्फल मानते लगा। तब अपने सचिव को एकान्त में ले जाकर बोला - मुझे उसे अवश्य देखना चाहिए। वरना उसके बिना जीवन नहीं। मैं होनी को प्रणाम करके तुम्हारे बताये मार्ग से जाता हूँ। तुम मुझे रोको मत और मेरे पीछे बिल्कुल मत आना। अकेला गुप्त रूप से जाऊँगा। तुम मेरे राज्य की रक्षा करना। तुम्हें मेरे प्राणों की शपथ है मेरी बात का विरोध मत करना। यह कहकर उसके उत्तर को निरस्त करके उसे छोड़ चला- अपना घर, चिरकाल से स्वजन के प्रति लालायित अपने घर पर मंत्री को छोड़ा। उस प्रचुर उत्सव में भी दीर्घदर्शी का मन दूषित हो गया। स्वामी का व्यसन असाध्य हो तो अच्छे मन्त्रियों को सुख कैसे मिल सकता है ? और दूसरे दिन उस राजा यशःकेतु उसके हाथ में राज्यभार सौंपकर रात में तपस्वी का वेश धारण कर चल पड़ा। जाते हुए मार्ग में कुशनाभ नामक ऋषि को मार्ग में मिला। उस मुनि को इस तपस्वी जैसे ने प्रणाम किया तो उसे आदेश दिया। लक्ष्मीदत्त नामक वणिक के साथ जहाज से सागर में जाकर उस वांछित कन्या को प्राप्त कर लेगा, बेधड़क जा (64-72)।

इस प्रकार उसकी वाणी से प्रसन्न उसे प्रणाम करके वह राजा जाते हुए देशों, नदियों, पर्वतों को पारकर सागर तक पहुँच गया। अत्यन्त शंखों से श्वेत, तरंगों की भीँहों से गरजता हुआ, भँवरों के नेत्रों से देखता हुआ सा वह आतिथ्य की हड़बड़ी में था। उसके

किनारे मुनि के बताये उस लक्ष्मीदत्त वणिक का साथ हो गया जो स्वर्णद्वीप जाने का इच्छुक था। उसके साथ ही चक्र के निशान वाले पैरों की छाप के दर्शन से जल्दी से जहाज पर चढ़कर वह राजा सागर में चल पड़ा (73-76)। सागर के बीच जहाज पहुँचने पर जल के मध्य से वह कन्या वहाँ प्रकट हो गयी जो कल्पतरु के तने पर बैठी थी। जब तक राजा उसे चाँदनी को चकोर के समान देखता है तब तक वह वीणा बजाते हुए मनोहर यह गीत गाने लगी।

जो कर्म का बीज बोया है जिसने पहले वह उसे निश्चय ही भोगता है। पूर्व किये कर्म को विधाता भी अलग नहीं कर सकता। इसलिए जहाँ जैसा जो जिसको भाग्य से होता है वहाँ वैसा उसे पाने के लिए विवश होकर ले जाया जाता है। इसमें कोई भ्रम नहीं है।

इस सूचना गीत के भव्य अर्थ को गाती हुई उसकी कल्पना करते हुए वह राजा पल भर के लिए निस्पंद (रुकी धड़कन का) हो गया और उसे काम के तीरों ने आहत कर दिया। तब राजा समुद्र को नमन कर स्तुति करने लगा - हे रत्नाकर तुम्हें प्रणाम। तुम सचमुच गहन हृदय वाले हो। जिस तुमने लक्ष्मी को छिपा कर विष्णु को भी छल लिया था जिसका पार देवगण भी नहीं पा सके, पंख वाले पर्वतों के तुम आश्रय हो। मैं आपकी शरण में आया हूँ। मुझे अपेक्षित सिद्धि प्रदान कर दो। इस प्रकार जब तक वह राजा प्रणाम कर स्तुति करता है तब तक वह कन्या वृक्ष सहित वहाँ डूब गयी। वह देखकर ही उसी मार्ग से राजा भी समुद्र में कूद पड़ा, मानो कामाग्नि संताप की शान्ति के लिए (77-85)।

उसे निश्चय ही विनष्ट मानकर वह सज्जन लक्ष्मीदत्त वणिक दुःख से देह त्यागने के लिए तैयार हो गया। “ऐसा साहस मत कर। इसके सागर में डूबने का डर नहीं है। यह तपस्वी वेशधारी यशःकेतु नामक राजा इस कन्या के लिए आया है जो इसकी पूर्व पत्नी थी। इसे प्राप्त करके यह पुनः अंग राज्य में चला जाएगा।” इस प्रकार तत्काल आकाशवाणी से आश्वासन मिलने पर वह सार्थवाह अपनी इच्छानुसार इष्टसिद्धि के लिए चला गया। वह राजा यशःकेतु भी सागर में डूबता गया तो वहाँ अकस्मात् एक दिव्य नगर देखकर वह चकित रह गया (86-90)। वहाँ के महलों में चमकदार मणियों के स्तम्भ, स्वर्ण से उज्ज्वल भीतें, मोतियों के जालीदार गोखड़े, विभिन्न रत्नों की शिलाओं की पट्टियों से बँधी सोपान की सीढ़ियाँ, मनोकामना की पूर्ति करने वाले कल्पवृक्षों से सम्पन्न उद्यानों से सुशोभित उस समृद्ध नगर में भी निर्जनता थी। वहाँ घर-

घर में जाकर देखा। पर जब कहीं प्रिया को नहीं देखा। तब खोजते हुए एक समुन्नत मणि मन्दिर देखकर उस पर चढ़ा तथा द्वार खोलकर वह राजा भीतर गया। प्रवेश कर भीतर श्रेष्ठ रत्न से निर्मित पलंग पर स्थित वस्त्र से समस्त अंगों को ढककर सोये किसी एक को देखा (91-95)। कहीं वही तो नहीं है इस जिज्ञासा से उसका मुख खोला तो देखा कि अपनी मनचाही वही नारी है। उसके नीलवसन बिखर गये थे, उस अंधेरे में हँसते चन्द्रमा जैसी कांति, पाताल में चाँदनी की उज्ज्वलता मानो दिन में ही रात हो। उसे देखने से उसकी अवस्था कुछ ऐसी हो गयी कि मरुस्थल के पथिक की ग्रीष्म ऋतु में नदी देखने से हो जाती है। उसने भी आँखें खोलकर कल्याणकारी आकृति के लक्षण से सम्पन्न उसे अचानक वहाँ देखकर हड़बड़ी में बिस्तर छोड़ दिया। उसका अतिथि सत्कार कर, सिर झुकाकर पैर पूजती सी प्रफुलित नयन नीलकमल धीरे से डालती हुई उससे बोली - आप कौन हैं? इस अगम्य पाताल में कैसे पहुँच गये? आपके शरीर पर तो राजलक्षण हैं। फिर आपका तपस्वी का वेश क्यों है? हे महाशय यदि मुझ पर कृपा हो तो यह मुझे बताएँ। उसकी यह बात सुनकर उस राजा ने उसे उत्तर दिया- हे सुन्दरी मैं अंगराज हूँ। मेरा नाम यशःकेतु है। विश्वसनीय व्यक्ति से मैंने सुना कि तुम इस सागर में दिखाई देती हो। तब तुम्हारे लिए राज्य त्यागकर यह वेश बनाकर तुम्हारे पीछे-पीछे सागर में यहाँ आ पहुँचा। तो मुझे बताओ कि तुम कौन हो? उसके यह कहने पर वह लज्जा, अनुराग तथा आनंद के साथ इस प्रकार बोली (96-105)। विद्याधरों के राजा मृगांकसेन लक्ष्मीसम्पन्न हैं। मैं उनकी बेटी हूँ और मेरा नाम है मृगांकवती। मेरे पिता अपने इस नगर में अकेली छोड़कर न जाने किस कारण से नगरवासियों सहित कहीं चले गये हैं। इसलिए मैं सूनी बसती से परेशान होकर सागर के ऊपर यन्त्र से बने कल्पवृक्ष पर बैठकर अपने भविष्य का गीत गाती रहती हूँ। उसने जब यह कहा तो उसे उस मुनि की बात याद आ गयी। उसे राजा ने प्रेम भरी बातों से खूब अनुरंजित किया। अनुराग के अनुरूप विवश होकर उसी समय उसने उस वीर की भार्या बनना स्वीकार कर लिया। बस एक वचन जरूर लिया - शुक्ल व कृष्ण चतुर्दशी तथा अष्टमी के दिन प्रतिमास ये चार दिन हे आर्यपुत्र मैं अधीन नहीं रहूँगी। इन दिनों जहाँ कहीं भी जाऊँ। आप न तो पूछोगे और न मना करोगे। इसमें कारण है। 'ठीक है' ऐसा वचन उस दिव्यकन्या को देकर राजा ने उससे गान्धर्व विधि से विवाह कर लिया। वहाँ उसके साथ तब संभोग का सुख पाया। जिससे उसका कामसम्बन्धी यह सजावट का क्रम बन गया। केशों में, बिखरी मालाओं में, बाल पकड़ना, नखों की

खरोंच, बिम्ब जैसे अधरों के पान से रंगहीन होना, उन पर दाँतों के अंकन, स्तनों पर नख पंक्ति, मणिमालाओं का टूटना, अंगरागों का लोप होना, ऐसे सब प्रगाढ़ आलिंगन के अनुराग आदि से वह दिव्य संभोग सुख से वहाँ ठहरा हुआ था। तभी उस राजा से उस मृगांकवती पत्नी ने एक बार कहा - तुम यहीं प्रतीक्षा करो। किसी काम से मैं कहीं जा रही हूँ। आज वही मेरी कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी आ गयी है। यहाँ रहते हुए आप इस स्फटिक के घर में मत जाना और यहाँ की बावड़ी में मत गिरना, वरना धरती पर चला जाएगा (106-119)। यह कहकर वह उससे विदा लेकर उस नगर से बाहर चली गयी। राजा भी तलवार लेकर छिपकर जिज्ञासा से पीछे पीछे चला गया। वहाँ देखा कि अन्धकार जैसा काला विस्तृत मुख वाला बिल है। उसने साकार पाताल जैसे आते हुए राक्षस को राजा ने देखा। वह राक्षस आते ही अत्यन्त घोर आवाज करता हुआ उस मृगांकवती को मुख में डालकर निगल गया। यह देखते ही अचानक अत्यन्त क्रोध से मानो जलते हुए अपनी केंचुली छोड़कर निकलते साँप के समान महाखड्ग को म्यान से निकाल कर दौड़कर राजा ने उस भागते राक्षस का ओठ काटते हुए सिर काट डाला। राक्षस के धड़ से उगली गयी, राजा के खड्ग के अटूट जल से क्रोध की अग्नि तो ठंडी पड़ गयी परन्तु पत्नी के वियोग की अग्नि शांत नहीं हुई (120-125)। तब मोह की रात के उस अन्धकार की गति नष्ट करने वाले राजा के सामने अकस्मात् मेघ जैसे राक्षस के मलिन अंगों को भेद कर दिशाओं को आलोकित करती विमल चन्द्रमूर्ति के समान वह मृगांकवती जीवित अक्षत अंगों वाली निकल आयी। उसे उस संकट को पार करके आयी कांता को देखकर हड़बड़ी में राजा ने 'आओ आओ' कहते हुए दौड़कर उसका आलिंगन कर लिया (126-128)। प्रिये यह क्या है? स्वप्न है या माया है? उस राजा ने जब यह पूछा तो याद करती हुई वह विद्याधारी यों बोली - सुनो आर्यपुत्र। यह न स्वप्न है, न माया है। विद्याधरों के राजा मेरे पिता का यह मुझे शाप था। अनेक पुत्रों वाले होकर भी वे मेरे पिता पहले यहाँ रहते हुए अत्यन्त वात्सल्य के कारण मेरे बिना कभी भोजन नहीं करते थे और मैं भी सदा शिवजी की पूजा में यहाँ निर्जन में चतुर्दशियों तथा अष्टमियों को दोनों पक्ष में आती थी। एक बार चतुर्दशी को गौरी की यहाँ आकर पूजा के रस में योग से सूर्यास्त हो गया। उस दिन मेरी प्रतीक्षा में मेरे पिताजी भूखे हो गये। न उन्होंने खाया, न कुछ पिया और मुझ पर क्रोधित हो गये। तब रात में जब मैं अपराधिनी नीचा मुख कर पहुँची तो भावी की शक्ति से ग्रस्त मेरे स्नेह वाले मेरे पिता ने मुझे शाप दे दिया कि जिस प्रकार तेरे अपराध से ग्रस्त

होकर मैं आज भूख से ग्रस्त हो गया, हर माह अष्टमी और चतुर्दशी को केवल शिवपूजा के रस में जाती तुझे यहीं नगर के बाहर कृतांत संत्रास नामक राक्षस तुझे निगल जाएगा। उसके हृदय का भेदन करके तू जीवित निकलेगी। तू उस शाप को याद नहीं रखेगी और न उस निगलने के कष्ट को और यहाँ अकेली रहेगी। जब यह शाप की बात हुई तो मैंने धीरे से पिता की विनय की। शाप के अंत का ध्यान दिलाया तो मेरे पिता बोले - जब अंग देश का राजा यशःकेतु तेरा पति होकर राक्षस द्वारा निगली गयी तुझे देखकर उसे मारेगा तब तेरा शाप से मोक्ष होगा। तब उसके हृदय से निकलकर याद कर लेगी शापग्रस्त सब अपनी विद्याओं को भी। यह आदेश देकर शाप के अंत तक मुझे यहाँ अकेली छोड़कर अपने सेवकों सहित भूलोक के निषध पर्वत पर वे पिताजी चले गये (129-142) मैं शाप के मोह से वैसे ही चलती हुई यहाँ रहती रही। अब वह शाप समाप्त हो गया है और सब दूर की स्मृति भी पैदा हो गयी है। तो अब मैं पिताजी के पास निषध पर्वत पर जाती हूँ। शाप पूरा होने पर अपनी गति से हम जाते हैं यह हमारा आचरण है। आप यहाँ रहें अथवा अपने राष्ट्र में जाएँ। यह तुम्हारी स्वतंत्रता है। उसके ऐसा कहने पर वह राजा दुःखी होकर उससे याचना करने लगा - हे सुमुखि प्रसन्न हो जा। सात दिन तक मत जा। तो उत्सुकता को उद्यान में खिलौनों के साथ यहाँ फेंक देते हैं। तब तू अपने पिता के पास जा और मैं भी अपने स्थान पर चला जाऊँगा। उसकी बात को उस भोली ने मान लिया (143-147)। तब उस कान्ता के साथ विभिन्न उद्यानों में रमण करता रहा छः दिन तक। जल भरी, नीलकमल जिनमें प्रधानता से खिले हैं ऐसी बावड़ियों वाले उद्यानों में रमण करता रहा। उछलती लहरों के हाथों वाली, तथा हंस-सारस की ध्वनियों से मानो यह पुकारती हुई कि हमें छोड़कर मत जाओ - ऐसी बावड़ियों में छः दिन तक रमण चलता रहा। सातवें दिन तरकीब से वह उस प्रिया को उस घर में ले गया जहाँ से भूलोक पहुँचाने वाली यन्त्रद्वार की बावड़ी थी। वहाँ उसे गला पकड़ कर उस बावड़ी में डाल दिया और वे दोनों अपनी नगरी की उद्यान बावड़ी में से उस लड़की के साथ उबक कर आ गये। वहाँ प्रिया सखी के साथ उस राजा को देखकर उद्यान रक्षकों ने प्रसन्न होकर मन्त्री दीर्घदर्शी को जाकर कहा। वह भी आकर पैरों पर पड़ा। वह अपनी इच्छित नारी को साथ लाया हुआ था। उसे देखकर पुरवासी भी उसे महल के भीतर ले गये। अरे इस राजा ने यह दिव्य नारी कैसे प्राप्त कर ली ? जिसे मैंने एक क्षण भर के लिए देखा था मानो आकाश में बिजली को देखा हो। यदि विधाता ने इसके ललाट की अक्षर की पंक्तियों में लिखा था तब तो

निश्चय ही यह असंभव को भी पा लेता है। इस प्रकार मन्त्री सहित मुख्य समस्त लोग विचार करते रहे और दिव्य स्त्री को प्राप्त करने का अचरज भी करते रहे तथा राजा के आगमन का उत्सव भी होता रहा। उस राजा को अपने देश में आया देखकर वह मृगांकवती तीन सप्ताह पूर्ण होने पर विद्याधर की गति से जाना चाहा। तब याद करने पर भी उसे उड़ने की विद्या याद करने पर भी प्रकट नहीं हुई। तब छली गयी के समान बड़ी दुःखी हुई। जब राजा ने पूछा कि हे प्रिये मुझे बताओ अचानक दुखी सी क्यों दिख रही हो। तब उस विद्याधारी ने यह कहा (148-159)।

मैं शापमुक्त होकर भी तुम्हारे प्रेम के कारण इतनी देर तक रुकी रही। इससे मेरी विद्या भ्रष्ट हो गयी और मेरी वह दिव्य गति भी नष्ट हो गयी। यह सुनकर 'अरे यह मेरी विद्याधारी सिद्ध हो गयी' कहता हुआ उस राजा यशःकेतु ने महोत्सव पूर्ण किया। यह देखकर वह मन्त्री दीर्घदर्शी घर जाकर रात में बिस्तर पर गया तो अचानक हृदयाघात से मर गया। तब उस शोक को मानते हुए राजा यशःकेतु स्वयं राज्य का भार धारण कर मृगांकवती सहित चिरकाल तक रहा। इस प्रकार यह कथा मार्ग में कहकर वह कंधे पर बैठा वेताल उस राजा त्रिविक्रमसेन से फिर बोला - तो राजन् बता कि स्वामी की ऐसी उन्नति हो जाने पर उस महामन्त्री का अचानक हृदयाघात क्यों हो गया ? क्या इस चिन्ता के कारण कि मैंने वह दिव्य स्त्री प्राप्त नहीं की अथवा राजा के आगमन से राज्य की इच्छा पूरी न होने के दुःख से ? हे राजन् जानते हुए भी यदि यह नहीं बताएगा मुझे तो तेरा धर्म नष्ट होगा और तत्काल तेरे सिर के अनेक खण्ड हों जाएँगे। यह सुनकर राजा त्रिविक्रमसेन वेताल से बोला - वह मन्त्रीवर शुभचरित का था। उसमें ये दोनों ही विचार नहीं थे। परन्तु हर स्त्री के रस में मग्न राजा राज्य की उपेक्षा करता रहा तो अब इस दिव्य नारी में अनुरक्ति की तो बात' ही क्या ? तो मैंने बड़े कठिनाई से दूर करने की सोची परन्तु दोष और अधिक हो गया। यह सोचते हुए उस मन्त्री को हृदयाघात हो गया। राजा के यह कहने पर वह मायावी वेताल पुनः अपने स्थान पर चला गया। धैर्यशाली राजा भी बरबस तेजी से उसे लेने के लिए उसके पीछे दौड़ पड़ा (160-171)

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट विरचित कथासरितसागर के शशांकवती लम्बक की उन्नीसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

1. स्त्री लौलुपता के कारण राज्य की उपेक्षा की चर्चा कवि कालिदास के रघुवंश के अंत में और मालविकाग्निमित्र नाटक में पायी जाती है।

तरङ्ग-20

वेताल-13

तब उस शीशम के पेड़ पर से राजा त्रिविक्रमसेन ने जाकर कन्धे पर उस वेताल को फिर ले लिया। आते हुए वह वेताल फिर उस राजा से बोला - राजन् सुनो। एक संक्षिप्त कथा का तेरे सामने वर्णन करता हूँ। शिवजी के निवास की भूमि वाराणसी नामक नगरी है। वहाँ राजा के द्वारा मान्यता प्राप्त एक ब्राह्मण देवस्वामी था। वह महाधनी था। उसका पुत्र हरिस्वामी और उसकी अति उत्तम लावण्यवती पत्नी थी। विधाता ने तिलोत्तमा आदि स्वर्ग की स्त्रियाँ बनाने में जो कुशलता अर्जित की थी। उसे उसने अमूल्य रूप लावण्य सम्पन्न उसे बनाने में लगायी (1-5)।

हरिस्वामी को किसी समय उस पत्नी के साथ रति की थकान से चन्द्रकिरण से शीतल महल पर नींद आ गयी। उसी समय उस आकाशमार्ग से मदनवेग नामक कामचारी (इच्छानुसार जाने वाला) विद्याधर कुमार आया। उसने वहाँ पति के पास लावण्यवती को देखा कि उसका रति की थकान से बिखरे वस्त्र से प्रकट हो रहा है अंगसौष्ठव। उसके रूप से उसका चित्त आकृष्ट हो गया। उस कामान्ध ने उस समय उतरकर उस सोयी हुई को ही लेकर आकाशमार्ग से चला गया। थोड़ी देर में उसका पति युवा हरिस्वामी जागा। वहाँ अपनी प्राणेश्वरी को न पाकर हड़बड़ाकर उठा। अरे यह क्या है? कहाँ गयी? क्या मुझे से रूठ कर छिप तो नहीं गयी? मेरा मन जानने के लिए मजाक तो नहीं कर रही? इस प्रकार अनेक तर्क विकर्त करता हुआ वह व्याकुल इधर उधर रात में ही हर्म्य, प्रासाद, वलभी पर खोजता भटकता रहा। घर से लेकर उद्यान तक उसे खोजा। पर वह कहीं नहीं मिली तब वह दुःख की आग से तपता हुआ आँसू बहाता जोर जोर से रोने लगा। हाय चन्द्र बिम्ब से मुखवाली, हाय चाँदनी सी गौरी, हाय प्रिये। रात के एक जैसे गुण-द्वेष को क्या तू सहन नहीं कर पायी? तेरी कान्ती से जीत के डर से मानो चन्दन के समान शीतल किरणों वाला यह चन्द्र तेरे बिना मुझे सुख नहीं दे रहा। हममें दूरी होने से वे ही चन्द्रकिरणों जलते अंगारों या विषबुझे तीरों के समान दुःख दे रहे हैं मुझे प्रिये! इस तरह चिल्लाते हुए उस हरिस्वामी ने किसी प्रकार वह रात विरह व्यथा में बड़ी कठिनाई से व्यतीत की (6-17)। प्रातः काल सूर्य अपनी किरणों से विश्व के अन्धकार का भेदन कर उगा परन्तु उस मोहान्ध के अन्धकार को दूर न कर सका। चिल्लाता हुआ चकवा किसी तरह रात पार कर लेता है उसी तरह उसकी करुणापूर्ण रोने की ध्वनि सौगुनी बढ़ गयी। उस प्रेयसी के

बिना उस युवा ब्राह्मण को स्वर्गों द्वारा सान्त्वना देने पर भी वियोगाग्नि से जलते हुए उसे धैर्य नहीं हुआ। यहाँ खड़े थे, यहाँ स्नान किया, यहाँ प्रसाधन किया, यहाँ से हरण करके ले जायी गयी - इस प्रकार रोता रहा। वह कहीं आत्महत्या करके मर तो नहीं गयी? यदि तुम अपनी आत्म हत्या कर लोगे। अवश्य वह कहीं जीवित हो तो मिल जाए। इसलिए धीरज धारण करके उस प्रिया की खोज करो। धीर परिश्रम शील के लिए यहाँ अप्राप्य कुछ भी नहीं है। इस प्रकार बन्धुओं और मित्रों के वाक्यों ने उसे बड़ी कठिनाई से समझाया। थोड़े दिनों में हरिस्वामी को आस्था से धीरज बँधा और सोचा कि सब कुछ ब्राह्मण को देकर तीर्थ यात्रा करता हुआ अपने पाप नष्ट करूँ। पापक्षय होने से कदाचित् घूमते हुए प्रिया को प्राप्त कर लूँ। यह सोचकर अवस्थानुसार उठकर स्नानादि किया (18-26)। दूसरे दिन अनोखे खान-पान ब्राह्मणों को करवाने का कार्यक्रम रखा और बेरोक सम्पूर्ण धन दान कर दिया। ब्राह्मणता का ही धन लेकर वह अपने देश से निकलकर प्रिया-प्राप्ति की इच्छा से तीर्थ यात्रा पर चला गया। घूमते हुए गया तो ग्रीष्म ऋतु का भयंकर सिंह प्रचंड आदित्य का मुख वाला और चमकती किरणों की केसर या अयाल वाला था। प्रिया के विरह संतप्त पथिक की उसासों के वायु से अत्यन्त गरम साँसों से ग्रीष्म की गर्मी को भी बढ़ाता हुआ, सूखते फटते कीचड़ वाले फूटते हृदयों जैसे तालाब दिखाई देने लगे जिनसे गर्मी के कारण जलसम्पदा का लोप हो गया है। झिंगुर के चिल्लाने से मुखर, गर्मी से मुरझाये पत्तों के अधर, मधुश्री से रहित पेड़ों को मार्ग में उसने रोते हुए देखा। उस समय सूर्य की गर्मी, वियोग, भूख, प्यास और लगातार पथ पर चलने से वह थक गया। रूखा, दुर्बल और धूल भरा हो गया। घूमते हुए वह हरिस्वामी किसी ग्राम में भोजन के लिए पहुँचा। वहाँ पद्मनाभ नामक यज्ञ सत्र वाले विप्र के घर पहुँचा। वहाँ भीतर बहुत से ब्राह्मणों को भोजने करते देखकर बारसाख (चौखट) के आसरे बिना बोले निश्चल खड़ा रहा। उस सत्री ब्राह्मण की घरवाली ने उसे उस तरह खड़े देखकर पद्मनाभ की साध्वी पत्नी को दया आ गयी और सोचा अरे भूख कितनी भारी होती है कि किसे छोटा नहीं बना देती है कि यह कोई द्वार पर नीचा मुख किये अन्न के लिए खड़ा है। दूर मार्ग से आया स्नान किया, भूख से कमजोर यह अन्नदान का पात्र है। यह सोचकर उसने उत्तम अन्न से भरा घी, शक्कर वाला पात्र उठाकर उस साध्वी ने उसे नम्रतापूर्वक दिया (27-39) और उसे कहा कि किसी बावड़ी के किनारे जाकर खा लेना। यह स्थान भोजन करते ब्राह्मणों के कारण जूठा हो गया है। 'ठीक है' यह कहकर वह अन्नपात्र लेकर पास

ही बावड़ी के किनारे वटवृक्ष के नीचे रख दिया। हाथ पैर धोकर बावड़ी से जब तक वह उत्तम भोजन के लिए संतुष्ट होकर खाने के लिए आया तब तक चोंच से और दोनों पैरों से काले साँप को पकड़ कर बाज कहीं ले आकर उस पेड़ पर बैठ गया। उस पक्षी द्वारा लाते हुए साँप के निकलते जीव वाले मुख से विष की लार निकली और वहाँ नीचे पड़े अन्न के पात्र में जा पड़ी। उसे हरिस्वामी ने नहीं देखा और आकर वह अन्न खा लिया। भूख से पीड़ित मधुर भोजन उसने तत्काल पूरा का पूरा खा लिया। उससे उसे तीव्र विष-वेदना हुई। तब वह बड़बड़ाने लगा - भाग्य भी कैसा पलटा खाता तो क्या नहीं उलट जाता कि दूध, घी, शक्कर वाला अन्न भी मेरे लिए विष जैसा हो गया। यह कहता हुआ वह हरिस्वामी लड़खड़ाता हुआ जाकर उस वैदिक ब्राह्मण की पत्नी से बोला - तेरे दिये विष भरे अन्न से मुझे विष चढ़ गया। किसी विष के मन्त्र वाले को ला जल्दी। वरना तुझे ब्रह्महत्या लगेगी। उस साध्वी को यह कहा तो वह बेचारी सरल साध्वी-यह क्या ? कहती घबरा गयी। और तब तक हरिस्वामी ने आँखें फेरते हुए प्राण छोड़ दिये (40-50)। वह निर्दोष थी। परन्तु उस वैदिक सत्री ने अपने घर से पत्नी को निकाल दिया, झूठे अतिथिविष के क्रोध से। उस साध्वी ने भी अच्छे काम करते हुए झूठे कलंक को लेकर अपमानित होकर तपस्या के लिए तीर्थ में आश्रय लिया। तब धर्मराज के सामने इस बात का निर्णय नहीं हो पाया कि विप्रवध किससे हुआ ? सर्प, बाज या अन्न देने वाली द्वारा। इसलिए हे राजन् त्रिविक्रमसेन अब तू मुझे बता कि वह ब्रह्महत्या किसे लगनी है। अन्यथा पहले वाला शाप तुझे लगेगा। शाप से जकड़ा हुआ राजा त्रिविक्रमसेन वेताल की यह बात सुनकर मौन छोड़कर यह बोला - यह पाप उस साँप का है और किसी का कैसे हो सकता है ? शत्रु द्वारा खाये जाते हुए उस विवश से अपराध हो गया ? और उस भूखे बाज को भी वह दूषित भोजन मिल गया जो अपना भोजन कर रहा था। अन्न देने वाले पति-पत्नी को या उनमें से एक को भी दोष कैसे होगा ? उन्होंने तो दोष का सोचा भी नहीं था। वे दोनों तो केवल धर्म करने में लगे थे। इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि किसी एक को भी ब्रह्म हत्या लगी है - यह तो बिना विचारी बात कहना है।

ऐसा कह ही रहा था कि उसके कन्धे से वह वेताल फिर अपने स्थान पर चला गया। और राजा भी फिर धीरज से उसके पीछे पीछे चला गया (51-60)।

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक की बीसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-21

वेताल-14

तब वह राजा त्रिविक्रमसेन शीशम के पेड़ पर जाकर फिर उस वेताल को कन्धे पर डालकर चल पड़ा तो वह वेताल फिर बोला - राजन् तुम थक गये हो। अतः एक विचित्र कहानी कहता हूँ सुनो। अयोध्या नाम की नगरी है जो राक्षस कुल के यमराज राम रूप के विष्णु की राजधानी थी। उसमें वीरकेतु नामक राजा हुआ। वह महाबहु इस पृथ्वी की इस प्रकार रक्षा कर रहा था मानो प्राकार नगरी की रक्षा करता है। उस राजा के समय इस नगरी में एक महावणिक् रत्नदत्त नामक था जो बनिया समूह का नायक था (1-5)। नन्दयंती नामक पत्नी से देवाराधना द्वारा रत्नवती नामक की एक पुत्री हुई। वह मनस्विनी अपने पिता के घर में रूप, लावण्य, विनय आदि सहज गुणों के साथ बढ़ने लगी। जब वह युवती हुई तो उस रत्नदत्त से उसे माँगने वाले महावणिक् ही नहीं राजागण भी थे। पर वह पुरुष की शत्रु थी। इन्द्र को भी अपना पति नहीं बनाना चाहती थी। प्राण त्यागने को तैयार हो जाती पर विवाह की बात नहीं सहन करती थी। इससे वात्सल्य के कारण दुःखी उसका पिता चुप ही रहा और यह बात अयोध्या में सब दूर फैल गयी (6-10)।

इस बीच चोरों से परेशान सब नागरिकों ने एकत्र होकर राजा से कहा - हे प्रभो रोज हर रात को चोरी से हम परेशान हैं। हमें वे कहीं दिखाई नहीं देते। इससे आगे आप जानें। इस प्रकार नागरिकों द्वारा सूचना देने पर राजा ने नगरी के चारों ओर छिपे हुए रात के रक्षकों को तस्करों की खोज में लगा दिया। उन्हें भी चोर नहीं मिले और चोरी होती रही। तब एक बार स्वयं राजा रात में मनमाना निकल पड़ा। अकेले शस्त्र लेकर घूमते हुए उसने एक तरफ देखा कि - प्राकार के पीछे एक आदमी जा रहा है। बिना शब्द किये पैर रखने की विचित्रगति में वह चतुर है। शंका सहित उसकी आँखे चंचल थीं। बार-बार पीछे देख रहा था। जरूर यही वह अकेला चोर है जो नगरी को चोर रहा है। यह मानकर वह राजा उसके पास पहुँचा। उस राजा को देखकर वह चोर बोला - कौन हो ? राजा ने उत्तर दिया - मैं चोर हूँ। तब वह चोर बोला - तब तो मेरे समान होने से मित्र हो। तो चल मेरे घर मित्रता निभाएँ। यह सुनकर 'ठीक है' कहकर उसके ही साथ वह राजा गया। उसका घर जंगल में पृथ्वी के गड्ढे के भीतर था। वहाँ समस्त भोग की वस्तुओं से सम्पन्न चमकते दीपकों से प्रकाशित राजा बलि के निवास नवीन पाताल जैसा लगता था। वहाँ प्रवेश करने पर आसन पर राजा के बैठने के बाद वह तस्कर घर के भीतर गया (11-22)।

उसी समय उस राजा के पास आकर एक दासी बोली - महाशय इस मृत्यु के मुख में कैसे आ गये ? यह पापी अकेला ऐसा चोर है जो यहाँ से निकलकर विश्वासघात निश्चय ही करेगा। अतः यहाँ से जल्दी से चले जाओ। उसके यह कहने पर वह राजा वहाँ से तेजी से निकलकर अपनी राजधानी में पहुँचा और रात में सेना को सजा लिया। सेना तैयार कर आकर उस दस्यु के भूगृह द्वार के गड़ढे को रोक दिया। वहाँ सेना की तूरियों की आवाज तेज थी। तब घर घिर जाने पर घर का रहस्य प्रकट होना जानकार वह वीर चोर मरना निश्चित समझकर युद्ध के लिए निकल पड़ा (23-27)। निकल कर रात में उसने अतिमानवीय पराक्रम किया। हाथियों की सूँडे काट दीं, घोड़ों के पैर काट दिये। ढाल तलवार लेकर अकेले ही उसने कितने ही योद्धाओं के सिर काट डाले। पूरी सेना को भगा दिया तब उस पर स्वयं राजा लपका। खड्ग विद्या के जानकार राजा ने करणयुक्ति से उसके हाथ से हथियार तथा छुरी भी छीन ली। वह शस्त्रहीन हो गया तो शस्त्र छोड़कर राजा ने उस चोर को बाहुयुद्ध से धरती पर पछाड़ दिया और उसे जीवित ही गिरफ्तार कर लिया। बाँधकर उसके धन सहित उसे नगरी में लाया और आज्ञा दी कि प्रातः काल उसे उसे पकड़ कर सूली पर चढ़ा दिया जाए। डूँडी पीटते हुए जब उस चोर को वधभूमि की ओर ले जा रहे थे तो उसे अपने भवन से उस वणिक् की पुत्री ने देखा। उसके घाव हो रहे थे, शरीर पर धूल लग रही थी, तब भी वह उस पर मोहित हो गयी। देखते ही जाकर अपने पिता रत्नदत्त से उसने कहा - जिसे वध के लिये ले जाया जा रहा है उसको मैंने पति के रूप में वरण कर लिया है। इसलिए हे तात राजा से उसकी रक्षा करवाइए अन्यथा मैं इसके पीछे मर जाऊँगी (28-35)। यह सुनकर उसे पिता ने कहा - पुत्री यह क्या कह रही हो ? तू राजाओं तक को पति के रूप में नहीं चाहती रही वह अब तू इस पापी तस्कर को कैसे चाहती है ? और वह भी विपदा में पड़ा हुआ। यह सब पिता ने कहा तब भी वह अपने निश्चय से नहीं डिगी। तब वह उसका पिता तत्काल राजा के पास पहुँचा और सर्वस्व देकर भी उस चोर की बन्धन से मुक्ति की याचना की। सैकड़ों करोड़ों स्वर्ण देने पर भी राजा ने उसे नहीं छोड़ा। क्योंकि राजा अपना शरीर दाव पर लगाकर सब कुछ हरण करने वाले उस चोर को पकड़ कर लाया था। तब पिता के निहत्थे आने पर वह बनिये की बेटी बन्धुओं के मना करने पर भी सती होने के लिए स्नान करके पालकी में बैठकर उस दस्यु की वधभूमि पर गयी। उसके पीछे रोते हुए पिता, माता व लोग भी थे। तब वधकों ने चोर को सूली पर चढ़ा दिया। प्राण निकलते हुए भी बन्धुओं सहित आती उस लड़की को

देखकर, लोगों से उसका विवरण सुनकर वह चोर आँसू छोड़कर पल भर के लिए हँसता हुआ अपने प्राणों को छोड़ गया। तब सूली से उसका शरीर उतार कर वह वणिक् पुत्री साध्वी उस शरीर के साथ चिता पर चढ़ गयी। उसी समय उस श्मशान में वहाँ आकर अदृश्य भगवान् भैरव आकाशवाणी से उससे इस प्रकार बोले - इस स्वयंवरपति पर तेरी इस भक्ति से मैं संतुष्ट हूँ। सो हे प्रतिव्रते मुझसे वरदान माँग (36-46)। यह सुनकर उसने प्रणाम करके ऐसा वरदान माँगा - हे नाथ मेरे पुत्ररहित पिता के सौ पुत्र हों। जिससे मेरे बिना यह बिना पुत्रवाला रहकर प्राण न त्याग दे। जब उस साध्वी ने यह कहा तो देव ने फिर कहा - तेरे पिता को सौ पुत्र होंगे। अब अन्य वरदान माँग। तेरे जैसी दृढ़ सत्व वाली केवल इतने के ही योग्य नहीं है। यह सुनकर उसने कहा - यदि प्रभु मुझ पर प्रसन्न हैं तो यह मेरा पति जीवित हो जाए और यह सदा धार्मिक हो जाए। ऐसा ही हो। अक्षत जीवित होकर यह तेरा पति उठ खड़ा हो और यह धार्मिक हो जाए और राजा इस पर संतुष्ट हो जाए। आकाश से ऐसी शिवजी की अदृश्य मूर्ति की वाणी हुई तो बिल्कुल स्वस्थ चंगा वह चोर जीवित होकर अक्षत शरीर वाला उठ पड़ा। तब चकित और प्रसन्न होते हुए वणिक् रत्नदत्त ने उस रत्नवती और चोर दामाद को लेकर प्रसन्न होकर बन्धुओं सहित अपने घर में प्रवेश किया और श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त करके उचित आनन्दोत्सव मनाया। सारा विवरण सुनकर उस राजा ने तभी बुलवाकर उस चोर वीरकेतु को सेनापति बना दिया। तब वह चोरी छोड़कर उस वणिक् सुता से विवाह कर एक वीर मार्ग पर स्थित होकर राज संयत होकर सुख से रहने लगा (47-56)।

वेताल यह कथा कहकर पूर्व शाप का भय बताकर कंधे पर बैठे हुए ही उसने उस राजा त्रिविक्रमसेन से पूछा - बता राजा कि पिता सहित उपस्थित उस वणिक् पुत्री को देखकर सूली पर चढ़ा चोर क्यों रोया और हँसा। तब राजा बोला - दुःख के कारण तो चोर रोया कि इस अकारण बन्धु वणिक् का मैं ऋण नहीं उतार पा रहा हूँ और आश्चर्य से वह हँसा कि यह कन्या श्रेष्ठ राजाओं को छोड़कर क्यों मुझ पर आसक्त हो गयी कि नारी का चित्त कितना विचित्र है ? इस प्रकार राजा ने वाक्य कहा तो राजा के कंधे से वह मायावी अपनी शक्ति से ही तब अपने स्थान पर चला गया वह वेताल श्रेष्ठ और वह राजा भी फिर उसके पीछे चला गया (57-61)।

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतीलम्बक की इक्कीसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-22

वेताल-15

तब वह त्रिविक्रमसेन राजा पुनः उस शीशम के पेड़ पर पहुँचकर उस वेताल को लेकर चल पड़ा। राजा जब आ रहा था तब वह कंधे पर बैठा वेताल बोला कि राजन् तुझे फिर कथा सुनाता हूँ, सुन। नेपाल राज्य में शिवपुर नामक एक नगर था। प्राचीन काल में उसमें सही नाम वाला यशःकेतु राजा था। वह अपने मंत्री प्रज्ञासागर पर राज्यभार डालकर अपनी चन्द्रप्रभा नामकी रानी के साथ भोग भोगता रहा। समय पर उस देवी और राजा की एक पुत्री हुई। उसका नाम शशिप्रभा था जो संसार के नेत्रों की चन्द्रज्योति थी। क्रम से जब वह युवती हुई तो किसी समय वसन्त ऋतु के समय उद्यान में यात्रा का उत्सव देखने सेविकाओं सहित गयी (1-6)। वहाँ एक जगह वह फूल तोड़ने के लिए उद्यत हुई और हाथ की लता ऊँची की तो उसका एक स्तन दिखने लगा। फूलों के गुच्छे से टूटने से चुभे हाथों से वह शोभित थी। ऐसे दृश्य को वहाँ यात्रा पर आये मनःस्वामी नामक ब्राह्मण ने देखा जो आद्यपुत्र (धन सम्पन्न का पुत्र) था। देखते ही उस युवक का मन हरण हो गया। मनःस्वामी होकर भी काममोहित होकर अपने पर अधिकार रखने वाला स्वामी नहीं हो पा रहा था। खोजी प्रार्थना करने वालों को भी क्या कामदेव को ऐसी रति मिल सकती है जो वसन्त से भरपूर फूलों को स्वयं चुन रही हो। क्या यह वनदेवी वसन्त की पूजा करना चाहती है? यह जब वह सोच रहा था तो उसे भी राजकुमारी ने देखा। देखते ही उसे लगा कि यह अंगों वाला साकार कामदेव है। वह इतनी उत्कण्ठित हो गयी कि पुष्पों, अंगों और स्वयं का भी ध्यान नहीं रहा उसे। इस प्रकार जब वे दोनों परस्पर प्रेम रस में नये नये डूबे खड़े थे तब तक बहुत जोर जोर से आवाज होने लगी - हा, हा, हा, (7-13)। यह क्या है - यह सोचकर ऊँचा कंधाकर जब वे दोनों देखने लगे तो पाया कि एक अन्य गजगंध के कारण क्रोधित हाथी दौड़ रहा है। उसने अपना खूँटा तोड़ दिया और मदमत्त निकलकर मार्ग के वृक्षों को तोड़ता हुआ महावत को गिराकर दौड़ते हुए उसका अपना अंकुश भी गिरा दिया। तब सेवक परेशान होकर भागे तो हड़बड़ी में उस अकेली राजकुमारी को दौड़कर भुजाओं में उठाकर अपने अंगों से उस भय, प्रेम और लज्जा से व्याकुल को हाथी की नजर से बहुत दूर वह मनःस्वामी ले गया (14-17) इसके बाद सेवक लोग आये तो उन्होंने बड़ी प्रशंसा की उस उत्तम ब्राह्मण की। फिर पलट पलटकर देखती राजकुमारी को अपने घर ले गये। वहाँ रहते हुए भी वह अपने उस

प्राणदाता को ही याद करती रही। कामाग्नि के पुटपाक¹ से वह रात दिन पकाई जाने लगी। वह मनःस्वामी भी तब उस उद्यान से लौटती और अपने अन्तःपुर में प्रवेश करती राजकुमारी को देखकर उत्कण्ठित होकर सोचने लगा - इसके बिना रहने और जीवित रहने का मुझमें उत्साह नहीं बचा। इसलिए अब यहाँ तो सिद्ध धूर्त गुरु मूलदेव² ही मेरी गति है। यह सोचकर किसी प्रकार इस दिन के डूबने पर प्रातः काल में उस गुरु मूलदेव के पास गया। उसने उसे उसके मित्र शशि के साथ देखा जो उसके साथ सदा रहता था। वह सिद्ध माया का अनोखे मार्ग वाला शरीरधारी मानो आकाश था। और उस लड़की सम्बन्धी अपनी भावना का उसने प्रणाम करके निवेदन किया। उसने भी हँसकर उसे साधने का वचन दिया। तब उस धूर्तपति ने अपने मुख में योग गोली फेंकी तो मूलदेव ने स्वयं की वृद्ध ब्राह्मण की आकृति बना ली और दूसरी मुख में डालने योग्य गोली देकर उस ब्राह्मण मनःस्वामी का सुन्दर कन्या का रूप बना दिया। उस रूप वाले उस ब्राह्मण को लेकर धूर्तराज उसकी प्रिया के पिता राजा की सभा में जाकर सूचना दी कि - राजन् मेरा एक पुत्र है। उसके लिये मैं दूर से माँगकर यह कन्या लाया और अभी वह कहीं चला गया। मैं उसे खोजने जा रहा हूँ। इसलिए आप इसकी देखभाल करें जब तक मैं बेटे को न ले आऊँ। आप तो संसार के रक्षक हैं। यह सुनकर शाप के डर से राजा यशःकेतु ने पुत्री शशिप्रभा को बुलवाया और कहा कि पुत्री इस कन्या की अपने घर में रक्षा करना और अपने पास ही भोजन-शय्या आदि की इसकी व्यवस्था कर देना। पिता के द्वारा ऐसा कहने पर 'ठीक है' कहकर उस कन्या रूप के ब्राह्मण मनःस्वामी को उन राजकुमारी के साथ भेज दिया। तब ब्राह्मण वेश वाला मूलदेव इच्छानुसार चला गया और वह मनःस्वामी कन्या रूप धारण कर प्रिया के पास चला गया। कुछ दिन तक पास में सोये कन्या रूप में छिपे मनःस्वामी ने राजकुमारी से एकान्त में पूछा (18-35)।

हे सखि प्रतिदिन दुबली क्यों हो रही हो? पीली क्यों पड़ रही हो? हे शशिप्रभा ऐसी दुःखी लग रही हो मानो कान्त की ओर से बिछुड़ी हुई हो। मैं आपकी प्रेमभरी मुग्धा सखी हूँ। मुझ पर कैसा अविश्वास? मुझे बताओ। यदि मुझे नहीं बताओगी तो मैं अब भोजन नहीं करूँगी। यह सुनकर उसाँस लेकर धीरे से वह राजकुमारी बोली - तुझ पर

1. दो पात्रों के पुट में कण्डे की आग में दवा पकाने की प्रक्रिया।
2. मूलदेव और शशि या शश धूर्तमित्रों की जोड़ी। विक्रमादित्य की सभा का प्रसिद्ध धूर्त मूलदेव। प्राचीन साहित्य का प्रसिद्ध धूर्तनायक। इसके नाम इसवी पूर्व की ब्राह्मी लिपि में पात्रखण्डों और सिक्कों पर लिखे मिलते हैं। ये अयोध्या और नर्मदा तटवर्ती कसरारवद से मिले हैं।

मेरा कैसा अविश्वास ? तो सखि सुन। तुझे बताती हूँ। एक बार मैं मधुदान यात्रा में गयी थी। वहाँ मैंने सुन्दर किसी ब्राह्मण पुत्र को देखा। वह ऐसा था कि शीतलता त्याग कर चन्द्रमा की कांति का था। उसे देखते ही काम उत्तेजित हो गया। वसन्त या वैशाख मास में आलोक क्रीड़ा से अलंकृत वन (ऐसे मुख वाला) है। ये मेरी आँखें चकोर बन-बन कर जब तक उसकी ओर उन्मुख रहे और उसके मुखचन्द्र की कांति का अमृत पान करते तब तक वहाँ बिना सांकल का मद जल बरसाता अचानक असमय के कालमेघ के समान कांति वाला काला महागज चिंघाड़ता हुआ आ गया। उस हड़बड़ी में डर की परेशानी से सेवक लोग भाग गये। तब वही ब्राह्मण पुत्र मुझे उठाकर दूर ले गया। उसके अंगों के स्पर्श से मेरी न जाने क्या दशा हो गयी। मानो मुझे चन्दन का लेप कर दिया अथवा सुधा से सींच दिया। थोड़ी देर में परिवार से मिलने पर मैं विवश यहाँ ले आयी गयी। तब लगा मानो स्वर्ग से मुझे धरती पर फेंक दिया गया हो। तब से ही तरह-तरह की कल्पनाओं में कल्पित संगम करते हुए जागती हुई भी उस प्राणदाता पति को अपने पास ही देखती हूँ। सोती हूँ तो सपने में देखती हूँ कि वह मेरी चाटुकारिता कर रहा है। हठपूर्वक लज्जा मिटाता है वह चुम्बन आलिंगन आदि द्वारा। मैं दीन हूँ। उसके नाम आदि के अज्ञान से मैं मूढ़ हूँ। इसलिए इस प्रकार प्राणनाथ की विरहाग्नि से वह मुझे जला रहा है (36-48)।

इस प्रकार वाणी के उसके अमृत से उसके कानों का पेट भर गया। वह ब्राह्मण कन्या का शरीर धारण करने वाला मनःस्वामी आनंदित हो गया। स्वयं को कृतार्थ मानकर वह स्वयं को प्रकट करने का उचित समय मानकर अपने मुख से गोली निकाल कर उसने स्वयं को प्रकट कर दिया। और बोला - अरी चंचल नयने यह वही हूँ मैं, जिसे तूने उद्यान में देखकर खरीद लिया था और सच मुझे अपना दास बना लिया था। तेरी प्रशंसा के क्षण से गिरकर मैंने इतना कष्ट पाया कि उसका ही परिणाम है कि मुझे कन्या रूप ग्रहण करना पड़ा (49-52)। इसलिए मेरी असहनीय विरहव्यथा को सफल कर। हे तन्वांगि अपने भीतर का काम सहने में अक्षम हूँ। ऐसे बोलते हुए उस प्राणनाथ को सहसा सामने देखकर वह राजकुमारी तत्काल स्नेह, आश्चर्य और लज्जा से व्याकुल हो गयी। तब दोनों की उत्सुकता से उन दोनों ने आपस में गन्धर्व विवाह कर लिया। उस प्रेम की जैसी इच्छा होती वैसा रमण उत्सव हो गया (53-55)।

तब वह मनःस्वामी वहाँ दो रूप धारण कर रहने लगा। दिन में गोली लेकर कन्या और रात में गोली के बिना पुरुष। कुछ दिन बीतने पर राजा यशःकेतु के मृगांकदत्त

नामक साले ने अपनी बेटी जिसका नाम मृगांकदत्ता था वह अकूत वैभव सहित महामन्त्रि ब्राह्मण प्रजासागर के पुत्र को दे दी। मामा की बेटी के विवाह में निमंत्रित होने से मामा के घर वह राजकुमारी शशिप्रभा भी गयी। उसके साथ गयी छोरियों के साथ वह कान्त कन्या रूपधारी विप्रपुत्र मनःस्वामी भी गया। कन्या रूपधारी उसे वहाँ देखकर मन्त्री का पुत्र काम-शिकारी के गहरे बाण से आहत हो गया (56-61)। उस कपटकन्या के द्वारा चित्त चुराने पर अपनी वधू की सहेलियों के साथ अपने सूने घर में गया। वहाँ उसके मुख की सुन्दरता का ही ध्यान करने लगा। तीव्र प्रेम के महासर्प द्वारा काट लिया गया वह निश्चय ही मोह में पड़ गया। वहाँ लोग हड़बड़ी में पड़ गये कि यह क्या है ? यह सब जानकर उत्सव छोड़कर उसका पिता प्रजासागर उसके पास आया। उस पिता ने उसे ढाढस बँधाया तो भी होश में आकर उन्माद में बड़बड़ाते हुए उसने अपने मन की बात कह दी। पिता ने समझ लिया कि यह अपने बस में नहीं रहा तो पिता अत्यन्त परेशान हो गया। यह जानकर राजा भी वहीं आ गया। वह उसे जल्दी से अत्यन्त आसक्त देखकर और देखा कि यह काम की सातवीं अवस्था में है, राजा ने अधिकारियों को कहा - ब्राह्मण की धरोहर जो कन्या है वह इसे कैसे दी जा सकती है ? जबकि उसके बिना यह निश्चय ही अंतिम मरण दशा में पहुँच जाएगा। यह नष्ट होगा तो इसका पिता और मेरा मन्त्री नष्ट हो जाएगा। इसके नाश से राज्य का नाश हो जाएगा। तो बता अब क्या रास्ता है ? उस राजा ने जब यह कहा तो उन सब अधिकारियों और जनता ने कहा - राजा का अपना धर्म यह बताया गया है कि प्रजा की रक्षा करे। उसका मूल मंत्र है और वह मन्त्री पर निर्भर रहता है। मन्त्री के नष्ट होने पर मूल का नाश हो जाता है। अतः धर्म की क्षति की रक्षा आवश्यक है (62-71)। इस ब्राह्मण मन्त्री के पुत्र की हत्या का पाप लगेगा इसलिए यह धर्म की हानि होने वाली है। इससे अवश्य रक्षा करनी चाहिए। विप्र द्वारा धरोहर में रखी यह कुमारी मन्त्री के पुत्र को दी जानी चाहिए। समय के बाद विप्र आकर क्रोध करे तो उसका प्रतिकार कर लिया जाएगा (62-73)। जब जनता ने यह कहा तो राजा ने 'ठीक है' कहकर वह छद्म कन्या मन्त्री पुत्र को देने के लिए तैयार हो गया। राजकुमारी के घर से वह लाया गया। लग्न निश्चित हो गया। तब कन्या रूप के मनःस्वामी ने उस राजा से कहा - अन्य के द्वारा अन्य प्रयोजन से मैं लायी गयी और अन्य को दे दोगे तो राजा तुम्हें होगा धर्म भी और अधर्म भी। मैं इस शर्त पर विवाह करना चाहूँगी कि हठपूर्वक पति के साथ एक ही शय्या पर मुझे नहीं ले जाया जाएगा। जब तक छः मास तक तीर्थों का भ्रमण

करके वह (मन्त्री पुत्र) नहीं आ जाए। ऐसा न हो यदि तो मैं दाँतों से जीभ काट लूँगी और मुझे मरी समझोगे। कन्या शरीर धारण किये युवक ने जब यह शर्त रखी राजा ने उसे समझाया और मन्त्री का पुत्र समझ गया। 'ठीक है' ऐसा तय करके जल्दी से विवाह करके अपनी वधू मृगांकवती और नकली वधू को एक घर में सुरक्षित रखकर वह मूर्ख कान्ता प्रिया की इच्छानुसार तीर्थयात्रा के लिए चल दिया। वह मनःस्वामी स्त्री रूप में उस मृगांकवती के घर में उसके साथ एक शयन और आसन पर रहने लगा। ऐसे रहते हुए एक बार रात में वह मृगांकवती शय्याघर में एकान्त में बोली। सेवक गण तो बाहर सोये थे। हे सखि मुझे नींद नहीं आ रही। कोई कथा सुना। यह सुनकर स्त्री रूप के उस युवक ने उसे कथा सुनायी (74-84)। प्राचीन काल में सूर्य वंश में उत्पन्न ऐल नामक राजर्षि को गौरी के शाप से संसार की सबसे सुन्दर स्त्री का रूप प्राप्त हो गया। देव के उद्यान वन के अन्दर परस्पर देखने से जो प्रीति हुई। उससे देव के संयोग से पुरुरवा हुआ। वह कथा कहकर वह धूर्त फिर बोला - इसलिए इस प्रकार देवता के आदेश से मन्त्र-औषध के वश में आकर कभी पुरुष स्त्री बन जाता है और कभी स्त्री पुरुष बन जाता है। इस तरह के मनमाने संयोग महान् लोगों के भी हो जाते हैं। यह सुनकर मुग्धा विवाह में भेजी गयी कामना वाली वह मृगांकवती जो सहवास के लिए विश्वस्त थी वह बोली - यह कथा सुनकर मेरे अंग सनसना रहा है और यह हृदय डूब रहा है। तो सखि बता - यह क्या है? यह सुनकर वह स्त्री रूपधारी विप्र फिर उससे बोला - हे सखि ये तेरे काम चिह्न अपूर्व हैं। मैं तुझसे छिपाती नहीं, मैंने इनका अनुभव किया है। उसने जब यह कहा तो मृगांकवती ने धीरे से कहा - हे सखि तू मेरे प्राण के समान है। तू तो समय को पहचानती है। तुझे बताऊँ नहीं क्या? किसी उपाय से पुरुष का यदि प्रवेश हो सकता है क्या? उसने जब ऐसा कहा तो उसका आशय समझ गया। वह धूर्तपति (मूलदेव) का शिष्य बोला - यदि ऐसा है तो तुझे कहती हूँ। मुझे विष्णु की कृपा प्राप्त है कि जिससे रात में मैं अपनी इच्छा से पुरुष हो जाता हूँ। तो आज मैं तेरे लिए पुरुष बन जाता हूँ। यह कहकर उस मनःस्वामी ने अपने मुख से गोली निकालकर उसे अपना फड़कते यौवन का मनोहर रूप दिखा दिया। तब कहकर निश्चित सब कुछ नियम बद्ध कालानुसार उन दोनों का संभोग उत्सव होने लगा। इसके बाद उस मन्त्री पुत्र की भार्या के साथ वह ब्राह्मण दिन में स्त्री और रात में पुरुष होता रहा। जब कुछ दिनों बाद यह जानकर कि मन्त्री के पुत्र के आने का समय आ गया है उसे लेकर रात में इच्छानुसार भाग कर चला गया (85-99)। यह कथा चल रही

थी कि उसके गुरु मूलदेव को यह ज्ञात हुआ तो बूढ़े ब्राह्मण का रूप बनाकर तरुण ब्राह्मण के रूप में अपने मित्र शशि को साथ लेकर अचानक उस राजा यशःकेतु के पास आकर बोला - मैं यह अपना बेटा ले आया। अब मेरी वह बेटी दे दो। तब परामर्श करके वह राजा शाप के डर से उससे बोला - हे ब्राह्मण मुझे पता नहीं कि तुम्हारी पुत्र वधू कहाँ चली गयी। क्षमा करें। इस अपराध के लिए तुम्हारे बेटे को मैं अपनी बेटी दे देता हूँ (100-103)। यह जब धूर्तराज से कहा तो वह बनावटी क्रोध से कठोर हो गया। तब उस वृद्ध विप्र रूपधारी से प्रार्थना करते हुए राजा ने कहा। तो उसके पुत्र के रूप में आये मित्र से राजा ने अपनी बेटी शशिप्रभा का विधिपूर्वक विवाह कर दिया। इस प्रकार उन दोनों वरवधू को लेकर वह मूलदेव अपने स्थान पर चला गया और राजा के धन की इच्छा भी नहीं की। तब वहाँ मनःस्वामी के मिलने पर बहुत बड़ा विवाद खड़ा हो गया। मूलदेव के सामने, शशी और उसके और दोनों के सामने। मनःस्वामी ने कहा - यह शशिप्रभा मुझे दीजिए। इन्हीं गुरु की कृपा से मैंने उससे तब विवाह किया था जब यह कन्या थी। शशी ने कहा - तू इसका कौन होता है? मूर्ख यह मेरी पत्नी है। इसके पिता ने मुझे अग्नि की साक्षी में प्रदान की है। इस प्रकार माया के बल से प्राप्त राजकुमारी के लिए उन दोनों के विवाद का कोई अन्त नहीं हो रहा था। तो राजन् तू मुझे बता कि कौन इसका पति है। किसकी यह भार्या होनी चाहिए। संशय दूर कर वरना तेरे साथ पहले बताया गया वचन है। वेताल से यह सुनकर जो उसके कंधे पर था, वह राजा त्रिविक्रमसेन बोला - मैं मानता हूँ कि न्यायानुसार राजकुमारी शशी की ही भार्या है जिसे पिता ने प्रकट रूप में धर्म के मार्ग से प्रदान की। मनःस्वामी ने चोरी से गान्धर्व धर्म से उसे प्राप्त किया था। चोर की पराई वस्तु पर स्वत्व कभी उचित नहीं हो सकता। यह उस राजा की बात सुनकर वह वेताल फिर अचानक उसके कंधे से वहीं अपनी जगह अचानक चला गया और वह राजा भी जल्दी से उसके पीछे चला गया (104-115)।

महाकवि श्रीसोमदेव भट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतीलम्बक की बाईसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-23

वेताल-16

तब वह राजा त्रिविक्रमसेन उस शीशम के पेड़ पर जाकर उसी वेताल को कंधे पर डालकर चल पड़ा। आते हुए उस राजा से वह वेताल फिर बोला - राजन् सुन। तुझे एक

बड़ी कथा सुनाता हूँ (1-2)। हिमवान् नामक पर्वतराज है जो समस्त रत्नों का केन्द्र है जो हर की गौरी और गंगा कान्ताओं का समान रूप से पिता है। इसकी पीठ का स्पर्श कोई वीर नहीं कर पाया तथा जो कुल पर्वतों के बीच अभिमान से उन्नत है - यह बात तीनों लोकों में सच ही मानी जाती है। उसके शिखरों पर अपने नाम को सार्थक करता कांचनपुर नामक नगर है। जो ऐसा चमक रहा है मानो सूर्य ने अपनी किरणें यहाँ सुरक्षा के लिए रख दी हों (3-5)। इस श्रेष्ठ नगर में प्राचीन काल में जीमूतकेतु नामक विद्याधरों का राजा श्रीसम्पन्न था जैसे मेरु पर इन्द्र। उसके घर के उद्यान में वंशानुगत कल्पवृक्ष था जो अपने नाम को सार्थक करते हुए मनोरथ पूर्ण करने वाले के रूप में प्रसिद्ध था। उस देवात्मा की प्रार्थना करने पर उसकी कृपा से राजा को जन्म से ही कामदेव (जन्मस्मर) पुत्र प्राप्त हुआ जो बोधिसत्व अंश से उत्पन्न हुआ था। वह दानवीर, महाशक्ति सम्पन्न, समस्त भूतों पर कृपा करने वाला, गुरु की सेवा में तत्पर था। नाम से वह जीमूतवाहन था (6-9)। जब वह युवक हुआ तो उसका 'युवराज' पद पर अभिषेक कर दिया। सचिवों और सद्गुणों की प्रेरणा से उसे युवराज से बनाया गया। जब वह जीमूतवाहन युवराज था तो हितैषियों और पिता के मंत्रियों ने आकर कहा - हे देव यह जो कल्पतरु है यह सबकी मनोकामना पूरी करता है। समस्त भूतों के लिए अजेय है और आपका सदा पूजनीय है। इसके रहते इन्द्र भी हमें बाधा नहीं पहुँचा पाता तो दूसरे क्या ? यह सुनकर उस जीमूतवाहन ने मन में सोचा - अरे ऐसा अमरवृक्ष पाकर भी हमारे पूर्वजों ने कोई वैसा फल प्राप्त नहीं किया। किन्हीं किन्हीं ने बहुत सी हल्का फुल्का पा लिया। इससे तो स्वयं को और इस वृक्ष को दोनों को छोटा कर दिया गया (6-15)। तो मैं इस वृक्ष से मनमानी साधता हूँ। यह तय कर वह महासप्तशाली (ऊर्जा सम्पन्न) पिता के पास गया। वहाँ समस्त सेवा से संतुष्ट जब वह एकान्त में बैठा तो उसने पिता से कहा - पिताजी आप तो जानते ही हैं कि इस संसार सागर में शरीर सहित सब कुछ लहरों के चलने जैसे चंचल हैं। विशेषकर क्षणिक स्थिरता और प्रकार की विलयवाली संध्या, विद्युत् और लक्ष्मी कब कहाँ स्थिर देखी जाती है ? एक मात्र परोपकार ही इस संसार में अनश्वर है जो धैर्य और यश उत्पन्न करता है जो सैकड़ों युगों तक साक्षी बना रहता है। इसलिए पिताजी क्षणिक ऐसे भोगों में ऐसे इस कल्पवृक्ष की किसके लिए व्यर्थ रक्षा कर रहे हैं ? जिन पूर्वजों ने इसकी 'मेरा है, मेरा है' इस आग्रह से इसकी रक्षा की वे कहाँ और यह कहाँ ? उनका यह कौन और इसका कौन है ? इसलिए परोपकार के फल की सिद्धि के लिए आपके आदेश से मैं इस मनमाना

फल देने वाले कल्पतरु का उपयोग करना चाहता हूँ। पिता ने कहा - ऐसा ही हो और अनुमति दे दी। तब उस जीमूतवाहन ने उस कल्पवृक्ष के पास जाकर उसे कहा (16-24)। आपने पूर्वजों की समस्त मनोकामनाएँ पूरी की हैं। तो मेरी भी एक अनन्य कामना पूरी कीजिए। ऐसा करो कि यह पृथ्वी मुझे अदरिद्र दिखाई दे। लोक के लिए चाहने वाले के लिए मैं तुम्हारी कल्याण कामना करता हूँ। दोगे तो आपका कल्याण होगा (26)। हाथ जोड़कर जीमूतवाहन के ऐसा कहने पर वृक्ष से यह आवाज आयी तूने तजा और यह मैं उत्पन्न हुआ। क्षण भर में उछलकर उस कल्पवृक्ष से आकाश से धरती पर इतना धन बरसाया कि इस पर कोई भी गरीब व दुर्गति का नहीं रहे। तब समस्त प्राणियों के प्रति अनुकंपा के कारण जीमूतवाहन का यश तीनों लोकों में फैल गया। इससे उसके गोत्र के सब लोग ईर्ष्या के कारण असहिष्णु हो गये। लोक में कल्पवृक्ष के बिना देकर दुःख दूर करके दिखाता। सबने मिलकर तय किया कि इसे पिता सहित जीता जाए। उसके राज्य का अपहरण करने की इच्छा से युद्ध के लिये आह्वान किया। यह देखकर जीमूतवाहन ने अपने पिता से कहा - पिताजी आप हथियार उठा लें तो किस अन्य की शक्ति है परन्तु इस पापी और नष्ट होने वाले शरीर के लिए बन्धुओं को मारकर कौन बेचारा राज्य चाहता है ? हमें राज्य से क्या मतलब ? कहीं अन्यत्र जाकर हम दोनों लोक को सुख देने वाले धर्म का ही आचरण करें। ये दीन उत्तराधिकारी राज्य के लोभी आनन्द में रहें। जीमूतकेतु ने यह कहा तो पिता ने उससे कहा - हे पुत्र मैं तो तेरे लिए ही राज्य चाहता हूँ। तू ही यदि दयालु होकर छोड़ रहा है तो मुझ वृद्ध को उससे क्या मतलब (27-36) ?

इस प्रकार पिता की अनुमति मिलने पर मात-पिता के साथ वह जीमूतवाहन मलय पर्वत पर चला गया। वहाँ चन्दन से छाये बहते निर्झर वाली गुफाओं में आश्रय बनाकर माता-पिता की सेवा करने लगा। तब उसका मित्र प्रसिद्ध मित्रावसु जो विश्वावसु सिद्धराज का पुत्र था और यहीं का निवासी था वह आया। एक बार वह जीमूतवाहन घूमते हुए उपवन में स्थित देवी गौरी का मन्दिर देखने गया। वहाँ उसने वीणा बजाती एक श्रेष्ठ कन्या को देखा। वह सखी जन के साथ थी और गौरी की आराधना कर रही थी। वीणा की मनोहर ध्वनि सुनते हुए मृग भी एक टक देख रहे थे मानों नयनों की सुन्दरता से वे लज्जित हो रहे हों। अपनी आँखों की सफेदी से काले तारे को धारण करते मानो पाण्डवों की सेना के बारे में कर्ण के पास कह रहे हों। उसके मुख चन्द्र के देखने के लिए आपस में भिड़ते हुए दोनों स्तन सामने से तृप्त नहीं हो रहे थे मानो। उसका मध्य भाग

इतना पताल और मनोहर था कि विधाता ने मुट्टी में पकड़ कर घड़ते हुए इतना दबाया कि उस दुर्बला की त्रिवली अंगूली की अंगूठी में आ जाए। उसके देखते ही जीमूतवाहन¹ की दृष्टि के मार्ग से प्रवेश करके उसके चित्त को चुरा लिया। वह भी उद्यान का आभूषण था। कामांग के दाह के वैराग्य से मधुवन में आश्रित हो मानो। उत्कण्ठा को विकार देने वाले उसे देखकर इस तरह प्रेम के अधीन हो गयी कन्या कि हाथ में नहीं रही। जैसे उसकी सखी वीणा व्याकुल आलाप करने लगी। तब उस जीमूतवाहन ने उसकी सखी से पूछा - तुम्हारी इस सखी का क्या नाम है ? इसने किस वंश को अलंकृत किया है ? यह सुनकर उस सखी ने कहा - इसका नाम मलयवती है। मित्रावसु की बहन और सिद्धराज विश्वावसु की पुत्री है। इस प्रकार नाम और वंश जीमूतवाहन को बताकर उस सहृदय ने इस मुनि पुत्र के साथ आये इसका नाम वंश पूछा (37-51)। उसने मुस्काते हुए थोड़े अक्षरों में मलयवती से कहा - हे सखी इस विद्याधरेन्द्र का क्या आतिथ्य नहीं करोगी ? जगत् के द्वारा पूज्य अतिथि आये हैं ये। उसने ऐसा कहा तो वह विद्याधरपुत्री लज्जा से सिर झुकाए चुप रही। यह तो लजीली है। मुझसे पूजा ग्रहण करें। यह कहते हुए एक सखी ने उसे अर्चना सहित एक माला प्रदान की। प्रेम से भरे उस जीमूतवाहन ने माला लेकर उस मलयवती के गले में डाल दी। वह भी टेढ़ी फैली आँखों से प्रेमपूर्वक देखकर नीलकमल वाली माला के समान उसमें प्रवेश कर गयी। इस प्रकार परस्पर बिना शब्द का उनमें स्वयंवर हो गया। उन दोनों के पास आकर एक सेविका ने उस सिद्ध कन्या से कहा - हे राजकुमारी तुम्हें माताजी याद कर रही है। चलो ! देर मत करो। यह सुनकर कामतीर से बीधीं उसने स्वयं को कठिनाई से खींचकर प्रिय के मुख से लज्जा सहित किसी तरह दृष्टि हटाते हुए वह घर गयी। उसमें ही चला गया स्वयं ऐसा जीमूतवाहन भी अपने आश्रम में आ गया। तब वह मलयवती माता से मिलकर अपने प्राणनाथ के विरह से व्यथित बिछौने पर जाकर गिर गयी। तब भीतर जलती कामाग्नि के धूम से भरी आँखों से मानो आँसू बहाती अपने अंगों को तपाती सेकने लगी। सखियों ने चन्दन का लेप किया। कमलिनी के पत्तों से हवा की। पर उसे न शयन पर, न सखी की गोद में, न धरती पर शांति मिल रही थी। दिन के कहीं जाने पर तब रात साँझ के साथ हँसते पूर्व दिशा के मुख पर चढ़कर चन्द्रमा ने जब चुंबन कर लिया। काम से प्रेरित होकर भी दूती भेजना आदि वह लज्जा से न कर सकी। पर जीवन की कामना ने उसे त्याग दिया (52-64)।

1. जीमूतवाहन की इस कथा पर हर्ष का नाटक नागानन्द है।

चन्द्रमा से विषम कमलिनी के समान वह रात बिताकर मोह के भँवरे के स्थान जैसे हृदय में बंधी संकोच में वह पड़ी थी। उधर उसके वियोग से परेशान वह जीमूतवाहन बिछौने पर होने पर भी कामदेव के हाथ में पड़ गया। नया राग प्रकट हुआ था तो भी उस पर पीलापन आने लगा। लज्जा से चुप था पर काम की पीड़ा बोल रही थी - ऐसे वह रात बिता रहा था। प्रातः अत्यन्त उत्सुक होकर गौरी के मन्दिर गया। जहाँ सिद्धराज की पुत्री दिखाई दे कभी। वहाँ मुनिपुत्र पीछे से आकर उस कामाग्नि से विह्वल को आश्वासन दे रहा था। तब तक वहीं वह मलयवती अकेली उस निर्जन वन में चुपचाप विरह सहन न कर पाने से निकल आयी। कान्त को स्वयं को न बताती हुई वृक्ष में छिपी रही। आँखों में आँसू लाती वह बाला देवी गौरी से बोली - हे देवी तुम्हारी भक्ति से यदि इस जन्म में मेरा पति जीमूतवाहन हो सके तो अन्य जन्म में हो। यह कहकर उसी समय अपने उत्तरीय से गिरिजा के सामने अशोक वृक्ष की शाखा पर फंदा¹ बनाया। हे नाथ देव जीमूतवाहन करुणा में तो तुम जगत् में विख्यात हो। फिर तुम मेरी रक्षा क्यों नहीं कर रहे ? (65-74)। यह कहकर जब तक वह गले में फंदा डालने लगी तब तक देवी के द्वारा कही गयी वाणी आकाश में गूँजी - हे पुत्री साहस मत कर। तेरा पति चक्रवर्ती विद्याधरों का राजा जीमूतवाहन ही होगा। देवी की यह वाणी हुई और उसे सुनकर मित्र सहित प्रसन्न प्रिया के पास पहुँच गया। देख देवी का यह वरदान तेरे लिए सत्य ही है। उस बाला को जब उसके मित्र मुनिपुत्र ने कहा तो जीमूतवाहन ने प्रेम से भरी वैसी ही बातें कहते हुए अपने हाथ से उसके कंठ से फंदे को हटाया। तब अचानक उन दोनों पर अमृतवर्षा करती हुई मानते हुए, लज्जा से नत आँखों से मलयवती के धरती लिखे जाने पर खोजती हुई सखी ने आकर प्रसन्नता से उसे कहा - हे सखि भाग्य से कल्याण करने वाली इच्छित सिद्धि के लिए तुम्हें बधाई। आज ही तुम्हारे पिता महाराज विश्वावसु को मेरे सामने कुमार मित्रवसु ने बताया कि हे तात कल्पतरु प्रदान करने वाला विश्वमान्य जो विद्याधरराज का पुत्र जीमूतवाहन यहाँ आया है, वह अतिथि होने से हमारा पूज्य है और उस जैसा अन्य वर नहीं है। इसलिए उसकी कन्यारत्न मलयवती द्वारा पूजा करें। राजा ने 'ठीक है' कहा तो तेरा वह भाई मित्रावसु इसलिए आपके आश्रम में गया है। मुझे लगता है कि जल्दी ही आपका विवाह हो जाएगा। इसलिए अपने घर चलो और ये महाशय भी अपने घर जाएँ (75-86)।

1. विरहातुर या निराश द्वारा फंदे से लटकरकर या चिता बनाकर उसमें जल मरने के लिए आतुर होना बहुधा कहानियों में पाया जाता है।

यह कहने पर वह उस सखी के साथ राजकुमारी धीरे-धीरे लज्जा तथा हर्ष के साथ पीछे पलटकर देखती हुई चली गयी। जीमूतवाहन भी जल्दी से अपने आश्रम में गया। वहाँ आये हुए मित्रावसु से इच्छित कार्य सुनकर और उसका अभिनन्दन करके उसे पूर्वजन्म का स्मरण कर अपना पूर्वजन्म बताया कि वह उसका मित्र था और उसकी वह बहन उसकी पत्नी थी। तब मित्रावसु प्रसन्न हुआ। उसके माता-पिता संतुष्ट हुए। जाकर माता पिता को बताया कि काम हो गया है और उन्हें आनंदित किया और तभी जीमूतवाहन को अपने घर ले गये तथा अपनी सिद्धि के उचित वैभवानुसार उत्सव का आयोजन किया (87-91) और उसी धन्य दिवस में उस विद्याधर स्वामी की बहन मलयवती का विवाह सम्पन्न हो गया। तब जीमूतवाहन उस नवविवाहिता मलयवती के साथ मनोरथ सिद्ध हो जाने से वहीं ठहरे रहे। एक बार यहाँ कौतुक से मित्रावसु के साथ मलयपर्वत पर घूमते हुए सागरतट पर पहुँचे 192-94 वहाँ पर हड्डियों के बहुत से ढेर देखकर जीमूतवाहन ने उस मित्रावसु से पूछा कि ये हड्डियों के ढेर किन प्राणियों के हैं ? तब साले मित्रावसु ने उस दयालु से कहा - सुनो यह सारा विवरण मैं संक्षेप में बताता हूँ तुम्हें। प्राचीन काल में नागमाता कद्रू ने गरुड़ की माता विनता को छल से दाव में जीतकर दास बना लिया। उस माता के छूट जाने पर भी उस शत्रुता से बली गरुड़ कद्रू के पुत्र नागों को खाया करता है। सदा पाताल में प्रवेश करके कुछ को वह खा जाता है, कुछ को कुचल डालता है और कुछ स्वयं ही परेशान होकर मर जाते हैं। एक बार यह देखकर सब नष्ट होने की आशंका में नागराजा वासुकि ने प्रार्थना करके गरुड़ से यह वचन ले लिया - हे पक्षीराज मैं तेरे लिए एक एक नाग आहार के लिए प्रतिदिन दक्षिणसागर के तट पर भेज दूँगा। तुम इस पाताल में प्रवेश मत करो। सब नाग एक साथ मर जाए तो इसमें तुम्हारा क्या लाभ ? नागराज वे यह कह कर वचन दिया तो परम पराक्रमी तथा स्वार्थ देखने वाले गरुड़ ने भी 'ठीक है' कहकर बात मान ली (95-103)। तब से प्रतिदिन इस सागर के तट पर गरुड़ वासुकि द्वारा प्रेषित एक एक नाग को यहाँ खाता है। अतः उसके द्वारा खाये गये नागों की हड्डियों के ढेर बढ़ते-बढ़ते पर्वत शिखर के समान कालक्रम से हो गये। मित्रावसु से यह सुनकर वह मन में बड़ा दुःखी हुआ और दया-धीरज का कोष वह जीमूतवाहन बोला - चिन्तनीय है वह वासुकि राजा जो अपने हाथों से कायर बनकर प्रतिदिन शत्रु को अपनी प्रजा उपहार में देता रहता है। सहस्र मुख होकर एक भी मुख से यह नहीं कह सका कि हे गरुड़ पहले मुझे खा। यह कैसे हुआ ? कैसे उसने याचना कर ली अपने शक्तिहीन कुल के क्षय करने

वाले गरुड़ की। नागनारियों की चिल्लाहट को प्रतिदिन सुनता रहता है वह निर्दय। और कश्यप का बेटा है, वीर है, कृष्ण की सवारी होने से पवित्र है ऐसा गरुड़ भी ऐसा पाप करता है। अहो मोह, मूढ़ता कितनी गहन है ? यह कहकर महा ऊर्जावान ने अपने हृदय में यह मनोरथ किया - क्या मैं इस असार देह से यह सार नहीं पा सकता (104-111)। जो डरे हुए और बन्धु हीन एक नाग के जीवन की रक्षा अपने आप को गरुड़ को देकर करूँ मैं। उस जीमूतवाहन के यह सोचते ही मित्रावसु के पिता के पास से एक आदमी बुलाने के लिए आ गया तो जीमूतवाहन ने मित्रावसु को यह कहकर घर भेज दिया कि तुम जाओ, मैं बाद में आता हूँ। उसके जाने पर यहाँ अकेला अपने इच्छित लक्ष्य से घूमते हुए उस कृपालु को दूर से रोने की करुण ध्वनि सुनाई दी। जाकर देखा कि ऊँचे शिलातल के निकट एक सुन्दर आकृति का युवा पुरुष बहुत दुःखी है (112-116)।

एक शासकीय सैनिक जैसे आदमी उसी समय रोती वृद्धा को विनती करती स्त्री को छोड़ लौट रहा है। यह कौन है ? यह जानने के लिए तब तक यह सब सुनता हुआ करुणा से व्याकुल होकर छिप कर जीमूतवाहन ठहरा रहा। तब तक वह वृद्धा स्त्री दुःख के भार से अत्यन्त दुःखी होकर उस युवक को देख देख कर बार-बार चिन्ता करने लगी। हाय शंखचूड़, हाय तुझे सैंकड़ों दुःख प्राप्त हो गये, हाय गुणी, कुल के एक ही तन्तु हाय पुत्र तुझे अब मैं कहाँ देखूँगी ? हे वत्स तेरे इस मुखचन्द्र के अस्त हो जाने पर तेरा वह पिता दुःख के अंधेरे में पड़कर वृद्ध कैसे जीएगा ? जब सूर्य की किरणों के छूने से भी तेरा शरीर परेशान हो जाता है। वह गरुड़ के द्वारा खाये जाने के दुःख को कैसे सहन कर सकेगा ? इस विस्तृत नागलोक में राजा नागराज ने भी खोजकर मुझ अभागिन का एकमात्र पुत्र ही प्राप्त किया (117-123)। इस प्रकार विलाप करती उस वृद्धा से उस युवा पुत्र ने कहा - हे माता मैं वैसे ही दुःख से परेशान हूँ। तू और बढ़ाकर दुःख क्यों दे रही है ? तू घर लौट जा। तुझे यह मेरा अन्तिम प्रणाम। यहाँ अब गरुड़ के आने का समय होने वाला है ? यह सुनकर वह "हा मैं मारी गयी। यहाँ मेरे बेटे की कौन रक्षा करेगा?" कहकर हर दिशा में दुःखी आँखों से देखती हुई रोने चिल्लाने लगी, तब तक बोधिसत्व का अंश वह जीमूतवाहन सुनकर और देखकर अत्यन्त प्रभावित होकर सोचने लगा। हाय यह शंखचूड़ नामक नाग गरुड़ के भोजन के लिए अब वासुकी के द्वारा भेजा गया। यह इसकी माता स्नेह से उसके पीछे पीछे यहाँ तक आ गयी। एक बेटे वाली यह वृद्धा दुःख और दीनता की बात कह रही है। तो यदि इस नाशवान् शरीर से इस एक दुःखी नाग की रक्षा नहीं करूँ तो

मेरे इस निष्फल जन्म को धिक्कार है। यह सोचकर वह प्रसन्न जीमूतवाहन आकर उस वृद्धा से बोला - माताजी तुम्हारे पुत्र की मैं रक्षा करूँगा। यह सुनकर वह आने वाले भय वाली वृद्धा गरुड़ की शंका से परेशान होकर कहने लगी - हे गरुड़ मुझे खाजा, मुझे खाजा। तब शंखचूड़ ने कहा - माता परेशान मत हो, यह गरुड़ नहीं है। कहाँ तो यह चन्द्र के समान प्रसन्नता देने वाला और कहाँ वह भयंकर गरुड़। इस प्रकार शंखचूड़ के कहने पर जीमूतवाहन ने कहा - मैं विद्याधर हूँ। माता तेरे पुत्र की रक्षा के लिए आया हूँ मैं। मैं उस भूखे गरुड़ को अपना वस्त्रों से ढका शरीर दे दूँगा। तू इस पुत्र को लेकर घर पर जा (124-135)। यह सुनकर उस वृद्धा ने कहा - ऐसा मत कर। तू तो मेरे पुत्र से बढ़कर पुत्र है जो ऐसे समय में हम पर ऐसी कृपा कर रहा है। यह सुनकर वह जीमूतवाहन फिर बोला - मेरी इस इच्छा को मत तोड़ो तुम। ग्रह से इस प्रकार कहते हुए उससे शंखचूड़ ने कहा - हे महा ऊर्जावान सच ही तूने बड़ी कृपा दिखाई। पर मैं तुम्हारे शरीर द्वारा अपने शरीर की रक्षा नहीं करूँगा। अरे रत्न खर्च कर पत्थर की रक्षा कौन करना चाहता है? केवल स्वयं पर अनुकंपा करने वाले मेरे जैसे से तो सारा संसार भरा है। परन्तु पूरे नगर पर कृपा करने वाले आप जैसे तो विरले ही होते हैं। और मैं पवित्र शंखपालकुल को मलिन नहीं कर सकता। हे श्रेष्ठ विचार वाले तीक्ष्ण किरणों के बिम्ब वाले सूर्य का मैं कलंक नहीं बन सकता। इस प्रकार शंखचूड़ ने अपनी माता को मना करते हुए कहा - माताजी लौट जाओ इस जंगल के इस छोर से दुर्ग में (136-142)। क्या यहाँ नहीं देख रही हो कि नागों के रक्त के कीचड़ से भरे यमराज की क्रीड़ा के पलंग जैसे रौद्र वध करने की शिला को। और मैं सागर तट पर जाकर गोकर्ण-ईश्वर को प्रणाम कर जल्दी से आता हूँ जब तक गरुड़ यहाँ नहीं आता है। यह कहकर बेचारी रोती माता को प्रणाम करके उससे अनुमति लेकर वह शंखचूड़ गोकर्ण को प्रणाम करने के लिए गया (143-145)। इसी बीच यदि सिद्ध गरुड़ आ गया तो मेरा परार्थ मेरा इच्छित हो जाए- ऐसा जीमूतवाहन के हृदय में आया। तब तक अपने पंखों से वृक्षों को डोलाता आ गया मानो वे मना कर रहे हों। मुझे वहाँ देखकर वहाँ आया वह। यह मानकर कि गरुड़ के आने का समय हो गया। दूसरों के लिए प्राण देने वाला जीमूतवाहन उस शिला पर चढ़ गया। पवन से सागर चक्कर खा रहा था और वह चमकते रत्नों की आखों की कान्ति से बड़े आश्चर्य से मानो वह उस अत्यधिक ऊर्जावान को देख रहा था (146-149)। आकर आकाश को छाकर झपक कर उस शिला पर से अपनी चोंच से आघात कर उस महाप्राण को उठा गया। सिर रूपी रत्न को

उखाड़ कर उस टपकते रक्त वाले को ले जाकर वह मलय पर्वत पर ले जाकर खाने लगा। मेरा हर जन्म इसी प्रकार परोपकार के लिए हो। परोपकार के बिना न मुझे स्वर्ग मिले न मोक्ष मिले। इस प्रकार गरुड़ के खाये जाने के समय वह ध्यान कर रहा था तो उस पर आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई। इसी बीच वह बहती रक्त धारा के साथ शिरोमणि उसकी पत्नी मलयवती के सामने गिरि। वह उस चूड़ामणि को देखकर और पहचानकर अत्यन्त परेशान हो गयी। पास खड़े ससुर-सास को रोते हुए बताया। और वे पति पत्नी पुत्र की चूड़ामणि को देखकर अचानक 'यह क्या हो गया?' यह सोचकर चक्कर में पड़ गये। तब अपनी विद्या से वास्तविकता समझकर वह राजा जीमूतकेतु और वह रानी कनकवती भी बहू मलयवती ने साथ वहाँ जाने को तैयार हुए जहाँ गरुड़ और जीमूतवाहन थे (150-158)। तब तक उस शंखचूड़ ने यहाँ गोकर्ण में आकर प्रणाम कर देखा कि वध की शिला रक्त से गीली और लथपथ है। हाथ मैं महापापी मारा गया निश्चय ही महात्मा द्वारा जिस कृपालु ने मेरे लिए गरुड़ को स्वयं को दिया। तो वह सर्पशत्रु गरुड़ इस समय कहाँ ले गया- उसे खोजता हूँ। अपयश के कीचड़ में जीवित रहूँगा तब तक डूबा रहूँगा। इस प्रकार वह साधु रोता हुआ, कहता हुआ लगातार गिरती रक्तधारा का अनुसरण करता हुआ गया। इस बीच खाते हुए उस जीमूतवाहन को प्रसन्न देखकर रुक कर उसी समय गरुड़ सोचने लगा - अरे यह तो कोई अपूर्व है कि मैं इसे खा रहा हूँ, यह प्राणों को त्यागता हुआ भी महाशय प्रसन्न हो रहा है। इसके बचे हुए शरीर पर रोमांच का कंचुक है और मुझे उपकार की दृष्टि से देख रहा है मानो। तो यह नाग नहीं है। यह तो कोई सज्जन है। मैं इसे न खाकर पूछता हूँ। यह सोचने लगा तो वह गरुड़ से जीमूतवाहन बोला (159-166)। हे पक्षीराज रुक क्यों गये। ऐसा तो नहीं है कि मेरे शरीर पर मांस और रक्त नहीं बचा और न ऐसा ही कि तुम तृप्त हो गये। तो खाओ न इसे। यह सुनकर बड़े आश्चर्य के साथ वह गरुड़ उससे बोला - तुम नाग नहीं हो। तो बताओ महात्मा तुम कौन हो? मैं तो नाग ही हूँ। यह कैसा प्रश्न है? अपना काम कर। तब तक वहाँ शंखचूड़ पहुँच गया और दूर से ही बोला - हे गरुड़ महापाप वाला साहस मत कर। तुम्हें यह कैसा भ्रम हो गया? यह नाग नहीं है। तेरा नाग तो यह मैं हूँ। यह कहकर जल्दी से आकर उन दोनों के मध्य खड़ा हो गया। तब गरुड़ को भ्रम में पड़ा देखकर शंखचूड़ पुनः बोला - भ्रम में क्या पड़ते हो? मेरे फण और दो जीभ नहीं देख रहे हो? और इस विद्याधर की कोमल आकृति नहीं देख रहे तुम? जब शंखचूड़ ने यह कहा तब तक जीमूतवाहन के माता पिता और पत्नी जल्दी से

वहाँ आ गये। बिना अंगों का उसे देखकर माता-पिता उसी समय चीखने लगे - हा पुत्र, हा जीमूतवाहन। हा दयालु, हा पुत्र, दूसरे के लिए अपना जीवन दे दिया। हाय गरुड़ तुमने यह बिना सोचे समझे क्या कर डाला ? यह सुनकर वह गरुड़ पश्चाताप करता हुआ सोचने लगा - हाय क्या मैं मूर्खता वश बोधिसत्व के अंश को खा गया ? यही है वह दूसरों के लिए प्राण देने वाला जीमूतवाहन, जिसकी कीर्ति की घोषणा सम्पूर्ण तीनों लोक में भ्रमण कर रही है। तो इसके मरने पर मुझ पापी को अग्नि में प्रवेश कर लेना है। अधर्म के विष वृक्ष का फल पकने से भी क्या ? (167-171) इस प्रकार गरुड़ को चिन्तित और बन्धुओं को देखकर वह जीमूतवाहन घाव की व्यथा में गिरकर मर गया। तब वहाँ उसके माता-पिता दुःख से दीन होकर रोने लगे। और चिल्ला चिल्लाकर स्वयं की और शंखचूड़ की निन्दा करने लगे। उसकी पत्नी मलयवती आकाश की ओर देखकर आँसू से गद्गद वाणी में पूर्व में प्रसन्न होकर वर देने वाली अम्बिका को उलाहना देने लगी - हे गौरी देवी आपने मुझे आदेश दिया था कि तेरा पति विद्याधरों का स्वामी और चक्रवर्ती होगा। तो मुझे कैसे तुमने झूठ कहा था ? उसने यह कहा तो गौरी प्रत्यक्ष आयी। पुत्री मेरी वाणी झूठी नहीं है। यह कहकर अपने कमण्डल के अमृत से शीघ्र ही जीमूतवाहन पर छिटकाव किया। उससे अंग प्रत्यंग अक्षत होकर पहले से अधिक कान्तिमान होकर जी उठा वह कृती जीमूतवाहन (180-186)। उठकर उसने प्रणाम किया। सबने प्रणाम किया। तब देवी ने कहा - तेरे इस देहदान से मैं संतुष्ट हूँ। अतः पुत्र अपने हाथ से मैं तेरा कल्पपर्यन्त विद्याधरों के चक्रवर्ती रूप में अभिषेक करती हूँ। यह कहती हुई पार्वती ने कलश जल सागर से जीमूतवाहन का अभिषेक किया। पार्वती की पूजा की और वह लुप्त हो गयी। तत्काल उस पर आकाश से पुष्पवर्षा हुई और आकाश में देवों की दुन्दुभियाँ बजने लगीं। लज्जित होता हुआ वह गरुड़ जीमूतवाहन से तब बोला - हे चक्रवर्ती तुम पुरुषों में बढ़कर हो। मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। तुम अपूर्व उदार सोच के हो। तीनों लोक को चमत्कृत करने वाले तुमने वह किया जो ब्रह्माण्डकी भीत पर उसका अनोखापन अंकित हो गया। तो मुझे आदेश दो और मुझसे अभीष्ट वर माँगो।

गरुड़ ने यह कहा तो उस महासत्त्व ने यह कहा - प्रायश्चित्त करते हुए तुम अब नागों को मत खाना और जिन्हें तुमने खाया और जिनकी हड्डियाँ ही शेष बची हैं। वे भी जीवित हो जाएँ। 'ठीक है इसके बाद मैं परम शांत हूँ। और नागों को नहीं खाऊँगा। पहले जो खाये वे जीवित हो जाएँ।' यह वह गरुड़ बोला। तब जिनकी केवल हड्डियाँ ही शेष बची थीं वे पूर्व भक्षित समस्त नाग उसके वरदान से अमृत जीवन वाले जी उठे

(187-196)। तब देवताओं, नागों, मुनिगणों ने मिलकर उस मलयाचल को तीनों लोकों में प्रमुख बनाया और जीमूतवाहन का यह समाचार पार्वती की कृपा से तत्काल समस्त विद्याधर राजाओं के पास पहुँच गयी। वे आकर उसके पैरों पर पड़े और प्रसन्न बन्धुओं तथा मित्रों सहित हिमालय पर उसे ले गये। वहाँ पार्वती ने अपने हाथों से महाभिषेक किया गया - चक्रवर्तित्व पर और गरुड़ ने उसे छोड़ दिया था (197-199)। और वहाँ माता, पिता, मित्रवसु के और शंखचूड़ के साथ अपने घर आये। तब जीमूतवाहन ने लोकोत्तर चरित से उद्भूत सिद्ध रत्नों से सम्पन्न विद्याधर की धुर को चिरकाल तक भोगा। इस प्रकार उदार रस से परिपूर्ण कथा सुनकर उस वेताल ने पुनः उस त्रिविक्रमसेन राजा से पूछा - तो बोल कि शंखचूड़ और जीमूतवाहन इन दोनों में कौन अधिक सत्त्वशील है। पहले बतायी शर्त तेरे साथ है। इस प्रकार उसे वेताल से सुनकर शाप के भय से मौन त्यागकर वह राजा त्रिविक्रमसेन बिना घबराये उससे बोला - जीमूतवाहन ने तो अनेक जन्मों में यह अनोखापन सिद्ध किया। इसमें अनोखापन नहीं है। प्रशसनीय तो वह शंखचूड़ है, मृत्यु पार करने के बाद भी जो अपने शत्रु गरुड़ के पास सुदूर स्वयं को समर्पित करने के लिए पीछे-पीछे दौड़ता गया और बरबस अपनी देह को भेंट कर दिया।' उस राजा का यह वाक्य सुनते ही वह श्रेष्ठ वेताल पुनः उसके कंधे से अपने स्थान पर चला गया। और राजा भी उसी प्रकार उसके पीछे-पीछे चला गया (200-207)।

महाकवि श्री सामेदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतिलम्बक की तेईसवाँ तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-24

वेताल-17

उस वीर राजा त्रिविक्रमसेन ने तब जाकर पुनः उस शीशम के पेड़ से उस वेताल को पकड़ लिया। जब वह चल पड़ा तो कन्धे से वह वेताल फिर बोला - राजन् थकान दूर करने के लिए तुझे एक सुनने योग्य कथा सुनाता हूँ। गंगा के किनारे पर सम्पूर्ण धर्म की मर्यादा से स्थित कलियुग की पहुँच से बाहर कनकपुर (कानपुर) नामक एक नगर था। उसमें यशोधन नामक वास्तविक नाम वाला राजा हुआ। प्रलय-करते सागर के तट के पर्वत के समान जो पृथ्वी की रक्षा करता रहा। संसार को प्रसन्नता देने वाले और अखण्ड प्रताप के सम्पूर्ण मण्डल से सम्पन्न उसे विधाता ने मानो चन्द्र और सूर्य को एक करके

1. बौद्ध परम्परा से यह अलग दृष्टिकोण है।

बनाया। दूसरे की निन्दादि विवाद में मूर्खता थी उसकी, शास्त्रार्थ में दरिद्रता नहीं थी। जिस राजा को कोष और दण्ड के लिए कोई दोष नहीं था। पाप से डरपोक, यश का लोभी, परनारी के लिए नपुसंक और जिसने वीरता, उदारता और शृंगार में जनता द्वारा जीत लिया गया (1-7)। उस राजा के नगर में एक महावणिक हुआ। उसकी उन्मादिनी नाम की कन्या विख्यात थी। जो जो भी उसे देखता वह उसकी रूपसंपदा से उन्मत्त हो जाता था। वह अपनी मोहक शक्ति से कामदेव को भी उन्मत्त कर देती थी। जब वह युवती हुई तो उसके वणिक नीति वेदी पिता ने उस राजा से कहा - हे प्रभो तीनों लोकों की एकमात्र रत्न मेरी पुत्री देने योग्य हो गयी है। उसके विषय में आपको बताये बिना अन्य को देने का मुझे उत्साह नहीं है। आप भी पूरी धरती पर समस्त रत्नों के स्वामी हैं। अतः आप उसे स्वीकार कर अनुगृहीत करें अथवा उसे मुक्त करें। वणिक की यह बात सुनकर राजा ने अपने ब्राह्मणों का बड़े आदर के साथ उसके शुभ लक्षण देखने को पहुँचाये। उन ब्राह्मणों ने जाकर उस त्रिलोक सुन्दरी को देखकर तत्काल क्षुब्ध हो गये। जल्दी ही धीरज पाकर सोचने लगे- यदि राजा इसे पा लेगा तो राष्ट्र डूब जाएगा। इससे चिन्त मोहित होगा तो वह राज्य क्या देखेगा? इसलिए राजा को यह नहीं बताना है कि यह सुलक्षणा है। इस प्रकार एकान्त में विचार विमर्श कर वे राजा के पास पहुँचे (8-16)। उन्होंने जाकर झूठ ही कह दिया कि वह कुलक्षणा है। इससे उस राजा ने उस वणिक पुत्री को स्वीकार नहीं किया। तब उसकी आज्ञा से उसके वणिक पिता ने वह कन्या उन्मादिनी उसके बलधर नामक सेनापति को दे दी। तब वह अपने पति के साथ उसके घर में सुख से रहने लगी। पर मैं कुलक्षणा हूँ इसलिए राजा ने त्याग किया ऐसे अपमानित भी महसूस कर रही थी। समय बीतने पर कदाचित् हेमन्त के हाथी को मार कर फूले कुन्दलता के दाँतों वालों कमलिनीवन को मथ कर पुष्पमंजरी की केसरावलि से सुशोभित आम के अंकुर के नखवाला वसन्त रूपी सिंह क्रीड़ा करता हुआ वन में आ गया। उस समय इस नगर में उस वसन्त महोत्सव को देखने के लिए वह राजा यशोधन हाथी पर बैठकर निकल पड़ा (17-22)। कुलांगनाएँ उसका रूप देखने की संभावना से उमड़ पड़ी। तब उन्हें हटाने के लिए डूँडी से घोषणा करवाई गयी। यह सुनकर उस उन्मादिनी ने अपने घर की छत से अपमान का परित्याग करते हुए उस राजा को स्वयं को दिखलाया और वह राजा भी वसन्त कालीन मलयानिल से कामाग्नि को धधकाते उसके रूप की उठती ज्वाला को देखकर क्षुब्ध हो गया। कामदेव के विजय बाण जैसे उसके रूप को देखते ही वह उसके

हृदय में गहराई से प्रवेश कर गये और क्षण भर में वह मोहित हो गया। सेवकों ने उसे आश्वस्त किया। तब उसने राजधानी में प्रवेश करके उसने पूछा तो उनसे ज्ञात हुआ कि उन्होंने उसे त्यागने की सलाह दी थी। तब उसने उस कुल का भला कहने वाले उन ब्राह्मणों को देश से निकाल दिया। और राजा प्रतिदिन उस स्त्री के लिए ही लालायित रहने लगा (23-28)। अरे यह चन्द्र जड़ है, निर्लज्ज है कि उस लड़की के जगत् को उत्सव प्रदान करने वाले निष्कलंक मुख के रहते हुए भी सदा उगता ही रहता है। स्वर्णकुम्भ कठोर हैं, गजकुम्भ कर्कश हैं। इसके समुन्नत पीन पयोधरों की कोई उपमा नहीं है। उसके जघन स्थल करधनी की नक्षत्रमाला से अंकित है। वह कन्दर्प रूपी हल्दी के समान है। किसे नहीं लुभाता है? इस प्रकार उसके विषय में सोचते हुए वह प्रतिदिन दुर्बल होने लगा। कामाग्नि के पुटपाक से वह राजा पकाया जा रहा था। लज्जा से वह छिपाता रहा। परन्तु बाहरी लक्षणों को देखकर आप्त लोकों ने पूछा तो कठिनाई से उसने अपनी पीड़ा का कारण बताया। परेशान क्यों होते हैं आप? वह तो आपके अधीन ही है। जब उन्होंने उसे यह कहा तो उस धार्मिक ने इसे स्वीकार नहीं किया। यह सब जानकर तब सेनापति बलधर ने आकर चरणों में प्रणाम करके उस सच्चे सेवक ने प्रार्थना की। दास की स्त्री तो आपकी दासी ही है। वह परायी स्त्री नहीं है देव। मैं अपनी पत्नी स्वयं समर्पित करता हूँ। इसे आप स्वीकार करें अथवा उसे मैं यहाँ के देवालय में छोड़ देता हूँ तब वह देवकुल की स्त्री (देवदासी) हो जाने से उसे ग्रहण करने में दोष नहीं होगा। इस प्रकार अपने सेनापति द्वारा स्पष्ट उससे विनय किये जाने पर भी वह राजा अपने भीतर के क्रोध सहित उससे बोला - राजा होकर मैं ऐसा अधर्म कैसे करूँ? मेरे मर्यादा के उल्लंघन करने पर अपने मार्ग पर कौन ठहरेगा? आप मेरे भक्त होकर भी मुझे पाप में कैसे लगा रहे हैं? यह क्षण भर का सुख परलोक के दुःख का महान् कारण है? यदि आप अपनी धर्मपत्नी को त्यागेंगे तो मैं क्षमा नहीं करूँगा। मेरा जैसा कौन उस धर्मनाश को सहन कर सकेगा? उसकी अपेक्षा तो मर जाना अच्छा है। यह कहकर राजा ने उसे मना कर दिया। उत्तम ऊर्जा सम्पन्न अपने प्राण त्याग देते हैं परन्तु सत्य नहीं (29-42)। इसी प्रकार नगर तथा जनपद के नागरिकों की सम्मिलित प्रार्थना को भी उस दृढ़ निश्चयी राजा ने निरस्त कर दिया। तब उस कामज्वर के भार के दाह से दुर्बल होता हुआ वह राजा मर गया और सेनापति भी स्वामी की मृत्यु को सहन नहीं करके वह भी अग्नि में प्रवेश कर मर गया।

1. शासक का चरित व कर्म समाज के लिये आदर्श होना चाहिए।

तरङ्ग-25

वेताल-18

भक्तों की चेष्टाएँ के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार कथा कहकर आश्चर्य करते उस कन्धे पर पड़े वेताल ने उस राजा त्रिविक्रमसेन से फिर पूछा- हे राजन् इन राजा और सेनापति में से कौन अधिक सत्त्व सम्पन्न है। पूर्वोक्त वचन को याद कर बोल। वेताल से यह सुनकर मौन तोड़कर उस राजा ने उत्तर दिया कि उनमें से राजा अधिक सत्त्व सम्पन्न है। यह सुनते ही वेताल ने आक्षेप सहित कहा कि राजन् सेनापति अधिक क्यों नहीं, यह बता। जिसने अपनी भक्ति से अपनी ऐसी पत्नी जिसका चिरकाल तक भोग के सुख का स्वाद पाया- वह तक समर्पित करने को तैयार हो गया (43-50)। राजा के मर जाने पर उसके साथ वह भी मर गया। राजा ने तो उसकी कान्ता के भोग का स्वाद नहीं लिया और उसे छोड़ा। वेताल के यह कहने पर वह राजा हँसकर बोला - यद्यपि ऐसा है तो कुलपुत्र सेनापति के लिए यह अनोखापन नहीं था। उसने भक्ति से अपने स्वामी के प्रति ऐसा किया। प्राण देकर भी सेवकों को चाहिए कि स्वामी की रक्षा के व्रत का पालन करे। राजा मर्दांध हाथी के समान निरकुंश होते हैं। विषयों के लिए वे धर्म की मर्यादा की सांकल भी तोड़ डालते हैं। बेरोक चित्त वाले अभिषेक के पानी के साथ ही उनका जल के साथ समस्त विवेक गलकर बह जाता है। चलते हुए चँवर के वायु से वृद्धों के उपदेश के शास्त्रार्थ की धूल, मच्छर, मक्खियाँ भी हटा कर फेंक दी जाती हैं। छत्र से सूर्य की धूप और सत्य दोनों रोक दिये जाते हैं। विभूति की आँधी से आहत दृष्टि मार्ग नहीं देख पाती। जगत् पर विजय पाने वाले नहुष आदि राजा भी काम से मोहित चित्त होने पर विभिन्न विपदाओं में पड़ते गये। फिर यह पृथ्वी पर एक छत्र राजा होने पर भी चंचल लक्ष्मी के समान उस उन्मादिनी के द्वारा भी मोहित नहीं हुआ। उस धर्मात्मा ने प्राण त्याग दिये परन्तु अपना कदम, कुमार्ग पर नहीं रखा। इसलिए मेरे मत के अनुसार वह राजा अधिक धीर है।

उस राजा की यह बात सुनकर उसके कंधे पर से वह वेताल अचानक अपनी माया के प्रभाव से अपने स्थान पर चला गया। राजा भी उसे लेने के लिए पुनः तेजी से उसके पीछे चला गया। कितना ही कठिन काम हो, एक बार आरम्भ करने के बाद महान् लोग रुकते नहीं हैं (51-61)।

महाकवि श्री सामेदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतीलम्बक की चौबीसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तब मांसाहारियों के ज्वाला की चंचल जीभों वाले भूतों के समान चिताग्नि से घिरे श्मशान में बेधड़क रात में शीशम के पेड़ के पास उस राजा त्रिविक्रमसेन ने फिर पहुँचकर वहाँ उसने देखा कि वेताल के समान ही विकृत आकृति के बहुत से शव लटकते हुए हैं। अरे यह क्या दूसरा मायावी है कि समय बरबाद करवा रहा है। इनमें से मुझे वेताल पहचान में नहीं आ रहा है जिसे मैंने अनेक बार पकड़ा है। मेरी यह रात बिना लक्ष्य सिद्धि के ही बीत जाएगी। तब तो अग्नि में प्रवेश कर लूँगा। क्योंकि हँसी सहन नहीं कर सकूँगा। इस प्रकार सोचते हुए उस राजा के निश्चय को जानकर उसके सत्त्व से संतुष्ट होकर उस वेताल ने अपनी माया समेट ली। तब पुरुष शरीर में एक ही वेताल को वहाँ देखकर उसे कंधे पर डालकर पेड़ से उतर कर वह राजा प्रस्थित हुआ (1-7)।

चल पड़ने पर उस वेताल ने उस राजा से फिर कहा - राजन् तुम्हारी परेशानी दूर करने के लिए एक अनोखी कहानी मैं तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो। पार्वती की तपस्या के कष्ट से घिरे शिवजी ने आसाधारण गुणों के उत्कर्ष से आकर्षित होकर जिसका स्वयं वरण किया ऐसी नगरी का भोगवती, अमरावती और तीसरा नाम है उज्जयिनी पुरी। प्रचुर सत्कर्मों से प्राप्त करने योग्य विभिन्न भोगों से विस्तृत और बढ़ी हुई है। उसमें स्तब्धता और कर्कशता श्रेष्ठ नारियों के स्तनों में है। उनके कटाक्ष करती भोहों वाले नयनों में चंचलता है। तम रातों में है और वक्रता श्रेष्ठ कवियों की उक्तियों में है। मद हाथियों में है और जड़ता है, मोतियों, चन्दन और चन्द्रमा में। उस नगरी में चन्द्रप्रभ नामक राजा के यहाँ अत्यन्त प्रसिद्ध देवस्वामी नामक बड़ा धनी और अनेक यज्ञ करने वाला ब्राह्मण था। समय पर उसका चन्द्रस्वामी नामक पुत्र हुआ। वह अच्छा पढ़ा लिखा होने पर भी युवा होने पर जुए के व्यसन में पड़ गया (8-14)।

एक बार वह विप्र पुत्र चन्द्रस्वामी जुआरियों के बड़े अड्डों पर जुआ खेलने गया। वहाँ कृष्णसार जैसे नैत्रों वाले फेंके जाते पाँसों की विपदा से निरन्तर यह देखा जाता है कि किसका आलिंगन करे। कौन ऐसा कुबेर नहीं है जिसकी लक्ष्मी का अपहरण नहीं करता हूँ - मानो ऐसी आवाज जुआरियों के झगड़ों की ध्वनि से फैलती रहती है। उसमें प्रवेश कर ठगों के साथ पाँसे खेलते हुए वस्त्र आदि सहित अन्य धन का भी हरण करवा दिया उसने। उस धन को न पाकर उस सभा के स्वामी सभ्य ने आवाज लगा

लगाकर उसे खोजा और उसे घेर कर लकड़ियों से पिटाई की। लट्ठ पड़ने से उसके सब अंग पत्थर के समान निश्चल हो गये। तब विप्र पुत्र ने स्वयं को मृत के समान पड़ा रखा। उसी अवस्था में वह दो तीन दिन वहाँ पड़ा रहा। तब उस द्यूतशाला में वह क्रोधित द्यूताधिकारी अपने सभी छलियों से बोला - इस पत्थर बने हुए मरे को ले जाकर किसी अन्धे कुएँ में कहीं फेंक आओ। मैं तुम्हें धन दूँगा। उसके यह कहने पर वे ठग उस चन्द्रस्वामी को उठाकर दूर जंगल में कुआ खोजते हुए ले गये। वहाँ एक बूढ़ा ठग उन दूसरों से बोला - यह तो प्रायः मर ही गया है तो इसे कुएँ में फेंकने से हमें क्या ? तो इसे यहीं छोड़ दें और कह देंगे कि कुएँ में फेंक दिया। इस प्रकार अन्य सब ने भी कह दिया- ठीक है। वे उसे छोड़कर चले गये तो वह चन्द्रस्वामी उठकर एक सूने शिव मन्दिर में चला गया। वहाँ थोड़ी साँस लेकर उस दुःखी ने सोचा - माया ने विश्वास में लेकर मुझे ठगों ने चुरा लिया। तो नंगाई से मारा गया कलंकित और अपमानित कहाँ जाऊँ ? पिता, बन्धु या मित्र देखकर मुझे क्या कहेंगे। इसलिए अभी तो रात तो यहीं रहूँ। भूख मिटाने के लिए निकल कर कैसे भोजन का प्रयत्न करूँ ? (15-29)। उस थके के तन पर वस्त्र नहीं था। वह सोच रहा था। तभी अपनी धूप समेटता हुआ सूर्य अस्ताचल के पीछे आकाश छोड़कर चला गया। तभी शरीर पर विभूति लगाये वहाँ एक तपस्वी महाव्रती दूसरे शिवजी के समान जटा और त्रिशूल धारण कर आया। उसने चन्द्रस्वामी को देखकर पूछा- कौन है तू ? और उससे पूरा विवरण सुनकर उस लज्जित से तपस्वी ने कहा - मेरे इस आश्रम में तू भूखा, थका ऐसा अतिथि आया जिसके बारे में सोचा भी नहीं था। तो उठ स्नान कर और मेरी शिक्षा का हिस्सा खाले। उस व्रती ने यह कहा तो वह चन्द्रस्वामी बोला - भगवन् मैं ब्राह्मण हूँ। मैं आपका शिक्षा भाग कैसे ले लूँ ? यह सुनकर उस सिद्ध व्रती ने अपनी मढ़ी में जाकर इष्ट संपादिनी विद्या का स्मरण किया क्योंकि वह अतिथि प्रिय था। याद करते ही उपस्थित होकर उसने कहा क्या करूँ। तब उसने उसे आदेश दिया कि इस अतिथि का आतिथ्य कर (30-36)। उसके 'ठीक है' कहने पर उसने देखा कि सुवर्ण-उत्पन्न नगर है जिसमें नारियों सहित उद्यान है। वह चकित था। उसके पास नगर से आकर गणिकाओं ने कहा - उठो भद्र, स्नान कर लो, भोजन कर लो, थकान मिटा लो। यह कहकर भीतर ले जाकर स्नान, मंडन कर अच्छे कपड़े देकर वे उसे अन्य बढ़िया घर ले गयीं। वहाँ भीतर उस युवा ने एक प्रधान युवती देखी जो सर्वांग सुन्दरी थी। मानो विधाता ने बड़े कौतुक से उसे बनाया। उसने उस बड़ी लज्जा के साथ उठकर अपने आधे

आसन पर बिठा लिया। उसने दिव्य आहार उसके साथ ही किया। पके सरस फल खाये, ताम्बूल खाये। फिर उस रात पलंग पर उसके साथ सम्भोग किया। प्रातः उठकर देखा कि वही शिवालय है। न दिव्य नारी, न सेवकगण और न नगर। तब उस चले हुए को प्रातः मढ़ी से मुस्कराते हुए तपस्वी ने रात के सुख के विषय में पूछा तो उसने बताया - तुम्हारी कृपा से रात बहुत सुख से रहा भगवन्। परन्तु उस दिव्य स्त्री के बिना मेरे प्राण जा रहे हैं। तब वह दयालु तपस्वी उससे हँसते हुए बोले - यहीं ठहर। रात में फिर तेरे लिए वही होगा (37-46)।

तपस्वी द्वारा यह कहने पर वह चन्द्रस्वामी हर रात उसकी कृपा से वैसे ही भोग भोगता रहा। उसके विद्या प्रभाव को जानकर विधि की प्रेरणा से उसने एक बार उस तापसेन्द्र को प्रसन्न कर याचना की। मैं आपकी शरण में आया हूँ। मुझ पर सचमुच आपकी कृपा है तो कृपया यह विद्या मुझे दे दीजिए जिसका यह ऐसा है। जब उसने बेधड़क यह कहा तो उसे तपस्वी ने कहा - तेरे लिये यह विद्या असाध्य है। यह विद्या पानी के भीतर साधी जाती है। वहाँ जप करते हुए साधक को माया जाल बना देती है यह जिससे वह सिद्धि नहीं पा सकता। वहाँ वह स्वयं को पुनः बाल रूप में उत्पन्न देखता है। तब युवक होकर स्वयं को विवाहित पाता है। यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है इस प्रकार झूठ में मूर्ख बनता रहता है। इस जन्म को याद नहीं करता और न विद्या तथा साधना की क्रिया को। जो 24 वर्ष तक गुरु विद्या से प्रबोध पाया वह जन्म का स्मरण करके माया के विस्तार से जानकर धीरे उसके वश में पड़कर उसी प्रकार अग्नि में वास्तव में प्रवेश कर लेता है। वास्तव में जल को पारकर विद्या सिद्ध करता वही देखता है। अन्य शिष्य को यह परम विद्या सिद्ध नहीं होती। अस्थान से अर्पण करते हुए यह विद्या गुरु की भी नाश कर देती है। मेरी सिद्धि से ही फल सिद्ध हो रहा है तो तुझे यह विद्या लेने से क्या मतलब ? मेरी सिद्धि की हानि न हो। तेरे पास तो यह भी नष्ट हो जाएगी। तपस्वी के यह कहने पर भी चन्द्रस्वामी ने कहा - लेकर सीख लूँगा। आप चिन्ता न करें - ऐसा उससे कहा। तब वह तपस्वी वह विद्या देने को तैयार हो गया। सज्जन लोग आश्रित के अनुरोध पर क्या नहीं कर डालते हैं ? तब वह महाव्रती उसे नदी किनारे ले जाकर बोला - हे वत्स विद्या का जप करते हुए माया देखो तो उसे मायाग्नि में ही प्रवेश कर जाना जो विद्या मैंने सिखाई है उसके द्वारा और मैं भी तेरे लिए नदी किनारे यहीं ठहरा रहूँगा। यह कहकर उस आचमन करके पवित्र चन्द्रस्वामी को उस पवित्र वृत्तियों में श्रेष्ठ को वह विद्या सिखा दी। तब तटवर्ती उस

गुरु को प्रणाम करके वह चन्द्रस्वामी तेजी से उस नदी में उतर गया। पानी के भीतर उस विद्या को जपते हुए अचानक वह उस माया से विमोहित होकर मिथ्या ही उस जन्म का सब भूल गया और देखता है कि वह अन्य नगरी में उत्पन्न हो गया। वह किसी ब्राह्मण का पुत्र है। धीरे-धीरे उसके यह ध्यान में आने लगा। उपनयन हुआ, विद्या प्राप्त की, पत्नी प्राप्त की और उसके सुख दुःख के मोह में वह क्रम से संतान वाला भी हो गया। तब वहाँ पुत्र प्रेम को स्वीकार कर वैसा आचरण करता हुआ वह हुआ माता, पिता, बन्धुओं के साथ प्रेम में बँध गया। इस प्रकार वह झूठे ही अन्य जन्म का अनुभव करते हुए समय पर जगाने वाली विद्या का प्रयोग तपस्वी गुरु ने उस पर किया। वह उस विद्या के प्रयोग से तत्काल जाग पड़ा। स्वयं को, गुरु को यादकर और यह समझकर कि यह तो माया जाल है वह दिव्य व असाध्य फल पाने के लिए अग्नि में प्रवेश के लिए तैयार हो गया। चारों ओर पानी है। उसे वृद्ध, आप्त गुरु बन्धुओं ने मना किया। बहुधा समझाने पर भी उन दिव्य सुखों के लोभ में वह तैयार चिता में बन्धुओं सहित नदी के तट पर गया (47-71)। वहाँ वृद्ध माता-पिता और मरने को तैयार पत्नी तथा रोते चिल्लाते बच्चों को देखकर उसने मोह से सोचा - बड़ा कष्ट है। मेरे आग में प्रवेश करते ही मेरे सब स्वजन मर जाते हैं। पता नहीं सच क्या है? कि गुरु का वह वचन सत्य है या नहीं? तो मैं अग्नि में प्रवेश करूँ या न करूँ? अथवा गुरु की वाणी झूठी कैसे हो सकती है? अतः अग्नि में प्रवेश करता हूँ। यह सोचकर उस अग्निस्वामी ब्राह्मण ने अग्नि में प्रवेश कर लिया। तब उसने अग्नि के स्पर्श को बड़े आश्चर्य के साथ दिये के स्पर्श जैसा अनुभव किया। तब माया शान्त होने पर नदी के किनारे से उठकर वह किनारे पर आया। वहाँ गुरु को स्थित पाकर उनके चरणों में गिरा। पूछने पर अग्नि की शीतलता बताते हुए अपना सब विवरण बताया। तब उसे उस गुरु ने कहा - वत्स तब मुझे आशंका थी। पर तेने वह आचरण कर लिया। अन्यथा वह अग्नि शीतल कैसे हो सकती थी? इस विद्या की साधना में यह तो नहीं देखा गया। गुरु की यह बात सुनकर वह चन्द्रस्वामी बोला - हे भगवन् मैंने कोई अपचार नहीं किया। तब उस जिज्ञासु गुरु ने उस विद्या का स्मरण किया। तब वह न उसे प्रकट हुई और न उस शिष्य को। दोनों की विद्या नष्ट हो गयी। दोनों दुःखी हो, विषाद में पड़ गये।

इस प्रकार कथा कहकर उस वेताल ने फिर उस राजा त्रिविक्रमसेन को वचन याद दिलाकर पूछा - हे राजन् मेरा संशय दूर कर। किस कारण से जैसा बताया वैसा कर्म करने पर भी उन दोनों की विद्या नष्ट हो गयी। बता। वेताल की वह बात सुनकर उस राजवीर

ने उत्तर दिया - मैं जानता हूँ कि आप मेरा समय नष्ट कर रहे हैं फिर भी हे योगेश्वर में बताता हूँ। दुष्कर शुद्ध कर्म से भी सिद्धि तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक विकल्प रहित धीर मन निर्मल सत्त्व वृत्ति से युक्त न हो जाए। यहाँ उस मूर्ख ब्राह्मण युवक का चित्त बोधित होकर भी विकल्प के संशय में था। अतः वह विद्या उसकी सिद्ध नहीं हुई और अनुचित व्यक्ति को देने से गुरु की विद्या भी नष्ट हो गयी।

राजा ने जब यह बात कही तो वह श्रेष्ठ वेताल उसके कंधे से फिर बिना दिखे अपने स्थान पर चला गया और राजा भी उसी प्रकार उसके पीछे चला गया (72-87)।

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतीलम्बक की पच्चीसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-26

वेताल-19

तब जाकर फिर शीशम के पेड़ से वेताल को कंधे पर रखकर वह राजा त्रिविक्रमसेन चल पड़ा। आते हुए उससे फिर वेताल बोला - राजन् सुनो। एक मनोहर कथा सुनाता हूँ। देवनगरी के समान एक वक्रोलक नाम का नगर है। उसमें इन्द्र के समान सूर्यप्रभ नामक राजा हुआ। बड़ी सरलता से धरती को उठाती मूर्ति द्वारा आनन्द देता हुआ इस पृथ्वी को उठाकर चिर काल तक भोगता रहा। इस स्वामी के राष्ट्र में स्वर्ण-दण्ड द्वारपालों के पास थे। धुँआ लगने से ही आँसू गिरते थे, मार की कथा शृंगार में ही होती थी। वह समस्त सम्पदाओं से समृद्ध था। बस उसे एक ही शांति नहीं थी कि उनके रानियाँ होने पर भी उसके कोई पुत्र नहीं हुआ। इस कथा के बीच महानगरी ताम्रलिप्ति में धनियों में प्रमुख एक धनपाल नामक वणिक हुआ। उसकी एकमात्र पुत्री हुई। उसका नाम था धनवती। सौन्दर्य से सूचित होता था कि मानो शाप से गिरी कोई विद्याधरी हो। जब वह युवती हुई तो वणिक की मृत्यु हो गयी। उसका धन राजा के स्वामित्व से कुल के लोगों ने हड़प लिया (1-9)। तब उस वणिक की हिरण्यवती नाम की पत्नी अपने रत्न आभूषण लेकर शाम के समय उस धनवती के साथ छिपकर भागकर बन्धुओं के डर से घर से चुपचाप निकल पड़ी। बाहरी और भीतरी अन्धकार और दुःख से वह अन्धी हो रही थी। बेटी का हाथ थामकर वह कठिनाई से नगर के बाहर गयी। वहाँ घने अंधेरे में देवयोग से जाते हुए दिखाई नहीं दिया कि सूली पर चढ़ाया चोर कंधे से टकराया। वह जीवित था। उसके कंधे से टकराने से अधिक दुःखी हुआ और बोला - अरे कटे पर किसने नमक छिड़क

दिया। तब वहाँ उस बनिये की बहू ने पूछा - कौन हो तुम ? तब चोर बोला - मैं चोर हूँ। इस शूली पर मुझे पापी के प्राण अभी भी नहीं निकले हैं? अतः आर्ये मुझे बताओ। तुम कौन हो और इस तरह कहाँ जा रही हो ? यह सुनकर वणिक् की पत्नी ने अपनी पूरी बात बता दी। तब तक पूर्व दिशा के मुख पर तिलक के समान चन्द्रमा चमक उठा। तब दिशाएँ प्रकाशित हो गयीं तो चोर ने उस वणिक् सुता तथा उसकी कन्या धनवती को देखकर उसकी माता से कहा - मेरी एक प्रार्थना सुनो। मैं तुम्हें एक हजार स्वर्ण मुद्रा दूँगा। अपनी यह बेटी मुझे दे दे। तब उसने हँसते हुए कहा - इससे क्या होगा तेरा ? तब वह चोर फिर बोला - मेरी उमर बीत गयी। कोई पुत्र नहीं है और बिना पुत्र परलोक नहीं सुधरता। तो यह मेरी आज्ञा से कहीं भी क्षेत्रज पुत्र नियोग द्वारा उत्पन्न करेगी तो वह मेरा क्षेत्रज पुत्र होगा (10-21)। इसलिए मैं तुझसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि मेरी इच्छा पूरी कर दे। यह सुनकर उस वणिक् पत्नी ने धन के लोभ में यह बात मान ली। और कहीं से भी पानी लाकर चोर के हाथ पर पानी डालते हुए कह दिया - मैंने यह पुत्री तुझे दे दी। उसने भी बेटी देने वाली उस स्त्री को कहा कि जा इस बड़ के पेड़ के नीचे खोदकर स्वर्ण ले ले। मरने पर मेरा शरीर जलाकर युक्ति पूर्वक तीर्थ में अस्थियाँ विसर्जित कर पुत्री सहित वक्रोलक नगर में जा। वहाँ सूर्यप्रभ राजा के सुराज्य में जनता सुखी है। वहाँ बिना किसी परेशानी के निश्चिन्त होकर इच्छानुसार रहना। यह कहकर प्यासा हुआ तो उस स्त्री ने पानी लाकर पिलाया। वह चोर शूली के कष्ट से मर गया। तब उस वणिक् स्त्री ने वट वृक्ष के नीचे से स्वर्ण लेकर पुत्री सहित छिपकर पति के मित्र के घर चली गयी। वहाँ रहते हुए तरकीब से उस चोर के शरीर को जलाकर तीर्थ में अस्थि प्रवाहित करवा दी। दूसरे दिन गुप्त धन पाई हुई वह बेटी सहित निकल कर चल पड़ी और वह वक्रोलक पुर पहुँच गयी। वहाँ वसुदत्त नामक श्रेष्ठ वणिक् से घर खरीदकर उसमें अपनी बेटी उस धनवती के साथ रहने लगी (22-31)। उस समय उस नगर में एक विष्णु स्वामी उपाध्याय हुआ। उसका शिष्य ब्राह्मण मनःस्वामी अत्यन्त रूपवान् था। विद्या परिवार से घिरा होने पर भी वह यौवन के वश में हो गया। वहाँ की हंसावली नाम की विलासिनी गणिका को चाहने लगा। वह सोने की पाँच सौ दीनार लेती थी। प्रतिदिन देने का उसके पास भाड़ा नहीं था। एक बार दुर्बल परन्तु सुन्दर शरीर वाले उसे अपने महल से उस धनवती ने देख लिया। उसके रूप ने उसका चित्त हर लिया। उसने अपने चोर पति की अनुमति को याद किया। उसने पास स्थित अपनी माता से तरकीब से कहा - माता इस ब्राह्मण पुत्र का यह रूप और यौवन

कैसा है, विश्व में नयनों में अमृत बरसाने वाला है। देख तो सही (32-36)। यह सुनकर ही वह समझ गयी कि उसमें इसका मन बँध गया है। उसकी माता वणिक् पत्नी ने मन में यह सोचा- इस मेरी बेटी को पुत्र पाने के लिए पति की आज्ञा से किसी का तो वरण करना ही है। अतः इसको ही क्यों न चाह ले। यह तय कर रहस्य बनाये रखने वाली सेविका को यह मन का संदेश देकर उसे बेटी के लिए लाने के लिए भेजा। उस सेविका ने एकान्त में ले जाकर उससे यह कहा तो यह सुनकर उस व्यसनी ब्राह्मण युवक ने उससे कहा - यदि हंसावली के लिए पाँच सौ दीनार सुवर्ण मुझे देती हो तो एक रात के लिए आ जाता हूँ। उसने ऐसा कहा तो सेविका ने बनिये की स्त्री को वैसा ही बता दिया। उसके साथ उसे धन भेज दिया। वह लेकर मनःस्वामी उसकी साँपी गयी बेटी धनवती के पास सेविका सहित एक दिन गया। वहाँ उसने धरती की अलंकार उत्कंठित कांता को देखकर ऐसा प्रसन्न हुआ मानो ज्योत्सना को देखकर चकोर प्रसन्न होता है। उसके साथ संभोग क्रीड़ा करते रात बितायी। प्रातः निकल कर चुपचाप जैसा आया था वैसा ही चला गया। उससे वह धनवती वणिक् पुत्री भी गर्भवती हो गयी। समय पर उसके पुत्र हुआ जो लक्षण से महिमाशाली था। तब पुत्रोत्पत्ति से सन्तुष्ट माता सहित रहती थी कि शिवजी ने स्वप्न में प्रकट होकर आदेश दिया कि सहस्र स्वर्ण मुद्रा सहित इस बालक को उषा काल में राजा सूर्यप्रभ के पलंग के द्वार पर छोड़ दो। इससे कुशल क्षेम होगा। इस प्रकार शिवजी ने बनिये की बेटी से कहा और उसकी माता से भी कहा। जग कर उन्होंने परस्पर यह स्वप्न की बात कही। भगवान् पर विश्वास कर उन दोनों ने ले जाकर वह शिशु राजा सूर्यप्रभ के सिंहद्वार में धन सहित उस बालक को छोड़ दिया। तब तक शिवजी ने भी उस राजा सूर्यप्रभ को स्वप्न में आदेश दिया, जो पुत्र की चिन्ता से परेशान था कि हे राजन् उठ तेरे सिंहद्वार पर धन सहित बच्चा किसी ने छोड़ा है। वह भाग्य है। पलंग पर है। उसे स्वीकार कर। शिवजी ने ऐसा कहा तो प्रातः जाने पर तो प्रहरियों ने आकर बताया। राजा स्वयं बाहर आया और देखा कि धन के ढेर सहित सिंहद्वार पर बालक है। उसकी आकृति शुभ है। रेखा छत्र, ध्वज से अंकित हाथ-पैर हैं। यह पुत्र मुझे शिवजी ने दिया है - यह कहते हुए स्वयं अपने हाथों में उठाकर अपनी राजधानी में आया। असंख्य धन दान करते हुए उत्सव किया। तब तो दरिद्र शब्द अर्थरहित हो गया। नृत्य, वाद्य आदि से बारह दिन बिताकर उस राजा सूर्यप्रभ ने उस पुत्र का नाम चन्द्रप्रभ रखा। तब वह राजकुमार क्रमशः बढ़ने लगा, गुण सम्पन्न आनन्ददायी शरीर के साथ धीरे-धीरे वीरता, उदात्तरता, पाण्डित्य

आदि के साथ वह युवक हो गया और स्वभाव से ही पृथ्वी का भार उठाने की क्षमता से सम्पन्न हो गया। तब उसे वैसा देखकर उसके पिता सूर्यप्रभ ने उसका राज्याभिषेक दिया और वाराणसी चला गया (38-61)। जब वह नीति सम्पन्न पुत्र पृथ्वी पर शासन कर रहा था तभी तीव्र तपस्या करते हुए वहाँ वाराणसी में राजा ने शरीर त्याग दिया। पिता की विपदा ज्ञात कर अनुसन्ताप करके क्रियाकर्म किया। तब उस चन्द्रधर्म नामक धार्मिक राजा ने सचिवों से कहा - किस तरह से मैं पिताजी से उन्नत हो सकता हूँ। तो भी अपने हाथ से एक प्रतिदान देता हूँ। इसकी अस्थियाँ ले जाकर विधिपूर्वक गंगा में प्रवाहित कर देता हूँ और गया जाकर समस्त पितरों को पिण्ड दे देता हूँ। इस प्रसंग में मैं पूर्वसागर (गंगासागर) की यात्रा भी कर लूँ। राजा के यह कहने पर मन्त्रियों ने उसे बताया कि राजा को यह सब करना उचित नहीं है। राज्य में अनेक छेद होते हैं। एक क्षण के लिए भी अरक्षित नहीं रह सकता वह। इसलिए तुम्हें पिता की उपक्रिया दूसरों के हाथ से करवाना चाहिए। तुम्हारे लिए अपने धर्म केपालन के अतिरिक्त अन्य कौन सी तीर्थ यात्रा हो सकती है? कहाँ तो अनेक बाधाओं के मार्ग और कहाँ सदा गुप्त रहने वाले राजा? मन्त्रियों की यह बात सुनकर राजा चन्द्रप्रभ बोला - पिता के लिए कोई विकल्प नहीं। मैं निश्चित ही जाऊँगा। जब तक मेरी आयु में क्षमता है तब तक तीर्थ दर्शन कर लेना चाहिए (62-70)। शरीर क्षण भर में नष्ट हो जाता है। पीछे कौन जानता है कि क्या होगा? और जब तक लौट कर आता हूँ तब तक आप लोग ही रक्षा करें। राजा का यह निश्चय सुनकर मन्त्री लोग चुप रहे। तब उस राजा ने प्रस्थान की तैयारी कर दी। तब शुभ दिन स्नान करके हवन किया। ब्राह्मणों ने पूजा की। अच्छे जुते रथ पर बैठकर शान्त वेश धारण कर चल पड़ा (73)।

सामंतों, राजपुत्रों और जनपद के नागरिकों ने सीमा तक पीछे-पीछे यात्रा की। फिर उन्हें उनके न चाहने पर भी लौटा दिया। सचिवों पर राज्य भार छोड़कर वह चन्द्रप्रभ राजा पुरोहित सहित चल पड़ा। उसके साथ वाहन पर ब्राह्मण भी बैठे थे। विचित्र वेश, भाषादि देखते हुए, विनोद करते हुए, अनेक प्रकार के देश देखते हुए वे क्रम से गंगाजी पहुँच गये। उन्होंने देखा कि जल की ध्वनि की धाराओं के साथ वह स्वर्ग की सीढ़ियों की पंक्ति बना रही है मानो। वह हिमालय से उत्पन्न हुई और शिवजी के बालों को पकड़ कर खेलती रही। पार्वती की लीला धारण करती वह देवर्षि गणों द्वारा वन्दन की जाती है। रथ से उतरकर विधिपूर्वक उसने स्नान किया। तब उसने राजा सूर्यप्रभ की अस्थियों का

विसर्जन किया। दान दिया। श्राद्ध किया और रथ पर बैठकर वहाँ से प्रस्थान कर क्रमशः ऋषियों द्वारा प्रशंसित प्रयाग पहुँचा। जहाँ ज्वाला और आद्य धूम आदि के मार्ग मानो आ गये हो ऐसे गंगा-यमुना की धाराएँ लोगों की सद्गति के लिये सुशोभित हो रही थीं। वहाँ उपवास कर स्नान दान, श्राद्ध आदि से सक्रिया करके वह राजा चन्द्रप्रभ वाराणसी पहुँचा (74-82)। यहाँ मोक्ष हो गये - यह दूर से ही मानो वायु से लायी व फड़कती देवालियों की पताओं द्वारा कहा जा रहा था। वहाँ तीन दिन तक उपवास कर शिवजी की अर्चना की तथा अपने योग्य विभिन्न भोगों से अर्चना की। तब गया की ओर प्रस्थित हुआ। तब प्रचुर फलों से झुके हुए, पंछियों के मनोहर गुंजनों द्वारा पद पद पर वृक्ष उसे प्रणाम करते हुए मानो स्तुति कर रहे थे। पवन वन फूलों को बिखेर कर अर्चना कर रहा था। इस प्रकार विभिन्न वनों को पारकर पवित्र गया पहुँचा। वहाँ प्रचुर दक्षिणा देकर विधिवत् श्राद्ध किया। तब वह राजा चन्द्रप्रभ वहाँ धर्मारण्य पहुँचा। उसके गया कूप में पिता को पिण्ड दे रहा था तो उसे लेने के लिए मनुष्य के तीन हाथ उठे। राजा यह देखकर चक्कर में पड़ गया कि यह क्या है? किस हाथ में पिण्ड डालूँ? राजा ने यह अपने पण्डितों से पूछा। उन्होंने उसे बताया कि यह एक तो निश्चित ही चोर का हाथ है जिसमें लोहे का कीला दिखाई दे रहा है। दूसरा हाथ पवित्री (कुश) लिए ब्राह्मण का हाथ है। तीसरा हाथ राजा का है जिसमें अंगुठी है और अच्छे लक्षणों वाला है। पर हमें नहीं मालूम कि पिण्ड किसमें डालना है, यह क्या होगा? ब्राह्मणों ने यह कहा तो वहाँ राजा निश्चय नहीं कर पाया। यह अचरज भरी कथा कहकर वह कंधे पर स्थित वेताल तब उस राजा त्रिविक्रमसेन से फिर बोला - मुझे बता कि इनमें से किसके हाथ में वह पिण्ड देना चाहिए? आप यह बताओ अन्यथा वह पूर्ववर्ती शर्त तुम्हारे लिए है। वेताल से यह सुनकर उस राजा त्रिविक्रमसेन धर्मज्ञ ने मौन त्यागकर उत्तर दिया। वह चन्द्रप्रभ राजा उस चोर का क्षेत्रज्ञ पुत्र था, अन्य दोनों का नहीं। अतः वह पिण्ड चोर के हाथ में देना चाहिए। वह उस विप्र जनक का पुत्र नहीं होता क्योंकि उसने तो धन के बदले स्वयं को एक रात के लिए बेच दिया था। वह राजा सूर्यप्रभ का भी पुत्र नहीं है। उसने तो संस्कार से लेकर पाला पोसा। उसके लिए तो उसने अपना धन दिया। उस बच्चे के सिर के पास पलंग पर स्वर्ण रखा था। वह उसके पालन पोषण का मूल्य था। इसलिए उसकी माता जिसके हाथ में पानी देकर दी गयी थी। उसने उसकी उत्पत्ति की आज्ञा दी थी। उसका ही पूरा धन था। यह राजा उस चोर का ही क्षेत्रज्ञ पुत्र था। अतः उसके हाथ में ही पिण्ड देना चाहिए - यह मेरा विचार है।

राजा के यह कहते ही उसके कंधे से वह वेताल तत्काल चला गया। और वह राजा त्रिविक्रमसेन उसके पीछे पीछे फिर चल दिया (83-102)।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतीलम्बक की छब्बीसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-27

वेताल-20

तब जाकर शीशम के पेड़ से वेताल को कंधे पर लेकर वह राजा त्रिविक्रमसेन चल पड़ा। चुपचाप चला तो उससे वह वेताल बोला - हे राजन् यह तेरा कैसा अनुबन्ध है? जा और रात को सुख ले। उस दुष्ट भिक्षु के पास मुझे ले जाना तेरे लिए उचित नहीं है। अथवा वहाँ ग्रह हो। एक यह कथा सुन - वर्ण भेद की रेखा पार न करने वाला सार्थक नाम वाला एक चित्रकूट नामक नगर है। वहाँ प्रेमियों की आँखों की अमृत रस की मूसलधार वर्षा करने चन्द्रलोक नामक राजा था जो राजाओं का चूड़ामणि (सिर का रत्न) था। वह वीरता के हाथी (को बाँधने) का खूँटा था, त्याग की उत्पत्ति का ध्वज और चतुर लोग जिसे रूप का विलासघर कहते थे। समस्त सम्पदाएँ होने पर भी उसने अपने योग्य पत्नी नहीं पायी। उस युवक को बस यही एक चिन्ता थी (1-7)। एक बार इस उद्वेग के विनोद के लिए महावन में घोड़े पर बैठकर आखेट के लिए वह राजा चला गया। वहाँ निरन्तर भेदन करते बाणों से सूअरों के समूह को ऐसे भेदने लगा जैसे साँवले आकाश में शोभित अंधकार सूर्य किरणों से भेदित होता है। युद्ध में अजेय सिंहों को बाणों के बिछौने पर सुला रहा था। उनके सिर के बाल सफेद थे ऐसे भीष्म (भयंकरों) को अर्जुन से अधिक वीर राजा सुला रहा था। वज्र के समान कठोर भाले से वह इन्द्र के समान वीर पर्वत जैसे शरभों को पंख काटकर गिरा रहा था। आखेट रस का इच्छुक वह राजा वन में अकेला था। उसने एड़ी के तीखे प्रहार से घोड़े को दौड़ाया। चाबुक की चोंट से और एड़ से सम-विषय की परवाह न करता हुआ पल भर में दूसरे वन में वायु से तेज वह घोड़ा दस योजन पर ले गया, उस राजा को जो इन्द्रिय वृत्ति पर मोहित था। वहाँ उस घोड़े पर ही राजा को दिग्भ्रम हो गया। वह घूमता हुआ थक गया। तब पास में ही उसने एक बड़ा तालाब देखा (8-15)।

सामने की हवा से बार बार ऊँचे नीचे होते कमल मानो हाथों के इशारे से 'इधर आओ' बुला रहे थे। वहाँ जाकर घोड़ी की जीन उतारी तो उसने लौट लगाई। स्नान कर पानी पीने पर उसे वृक्ष की छाया में बाँधकर घास का ढेर सामने डाल दिया। स्वयं ने स्नान

किया, पानी पिया तो थकान गल गयी। फिर उस रमणीय क्षेत्र पर इधर उधर नजर घुमाई। एक जगह अशोक वृक्ष के नीचे उस राजा ने मुनि-कन्या को देखा। उसने फूलों के गहने उतार दिये थे। वत्कल के दुपट्टे से शोभित थी। मोहक बँधे जटाजूट से विशेष मनोहर लग रही थी। अनोखा उसका रूप था। उसके साथ एक सखी थी। वह सोचने लगा कि कामदेव के तीर के निशाने पर पड़ गया। वह कौन होगी? कहीं तालाब में स्नान करने सावित्री तो नहीं आ गयी? कहीं शिवजी की गोद से भटककर पार्वती फिर तपस्या तो नहीं करने लगी? दिन में अस्त चन्द्रमा की कांति तो व्रत धारण कर नहीं आ गयी? (16-22)

यह सोचकर कि इसके पास जाकर धीरे से श्रेष्ठ को प्राप्त कर लूँ। वह राजा उस कन्या के पास गया। उस कन्या ने भी उसे आते हुए देखा तो उसके रूप से उसकी आँखें व्याकुल हो गयीं। पूर्व भाग्य के पुष्पों की माला हाथ में लिए सोचने लगी - ऐसे इस वन में यह कौन है? सिद्ध है या विद्याधर है? पर इसका रूप संसार की आँखों को कृतार्थ कर देता है। इस प्रकार तर्क वितर्क करके वह लज्जा से उसे तिरछे देखती रही। जाँचें स्तंभित हो गयीं पर वह उठ कर जाने लगी। तब उस नागरिक राजा ने उसके पास जाकर कहा - प्रथम दृष्टि के दर्शन का ही फल चाहता हूँ मैं। बैठो। हे सुन्दरी दूर से आये पथिक का स्वागत आदि होना चाहिए। आश्रम के लोगों का यह कैसा धर्म है कि इस तरह हमसे भाग रहे हैं। राजा के यह कहने पर उसी चतुर सखी ने वहाँ बिठाकर राजा को आतिथ्य सत्कार किया। तब उस राजा ने बड़े प्रेम से उससे उत्सुकता से पूछा - हे भद्रे तुम्हारी सखी ने किस पुण्यशाली वंश को शोभित किया। कानों को अमृत देने वाले इसके नाम के अक्षर कौन से हैं? कुसुम के समान सुकुमार इस शरीर को यह तपस्वियों के योग्य वृत्ति से इस निर्जन में क्यों परेशान कर रही है? राजा की यह वाणी सुनकर उसकी उस सखी ने कहा - यह महर्षि कण्व की कन्या है। आश्रम में बड़ी हुई है। यह मेनका की पुत्री है। नाम हे इंदीवरप्रभा। पिता की आज्ञा से यहाँ इस तालाब में स्नान करने के लिए आई है। इसके पिता का आश्रम यहाँ से अधिक दूर नहीं है। उसके ऐसा कहने पर प्रसन्न होकर वह राजा घोड़े पर बैठकर उस कन्या की याचना करने के लिए उस कण्व ऋषि के आश्रम में गया। घोड़ा छोड़कर आश्रम में प्रवेश किया। जटा-वल्कलों वाले वृक्षों के समान तपस्वियों के मध्य तेज से प्रसन्नता देने वाले कण्वमुनि को उसने देखा मानो ग्रहों से घिरा चन्द्र हो। पास जाकर पैरों पर प्रणाम किया। उस कन्या ने भी प्रणाम किया। आतिथ्य और विश्राम पूर्ण होने पर ज्ञानी कण्व ने जल्दी से वहा वत्स चन्द्रावलोक-सुनो तुम्हें यह तुम्हारे हित की

बात कहता हूँ। जानते ही हो कि संसार में प्राणियों को मृत्यु से भय होता है। तो अकारण ही इन बेचारे जानवरों को क्यों मारते हो? विधाता ने क्षत्रियों के शस्त्र डरे हुओं की रक्षा के लिए बनाये हैं। इसलिए धर्म से प्रजा की रक्षा कर तथा काँटों को उखाड़ दे। हाथी, घोड़े, अस्त्र आदि के अभ्यास से चल लक्ष्यों को साध ले। राज्य का सुख भोग, धन दान कर और दिशाओं में यश को फैला दे। यमराज की क्रीड़ा जैसा यह हिंसक मृगया का व्यसन त्याग दे। अन्य वध योग्य को मार जो उसके बराबर अन्य प्रमाद करे तो। तो इस अत्यन्त अनर्थ से क्या? पाण्डु का वृत्तान्त नहीं सुना क्या?(23-43)।

कण्व मुनि की यह बात सुनकर और उसका अभिनन्दन करके अर्थ के ज्ञाता राजा चन्द्रावलोक ने उसे उत्तर दिया। हे भगवन् आपने मुझ पर बड़ी कृपा की और मुझे उपदेश दिया। अब मैं मृगया छोड़ता हूँ। प्राणी निर्भय हो जाएँ। यह सुनकर मुनि ने कहा - आपके इस प्राणियों के अभयदान के निर्णय से मैं संतुष्ट हुआ। तो मन चाहा वरदान माँग लो मुनि ने जब यह कहा तो समय का ज्ञाता वह राजा बोला - यदि संतुष्ट हैं तो अपनी 'इन्दीवरप्रभा' नामक पुत्री मुझे दे दीजिए। इस प्रकार माँगने पर मुनि ने राजा को स्नान के लिए गयी अप्सरापुत्री राजा को दे दी जो उसके अनुरूप थी। तब विवाह करके उस मुनि पत्नी ने श्रृंगारित करके अपने आश्रम से रोते हुए तपस्वियों ने पीछे-पीछे चलते हुए ऐसी इन्दीवरप्रभा भार्या को छोड़े पर बिठाकर वह राजा चन्द्रावलोक जल्दी से रवाना हो गया। उसके चलते हुए उस दिन की चेष्टा को देखकर सूर्य अस्ताचल के मस्तक पर जा बैठा। अन्धकार के नीले वसन से अपना रूप छिपाकर रात्रि की अभिसारिका मृगनैनी कामोद्रेग से देखने लगी। उस समय वह राजा मार्ग के पीपल वृक्ष के नीचे पहुँचा। वह वृक्ष सज्जनों का आवास स्वच्छ था और जलभरी बावड़ी के तट पर था। वह शाखा के पत्रों के समूह से ढँका, दूब से हरी भरी भूमि थी। यह देखकर मन में विचार किया कि यहीं रात का विश्राम कर लूँ। तब घोड़े से उतर कर उसे चारा पानी दिया। उपयुक्त जलवायु थी। बावड़ी के किनारे विश्राम किया (44-55)।

उस राजा ने वृक्ष के नीचे पुष्पशय्या पर उस मुनि कन्या प्रिया के साथ रात बिताई। उस समय अन्धेरे के कपड़े हटाने वाले चन्द्रमा ने चढ़कर बड़े प्रेम से पूर्व का मुख चूम लिया। उसकी फैली चन्द्र किरणों से दिशाएँ अन्धकार रहित हो गयीं और उन्होंने किरणों से मान त्यागकर समस्त आकाश का आलिंगन कर लिया (56-58)। इसी बीच लता के झुरमुट में से फैलती चन्द्रकिरणों से जो रत्नदीप की आभा वाली हैं, उनसे वृक्ष का

तना प्रकाशित होने पर उस राजा ने उस इन्दीवरप्रभा का आलिंगन कर नवसंगम की आतुर सरसता से मिलन उत्सव मनाने लगा। धीरे-धीरे उसकी लज्जा के समान वस्त्र की गाँठ खोल दी, दाँतों से मोहक अधरों को खण्डित कर दिया, यौवन के गजकुम्भ जैसे स्तनों पर नखों को गाड़ कर श्रेष्ठ रत्न की नयी नक्षत्रमाला बना दीं। बार बार मुख, नयन, कपोल चूमता रहा मानो सब ओर से लावण्य के झरने के अमृत को पी रहा हो। इस प्रकार वह उसके साथ सम्भोग क्रीड़ा करता रहा और कान्ता के साथ वहाँ राजा ने रात एक क्षण के समान पूरी कर दी। प्रातः बिछौना छोड़कर सांध्य विधि के बाद पत्नी के साथ अपनी सेना की प्राप्ति के लिए प्रस्थित हुआ। तब रात में कमल के खण्ड की लुप्त शोभा जैसा तेजरहित चन्द्र भय से अस्ताचल की गुफा में छिप गया तो उसे अपनी पीली किरणों से उसके मारने की इच्छा करता सूर्य आकाश में अपने किरण-हाथ उठाता उगा। तभी बिजली के पीले बालों वाला काजल जैसा काला कालमेघ के समान ब्रह्मराक्षस वहाँ आ गया। सिर पर आँतों की माला, केश का यज्ञोपवीत धारण कर मनुष्य के सिर का माँस खाता हुआ कपाल से रक्तपान करता हुआ वह अट्टाहास करता हुआ क्रोध से मुख से उग्र अग्नि उगलता हुआ, विकट डाढ़ वाला था। उसने निन्दा करते हुए राजा को कहा - अरे पापी मैं ज्वालामुख नामक ब्रह्मराक्षस हूँ। यह पीपल मेरा निवास है। उसका उल्लंघन वेद भी नहीं करते। वहाँ तूने आकर नारी के साथ भोग किया, जब मैं रात्रिचर्या के लिए गया था। तो इस उद्वेगता का फल भोग। हे दुराचारी काम भाव से तेरा चित्त मारा गया है। अब मैं तेरा हृदय उखाड़ कर खाऊँगा और रक्तपान करूँगा। उस भयंकर को अवध्य देखकर डरकर नम्रतापूर्वक राजा बोला। उसकी स्त्री भी त्रस्त हो गयी थी। अनजाने मुझसे अपराध हो गया। अतः मेरा वह अपराध क्षमा करें। मैं तुम्हारे इस आश्रम में शरणागत अतिथि हूँ। मैं तुम्हारे लिए वांछित पुरुष पशु लाकर दे दूँगा जिससे तुम्हें तृप्ति हो जाएगी। अतः प्रसन्न होइये, क्रोध त्याग दें। राजा की यह बात सुनकर वह ब्रह्मराक्षस शान्त हुआ। मन में उसने सोचा कि ठीक है क्या बुराई है? वह बोला (59-77)।

जो सात वर्ष का आत्मशक्ति सम्पन्न विवेक सम्पन्न, तेरे लिए अपनी इच्छा से ब्राह्मण पुत्र दे देगा। उसे धरती पर डालकर माता दोनों हाथ और पिता दोनों पैर पकड़े। ऐसा पुरुष मुझे उपहार में दोगे। सात दिन बाद उसे स्वयं खड्ग प्रहार से मारोगे। मैं तुझे क्षमा कर दूँगा। अन्यथा हे राजन् तेरे परिवार सहित मैं तुझे तत्काल नष्ट कर दूँगा। यह सुनकर वह राजा डर से 'ठीक है' यह बोला। वह ब्रह्मराक्षस भी उसी समय गायब हो

गया। तब वह राजा चन्द्रावलीक इन्द्रीवरप्रभा के साथ घोड़े पर बैठकर सेना को खोजते हुए अत्यन्त बुरे मन से प्रस्थित हुआ। अरे मैं आखेट और काम से मोहित हो गया। पाण्डु के समान मूर्खता कर अनुचित कर डाला। उसका उपहार यह राक्षस कहाँ से पाया जाए ? तो अपने नगर जाकर देखता हूँ कि क्या होता है ? यह ध्यान करता हुआ वह अपनी सेना में पहुँचा। सेना व पत्नी सहित वह अपनी चित्रकूट नगर पहुँचा (78-86)।

वहाँ उसके योग्य पत्नी प्राप्ति देखकर उत्सव मनाया गया। पूरे देश में पर दुःख से भरा उसका शेष दिन बीता। दूसरे दिन मन्त्रियों को एकान्त में उसने सब विवरण बताया। उनमें से एक सुमति मंत्री बोला - हे देव आप दुःख न करें। वैसा उपहार खोज कर ले आऊँगा। पृथ्वी अनेक आश्चर्यों से भरी है। राजा को यह आश्वासन देकर उस मन्त्री ने सात वर्ष के बालक की सुवर्ण प्रतिमा शीघ्रता से बनवायी। उसे रत्नों से अलंकृत कर कर्णारिथ (हाथ से खींचा जाने वाला रथ) पर रखकर नगर, ग्राम, छोटी बस्तियों में इधर उधर घूमने लगा। जो अपना सात वर्ष का ब्राह्मण पुत्र अपनी इच्छा से समस्त श्रेष्ठता को ब्रह्मराक्षस को उपहार में निश्चिन्त हो माता-पिता की अनुमति से उनके द्वारा हाथ-पैर पकड़कर उनके द्वारा मारा जाता हुआ - देगा उसे सौ गाँव के साथ यह स्वर्ण रत्न वाली प्रतिमा राजा माता-पिता पर उपकार करते हुए देगा। उस शिशु की प्रतिमा के साथ घूमते हुए यह घोषणा की डूंडी आगे आगे लगातार पिटवाता चला। यह सुनकर एक अग्रहार (ब्राह्मण ग्राम) में सात वर्ष का कोई ब्राह्मण बालक अत्यन्त धीरजशाली, अद्भुत आकृति का पूर्व जन्म के अभ्यास से बचपन में ही परहित में निरत प्रजा के पुण्य में साकार परिपक्व सा था। वह उद्घोष करने वालों के पास आकर बोला - मैं स्वयं को तुम्हें देता हूँ। जाकर माता पिता को बताकर आता हूँ। यह कहने पर प्रसन्न होकर उन्होंने अनुमति दे दी। उसने घर जाकर हाथ जोड़कर माता-पिता से कहा - यह शरीर नाशवान् है। सब प्राणियों के लिए देता हूँ। अतः आप अनुमति दें और अपनी विपदा समाप्त हो। राजा मेरी सोने की रत्न मंडित प्रतिमा और सौ ग्राम देगा। वह आपको मिलेगा। इससे मैं आपसे उन्नत होऊँगा, दूसरों का भला होगा, आप दोनों की दरिद्रता नष्ट होगी और अनेक पुत्र प्राप्त कर लेंगे। उसके यह कहने पर माता-पिता सहसा उससे बोले - पुत्र तुम यह क्या कह रहे हो ? क्या किसी हवा से पगला गये हो ? या कोई ग्रह लग गया कि ऐसे बड़बड़ा रहे हो ? अरे धन के लिये कौन पुत्र को मारेगा ? कौन बालक अपना शरीर दे देता है (87-104) ?

माता-पिता की यह बात सुनकर वह बालक फिर बोला - मैं इसलिए नहीं कह

रहा कि मेरी बुद्धि मारी गयी। मेरी सार्थक बात सुनो। यह शरीर निंदनीय, अपवित्रता से भरा, घृणित, दुःख से भरा और शीघ्र ही विनाशशील है। तो इस अत्यन्त सारहीन शरीर से जितना पुण्य या अच्छा काम अर्जित कर लो वही संसार में सार है। यह मेधावी लोगों का कहना है। समस्त भूतों के उपकार से बढ़कर अच्छा काम और क्या हो सकता है ? उसमें भी माता-पिता की भक्ति हो तो देह का और क्या फल देख सकते हैं ? इन वाक्यों से उस शिशु ने अपना दृढ़ निश्चय बताया तो चिन्ता करते हुए उन माता-पिता ने सोच-विचार कर स्वीकार कर लिया। जाकर राजसेवकों से वह स्वर्ण प्रतिमा लाकर सौ गाँव के आदेश सहित माता-पिता को दे दी। तब राजसेवकों को आगे करके और माता-पिता पीछे-पीछे आते हुए शीघ्र ही वह राजा के पास चित्रकूट गया। वहाँ चन्द्रावलीक राजा ने रक्षा करने वाले रत्न के समान तेजस्वी बालक को पाकर बड़ी प्रशंसा की। उसे हाथी पर बिठाकर, हार-रंगरोगन कर, माता-पिता सहित ब्रह्मराक्षस के स्थान पर ले गये। उस अश्वत्थ वृक्ष के पास मण्डल बनाकर उचित पूजा कर पुरोहित ने अग्नि में हवन कर दिया तो वहाँ अध्ययन पठन करते हुए वह मुक्त अट्टाहास करता हुआ प्रकट हुआ। घूरता हुआ लाल मदोन्मत्त मुँह खोलकर बार-बार साँस लेता हुआ, जलते नेत्र वाला दिशाओं को अपने शरीर की छाया से अन्धकार करता हुआ ज्वाला वाले मुख वाला अत्यन्त भयंकर रूप वाला ब्रह्मराक्षस प्रकट हुआ। तब चन्द्रावलीक राजा ने उसे तत्काल कहा - हे भगवन् मैं तुम्हारे लिए नर का उपहार लाया हूँ। तुम्हारी प्रतिज्ञा का आज सातवाँ दिन है। इसलिए कृपा कर विधिपूर्वक यह उपहार ग्रहण करो। राजा की प्रार्थना होने पर ब्रह्मराक्षस ने उस ब्राह्मणकुमार को देखा, अपनी जीभ से ओठ के कोने चाटता रहा था वह। तभी वह तेजस्वी बालक प्रसन्न होकर सोचने लगा - अपना देहदान करके मैंने जो पुण्य प्राप्त कर लिया है उससे मुझे स्वर्ग या मोक्ष न हो क्योंकि उससे किसी का उपकार नहीं होता। मेरा तो हर जन्म में परोपकार के लिए शरीर बनता रहे। उसके ऐसा सोचते ही पलभर में आकाश में आये देव समूहों ने पुष्पवर्षा से उसे भर दिया। तब ब्रह्मराक्षस के आगे वह बालक ले जाकर माता ने दोनों हाथ पकड़े, पिता ने दोनों पैर पकड़े। तब जब तक राजा तलवार खींचकर उसे मारने लगा तब वह शिशु हँसा और वहाँ के सभी हँसे। ब्रह्मराक्षस सहित सब अपना अपना काम छोड़कर चकित होकर हाथ जोड़कर बरबस उसका मुख देखने लगे। यह विचित्र रसभरी कथा कहकर वह वेताल उस राजा त्रिविक्रमसेन से फिर बोला (105-126)।

हे राजन् बता क्या कारण है कि वह बालक प्राणान्त के समय भी इस प्रकार हँसा। यह मुझे कौतुक है। यदि तू जानते हुए भी नहीं बोलेगा तो तेरा सिर फूट कर उसके सौ टुकड़े हो जाएँगे। वेताल से यह सुनकर उससे इस प्रकार बोला - सुन उस बालक के उस समय के हँसने का जो अभिप्राय था। जो दुर्बल प्राणी होता है वह भय आने पर प्राण के लिए चिल्लाता है और अपने माता-पिता को बुलाता है। वे न होने पर राजा दुःख दूर करता है। वह भी न हो तो देवता को पुकारता है। उसके तो सभी वहीं एकत्र थे। बल्कि माता-पिता ने हाथ पैर पकड़ लिये स्वार्थ की तृष्णा में, राजा अपनी रक्षा के लिए उसे मारने के लिए तैयार था, जो देवता ब्रह्मराक्षस था वह उसका भक्षक था। अस्थिर, रसहीन अन्त वाले, आधि-व्याधि से विक्षत देह के लिए मूर्खों की ऐसी विडम्बना है। ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, रूद्र आदि जहाँ विनाशी है। वहाँ इनकी ऐसी शरीर की स्थिरता की इच्छा है। यह मोह का अनोखापन देखकर और वांछित को सिद्ध मानकर आश्चर्य और हर्ष से वह द्विज माया से हँसा। यह कहकर राजा चुप हुआ तो उसके कंधे से वह वेताल शीघ्रता से माया से गायब होकर अपने स्थान पर चला गया। राजा भी बिना सोचे फिर उसके पास शीघ्रता से बिना विचलित हुए पहुँचा। बड़े लोगों का हृदय सागर के समान अक्षुब्ध रहता है (122-137)।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथा सरितसागर के शशांकवती लम्बक की सत्ताईसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-28

वेताल-21

तब वह राजा त्रिविक्रमसेन शीशम के पेड़ पर पहुँचकर कन्धे पर वेताल को लेकर आने लगा तो फिर वह वेताल राजा से बोला - राजन् गहन काम से भरी एक कथा तुझे कहता हूँ, सुन। पुण्यशाली लोगों के लिए विधाता ने अन्य इन्द्रपुरी जैसी जो स्वर्ग से अलग हो गई हो- ऐसी विशाला नाम की नगरी पृथ्वी पर बनाई।¹ सुनते हैं उसमें पद्मनाभ नामक राजा हुआ जो अपने राज्य को आनंदित करने वाला श्रीसम्पन्न और राजा बलि से आगे बढ़ गया है। उस राजा के शासन में उस नगरी में एक अर्थदत्त नामक महावणिक हुआ जिसने धन से कुबेर को भी जीत लिया था। उसकी एक पुत्री थी जिसे अनंगसुन्दरी कहते थे। वह स्वर्णसुन्दरी की प्रतिकृति बनाकर मानो विधाता ने पृथ्वी पर दिखा दी

1. दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम्। ऐसी विशाला (उज्जैन) वर्णन मेघदूत में है।

हो (1-6)।

उस वणिक ने अपनी वह बेटी एक श्रेष्ठ वणिक के पुत्र को दे दी। वह ताम्रलिप्ती का निवासी था और उसका नाम था मणिवर्मा। एक ही सन्तान होने से उस अत्यन्त स्नेही बनिये ने पुत्री अनंगमंजरी के पति को घर से निकाल दिया। उस अनंगमंजरी का वह पति मणिवर्मा शत्रु हो गया मानो रोगी की कड़वी तीखी औषध हो। उस पति की वह सुन्दरी जीवन से भी अधिक प्रिय थी। जैसे कृपण के लिए ऐसी धन समृद्धि हो जो कठिनाई से बहुत समय से एकत्र की हो। एक बार माता-पिता के पास अपने घर ताम्रलिप्ति मिलने की उत्सुकता के लिए मणिवर्मा गया। तब दिन बीतने पर तीक्ष्ण सूर्य के तीरों से परदेसी विरही का मार्ग रोककर ग्रीष्मकाल आ गया। वसन्त के विरह से गरम साँस ले रही थी मानो दिखाएँ उनके लिए मोगरे व गुलाब के आमोद से स्निग्ध वायु बहने लगी। पवन उड़ी धूल के गुब्बार से आकाश में उड़ने लगी। तपी धरती ने मानो मेघ के आगमन की दूतियाँ भेजी हों (7-14)।

वृक्ष की छाया चाहते हुए कठोर धूप से तपे हुए पथिक के समान दिन भी देर से जाते हैं। प्रगाढ़ आलिंगन का सुख देने वाली हेमन्त के बिना चन्द्र किरणों की पीली कांति वाली रातें दुर्बल हो गयी हैं। उस समय वह वणिक पुत्री अनंगमंजरी चन्दन लगाने से शुभ्र और पतले कौसे को लपेटे शोभित हो रही थी। एक बार उसने अपने घर के उन्नत वातायन से देखा एक भव्य ब्राह्मण पुत्र को। उस समय एक समझदार सखी थी उसके साथ जो विश्वसनीय भी थी। रति की प्राप्ति के लिए चलता फिरता मानो नया कामदेव उत्पन्न हो गया हो। वह राजा के पुरोहित का कमलाकर नामक पुत्र था। उसने भी ऊपर खड़ी चन्द्र की प्रतिमा के समान उस कान्ता को देखा। तब वह कमलाकर आनन्द से कुमदाकर हो गया। उन दोनों में अमूल्य तन्मयता का आकर्षण हो गया। काम के आवेग के वात से सबसे अभिभूत होकर अपहृत कर लिये गये। देखकर वह कामाविष्ट कमलाकर साथ के मित्र द्वारा अपने घर किसी तरह ले जाया गया। वह अनंगमंजरी भी उसके नाम को खोजकर विवश अपनी सखी के साथ धीरे-धीरे अपने घर में पहुँची (15-24)।

वहाँ वह कामज्वर से पीड़ित उस कान्त का स्मरण करती हुई बिछौने पर लौटती रही, न कुछ देखती, न कुछ सुनती। दो तीन दिन बीतने पर लज्जा और डर से भरी वह विरह के उन्माद को सहन न करती हुई दुबली और पीली पड़ने लगी। दुर्लभ प्रिय के मिलन की स्थिति देखते हुए एक बार रात में गोखड़े में आई चन्द्रकिरणों के हाथ के इशारे

से आकर्षित सी परिवार के लोगों के सो जाने पर स्वेच्छा से निकलकर मृत्यु के लिए अपने घर के बगीचे की वृक्ष लता से घिरी बावड़ी पर पहुँची। वहाँ पिता ने कुलदेवता की प्रशस्त प्रतिष्ठा कर रखी थी। उसने उस चण्डिका देवी के पास जाकर प्रणाम कर स्तुति कर बताया। इस जन्म में यदि मेरा पति कमलाकर प्राप्त नहीं किया तो हे देवी तो वह फिर अन्य जन्म में हो। यह कहकर उस रागवती प्रेमिका ने देवी के सामने अशोक वृक्ष पर फंदा अपने दुपट्टे से बनाया। तब तक जगकर आसपास न पाकर उसकी सखी उसे खोजती हुई भाग्य से उस उद्यान में आ गयी। वहाँ यह देखकर कि वह अपने गले में फंदा डाल रही है। मत, मत-कहती हुई दौड़ कर उसका फंदा उसने काट डाला। वह अनंगमंजरी भी यह देखकर कि उसकी सखी ने उसका फंदा काट डाला अधिक दुःखी होकर भूमि पर गिर पड़ी। उस सखी के आशवासन देकर पूछाने पर थोड़ी देर में दुःख का कारण बताते हुए फिर उससे बोली (25-35)।

हे सखी मालतिके माता-पिता से पराधीन मुझे प्रिय का संगम दुर्लभ है। अतः मरने से बढ़कर सुख नहीं है। यह कहती हुई काम बाण की अग्नि से बरबस जलती हुई वह अनंगमंजरी निराशा को न सहती हुई बेहोश हो गयी। बड़ा कष्ट है। काम की आज्ञा का उल्लंघन कठिन है जिसने मेरी सखी की यह दशा कर दी, जो अन्य उच्छ्रंखल नारी की हँसी उड़ाती थी। यह कहती हुई उस मालतिका सखी ने उसे धीरे से शीतल जल पवन आदि से ढाढस देती हुई संताप की शांति के लिए कमलिनी के पत्तों से बिछौना बनाया। हृदय पर बर्फ जैसा शीतल हार पहनाया (36-40)। तब आँसू लाती हुई वह अनंगमंजरी सखी से बोली - सखी यह भीतर की जलन हार आदि से शांत नहीं होने वाली। जिससे शांत होती है वह अपनी बुद्धि से ही समझ। मुझे जीवित चाहती है तो मेरा कान्त से योग करा दे। उसके ऐसा कहने पर उस मालतिका ने स्नेह से कहा - सखी आज की रात ठहर जा। सुबह मैं यहीं मिलनस्थान पर तेरे प्रिय को ले आऊँगी। तो धीरज रख और अपने घर में चल। यह कहकर संतोष दिया तो उस अनंगमंजरी ने अपने कण्ठ से हार निकालकर उसे उपहार में दे दिया। इस समय अपने घर जा, तब प्रातः सिद्धि के लिए जाना। यह कहकर सखी को भेजकर वह अपने घर में गयी। प्रातः वह मालतिका सबसे छिपती हुई सखी कमलाकर के घर गयी। खोजती हुई उसने उसे वृक्ष के मूल के पास देखा। वह चन्दन से गीला, कमलिनी पत्र की शय्या पर करवटें ले रहा था। एक रहस्य ज्ञाता, मित्र कमलपत्ते से हवा करता ढाढस दे रहा था। वह कामाग्नि से जल रहा था। उस नायिका के बिना

इसकी ऐसी काम दशा हो गयी है। सोचती हुई वह छिपकर खड़ी हो गयी कि निश्चयपूर्वक ज्ञात कर सके (41-50)।

तब तक उस मित्र ने कमलाकर को कहा - थोड़ी देर इस मनोहर उद्यान पर दृष्टि डालकर मनोविनोद कर मित्र। परेशान मत हो। यह सुनकर अपने उस मित्र को वह ब्राह्मण पुत्र बोला। वणिक् की पुत्री अनंगमंजरी ने जो मेरा मन हर लिया अब मैं कहाँ बहलाऊँ उसे, घर सूना लगता है। कामदेव ने इस खाली हृदय को बाण की तरकस बना लिया। तो वह दिल चुराने वाली मिल जाए, ऐसा कुछ कर। ब्राह्मण बालक के यह कहने पर प्रसन्न होकर मालतिका ने सामने आकर स्वयं को प्रकट कर लिया और निश्चिन्त होकर बोली - हे सुभग अनंगमंजरी ने मुझे आपके पास भेजा है। मैं स्वयं संदेश हूँ। तुम्हें स्पष्ट कह रही हूँ। यह कैसा शिष्ट धर्म है कि जो हृदय में प्रवेश करके हठपूर्वक मुग्धा का मन चुरा कर निश्चितता से बेधड़क चला जाए और अचरज है कि वह सुन्दर नयनों वाली अब तुम मनोहर को प्राणों के साथ देह भी समर्पित करना चाहती है। वह संतप्त रात दिन लम्बी साँसें ले रही है क्योंकि उसके हृदय में धुँएँ वाली कामाग्नि जल रही है और फिर उसकी आँखों से काजल के साथ आँसू के बिन्दु गिर रहे हैं, मानो मुखकमल की सुगन्ध के लोभी भँवर हों। वही कह रही हूँ जो तुम चाहते हो और जो तुम दोनों के लिए हितकारी हो। मालतीका के यह कहने पर वह कमलाकर बोला (51-61)।

हे भद्रे तेरी यह वाणी डराती है और आशवासन भी देती है। मेरी प्रिया का प्रेम से बँधा भाव विधुर अवस्था कह रहा है तो एक तुम ही गति हो, जैसा समझो वैसा करो। कमलाकर के यह कहने पर मालतिका बोली - आज रात उस अनंगमंजरी को छिप कर मैं मिला दूँगी। अपने भवन के उद्यान में बाहर तुम ठहरना। तब अपनी तरकीब से तुम्हें भीतर पहुँचा दूँगी। इस प्रकार तुम दोनों का इच्छित मिलन हो जाएगा। यह कहकर उस मालतिका ने ब्राह्मण पुत्र को आनंदित कर जाकर अपनी सफलता बताकर अनंगमंजरी को भी आनंदित कर दिया। तब दिन के साथ सूर्य के कहीं चले जाने पर संध्या-प्रेमिका पूर्व दिशा में चन्द्र का तिलक लगाकर भली-भाँति तैयार हो गयी। कमल को त्यागकर श्रीकान्ति बड़े हर्ष के साथ खिले मुख के खिले कुमुदाकर सरोवर में हँसने लगी। वह कमल तड़ाग भी उत्कण्ठा सहित मनमाना प्रसाधन कर कामी प्रिया के घर के उद्यान के द्वार के बाहर पहुँच गया। तब तक वह मालतिका तरकीब से उस अनंगमंजरी को उस बगीचे में ले आयी जिसने बड़ी कठिनाई से दिन बिताया था। उसे अमराई के बीच

बिठाकर बाहर निकलकर वहीं उस कमलाकर को भीतर ले गयी और उसने प्रवेश कर घने पत्तों वाले पड़ों के बीच उस अनंगमंजरी को ऐसे देखा मानो पथिक को छाया मिल गयी हो। जब तक वह उसके पास जाए तब तक देखते ही दौड़कर वह कामवेग से लज्जा त्याग कर अचानक उसके गले लग गयी। उस समय वह बड़बड़ाने लगी-कहाँ चले जाते हो, मिल गये मेरे। उस समय अत्यन्त हर्ष से भर जाने से उसकी साँस रुक गयी और मर गयी। वह वायु से रोगी हुई लता के समान धरती पर गिर पड़ी। काम की परिपक्वता का क्रम बड़ा विचित्र है। यह तेज वज्रपात देखकर वह कमलाकर तत्काल 'हाय हाय यह क्या?' कहकर मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ा। होश में आने पर पलभर बाद उस प्रिया को गोद में लेकर आलिंगन, चुंबन करता हुआ अनेक प्रकार से रोने लगा (62-779)।

ऐसे दुःख के अतिभार से वह अत्यन्त पीड़ित हो गया कि वह उसके (टेंके) लेता हुआ हृदयाघात हो गया। उन दोनों की चिंतनीय दशा और समाप्त देखकर मालतिका की वह दशा हो गयी दुःख से जैसे रात क्षीण हो गयी हो। प्रातः उद्यान के रखवाले से ज्ञात कर उन दोनों के परिवार के लोग आश्चर्य, दुःख, मोह से व्याकुल होकर वहाँ आये। दुःख से मुँह फेर लिया, देर तक किंकर्तव्यमूढ़ रहे। पतित स्त्रियाँ कुल को भी दूषित कर बदनाम कर देती हैं, यही कष्ट है। तब तक ताम्रलिप्ती से उसका वह पति मणिवर्मा पिता के घर से अनंगमंजरी के लिए उत्कण्ठित वहाँ आ गया। उसने सुसर के घर आकर वास्तविकता जानकर आँसू से अंधी आँखों वाला उसकी याद करता हुआ उसी उद्यान में आ गया। वहाँ अन्य के साथ पत्नी को निष्प्राण देखकर दुःख की अग्नि में जले उस प्रेमी ने भी तत्काल प्राण त्याग दिये। तब वहाँ खड़े लोगों के रोने-चिल्लाने के कोलाहल से व्याकुल समाचार पाकर चकित होकर सब नागरिक वहाँ आ गये। तब अनंगमंजरी के पिता की पूर्व में अवतीर्ण चण्डीदेवी पास ही थी उसे उसके गणों ने बताया। हे देवी तेरी प्रतिमा की प्रतिष्ठा करने वाला तेरा सदा का भक्त वणिक् अर्थदत्त पर ऐसा दुःख आ पड़ा। देवी दया कर। गणों से यह सुनकर वह शंकर प्रिया पार्वती देवी जो सबको शरण देती है उसने आदेश दिया कि काम शान्त हो, तीनों जीवित हो जाएँ। तब वे सब थोड़ी देर में माता की कृपा से सोकर जागे जैसे जीवित होकर खड़े हो गये। उनका कामभाव चला गया था। यह देखकर सब लोग आश्चर्य से आनंदित हो गये। कमलाकर लज्जा से मुँह नीचा कर अपने घर चला गया। अर्थदत्त भी लजाती उस अनंगमंजरी पुत्री को पति सहित उत्सव मनाता घर में चला गया। रात में मार्ग में यह कथा कहकर वह वेताल उस त्रिविक्रमसेन

राजा से फिर यह बोला - हे राजन् इन अनुराग-मूढ़ों में से सर्वाधिक मोह किसका था। जानते हुए भी नहीं कहेगा तो तुझे पूर्वोक्त शाप लगेगा। वेताल से यह सुनकर उसे राजा ने उत्तर दिया- इन प्रेममूढ़ों में मुझे सबसे अधिक मणिवर्मा प्रतीत होता है। दूसरे दोनों तो कालक्रम से परिपक्व कामावस्था में थे। परस्पर अनुराग से यदि वे प्राण त्यागता है तो हो जाए। पर मणिवर्मा अत्यन्त मूढ़ था कि अन्य पुरुष से आसक्त पत्नी को देख कर क्रोध के समय अनुरक्त ने शोक में प्राण त्याग दिये। राजा के यह कहते ही वह वेतालपति पुनः उसके कंधे से अपने स्थान पर चला गया और राजा भी फिर से उसके पीछे चल दिया (98-109)।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक की अट्टाईसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-29

वेताल-22

तब वह राजा त्रिविक्रमसेन फिर जाकर शीशम के पेड़ से उस वेताल को कंधे पर उठाकर आने लगा तो वह वेताल मार्ग में बोला - राजन् तू बहुत अच्छा जीवनशक्ति से सम्पन्न है। तो एक अपूर्व कथा सुन। पहले कभी कुसुमपुर (पटना) नगर का स्वामी इस धरती पर धरणीवराह नामक एक राजा हुआ। उसके ब्राह्मण बहुल देश में एक ब्रह्मस्थल नामक अग्रहार था। वहाँ विष्णुस्वामी नामक ब्राह्मण था। उसके अनुरूप पत्नी थी जैसे अग्नि की स्वाहा। उससे उसके चार पुत्र उत्पन्न हुए। वेदादि पढ़कर वे बड़े हुए तो विष्णु स्वामी और फिर उसकी पत्नी मर गयी (1-6)। तब कुटुम्बियों ने उनका सब कुछ छीन लिया तो उनकी दुर्दशा हो गयी। तब उन्होंने आपस में परामर्श किया। यहाँ अपनी गति नहीं है। तो हम यहाँ से नानाजी के घर क्यों न चले जाएँ जो यज्ञस्थल नामक ग्राम में है। यही निश्चय करके भिक्षा का भोजन करते हुए बहुत दिनों में नाना के घर पहुँचे। वहाँ नानाजी न होने से मामा लोगों ने आसरा दिया। उनके घर वे खाते पीते और स्वाध्याय करने लगे। कालान्तर में वे गरीब मामाओं के अवज्ञा के पात्र होने लगे। भोजन और कपड़े आदि में। तब अपने लोगों की स्फुरित अग्नि से मारे गये मान वे एकान्त में सोचने लगे। तब बड़ा भाई बोला - हे भाइयों क्या किया जाय? सब भाग्य का खेल है। पुरुष इसमें कभी कुछ नहीं कर पाता। मैं परेशान होकर घूमते हुए श्मशान पहुँच गया। कष्ट झेलते अंगों वाले पुरुष को धरती पर पड़ा देखा (7-14)।

उसे देखकर मैंने सोचा - उस गति की चाह करने लगा। यह दुःख के भार को त्यागकर आराम करता हुआ धन्य है। यह सोचकर मैंने तत्काल मरने का निश्चय कर लिया। वृक्ष के लटक पाश से स्वयं को लटका लिया (16)।

जब तक अचेतन होकर मेरे प्राण निकलते तब तब फंदा टूटने से मैं धरती पर जा गिरा। चेतना आयी तो किसी दयालु आदमी को शीघ्रता से कपड़े से हवा करते हुए मुझे आशवासन देते हुए मैंने देखा। हे सखे बता विद्वान होकर भी किसके प्रति परेशान हो। अच्छे कामों से सुख और बुरे कामों से दुःख मिलता है, अन्य कारण से नहीं। यदि तुझे दुःख से उद्वेग है तो भले काम कर। अरे आत्महत्या करके नरक का दुःख क्यों चाहता है ? यह कहते हुए मुझे ढाढस देकर वह आदमी न जाने कहाँ चला गया और मैं भी मरने का वैसा काम छोड़कर यहाँ आ गया। इस प्रकार विधाता के बिना चाहे मौत भी नहीं मिलती। अब मैं अपनी देह-तीर्थ में तपस्या जलाऊँगा जिससे फिर निर्धरता से मैं दुःखी न होऊँ। अग्रज के यह कहने पर सब अनुज उससे बोले - हे आर्य धन के बिना श्रेष्ठ व्यक्ति को दुःख की बाधा कैसे हो सकती है। आप को क्या यह नहीं ज्ञात है कि धन की तो शरद् के बादलों जैसी चल गति (अस्थिर) होती है। आहरण कर यत्न से रखवाली करने पर स्नेहहीन होता है। मित्रता न होने से वेश्या और लक्ष्मी कब किसकी स्थिर रहती है? इसलिए मनस्वी लोग उद्योग से वह गुण प्राप्त करे जिससे बार बार धन रूपी हिरण बँध कर बरबस लाये जाएँ। यह कहने से बड़े भाई को थोड़ी ही देर में ढाढस मिला और बोला - वैसा कौन सा गुण प्राप्त किया जाए ? (17-27)।

तब सब सोच विचार कर आपस में कहने लगे - पृथ्वी को खोजकर कोई विज्ञान हम बताएँ। यह तय कर मिलने का स्थान बताकर एक एक कर वे चारों दिशाओं में चले गये। समय बीतने पर निश्चित स्थान पर वे मिले। भाईयों ने एक दूसरे से पूछा कि किसने क्या शिक्षा प्राप्त की। तब एक बोला कि मैंने ऐसा विज्ञान सीखा कि किसी भी प्राणी के हड्डी के टुकड़े लेकर उनमें पल भर में यथोचित मांस उत्पन्न कर सकता हूँ। उसकी यह बात सुनकर उनमें से दूसरा बोला - उस माँस और हड्डियों पर मैं उस प्राणी के होने वाली त्वचा, रोम आदि उत्पन्न कर सकता हूँ। तब तीसरा बोला - मैं उस प्राणी के अवयव बनाना जानता हूँ। तब चौथा बोला - अंगादि उत्पन्न होने पर उस प्राणी में मैं प्राण संचार कर सकता हूँ। आपस में यह कहकर वे अपने अपने विज्ञान की प्रयोग सिद्धि के लिए वे चारों भाई वन में हड्डियाँ एकत्र करने गये। भाग्य वश उन्होंने वहाँ सिंह की हड्डियाँ एकत्र

कर लीं। विशेष कुछ न जानते हुए उन्होंने वे ले लीं। एक ने सब उसके लिए उचित माँस से भर दीं। दूसरे ने उसमें चमड़ा, रोएँ आदि पैदा कर दिये। तीसरे ने सब यथायोग्य अंगों से पूरा कर दिया और चौथे ने उस सिंहाकृति को जीवन दे दिया। वह उठा, अपने बाल झटके और भीषण दाढ़ों के संकट वाले मुख, तीखे नखों के अंकुश वाला सिंह झपटा और अपने उन चारों निर्माताओं को मार डाला। वह तृप्त होकर वन में चला गया। इस प्रकार सिंह-निर्माण के दोष से वे सब ब्राह्मण नष्ट हो गये। अरे दुष्ट प्राणी को उठाकर कौन सुखी हो सकता है ? इस प्रकार बड़े यत्न से प्राप्त गुण भी दुर्भाग्य से संपत्ति नहीं अपितु विपत्ति देते हैं। जब भाग्य मूल से ही बिगड़ा होतो भाग्य को ज्ञान से कितना ही सींच कर क्यारी भर देने पर भी प्रायः पौरुष का पेड़ फलता है। इस प्रकार उस रात में मार्ग में कंधे के वेताल ने कथा कहकर राजा त्रिविक्रमसेन से फिर पूछा - हे राजन् उस सिंह के निर्माण में चारों में से किसका अपराध था कि वह सबको नहीं मारता। बोल ! नहीं तो पहले का शाप तुझे लगेगा। वेताल की यह बात सुनकर वह मौन राजा ने सोचा - यह जाए तो जाए। इसे फिर ले आऊँगा। मन में यह तय कर वह राजा उस वेताल से बोला - सिंह को जिसने जीव दिया वह उनमें पापी है। प्राणी विशेषकों ने जानकर माँस, चमड़ा, रोएँ शरीर आदि युक्ति बल से जिन्होंने अज्ञान से बना दिया, उनका दोष नहीं है। पर जिसने सिंह के आकार को देखकर उत्सुकता से विद्या को प्रकट कर प्राण दे दिये। उसने वे ब्रह्म हत्याएँ की। उस राजा की यह बात सुनकर वह मायावी वेताल उसके कंधे से अपने स्थान पर चला गया। और राजा भी फिर उसके पीछे चला गया (28-51)।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक की उन्तीसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-30

वेताल-23

तब राजा त्रिविक्रमसेन ने शीशम के पेड़ पर पुनः पहुँचकर उस वेताल को ले लिया और अनेक विकृतियों वाले उसे कन्धे पर लेकर चुपचाप जब तक प्रस्थान करता है तब वह वेताल उससे बोला - हे राजन् जो काम नहीं है उसमें भी तेरी यह मजबूत पकड़ हो गयी। इसलिए तेरी थकान दूर करने के लिए कथा कहता हूँ, सुन। कर्लिंग राज्य में शोभावतीपुरी थी। वह शुभकर्मों की बस्ती थी मानो स्वर्ग में इन्द्रपुरी। जिसका प्रद्युम्न नामक राजा ऊर्जावान् शासक था जो प्रद्युम्न के समान ऐवश्य और वीरता की अधिकता

के कारण विख्यात था (1-5)। गुणों का पतन धनुषों में, मृदंगों में कर का आघात, कलि (कलह) युगों में और तीखापन बुद्धि में सुना जाता है। उस नगरी के एक क्षेत्र में राजा ने यज्ञस्थल नामक अग्रहार बनाया जहाँ बहुत से ब्राह्मण रहते थे। वहाँ वेदों में पारंगत यज्ञसोम नामक ब्राह्मण था। वह महान् धनी, अग्निहोत्री और अतिथि देवता को पूजता रहता था। उसके यौवन बीतने पर अनेक सैकड़ों मनोकामानों से अनुरूप पत्नी में एक ही पुत्र उत्पन्न हुआ। पिता के घर में बढ़ते हुए उस अच्छे लक्षण के बालक का ब्राह्मणों ने विधिपूर्वक नाम रखा - देवसोम। वह विद्या-विनय आदि से सम्पन्न होता हुआ सोलह वर्ष का हुआ। लोग आकर्षित होते गये कि अचानक बुखार से मर गया (6-11)।

तब उस निष्प्राण का पत्नी सहित आर्लिंगन कर पिता यज्ञसेन ने दुःख से दाहक्रिया के लिए चिरकाल तक नहीं छोड़ा। हे ब्रह्मन् आप तो ऊँच-नीच सब जानते हुए भी संसार रूपी काल्पनिक नगर को नहीं जानते क्या? इसकी गति तो जल के बुलबुले के समान विनाशशील है। जिसकी सेनाओं से पृथ्वी भरी हुई है, महल की छत पर रत्न के पलंग पर बैठकर मनोहर संगीत की नाद से शोभित रहते हैं। चन्दन के लेप से अंग मंडित रहते हैं, श्रेष्ठ नारियों से घिरे रहते हैं, इस धरती पर भी राजा स्वयं को देव मानकर शोभित होते वे भी अनुयाइयों के रुदन करते रहते होने पर श्मशान में चिता पर सोते हैं और अन्तिम संस्कार के साथ अग्नि द्वारा जला दिये जाते हैं। आसपास सियारिनों को कालांतर में खाने से नहीं रोका जा सकता कि किसी के भी द्वारा दूसरों की तो बात ही क्या? तो हे विद्वान् इस शव का आर्लिंगन करके करोगे भी क्या, बताओ। इत्यादि सब वृद्धों ने समझाया उस ब्राह्मण को तब किसी तरह उसने छोड़ा। तब उसके पुत्र को अर्थी पर निष्प्राण को सजाकर रखा। बन्धु गण दुःख से रोते हुए पीछे चल दिये। वे कोलाहल करते हुए श्मशान पहुँचे। इसी बीच वहाँ श्मशान में जो कोई एक वृद्ध योगी पाशुपत तपस्वी मढ़ी में रहता था। वह आयु, तपस्या की अधिकता के कारण अत्यन्त दुर्बल शरीर का था। मानो शरीर टूट न जाए इस डर से नसों से चारों ओर बँधा था। नाम था वामशिव। भस्म से उसके रोम और आकृति भी भूरी हो रही थी। विद्युत के समान पीली जटा का जूड़ा था। मानो दूसरा महेश्वर हो। उस तपस्वी ने तत्काल अपने पास के शिष्य को जो भिक्षा के फल खाने के व्रत लिए हुए था, उलाहना देने से दुःखी था, मूर्ख था, शठ था, ध्यान-योगादि के अहंकार से भरा था, उसे दूर से कोलाहल की बाहरी ध्वनि सुनकर कहा - उठ बाहर की खबर लेकर जल्दी आ कि श्मशान में यहाँ पहले कभी नहीं सुना ऐसी जोर की आवाज क्यों हो रही है? गुरु के

यह कहने पर शिष्य ने उत्तर दिया - मैं नहीं जाता, स्वयं ही जाओ। मेरा भिक्षा का समय जा रहा है। यह सुनकर गुरु ने कहा - धिक्कार है मूर्ख, पेट पर ही लगा रहता है। दिन के आधे प्रहर बीतने पर तेरी कौन सी भिक्षा की वेला है? यह सुनकर क्रोधित नीच शिष्य उस तपस्वी से बोला- अरे बुढ़ापे से जीर्ण नीच न मैं तेरा शिष्य, न तू मेरा गुरु है। मैं दूसरी जगह जाता हूँ इस पात्री को तुम्हारी सम्हालो। यह कहकर वह उठकर दंड और कुण्डी सामने फेंककर चला गया। तब हँसता हुआ वह तपस्वी मढ़ी से वहाँ आया जहाँ जलाने के लिए वह ब्राह्मण बालक लाया गया था। उसने देखा कि जनता उस किशोर की चिन्ता कर रही थी। तब बुढ़ापे से परेशान उस योगी ने उसके शरीर में प्रवेश का विचार किया (12-32)।

तब जल्दी से एकान्त में जाकर जोर-जोर से रोते हुए नाचते हुए उसने जल्दी से उचित अंगहार (मण्डन) किया। तब योग से उस ब्राह्मण पुत्र के शरीर में उसने प्रवेश कर लिया। पलभर में उस तपस्वी ने यौवन की इच्छा से अपना शरीर त्याग दिया। रची गयी चिता पर उसी समय अचानक जीवन पाकर जमुहाई लेता हुआ युवा ब्राह्मण उठ गया। बन्धुओं ने यह देखकर 'जीवित है, जीवित है' कहा। यह ध्वनि सब जनता की होने लगी। अपने व्रतों को त्याग उन सबको विप्रपुत्र शरीर के भीतर प्रविष्ट तपस्वी बोला - अन्य लोक में जाकर आज साक्षात् शिवजी ने जीवन मुझे यह कहते हुए दिया - महा पाशुपत व्रत ग्रहण करो। तो अभी एकान्त में जाकर मैं व्रत धारण करता हूँ। अन्यथा मेरा जीवन नहीं बचेगा। इसलिए आप सब जाओ। मैं जाता हूँ। इस प्रकार वहाँ के सब लोगों को संबोधित कर दृढ़ निश्चय वाले व्रती ने हर्ष और शोक से व्याकुल लोगों को अपने अपने घर भेज दिया (33-40)।

और स्वयं जाकर गृहे में पहले के शरीर को डालकर व्रत धारण कर वह महायोगी युवक होकर अन्यत्र चला गया। यह कथा रात में मार्ग में कहकर वह वेताल उस राजा त्रिविक्रसेन से फिर यों बोला - हे राजन् वह योगी अन्य नगर में रहते हुए रोया और नाचा। यह मुझे बहुत बड़ा कौतुक है। वेताल से यह सुनकर वह शाप की आशंका वाला राजा मौन त्यागकर यह बोला जो बुद्धिमानों में श्रेष्ठ था। सुनो उसमें तपस्वी का जो अभिप्राय था - चिरकाल तक इस शरीर से सिद्धि साधन कर वृद्ध कर दिया, जिसे माता-पिता ने बचपन में लालन-पालन किया, उसे अब त्याग रहा हूँ यह दुःख है इसलिए वह वृद्ध तपस्वी रोया क्योंकि देह का प्रेम त्यागना कठिन है। अब नये देह में प्रवेश करूँगा और

इससे अधिक साधना करूँगा - इस हर्ष से वह नाचा। यौवन कौन नहीं चाहता ? उस राजा की यह बात सुनकर वह वेताल फिर शीशम के पेड़ पर चला गया जो मृत पुरुष के भीतर गया हुआ है। राजा भी उसके पीछे अधिक उत्साह से फिर पाने के लिए भागा। धीरे लोको की स्थिरता कुलपर्वत पर विजय पाने वाली और कल्प के अन्त तक अडिग रहती है (41-48)।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतीलम्बक की तीसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-31

वेताल-24

तब अन्धकार से काली चिता की अग्नि से जलती आँखों वाली रात रूप राक्षसी को उस भीषण श्मशान में वह वीर राजा त्रिविक्रमसेन भीषणता की परवाह न करता हुआ फिर उस शीशम पर जाकर उस वेताल को कन्धे पर डालकर जब चल पड़ा तब पहले के समान फिर वह वेताल उस राजा से बोला। हे राजन् मैं उद्विग्न हूँ। पर बार बार आने जाने से तू उद्विग्न नहीं है। तो एक मेरा महाप्रश्न है। यह कहता हूँ सुन। दक्षिणापथ में एक माण्डलिक राजा था कोई। उसका नाम धर्म था। वह साधुओं में श्रेष्ठ था। गोत्र के अनेक लोग थे। उसकी चन्द्रावती नाम की पत्नी मालवदेश में उत्पन्न हुई थी। वह महाकुल में उत्पन्न हुई थी। श्रेष्ठ स्त्रियों के सिर की वह माला थी। उस राजा रानी की एक ही पुत्री हुई। वह लावण्यवती नाम के अनुरूप सुन्दर थी (1-7)।

जब बेटी देने का समय आया तब उस राजा ने धर्म राष्ट्रभेदक बन्धुओं ने मिलकर उसे उखाड़ दिया। तब वह पत्नी और पुत्री के साथ भागने के लिए देश से रात में रत्नों की राशि लेकर निकल पड़ा। निश्चितता से वह अपने ससुर के स्थान मालव के प्रति प्रस्थित हुआ। उस रात में पत्नी व पुत्री सहित विन्ध्य वन में पहुँच गया। वहाँ पहुँचने पर पानी के आँसू के समान ओस की बूँदों से रात की यात्रा करते हुए राजा चलता गया। तब अपनी अंगुलियाँ ऊँचीकर सूर्य पूर्वाचल पर चढ़ गया। मत जा इस चोर जंगल में - इस प्रकार मना करता सा। तब वहाँ पुत्री-पत्नी सहित कुश काँटों से पैर में घाव सहते हुए वह राजा पैदल जाते हुए भीलों के गाँव में पहुँचा। वह पराये लोगों के प्राण सहित सर्वस्व हरण करने वाले लोगों से घिरा था। वहाँ धार्मिक बिल्कुल नहीं रहते थे। यह यमनगरी के समान दुर्गम थी। वहाँ वस्त्रों, आभूषणों वाले राजा को दूर से ही देखकर विभिन्न हथियार

लेकर बहुत से शबर लूटने के लिए दौड़ पड़े (8-15)। उन्हें देखकर पुत्री और पत्नी से राजा धर्म ने कहा - तुम्हें ये म्लेच्छ स्पर्श करें उससे पहले वन में चली जाओ। राजा के ऐसा कहने पर वह रानी चन्द्रवती अपनी बेटी लावण्यवती के साथ डरकर वन में चली गयी। राजा ने भी सामने से आते बहुत से शबरों को, ढाल तलवार लेकर तीर बरसाने वालों को मार डाला। तब पूरी बस्ती में वहाँ के स्वामी की आज्ञा से उस अकेले राजा को ढाल आदि प्रहार से तोड़कर मार डाला। गहने लेकर डाकुओं की सेना को जाते हुए देखा और वन के झुरमुट में से पति को मारे जाते हुए देखकर वह रानी चन्द्रवती और पुत्री विह्वल होकर गहन वन में दूर तक चली गयी। वहाँ दोपहर की गर्मी से त्रस्त छाया भी प्रविष्ट हो गयी थी, वृक्षों के ठंडे तने के पार पथिकों के साथ चली गयी। एक स्थान पर कमल तड़ाग के तीर पर अशोक वृक्ष के नीचे वह रानी दुःख से व्यथित रोती हुई पुत्री सहित बैठ गयी (16-23)। तब तक वन के निकट के निवासी कोई महामान पुत्र सहित घोड़े पर बैठकर शिकार के लिए आया। वह चंडसिंह नामक व्यक्ति अपने सिंहपराक्रम पुत्र से उन दोनों स्त्रियों के धूल में पद चिह्न देखकर बोला - ये सुन्दर पैरों वाली दोनों स्त्रियाँ यदि मिल जाएँ तो उनमें से एक मनपसन्द को स्वीकार करना। उसके यह कहने पर वह सिंहपराक्रम पुत्र बोला - जिसके ये छोटे पैरे हैं वह मेरी पत्नी प्रतीत होती है। वह कम आयु की मेरे लिए ठीक है। बड़े पैरों वाली अधिक आयु की आपके योग्य है। बेटे की यह बात सुनकर उससे चण्डसिंह बोला - कैसी बात है कि तुम्हारी माता अभी ही दिवंगत हुई। वैसी ही अच्छी स्त्री के जाने पर अन्य पर क्या वासना करना ? यह सुनकर उस पुत्र ने चण्डसिंह से कहा - पिताजी ऐसी बात नहीं। बिना पत्नी के गृहपति का घर सूना रहता है और फिर मूलदेव की कही यह गाथा आपने नहीं सुनी क्या ? जहाँ सघन स्तनों और जाँघों वाली मार्ग देखती प्रिया न हो उस घर नाम के बिना बेड़ी के दुर्ग में कौन बुद्धिमान प्रवेश करता है ? इसलिए पिताजी मेरे प्राणों की सौगन्ध है यदि उस मेरी बतायी द्वितीया नारी को स्वीकार न करोगे तो (24-33)।

पुत्र की यह बात सुनकर उस मित्र पर विश्वास कर वह चण्डसिंह पैरों के निशानों के साथ धीरे-धीरे चलते रहे। उस तालाब पर पहुँचकर मोतियों के तारों के समूह से सजी श्यामा (रात) सी रानी चन्द्रवती को चमकती हुई देखा। चाँदनी से उज्ज्वल पुत्री लावण्यवती को, रात की ज्योति की दोपहर में वृक्ष की छाया में विश्राम करती को देखा। पुत्र के साथ वह राजा उसके पास पहुँचा। चोर की आशंका में परेशान होकर वह भी उसे

देखकर खड़ी हो गयी। माताजी परेशान मत होओ। ये दोनों सौम्य आकृति के हैं। चोर नहीं है। अच्छी वेश भूषा है। जरूर कोई शिकार पर आये हैं। बेटी ने यह जब रानी से कहा तो वह डाँवाडोल होने लगी। तब तक घोड़े से उतर कर चण्डसिंह ने उन दोनों से कहा - डरती क्यों हों ? हम दोनों आप दोनों से प्रेम से मिलने आये हैं। इसलिए बेधड़क विश्वास से बताओ कि तुम दोनों कौन हो ? शिवजी के नेत्र की ज्वाला से जले कामदेव की बुरी स्थिति वाली रति और प्रीति के समान तुम इस वन में आकर निर्जन वन में कैसे प्रवेश कर गयीं ? तुम दोनों के शरीर तो रत्नों के महलों में रहने योग्य हैं। श्रेष्ठ नारियों की गोद में रखने योग्य तुम्हारे ये चरण काँटों भरी इस भूमि पर कैसे भटक रहे हैं - यह हम दोनों के मन में व्यथा है और यह भी अनोखापन है कि तुम दोनों के मुख पर हवा से उड़ती धूल फिर रही है जो तुम्हारे मुख की कान्ति को मिटा रही है। आप दोनों के अंग कुसुम जैसे कोमल हैं वे सूर्य की किरणों की गर्मी से हमें भी जला रहे हैं। अतः हमारा हृदय व्यथित हो रहा है, अपनी बात बताओ। हिंसक पशुओं से घिरे वन में हम तुम्हारा रहना देख नहीं पा रहे हैं (34-46)।

चण्डसिंह के यह कहने पर रानी उसाँस लेती हुई लज्जा, दुःख से व्याकुल होकर उसके सामने अपना विवरण बता दिया। तब उसे स्वामी रहित मानकर तथा उसकी बेटी को ढाढस देकर चण्डसिंह ने मधुर बातों से मनोरंजन करते हुए अपनी बना लिया। दोनों को घोड़ों के पीछे बिठाकर वह पुत्र सहित, पुत्रिका सहित रानी को अपनी बस्ती में ले गया जो कुबेर की नगरी के समान समृद्ध थी। उसने भी अगले जन्म में गयी के समान विवश होकर उसे स्वीकार कर लिया। दुःख में पड़ी अनाथ नारी विदेश में कर भी क्या सकती है ? (47-50)।

तब छोटे पैरों वाली रानी चन्द्रवती को चण्डसिंह के पुत्र सिंहपराक्रम ने पत्नी बनाया। उसकी बेटी राजकन्या लावण्यवती को बड़े पैर होने से चण्डसिंह ने पत्नी बनाया। पहले छोटे-बड़े पैरों के निशानों की पंक्ति देखने से जो तय किया था उन दोनों ने, उस सत्य से पलट कैसे सकते थे ? इस प्रकार पैरों के पलटने से उन दोनों पिता-पुत्र की वे बेटी-माता पत्नियाँ होने से सास-बहु हो गयीं। कालान्तर में उन दोनों पतियों से उनके पुत्र और बेटियाँ हुईं और क्रमशः अन्य भी हुए। इस प्रकार वे चण्डसिंह और सिंहपराक्रम लावण्यवती और चन्द्रवती के साथ रहने लगे। यह वर्णन करके रात में मार्ग में तब वेताल ने उस राजा त्रिविक्रमसेन से पुनः पूछा - उन दोनों माता-बेटी का, पुत्र-पिता से जो प्राणी

क्रमशः दोनों पक्ष के पैदा हुए वे आपस में क्या लगते हैं ? यह जानकर बताओ। जानते हुए भी न बताएगा तो पहले बताया शाप तुझे लगेगा (51-59)।

वेताल से यह सुनकर बहुत सोचने पर भी कुछ समझ नहीं आया। और जब राजा चुपचाप चलता ही रहा। तब वह उसके कंधे पर स्थित वेताल मन में हँसता हुआ मृत पुरुष की देह के भीतर पैठा हुआ सोचने लगा - यह राजा इस महाप्रश्न का उत्तर देना नहीं जानता है। इसलिए यह चुपचाप प्रसन्न होकर चतुराई से कदम रखता हुआ जा रहा है। यह सत्चराशि है। इसे छला नहीं जा सकता। इसके बाद खेल करता वह भिक्षु हमसे ऐसे ही संतुष्ट नहीं होगा। सो आज उस दुरात्मा को तरकीब से छलकर राजा के भावी कल्याण में सिद्धि को लगाता हूँ। यह सोचकर वह वेताल तब उस राजा से बोला - हे राजन् काली घनघोर रात में इस श्मशान में इन आवागमनों से ऐसे कष्टों को भी सुख मानता है। तेरा कोई विकल्प नहीं है। तो तेरे धैर्य से आश्चर्य से मैं संतुष्ट हूँ। इस शव को तू ले जा। मैं इससे निकल जाता हूँ। अब सुन यह। तेरे हित की बात कहता हूँ, वैसा करना। मनुष्य का यह शरीर तू जिसके लिए लाया है। वह बुरा भिक्षु है। वह आज मेरा आह्वान इसमें करके पूजा करेगा। वह शठ तब तेरा उपहार देना चाहेगा। वह कहेगा कि भूमि पर अष्टांग से प्रणाम कर। हे महाराज उस श्रमण को तुम कहना - तू पहले करके बता मुझे। तब मैं वैसा ही करूँगा। तब जैसे ही वह भूमि पर गिरकर प्रणाम दिखाए तभी तुम तलवार से उसका सिर काट डालना। तब वह जो विद्याधर के ऐश्वर्य की सिद्धि चाहता है, वह तुझे मिल जाएगी। तब उसके उपहार से इस पृथ्वी का भोग करना। वरना वह भिक्षु तुझे उपहार बना देगा। इसलिए मैंने यहाँ विघ्न डालकर इतनी देर की। अतः तेरी सिद्धि हो जा। यह कहकर उसके कंधे पर के शव से निकलकर वह वेताल चला गया। तब वह राजा वेताल की बात से प्रसन्न होकर श्रमण का अहित सोचता हुआ वह वटवृक्ष के नीचे बैठे क्षान्तिशील के पास उस मृत पुरुष का शरीर लेकर प्रसन्नता पूर्वक प्रस्थित हुआ (60-75)।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतीलम्बक की इकतीसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

तरङ्ग-32

वेताल-25

तब उस क्षान्तिशील भिक्षु के पास वह राजा त्रिविक्रमसेन कंधे पर शव उठाकर पहुँचा। वहाँ उसने श्मशान में वृक्ष के तने के पास बैठे उस श्रमण को देखा जो पथ की ओर

अकेला देख रहा था। वह श्मशान कृष्ण पक्ष की रात में भीषण लग रहा था। भूमि भी रक्त से लिपी थी। उस पर सफेद अस्थिचूर्ण से मण्डल बनाया गया था। दिशाओं में रक्त से पूरे भरे कुम्भ रखे थे। महातैल से जलते दीपक से सम्पन्न हवन की पास में अग्नि-इस प्रकार अपने इष्ट देव की पूजा के लिए समस्त सामग्री से भरपूर था वह क्षेत्र। उसके पास शव लेकर राजा पहुँचा तो उसे देखकर भिक्षु उसकी प्रशंसा करता हुआ उठकर बोला - हे राजन् तुमने कठिन अनुग्रह किया। कहाँ तुम जैसे, कहाँ यह चेष्टा, और कहाँ ऐसे देश और काल ? बेधड़क सच कहा जाता है कि तुम राजाओं में प्रमुख हो। जो स्वयं की परवाह न करके दूसरों का हित साधते हो। विद्वान् लोग इसे ही महान् की महत्ता कहते हैं कि प्राण देकर भी अपने दिये वचन से विचलित न हों। यह कहता हुआ अपने लक्ष्य को सिद्ध मानने वाले उस भिक्षु ने उस राजा के कन्धे से वह शव उतरवाया। उसे प्राप्त कर स्नान करवाया, अनेक मालाओं से लपेटा और फिर उस शव को बने मण्डल के भीतर रख दिया (1-10)।

उसके शरीर पर भस्म लगी थी, शरीर पर केश का यज्ञोपवीत था, मुँह के कपड़े पहन कर क्षण भर उसने ध्यान किया। उस मनुष्य के शरीर में मंत्र के बल से बुलाकर वेताल का प्रवेश कराया। फिर भिक्षु ने उस श्रेष्ठ वेताल की पूजा क्रमशः की। कपाल से अर्घ्य-पात्र से उसने उस वेताल को अत्यन्त निर्मल नर रक्त से अर्घ्य दिया। तब पुष्प, सुगन्ध और लेपन देकर मनुष्य की आँखों से धूप, माँसों से बली (प्रसाद) देकर पूजा पूरी करके अपने पास खड़े राजा से बोला - हे राजन् इस मन्त्राधिराज के पास सामने पृथ्वी पर गिरकर अपने आठों अंगों से प्रणाम करो (11-15)। इससे यह वरदान देने वाला तुझे वांछित सिद्धि प्रदान करेगा। यह सुनकर वह राजा उससे वेताल के कहे अनुसार बोला - मैं नहीं जानता। इसलिए पहले आप करके मुझे बता दें। हे भगवन् तब मैं भी वैसा ही कर दूँगा। तब यह बताने के लिए जैसे ही वह भिक्षु पृथ्वी पर गिरा तो उस राजा ने खड़ग के प्रहार से उसका सिर काट डाला और उसके हृदय कमल को पेट फाड़कर निकालकर उसका सिर और हृदय कमल उस वेताल को समर्पित कर दिया। तब प्रसन्न होकर भूतगणों ने साधुवाद दिया और उस मनुष्य के शरीर से संतुष्ट वह वेताल उस राजा से बोला (16-20)।

हे राजन् भिक्षु की जो चाह विद्याधरेन्द्र बनने की थी वह भूमि-साम्राज्य के भोग पर तेरी होगी। मैंने तुझे जो कष्ट दिया इसलिए तू वांछित वरदान माँग। वेताल के यह कहने पर उससे राजा ने कहा - यदि तुम प्रसन्न हो तो कौन सा वरदान सिद्ध नहीं होता। तब

भी तुम्हारी सफल वाणी से मैं तुमसे यह चाहता हूँ। पहले की ये चौबीस विभिन्न आख्यानों वाली कथाएँ और यह समाप्ति वाली पच्चीसवीं कथा ये सब पृथ्वी पर विख्यात हो जाएँ और पूजनीय हो जाएँ। राजा ने यह चाहा तो वह वेताल बोला - यही हो और विशेष यह कहता हूँ कि इस पृथ्वी पर जो पहले चौबीस और यह समापन की पच्चीसवीं एक कथावली है वह वेतालपञ्चविंशतिका नाम से जगत् में विख्यात, पूज्या, कल्याणकारिणी होगी। इस कथा का जो एक श्लोक भी आदरपूर्वक कहेगा या सुनेगा वे दोनों तत्काल पाप से मुक्त हो जाएँगे। यक्ष, वेताल, कूष्माण्ड, राक्षस, डाकिनी, राक्षस आदि का प्रभाव नहीं होगा जहाँ इसे गाया या कहा जाएगा। यह कहकर वह वेताल उस मानव शरीर से निकल कर योग माया से अपनी रुचि के स्थान पर चला गया। तब वहाँ देवताओं सहित महादेव साक्षात् उस राजा के सामने संतुष्ट होकर प्रकट हुए। उसने प्रणाम किया तो उसे आदेश दिया। साधु वत्स, तूने आज छली तपस्वी को मार डाला जो विद्याधर महाचक्रवर्तित्व की हठपूर्वक कामना करता था। पहले पहल मैंने तेरी अपने अंश से विक्रमादित्य नाम से सृष्टि की थी ताकि म्लेच्छ रूप में अवतीर्ण असुरों को शान्त कर सके और आज दुष्कर्मी के दमन के लिए मैंने पुनः तुझे विक्रमसेन नामके हीरे राजा की यहाँ सृष्टि की। अतः सात द्वीपों वाली पाताल सहित पृथ्वी को अपने वश में करके शीघ्र ही तू विद्याधरों का राजाधिराज होगा। बिना उद्वेग के स्वेच्छा से दिव्य भोगों को चिरकाल तक भोगकर उन्हें त्यागकर निश्चय ही अंत में मुझ में लीन हो जाएगा। यह मेरा अपराजित नामक खड़ग ग्रहण कर जिसकी कृपा से तू वह सब प्राप्त कर लेगा जो मैंने कहा है। यह कहकर खड़ग रत्न उस राजा को दे दिया। राजा ने वाणी के पुष्पों से पूजा की। तब महादेव लुप्त हो गये (21-38)।

तब यह देखकर कि सब करणीय कार्य पूरा हो गया है, रात बीतने पर प्रभात होने पर उस राजा त्रिविक्रमसेन ने अपनी नगरी प्रतिष्ठान में प्रवेश किया। तब क्रमशः रात की चेष्टाओं से अवगत होने पर सेवकों और प्रजा ने उत्सवादि से उसकी अर्चना की। स्नान, दान, महादेव की पूजा, गीत, वाद्य आदि से वह पूरा दिन बिताया। और थोड़े ही दिनों में उस राजा ने महादेव के उस खड़ग की वीरता से द्वीपों, रसातलों सहित पृथ्वी का निष्कण्टक उपभोग किया। तब शिवजी की आज्ञा से बहुत बड़ा विद्याधर का स्वामित्व पाकर, उसका उपभोग चिरकाल तक करके वह कृती अन्त में भगवान् से एकाकार हो विलीन हो गया (39-41)।

वह विक्रमकेसरी मन्त्री जो शाप के कारण बिछुड़ गया था वह बहुत समय के बाद मिला। राजकुमार मृगांकदत्त को यह कहकर फिर वास्तविक प्रयोजन बताया। इस प्रकार हे देव वह वृद्ध विप्र यह वेतालपंचविंशतिका उस ग्राम में कहकर मुझे फिर बोला - इसलिए हे पुत्र उस मर्द विक्रमसेन राजा ने वेताल की कृपा से वह क्या इष्ट था जो नहीं प्राप्त किया। इसलिए यहाँ तुम भी मुझसे यह मन्त्र लेकर प्रधान वेताल की कृपा और प्रसन्नता के लिए विषाद की प्रवृत्ति से मुक्त हो जा। हे वीर जिससे उन मृगांकदत्त प्रभु से आप मिलन प्राप्त कर लोगे।

वेताल पंचविंशतिका सम्पूर्ण।

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक की बत्तीसवीं तरङ्ग सम्पूर्ण।

(लम्बक 12 की तरंग 8 से 32)

बृहत्कथामञ्जरी

वेतालपञ्चविंशति

मृगांकदत्त ने दक्षिणा में स्त्री प्राप्त करके दक्षिण दिशा के वन में सचिवों के साथ प्रवेश किया। तब अपनी फड़कती किरणों से दोपहर में धरती के मार्ग को जब सूर्य तपा रहा था और जब कीचड़ में भँसे, वराह, हाथी सने हुए थे और लोक मानो ताजे दिग्दाह के धुँए से घिर रहा था, जब मानो खाण्डव वन में प्रचण्ड दावानल लग गया और कृष्ण के प्रयास से अर्जुन (और अर्जुन नाम वृक्ष) के व्याकुल हो जाने पर राजकुमार थोड़ी देर बैठा तब उसने आकाश में एक आदमी बिगड़े आकार के आदमी को ले जाते हुए देखा (1-5)।

उसे देखकर इस विक्रमकेसरी ने सचिवों को कहा - कोई परेशान कर रहा है। इसे छुड़ाने का प्रयत्न करो। उसके ऐसा कहते ही और तैयार होते ही स्वयं आकाश से उतरकर उस आनन्द के निर्झर सुन्दर ने उसे प्रणाम किया और श्रुतधि-सहित सबका आलिंगन करके प्रसन्न हुआ। तब वह उस भोंडे वाहक मानव से बोला - हे महाबली जा, जब मैं याद करूँ तब फिर आ जाना। इस प्रकार छोड़ते ही वह पल भर में गायब हो गया। तब अत्यन्त चकित होते हुए मृगांकदत्त ने उससे पूछा - ऐसा भयंकर आकार का सचिव तुझे कहाँ से मिल गया ? इस प्रकार उसने आदरपूर्वक पूछा तो सब दिशाओं में दाँतों की मनभावन चाँदनी फैलाते हुए विक्रमकेसरी बोला (6-11)।

उस रात में उस नाग के शाप से मूर्च्छित होकर धीरे-धीरे मन में याद किया कि प्राण छूट गये हैं। उस तलाई के किनारे प्यास के संताप की पीड़ा थी। अतः चन्द्र के समान, शीतल जल पीकर मैं विश्राम कर रहा था। तभी साँप काटा कोई वृद्ध ब्राह्मण आकर विष के दुःख से दुःखी होकर स्वयं पानी में डूबने लगा। तब मैंने दया करके सुपर्ण विद्या से उसकी रक्षा की। उसने कृतज्ञतापूर्वक मुझसे कहा - आप सत्त्वसम्पन्न कोई देव हैं। मैं आपको वेताल उठाने की विद्या देता हूँ। ग्रहण कीजिए। वह विद्या मैं अधीर को नहीं देता हूँ। आप धैर्यशाली हैं (12-16)।

यह सुनकर मैंने कहा-मैं मित्र लोगों से बिछुड़ गया। मुझे विद्या से क्या मतलब? मानो सूर्य को चाँदनी से कोई मतलब नहीं। इस प्रकार मेरी बात विस्तार से सुनकर ब्राह्मण बोला - मित्र का मिलना कौन सी बड़ी बात है ? विद्या से सब पा सकते हैं (17-18)। प्रतिष्ठानपुर (पैठन) में राजा श्री त्रिविक्रमसेन हुआ। वह लक्ष्मी का जन्म-स्थान रत्नाकर (समुद्र) है और सत्त्वधारियों में श्रेष्ठ है। जिसके यश के दर्पण में तारों के हार से सुशोभित और सूर्य-चन्द्र के कुण्डल का आकाश बिम्बित सा लगता है। राम (रामा) से मनोहर उसे देखने के लिए नित्य श्रमण आता है। मानो सीता को पकड़ने के बहाने छिपकर रावण फिर आता हो। ऐसा क्षांतिशील नामक वह उस श्रमण उसकी सभा में सदा आता था। उसने उसे फल दिया। राजा ने कोषपाल के हाथ में दे दिया। इस प्रकार सेवा करते हुए उस भिक्षु को दस साल बीत गये। किसी समय राजा के हाथ से फल क्रीड़ावानर के हाथ में पहुँच गया। उसके दाँत से गड़वा पड़ने पर उससे दिव्य रत्न निकल पड़ा। उसकी कान्ति से पूरी सभा भर गयी। राजा ने कोषाध्यक्ष को बुलवाकर अन्य फल माँगे। उसने भी फलों से निकला रत्न समूह राजा को दे दिया। उस त्यागसागर राजा ने भी कोशपालकों को ही वे रत्न देकर फिर आये हुए श्रमण से राजा ने पूछा। हे क्षांतिशील तुम्हारा यह काम मुझे अनोखा लगता है। रत्न भी पृथ्वी के इस मूल्य से बढ़कर रत्नों के बदले क्या पाना चाहते हो ? (19-27)

राजा के यह पूछने पर वह श्रमण उससे बोला - अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए प्रतिज्ञा से बँधा हुआ हूँ। आप जैसे वीरता के समुद्र जो अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते और शत्रुओं के प्रयत्न को सहन नहीं करते। ऐसे आपकी सेवा कौन नहीं करते ? आपका शरीर दूसरों के लिए तैयार रहता है, सबकी आशा के पोषक हैं, जिसकी दुर्गति हो गयी हो उनके मित्र हो। आप जैसों का कौन याचक नहीं है। इस कृष्ण चतुर्दशी पर

श्मशान में मेरी कोई मन्त्र साधना है। आप मेरे साथ द्वितीय साधक बन जाएँ। हे महावीर तलवार से सुशोभित होकर आप रात में महावट वृक्ष के नीचे मेरे पास आवें। यह कहकर राजा द्वारा 'ठीक है' कहकर प्रतिज्ञा करने पर वह श्रमण मन्त्र साधना करने के लिए चला गया (28-33)।

तब उस रात में अपने यश की फैली चाँदनी वाला धरती का चन्द्रमा रोचक कुण्डल वाला वह खड्गधारी राजा उस (श्रमण) के पास गया। चलते हुए रत्नों की किरण वाले कड़ों की कान्ति से आकाश को चमकाते हुए मुकुटमणि जैसी कान्ति वाला मानो चलता फिरता रत्न पर्वत हो। तमाल के रंग के काले गूगल के लेप लगा हुआ तथा नीलवसन पहने वह गज-कान्ति आकृति पर व्याप्त होने से मानो महादेव था। रात में चलते हुए तारों के हार की किरणों वाला वह उस समय सुशोभित शरीर मानो सत्व से प्रकाशित हो रहा था। शरीर पर कस्तूरी के लेप से वह साक्षात् जयकुंजर लग रहा था। सिर पर अन्धेरा ऐसा लग रहा था मानो मयूर छत्र हो। सिर पर की माला के पराग में लगे भँवरों से सुशोभित हो रहा था। मानो उसकी यात्रा के मंगल में लक्ष्मी के स्वस्तिपाठ के अक्षर हों (34-39)।

तब वह बेधड़क भूतों से भरे श्मशान में पहुँच गया। समस्त दोषों वाला शरीर मानो सैकड़ों प्रयासों का ठिकाना है। वहाँ उसने वट के नीचे क्षांतिशील को देखा। माथे पर श्वेत हड्डी का चूरा लगा रखा था, लोहे या लाल आसव था। मानो कपाल के प्याले वाला काल का खिलौना हो। धुएँ के अन्धेरे से मलिन, वीरेन्द्र की ध्वनि की गर्जन करता, चमकती चिता की अग्नि की बिजली वाला काल मेघ मानो उठ खड़ा हुआ हो। गिद्धों की खींची आँतों की मालाओं से काली के आरम्भिक उत्सव में उन्मत्त कृत्तिका के अमृत से काँप रहा हो। पुरानी अस्थियों की नलियों के छेद से तेजी से विज्ञान का वायु बहता है तो योगिनी-समूह के नूपुर जैसी ध्वनि होती है (40-44)।

सब दिशाओं में तेज हुंकार की ध्वनि फैलती रहती है। मानो तीनों लोक के प्रलय के आरम्भ का यमराज ने आँकार बोला हो। मुण्ड के खण्ड से सुशोभित दूषित कंकाल की माला वाला जलते कोयले जैसी आँखों वाला मानो द्वितीय भैरव हो। ताजे रक्त से भरपूर भीम मानो कर्ण, शल्य (कानों के शूल) के दुःशासन के वध की चिल्लाहट हो रही हो। भीम (पाण्डव भीम और भयंकर) के विचरण का मानो द्वितीय भारत (महाभारत) हो जिसमें बहुत छल वा जुआ और नारी के चित्त के समान भीषण हो (45-48)। मानो

अनेक अविवेक, शंका और आतंक का घर हो। खर का भीषण जनस्थान हो जो घोर सर्प के नख से घिरा हो। यह दण्डक वन के समान है जिसमें मारीच की रुचि हो। भाई कम्पन, धूमाक्ष तथा मेघनाद से जो विभूषित हो। लंकादहन हो रहा हो और मानो जीवों के भागने की हड़बड़ी हो। जो सम्पूर्ण दुःख का घर और भूत संघ को हर्षित करता हो। बहुत से छिद्र और सघन आलिंगन वाला प्रेत समूह हो जिसमें सैकड़ों पलाश टेसु और मांसाहार तथा चिता की आग से बचे वृक्ष हों। शिवाओं (शक्ति और सियारनियों) से व्याप्त अमंगल हो, जिसमें अगणित यमराज विचर रहे हों। निकुम्भ के कुच के घटों तथा मोटे जघन वाली हों। ऐसी दिगम्बर स्त्रियों द्वारा अनवसर ताण्डव किया जा रहा हो। गिद्ध, गीदड़ से सघन और काक, कंक समूह से भरा हुआ है। मतवाले भूत, वेताल जो माला पहने हुए हैं, पिशाच-शाकिनी वाला, वस्तृत मरू मण्डल सा, स्पष्ट अट्टाहास बिना सेना का और खेलती चक्रेश्वरी का समूह, भय के लिए भी भयंकर, मोह को भी मोहित करने वाला, अन्धेरे का भी गहन अन्धकार, क्रतान्त (यम) को भी कँपाने वाले डाकिनी समूह से सेवित घनघोर उस श्मशान के दया तथा वहाँ वट के नीचे क्षांतिशील को घेरा बनाकर बैठे देखा तो उसे प्रणाम कर पूछा कि मैं आ गया हूँ। मुझे क्या करना है (49-58)?

यह सुनकर प्रसन्नता से आँखें फैलाकर भिक्षु ने कहा - आप साहसी लोगों में अग्रणी हो। तुम्हारे इस धैर्य से अब समझता हूँ कि समस्त धीरों की आप कीर्तिपताका हो। हे स्वामी यहाँ से दक्षिण में कोस भर दूर जाओ। वहाँ शीशम के पेड़ पर एक आदमी टँगा है। उसे ले आओ। इस प्रकार उसकी वाणी के अनुसार राजा ने घनघोर अन्धेरे में मशाल सा जाकर देखा - उद्धत नीच के समान उस सूखे पेड़ को देखा। वह कान्ति रहित दरिद्र के समान, पिशाच के समान भीषण, बुरे काव्य के समान बिखरा हुआ या श्लेषरहित, विशाल शीशम का पेड़ देखा। टेड़ा, झुका मुख, लटके हुए दोनों हाथ, लम्बे लटकते पैरों वाले शव को उस पर राजा ने देखा। धरती पर मैंने पुण्य नहीं बोया, हाथ से कुछ पाया नहीं। इस संताप से मानो खुले हाथ और नीचा मुख किये हुए था। उस वृक्ष पर चढ़कर उसके गले का फन्दा छोड़कर उसे गिरा दिया। तब गिरा हुआ वह दुःख के साथ 'हाय मारा गया' यह चिल्लाया। दया से भरे मन का राजा भी उतर कर उसे बारबार छूकर अपने साहस की निन्दा करने लगा। तब उस सठ वाले ने पल भर में भयंकर अट्टाहास किया। जिससे स्पष्ट ही भूतों का शरीर भी रोमांचित हो जाए। तब शीघ्र ही वह उस लता में छिप गया। उसी कण्ठपाश से वह उसी तरह लटक गया। वेताल माया पहचान कर वृक्ष पर

फिर चढ़कर कन्धे पर डालकर बहुत तेजी से चल पड़ा। कन्धे पर स्थित वह वेताल बोला - सुनो राजन्। मार्ग दूर का है। तुझे आनन्ददायिनी कथा कहता हूँ।

शिवजी की प्यारी वाराणसी नाम की नगरी है। गौरी के आवास हिमालय जैसे विशाल स्फटिक के भवन में प्रतापमुकुट नाम का राजा था (59-72)। उसके प्रताप के मुकुट सा आकाश सन्ध्या सहित सा सुशोभित होता है। उस राजा की प्राणप्रिया सोमप्रभा थी। उसके तीनों लोक के विजय के प्रयास में कामदेव की चमकदार शक्ति के समान वज्रमुकुट नामक पुत्र हुआ। जिसकी रूप सम्पदा से कामदेव, चन्द्र, माधव आदि भी लज्जित होते हैं। ऐसा उनका मित्र मन्त्रिपुत्र बुद्धिशरीर नामक हुआ। वह अद्वितीय सदा प्रेमलीला की संतोषजनक सम्पदा से सम्पन्न था। किसी समय वह राजकुमार उस मित्र के साथ आखेट पर गया। वह वन मृग, हाथी, सिंह, शरभ समूह से भरा हुआ था। उसने वहाँ धनुष की आवाज के भयंकर क्रोध से बड़े-बड़े सिंहादि जानवरों को मारकर विभिन्न ध्वनि व लताओं वाले वन में प्रवेश किया। वहाँ पास में ही खिले कमल वाला विमल तालाब देखा। वनदेवियों के अनोखे स्फटिक के दर्पण के समान था वह। देखा कि उस तालाब में सैंकड़ों दासियों वाली कन्या स्नान करने आयी (73-79)।

राजकुमार ने उसे उगती चन्द्रलेखा के समान देखा। उसके नीलकमल की कान्ति की कटाक्षकिरणों से वह वनस्थली नाचती मयूरमाला के समान सुशोभित हो रही। आकाश में सघन बिम्ब के फल और बन्धु कुसुमों से लावण्य के सागर में मूँगों की पंक्ति जैसी सुशोभित हो रही थी। उसकी कान्ति की बावड़ी में कमल की कलियों जैसे स्तन उत्पन्न हो गये थे। वे दोनों स्तनों की कमलतन्तु जैसी रोयों की लता की भँवरों की पाँत काया की लता धारण कर रही थी। पीछे की ओर चोंटी विमलता से प्रतिबिम्बित हो रही थी। वह बजते मणिनूपुर से हंसगामिनी सुशोभित हो रही थी। लक्ष्मी मानो चलते कमल में लगी हो जिसमें भँवरे बज रहे हों। नैनों को आनन्द देती चाँदनी वाली उस चन्द्रमुखी को देखकर राजकुमार का मन उछलने लगा। उस राजकुमारी ने भी कामदेव के धनुर्धर रूप जैसे उस राजकुमार को देखकर वायु से लहराती ललित लता के समान उस लीलावती बाला ने अपनी चोटी के कमल को लेकर कान में लगा लिया। चंचल नयनों वाली उसने सचिव को नयन कान्ती कानों से लेकर दाँतों से तोड़ने लगी। तब उस खण्डित नीलकमल को बड़ी नजाकत से पैरों के नीचे फेंक दिया। वहाँ से भी उठाकर उस कन्या ने अपने वक्ष पर लगा लिया। इस प्रकार उस कामाकुल कन्या ने अपनी पीड़ा की सूचना दे दी। तब

महत्तर (महाप्रतिहार) के द्वारा बुलाने पर पीछे देखती हुई वह चली गयी (80-90)।

अपनी नेत्रकान्ति की दूती को राजकुमार के पास पहुँचाकर राजकुमार का ध्यान करती हुई वह राजकुमारी अपने महल में चली गयी। पूर्व दिशा की शशिकला के समान वह विरह में दुबली हो गयी। राजकुमार भी कामतप्त होकर नगरी में प्रवेश कर कुछ ही दिनों में छोटे-छोटे नरम पत्तों पर सोने लग गया। तब उसे बुद्धिशरीर नामक मन्त्रिपुत्र ने कहा - हे देव यह आपको कैसी परेशानी है? आप तो धैर्य के धृतिसागर हैं। वह कौन है, किसकी बेटी है, कहाँ है? हे सखे यह चिन्ता का बुखार छोड़ो। मैं सब जानता हूँ। उसने पहले ही संकेत से बता दिया कि कान में जो उत्पल लगाया वह कर्णोत्पल राजा का संकेत है। वह सामने थी। वह कर्लिंग का प्रसिद्ध संग्रामवर्धन नामक राजा है। उनका सचिव दन्तघाटक है जो सब दूर प्रसिद्ध है (91-96)।

वह सर्व विख्यात था। निश्चय ही वह उसकी पुत्री है, सखे। इसलिए उसने दंत से नीलकमल तोड़ा। उसे उसने छाती पर रखा। उससे उसके आप प्रिय हैं यह संकेत किया। इसलिए आओ। शिकार के बहाने फिर चलें। यह सुनकर उसका मित्र राजकुमार थोड़ी देर में कर्लिंग राज्य में चला गया। वहाँ वे दोनों वृद्धा के आश्रयगृह में गये। वहाँ जाकर उन दोनों ने पूछा तुम दन्तघाटक को जानती हो? उन दोनों ने एकान्त में पूछा तो उस जर्जर आकार की वृद्धा ने कहा - यह दन्तघाटक संग्रामवर्धन है जो राजा का मन्त्री है। उसकी सुन्दर नयनों वाली बेटी है जिसका नाम पद्मावती है। उसके घर की मैं सेविका हूँ। उसके कुल के बारे में सब जानती हूँ। वृद्धा की यह बात सुनकर उन दोनों ने अपना वृत्तान्त बताकर उस कन्या के संकेत देकर उस वृद्धा को दूती बना दिया। उस वृद्धा ने रनिवास में जाकर उस पद्मावती को सब कुछ बता दिया (94-104)।

यह सुनकर वह पद्मावती झूठे क्रोध से भर गयी और डाँटने लगी - अरे बिगड़ेल बूढ़ी दासी मुझ बाला का अपमान कर रही है। यह कह कर उसने कपूर भरे हाथ से उसके दोनों गालों पर चाँटे मार दिये। तब बुढ़िया मुँह लटकाकर अपने घर आकर रोते रोते सब विवरण बता दिया। उसाँस से ओठ मुरझाते हुए तब राजकुमार ने कहा - मैं बिना पुण्य का हूँ। मेरा यह प्रयास भी बेकार गया। तुम्हारा कल्याण हो। मेरे प्राण कहीं जाने को तैयार हो गये हैं। अब तो उसने मेरा मनोरथ तोड़ दिया। उसका विरह सहन नहीं होता। यह बात सुनकर मन्त्री ने राजकुमार से रहस्य बताया - धीरज रखो। मनचाहा सिद्ध हो गया। इसके गालों की दशा देख। हाथों की अंगुलियाँ कपूरवाली हैं। उसने कहा कि शुक्लपक्ष की

दस रातें शेष हैं। कृष्णपक्ष में छिपकर तुम निश्चय ही उसके पास जा सकते हो। इस प्रकार उससे आश्वासन पाकर राजकुमार प्रतीक्षा करने लगा। तब दस रातें बीतने पर इच्छानुसार कन्या के अन्तःपुर में जाकर वृद्धा फिर आ गयी। उसके हृदय पर आलते के तीन छापे देखकर एकान्त में मन्त्रीपुत्र ने उत्कण्ठित राजकुमार से कहा - हे मित्र उसके रज के तीन दिन बकाया हैं। देख उसके वक्ष पर तीन लाल अंगुलियाँ लगी हैं। यह सुनकर वह फिर उस बड़े बड़े नयनों वाली का स्मरण करते हुए उसकी तीन रात हजार गुना बड़ी लगने लगी। तब वह वृद्धा चौथे दिन जाकर फिर आकर उन दोनों से बोली - आज मैं गयी तो उसने मेरा बड़ा आदर किया। तत्काल टूटे खूँटे से मदमत्त हाथी के निकलने पर महल से रस्सी पकड़ाकर डरती हुई उसने मुझे भेद दिया। बुढ़िया की यह बात सुनकर मन्त्रीपुत्र के द्वारा भेजे जाने पर उसी रस्सी के साथ वह रात में अन्तःपुर पहुँचा। सेविकाओं ने उठाकर प्रासाद में पहुँचाया (105-119)।

मणियों से बने उस पूरे भवन में स्फटिक लगा था। रत्नों के दीपक की किरणों से पीले पीले भवन में सारे कंचुकी (रनिवास के रक्षक) सो गये थे। पाताल में नागिन के समान उसने उसे देखा। लज्जा से झुकती हुई वह अगुवाई करने आयी तो राजकुमार ने उस काँपते हुए हृदय पर हाथ रखकर सोचा कि परेशान थी और हड़बड़ी में थी। उससे कहा - मन के क्षीरसागर की भरी चाँदनी लाज से झुकी नजर तो जरा उठा, जिससे दिशाएँ नीलकमल से भर जाएँ। यह कहकर मोगरे के फूलों जैसी मुस्कुराने वाली सुन्दरी को रत्न के पात्र से सुगन्धित मधु की मदिरा पिलायी और स्वयं भी पी। हठपूर्वक कण्ठ में बाहें डालने के आनन्द से अधमूँदे नयनों वाली और नशे से लाल गाल वाली उस कन्या का उसने रस लेकर चुम्बन किया। हाथी कमलिनी पर चढ़ जाए, उसी प्रकार वह कलहंस के समूह की ध्वनि जैसी करधनी की आवाज से सुशोभित हो गयी। उनका संगम एकमेव और स्वाभाविक विलास के निशानों और बिना सिखाये कला का क्रम बन गया। इसी प्रकार हर रात वह षोडशी श्यामा छिपकर उससे मिलती रही (120-127)।

विभिन्न संभोगों से वह कुसुम की मुस्कुराहट भरी मंजरी हो गयी। तब एक बार राजकुमार बाहर स्थित मन्त्रीपुत्र को याद करने लगा। यहाँ वह अकेला कैसे रहे? प्रिय को अनमना जानकर पूछा और उसकी बात सुनकर बोली - तुमने मेरे सामने उस मित्र को क्यों नहीं प्रकट किया? वह तो पूज्य है। मेधावियों में अग्रणी है। उसने मेरे (गूढ़) संकेतों को भी समझ लिया था। उसके लिए आज मैं अनोखा मनचाहा भोजन भेजती हूँ। यह

कहकर राजकुमारी ने तत्काल उसके पास अनोखी मालाएँ, ताम्बूल, भोजनादि स्वयं बनाकर भेजे। मन्त्रीपुत्र ने वह लेकर राजकुमार से कहा - मुझे प्रकट करके तुमने बड़ी मूर्खता की है। उसने यह सब विषभरा भेजा है। प्रेमिकाएँ पति के स्नेही व्यक्ति को सहन नहीं करती। यह कहकर वह कुत्ते को दे दिया। उससे वह मर गया। यह देखकर वे दोनों क्रोध से कलुषित हो गये। इसी समय राजा कर्णोत्पल का प्रिय पुत्र भाग्य से मर गया तो राजकुमार से मित्र ने कहा - आज उस मदमत्त के पास जाकर आभूषण लेकर शरीर पर नख से तीन शिखाएँ बना देना। उसके ऐसा कहे अनुसार राजकुमार ने रात में वैसा करके अलंकार लेकर जल्दी से उसके पास आ गया। साधु वेश में वन में जाकर उसे मन्त्रीपुत्र ने कहा (128-138)।

अब यह मोतियों की लता विक्रय के स्थान पर ले जा। वह सब दूर दिखाना परन्तु किसी को देना नहीं। कोई यह पूछे कि यह किसकी है? तब तुम मेरी बता देना। यह कहकर रवाना किया तो उसने बाजार में दिखाया। राजकुमार भी उस समय छिपे वेश में बिना दिखे रहा। उस हार को देखकर राजकर्मचारियों ने पूछा - यह किसकी है? उस छिपे रूप वाले के पास आकर कहा - इन गुरुजी की है। उससे भी पूछा तो कहा - राजा स्वयं आकर मेरी बात सुनें। यह बात हुई तो तत्काल उसने राजा के पास पहुँचकर कहा - हे राजन् आपके नगर में दन्तघाटक की पुत्री छिप कर रहती है। वह दिगम्बर रात में धूमती है। यह आपका पुत्र उसने एक बार यहाँ आकर छोड़ दिया। उस क्रोध से मैंने उसके शरीर पर त्रिशूल मारा और बहुत से मोतियों का यह गहना ले लिया। वह डर कर भाग कर पिता के घर में चली गयी। उस स्त्री को मारना तो नहीं चाहिए परन्तु राज्य से उस पापिन को बाहर भगा दीजिए। कर्णोत्पल राजा यह सुनकर क्रोधाग्नि से व्याकुल हो गया। उसने नारियों द्वारा ज्ञात किया कि उसके शरीर पर त्रिशूल की ताजी मार है। पद्मावती को अपने नगर से निकाल दिया। उसका मन विचलित हो रहा था। तब वे दोनों अपने वेष में आ गये। बड़बड़ाती हुई उसने दिशाओं को रोने से भर दिया। तब मन्त्री पुत्र के साथ राजा के पुत्र ने वाराणसी जाकर उसके साथ बहुत समय तक विलास किया। उस लक्ष्मी का पिता संग्रामवर्धन भी उस लड़की की दुःखाग्नि से हृदयाघात से मर गया और प्रिया के पीछे चला गया। यह कहकर वेताल ने राजा से पूछा - बेटी के दुःख से दुःखी वे दोनों किसके पाप के लिए हैं। राजन् जानकर भी न बताने पर तेरे सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे। यह पूछने पर राजा बिना विचलित हुए बोला - राजकुमार और उसकी प्रिया कामातुर होने से दोषी

नहीं है। स्वामीभक्त बुद्धिमान मन्त्रीपुत्र भी निर्दोष है। अतः राजा कर्णोत्पल का पाप है। उसकी असावधानी है कि गुप्तचरों से उस विवरण को अन्धे के समान देखा ही नहीं। इस प्रकार राजा के मौन त्यागने पर वह वेताल अदृश्य रूप में तत्काल उस वृक्ष के ऊपर उसी प्रकार जा लटका (139-155)

दूसरा वेताल

वृक्ष पर पुनः चढ़कर उस वेताल को लेकर वह राजा चल पड़ा और कन्धे पर के वेताल ने कहा - हे राजन् सुनिये। यमुना के किनारे स्थित ब्रह्मसेन नामक अग्रहार ग्राम में अग्निस्वामी ब्राह्मणराज दानी और उत्तम वेदज्ञ था। उसकी मन्दारवती नाम की बेटी देवी जैसी थी। वह मन्दार की माला के समान कमनीय थी जो नयन भँवरों को आकर्षित कर लेती थी। वह बड़े नयनों वाली अपने रूप के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध हो गयी। उच्च कुलीन बहुत से श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने उसे मांगा। तब किसी समय तीन तेजस्वी ब्राह्मण युवक समान आकृति की शोभा से मानो आपस में गर्व से भरे हुए कन्या के पिता के पास आकर उसकी पुत्री की याचना की। आपस में वे होड़ कर रहे थे कि वह तो मेरी ही है, मेरी ही है, उनकी बातें सुनकर पिता ने इस भय से नहीं दी कि एक को भी यह दी जाएगी तो शेष दोनों मर जाएंगे (156-162)।

नेत्रों का आनन्द, सौन्दर्य का अमृत बहाने वाली उस सन्तुष्ट के देखकर वे गये और सदा के लिए वहीं ठिकाना बना लिया। तब कालान्तर में वह सुन्दरी विधाता की निर्दयता से नयन के उत्सवों के साथ मर गयी। जो चित्त को बढ़ाने वाला और जो नयनों का रसायन हो उसे निर्दय विधान कैसे सहन कर सकता। प्राण निकलने पर बाला कदली के समान गिर गयी। उसकी शोभा की चाँदनी के चन्द्र के चकोर ब्राह्मण शोक करने लगे। तब एक तो जटा रखकर भस्म लगाकर दुःखी होकर चला गया। दूसरा उसकी हड्डियाँ लेकर तीर्थ यात्रा पर चला गया। तीसरा वहीं श्मशान में उसके भस्म पर ही सोने लगा। स्त्री द्वारा आकर्षित चित्त वाले प्रेमी लोग क्या नहीं करने लगते हैं (163-168)।

पहला धरती पर घूम फिर कर भस्म लगाये रूद्रशर्मा नामक ब्राह्मण के घर पहुँचा। वहाँ पर भोजन का निमन्त्रण मिला। उस ब्राह्मण की पत्नी ने रोते बच्चे को क्रोध में आग में फेंक दिया। उसके पूरे जल जाने पर ब्राह्मण युवक ने भोज नहीं किया और बोला कि भोजन की आशा में मैं चाण्डाल के घर पहुँच गया। यह सुनकर गृहस्थ ने भी अपनी पुस्तक ली। उसमें से सिद्धमन्त्र निकालकर पुत्र को जीवित कर दिया। यह देखकर चकित वह जटाधारी रात में शीघ्र ध्यानकर उस पुस्तक से वह मन्त्र शीघ्रता से प्रिया को जीवित करने के लिए ले गया। तब वह शीघ्र ही बिना खाये पीये श्मशान पहुँचा। वहाँ

देखा कि एक तीर्थ से आ गया और एक वहीं रहता है। उन दोनों को हटाकर भस्म के ढेर पर उस मन्त्रज्ञ ने मिट्टी फेंकी जिससे वह ब्राह्मण कन्या उठ खड़ी हुई। वह सुन्दरता के ललित आकार वाली कामाग्नि की मशाल, अमृत के जहर से बुझी हुई क्षीर सागर की लहर जैसी थी। उसके मुख की प्रतिमा चन्द्र है, वह नूपुर व करधनी के झंकार वाली थी। काम के कमल जैसी चंचल नयनकमल वाली है। वे तीनों युवक विस्मय और आनन्दभरे काम से लड़ने लगे। सब हड़बड़ी में कहने लगे - यह मेरी, यह मेरी है। मेरे मन्त्र से वह तन्वी उठ खड़ी हुई। तीर्थ सेवा द्वारा मैंने प्राप्त की। मैंने इसके भस्म की रक्षा की। इस प्रकार उनमें लड़ाई होने लगी। यह कहकर वेताल ने राजा से पूछा। राजन् धर्मानुसार वह किसकी प्रिया है। सच बताओ (169-180)।

यह पूछने पर शाप के भय से काँपते हुए राजा ने कहा - मैं यह मानता हूँ कि जिसने मन्त्रों से जीवित किया वह तो उसका जनम पिता हुआ। मुझे यह भी शंका है कि जिसने तीर्थ में जो किया वह उसके पुत्र का काम है। हे वेताल उस भस्म पर सोने वाला ही धर्म से उसका पति है। यह सुनकर उस राजा के कन्धे से वह तेजी से बिन दिखे ही जाकर वह शीशम के पेड़ पर उसी प्रकार लटक गया (181-183)।

तीसरा वेताल

राजा फिर उसे शीघ्र लेकर तेजी से चल पड़ा। कन्धे पर स्थित उस वेताल ने कहा - राजन् सुनो। पाटलिपुत्र (पटना) में विक्रमकेसरी राजा हुआ। उसका वैसा ही उचित पुत्र श्री पराक्रम केसरी हुआ। संसार प्रसिद्ध उसका प्रिय क्रीडाशुक था। वह सब शास्त्रों व कलाओं में चतुर था। प्रिया के प्रसन्न करने के उपाय में दक्ष भूत, भविष्य के ज्ञान में जिसका मन दक्ष है ऐसे प्रेम कुशल शुक से राजकुमार ने पूछा कि मेरी पत्नी कौन होगी ? यह पूछने पर उस तोते ने अपने पींख और पैरों से बार-बार उस स्वर्ण पींजरे को मानो मरकत से बनाते हुए कहा - मगध के राजा चन्द्रावलोक की पुत्री चन्द्रप्रभा नाम की है, वही आपकी पत्नी बनेगी। यह सुनकर राजकुमार काम के वशीभूत हो गया (184-190)।

काम संकल्प में बसता है यह जनता में फैली बात सच है। उस मगधपुत्री की सेविका मैना नामक थी। वह भी गुणों में उस तोते के समान दक्ष थी। उसने भी राजकुमारी को राजकुमार के बारे में बातचीत में बताया। यह सुनते ही राजकुमारी भी काम से तपने लगी। समय पर मगधराज से माँगने पर वह बेटी उस राजकुमार को दे दी। और उसमें बहुत महंगा विवाहोत्सव किया गया। वह राजकुमारी के साथ ऐसा सुशोभित हुआ मानो रोहिणी के साथ चन्द्र हो (191-194)। मनोहर केसर की उद्यान भूमि में विहार करते रहे। तब एक पिंजरे में मैना के साथ तोता था। मैना से बोला - हे प्रिये मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ।

मेरे पास आओ। सारिका ने कहा - पुरुष कृतघ्न और क्रूर कर्म करते रहते हैं। इसलिए मुझे तेरे साथ प्रेम करना अच्छा नहीं लगता। सारिका की यह बात सुनकर तोते ने कहा - नारियाँ तो बिलकुल पाप का घर होती हैं। वे उल्टी ही बोलती हैं। यह विवाद हो जाने पर वे राजकुमार के पास आकर पूछने लगे। स्त्री पुरुष में अन्तर की हमने शर्त रखी है। उन दोनों के पूछने पर मुस्कराता राजकुमार बोला - स्त्री-पुरुष के दोष सुनने के बाद न्याय करूंगा। उसकी यह बात सुनकर पहले श्याम शरीर की चम्पे की कली जैसी चोंच की केले के तने को धारण करती सारिका ने कहा - अवन्ती वासी अर्थदत्त से सहमत कुबेर के समान सम्पन्न धनदत्त नामक बनिया था। कालान्तर में पिता के देवलोक सिधारने पर वह दुर्जनों की संगति में पड़ गया और बचपन में ही बिगड़ गया। उसके बुरे कामों को भी वे सदा अच्छा ही बताते थे। ऐसे मित्रों ने उसे स्त्री, जुआ, पीने आदि द्वारा बरबाद कर दिया। जब निर्धन हो गया तो वह अकेला ही दिशा में चला गया। वे धूर्त भोग के भँवरे मूरख त्याग देते हैं। धरती पर घूम फिर कर वह बेसहारा चन्दनपुर जा पहुँचा। मानो संताप से दुःखी जंगली जानवर चन्दनवन में पहुँच गया हो। वहाँ उससे परिचय करके निपूते श्रेष्ठ धनी बनिये ने उसे अपनी बेटी रत्नावती दे दी। उसने उसकी सादर सेवा की। वहाँ वह बहुत समय तक उस लड़की के साथ रहा (195-207)।

फिर ससुर से कहा कि मैं अपने देश माता के पास जाता हूँ। यह सुनकर उसने बहुत मना करने पर भी वधू का मित्र यह कहकर धन लेकर चला गया कि मैं शीघ्र ही आ जाऊँगा। वह धीरे-धीरे वधू व दासियों के साथ जा रहा था तब निर्जनवन में पहुँचकर एक गुफा या दर्रे के पास सोचने लगा। उसके आभूषण लेकर कण्ड्या (बाँस पिटारी) फेंककर रस्सी से लड़की को दासी सहित बाँधकर गड़ढे में डालकर चला गया। कृतघ्नों के हृदय में करुणा कहाँ? वह लड़की भी लता के जाले में गिरने से मरी नहीं। पर दासी मर गयी। सृष्टि के अलग अलग कर्म हैं। उसका करुण रुदन सुनकर पथिकों ने उसे निकाला। नागरिकों ने पहचान कर पिता के पास पहुँचा दी। दुःख से काँपती उससे पिता ने पूछा तो उसने बताया - डाकुओं ने मेरे आभूषणों सहित मेरे पति का हरण कर लिया। यह सुनकर आश्वासन दिया और दूसरे आभूषण दे दिये। मधुर आशा से उसी पति का ध्यान करती वह। वह ठग भी सब गहने खा पी कर फिर बेधड़क ससुराल आ गया। निश्चय ही उसकी बेटी मर गयी और उन्हें मालूम नहीं। उसके लिए धन माँगता हूँ - यह सोचकर उसने घर में प्रवेश करते ही अपनी उस पत्नी को देखकर डर से काँप उठा। हाय मारा गया - यह कहता हुआ वह ऐसा हो गया मानो वह पत्थर से मारा गया हो। बेटी ने भी उसे देखते ही सहसा उसके पास जाकर कान में कह दिया- पिता को यह नहीं मालूम जो तुमने किया। डरो मत, बेफिक्र रहो। इस प्रकार उसने एकान्त में ढाढस बँधाया। फिर ससुराल के घर में उसकी खातिर हुई। बहुत समय तक रहा। तब एक बार जुए की लत में उस धन के लालची ने लड़की को विश्वास में ले लिया। वह देव से अन्य सुन्दरी लग रही

थी। रात में उसे मारकर उसके गहने लेकर भाग गया। इस प्रकार पुरुष पापी और निर्दय होते हैं। ऐसे दुष्ट भुजंगों पर कौन विश्वास करें? (208-223)

पुरुष के दोष की कहानी सम्पूर्ण। 3

सारिका की यह बात सुनकर राजकुमार चकित रह गया। तब बुद्धिमानों में अग्रणी तोते से मुस्कराते हुए पूछा - लाल मणि की कान्ति सी चोंच और मरकत की कान्ति वाले रत्नपर्वत के कुंज की झंकार के समान क्रीड़ाशुक बोला। राजा धर्म की हर्षवती नाम की नगरी में कुबेर के समान धनी धनदत्त नामक वणिक था। अपनी वसुमती नाम की बेटी धन के कामदेव को दे दी। यौवन तरु की मंजरी अपनी सुन्दर प्रिय पुत्री ताम्रलिप्ति निवासी समुद्रदत्त को देकर उसे निपुते सेठ ने पुत्र मानकर घर से नहीं छोड़ा। एक बार ऊँचे झरोखे में बैठी उस चन्द्रमुखी ने मार्ग से जाते एक बढिया स्नान किये ब्राह्मण युवक को देखा। उसे देखते ही काम की वायु से नदी के समान व्याकुल हो गयी। अपने कुल के तट को गिराने का आरम्भ करते हुए सखी से कहा। हे सखी यह पूर्णचन्द्र जैसे मुख वाला ब्राह्मण लगता है। यह भुंजग है जिससे मेरे शरीर में (काम का) विष व्याप्त हो गया है (224-231)।

मेरा यह यौवन व्यर्थ है। मेरा यह वय यों ही बीत रहा है कि जल्दी से इसके छाती पर सघन आलिंगन की न्यूनता लग रही है। काम से आहत उसके यह कहने पर वह उसे एकान्त में ले आयी और रमने लगे। रागवती के मन को कौन रोक सकता है। बहुत समय तक उस बिलासी के साथ रमने पर उसका पति कुमार शीघ्र ही उत्सुकता से वहाँ आ गया। ससुर ने सत्कार किया। रात में सफेद माला धारण कर मधुवन से लाल आँखों वाला वह सोने के कमरे में गया (232-235)।

अन्य में आसक्त वह लड़की भी उसे पाकर शीत से परेशान के समान दुःखी हो गयी। भुजा, जाँघों के स्वस्तिक स्तन व नितम्ब पर बनाकर उसाँस लेती हुई मुँह पलटाकर स्पर्श में संकोच करती सो गयी। वह युवक भोलेपन में उस चुप (छिनाल) को पटाने लगा। अन्यत्र प्रेम होने से गर्विली सदा क्रोध में रही। कायर और मूर्खों को स्त्रियाँ अधिक प्रिय लगती हैं। इस प्रकार पति के पास वह छरहरी दुःख से व्याकुल होती रही। पिता के भय से काँपती हुई उसे कड़वी दवा के समान उस पति की सेवा करती रही, आकाश में किसी तरह क्रोध से सिर काँपाती रही। इसी बीच सूने बगीचे में अपने आने का समाचार उस ब्राह्मण को देकर वह प्रेमिका सो गयी (236-240)।

नशे में पति को काठ के समान अचल सोया देखकर उठकर तेजी से चलती वह उद्यान में जाने लगी। तभी उस घर में एक चोर आया जिसने उसे जाते हुए देखा कि सब गहनों से स्वयं को अलंकृत करती हुई पति के पास से जा रही है। चुपचाप वह भी पीछे चला। वह सूने बगीचे में पहुँची व देखा कि उस ब्राह्मण को चोर समझकर किन्हीं लोगों ने लटका दिया। उसे देखकर अचानक बीमार सी रोती हुई वह गिर पड़ी। हे प्रिय भय के

अमृत, प्रीति के अमृत के किरण, मेरे सर्वस्व प्रिय तुम कहाँ हो ? मेरे कानों में अमृतवाणी दो। यह कहकर फन्दा छोड़कर उस शव के गले लग गयी। और उसके सिर पर फूल लगाकर उसके मुख को चूमा। काँपते हाथों व अधरों का पान लिया। तब तत्काल वेताल ने (उस शरीर में) प्रवेश कर उसकी सुन्दर नाक को दाँतों से काट लिया। मानो सती की शिक्षा दे रहा हो। कटी नाक की वह धीरे से पति के बिछोने पर जाकर दुःखी चिल्लाई - हाय मारी गयी, इस पापी ने मुझे मार डाला। हड़बड़ा कर वह अचानक जागा और पूछने लगा - यह क्या है ? ससुर ने आकर सुना तो उसने भला बुरा कहा। बेटी की कटी नाक देखकर वह क्रोध से प्रातः राजसभा में ले गया और राजा को दिखाया। युवक ने कहा - मैंने इसका कुछ भी नहीं किया। सभासद क्रोध से मुँह फेरकर बोले - कैसा धृष्ट है ? तब राजा की आज्ञा से तत्काल वह बन्दी बना लिया गया। तब वह चोर वहाँ आया। राजा ने उसे अभयदान दिया तो उसने रात की बात बता दी। विश्वास के लिए उस शव के दाँत में लगी नाक दिखा दी। तब राजा ने उस लड़की को ही तत्काल पकड़कर कान काट दिये। सदा जागने वाले उस चोर को नगर में दण्डपाल बना दिया। इस प्रकार स्त्रियाँ पाप और बैर का घर होती हैं। अपशु (मानव) प्रेम पाश के वश में कौन पड़े (241-255)?

राजकुमार के सामने यह कहकर वह तोता अपनी योनि को याद करने लगा कि वह चित्रसेन नामक गन्धर्व है और मेना तिलोत्तमा है। यह कहकर वेताल ने राजा से फिर पूछा - बताइए पाप का घर नारी है या पुरुष ? यह सुनकर राजा ने कहा - पापी आदमी बिरले ही होते हैं। परन्तु विधाता ने नारियाँ तो बड़े यत्न से पाप-दोषों से ही बनायी हैं। यह सुनते ही वेताल अचानक गायब हो गया। राजा ने चित्त की मशाल से फिर से वृक्ष पर स्थित उसे देखा (256-259)।

चौथा वेताल

जोर से अट्टहास करते उस वेताल को निडर राजा कन्धे पर लेकर चल पड़ा। वह भी बोला - हे राजन् तुम्हारे हृदय में यह कैसा मोह बढ़ा हुआ है ? तुम्हें तो यह पृथ्वी प्राप्त है। फिर उस दुष्ट श्रमण के सम्पर्क का मार्ग दूर का है। अब मनो विनोद के लिए यह कथा सुन। मनचाही बातें मार्ग का अनायास पाथेय है (260-262)।

शोभावती नाम की नगरी है जो धन का खजाना है। पृथ्वी की अलंकार माला के समान प्रचुर रत्न से सुशोभित है। उसमें शूद्रक नामक यशस्वी राजा है। उसकी वीरता की बातों के सामने परशुराम आदि की कहानियाँ पतली लगती हैं। उसके प्रताप की आग की खड़गलता के धुँए से शत्रुनारियाँ आँसू बहाती रहती हैं। जिसके कपूर जैसे भूरे प्रचुर रत्नों के कड़े वाली भुजा पर समस्त सम्पूर्णता से धरती स्थित है। चारों गुणों की रस्सी के पास जिसका मन प्रचुर सत्य का मित्र है। जिसका ऐश्वर्य अपार और विक्रम अद्वितीय है। उसकी पत्नी सोमप्रभा नामक थी। लावण्य के अमृत से सम्पन्न थी जिसने चित्त में स्थान

बना लिया था। वह एक समय राजसभा में दूसरे इन्द्र के समान बैठा था। तब प्रतीहार ने सिर तक हाथ जोड़ते हुए बताया - हे देव हाथ में तलवार लिये एक वीरवर जो मालवीय और महाबली है वह सेवा के लिए मिलना चाहता है। राजा की भोंहों का इशारा पाकर उसने वीरवर को राजा रूपी सिंह की गुफा के समान सभा में प्रवेश करवाया (263-271)।

क्षीरसागर की लहरों से लगा मन्दर पर्वत विश्राम करता हो - ऐसे श्वेत वस्त्र धारण किये राजा को उसने प्रवेश करके देखा। जयश्री के अट्टहास के समान सफेद पगड़ी धारण किये उसे देखा मानो आकाश में यश सरलता से घुमावदार होकर बँट रहा हो। सिर की नीलमणि की कान्ति कड़ों से सरकती हुई चंचल अलकों की कान्ति से गाल का क्षेत्र सुशोभित हो रहा है। और रणलीला से प्रकट रोमांच ने मानो न छोड़ा हो। स्वर्ण सिंहासन पर वह बैठा राजा तारों जैसे हार से सुशोभित था मानो मेरु पर स्थित सूर्य चन्द्र मण्डल से घिरा दिखाई देता हो (272-276)। इन्द्रनील नामक सर्वथा काली शिला पर अपने चरणकमल रखे हैं। मानो अच्युत श्रीकृष्ण ने भीषण कालीया नाग के सिर पर पैर रखा हो। उन्हें देखकर सूचना देकर वह प्रणाम करके बोला - हे विभो खड्ग लेकर आपकी सेवा करने की मेरी इच्छा है। प्रतिदिन मुझे पाँच सौ रुपये दीजिए। पुत्र, पुत्री और पत्नी-बस यही मेरा परिवार है। उसकी यह बात सुनकर राजा ने उसे वह धन दे दिया। इतने धन का वह क्या करता है यह गुप्तचरों से उसने पूरी बात सुनी कि दो सौ रुपये से वह स्नान करके विष्णु और शिवजी की पूजा करता है, दो सौ रुपये वह ब्राह्मणों और गरीबों को देता है तथा शेष समस्त एक सौ रुपयों से घर का खर्च चलाता है। यह सब करके राजद्वार पर रातदिन बिना सोये बैठा रहता है। गुप्तचरों से यह सुनकर राजा चकित हो गया। यह सच है कि एक मणि का मूल्य भी पृथ्वी के मूल्य के बराबर होता है (277-283)।

तब किसी समय मानो गम्भीर धन से जकड़े विकट यमराज के भैंसे के समान काले बरसात के दिन आने पर जिसमें बगुलों के समूह की मुस्कान जैसे कपाल खण्ड से भरे विद्युत की चिताग्निके समान चंचल भीषण श्मशान में आपस में मेघ रूप पिशाचों की टकराहट की गर्जनों से गिरती जलधाराओं में दाँतों की पंक्तियों में लगातार ओस की बूँदों के जाल में टूटी दिशाओं में टकराती सी दिशाओं में लोगों का आवागमन बन्द होने पर मानो प्रलय आ गया हो। तब रात में राजा धवल भवन की सबसे ऊपर की मंजिल पर बैठा था। सिंहद्वार पर स्थित उसे जोर से पुकारा - कौन है यह ? तब वह वीरवर बोला - देव मैं खड़ा हूँ। क्या करना है? आधी रात में फिर पूछा तब भी बिना परेशानी के उसने यही कहा (284-289)।

तब राजा ने रोने की तीखी आवाज सुनी। मानो बादल रूपी राक्षस के कब्जे में चन्द्रमा होने पर रात रो रही हो। हे नाथ कमला की क्रीड़ा के कमल जैसी बड़ी आँख वाले

(विष्णु), हाथ भीषण भुजाओं से शत्रुओं के शत्रु समूह नष्ट करने वाले, हाथ दिशा रूपी कामिनी के कानों में कपूर भरने वाले श्रेष्ठ यश वाले - इत्यादि सुनकर राजा ने कहा - यहाँ कौन है ? तब वीरवर ने दूर से कहा - मैं खड़ा हूँ। तब राजा ने दयापूर्वक आदेश दिया कि कौन रो रहा है ? मूसलाधार वर्षा में उसे खोजने उसके जाने पर तलवार लेकर स्वयं राजा भी छिपकर पीछे-पीछे चला गया। उसके विस्तृत अग्नि के घेरे के समान किरणें थीं। मानो चन्द्र के सन्देश में नक्षत्रमाला मुख चूम रही हो। राजा के गले में हार के आकार की जलधारा बन रही थी। तलवार पर भी जल बूँदें ऐसी लग रही थीं मानो हाथी को खड्ग से काटने पर मोतियों की कान्ति पा रही हो। वह वीरवर चिल्लाहट का पीछा करते हुए स्त्री तक पहुँचा। उसे मधुर बात करने वाली मानकर शोक का कारण पूछा। उसे बिना दिखे वह कमल तालाब में बैठी अदृश्य ही उससे बोली। मानो वाणी से कलहंस के समूह को मधुरता दिखा रही हो। मैं राजा शूद्रक की पटरानी, देवी हूँ और तीसरे दिन उन देव की आयुपूर्ण हो जाएगी। इसलिए रो रही हूँ मैं उस राजा की भुजाओं का आसरा चिर काल तक नहीं पा सकी। वराह की दाढ़ के पलंगवाली विलास भोग स्थिति को देर तक नहीं पा सकी (290-300)।

यह सुनकर वीरवर ने हाथ जोड़कर उससे कहा - हे देवी राजा की रक्षा का कोई उपाय हो तो कहिये। यह पूछने पर पृथ्वी ने उससे कहा - है, यदि कर सकते हो। यदि चण्डिका को शक्तिवर नामक अपना पुत्र दे दो। और स्वयं अपनी तलवार से दो तो राजा जीवित रह सकता है। यह सुनकर वह वीरवर रात में अपने घर गया। चकित होता हुआ राजा भी यह उसके पीछे चुपचाप गया। घर में पत्नी और श्रेष्ठ शक्तिवर को जगाकर पृथ्वी की कही सारी बात निश्चयपूर्वक कही। यह सुनकर बालक ने कहा - स्वामी की रक्षा से मैं धन्य हूँ। स्वामी के सेवकों के लिए निधन भी उत्सव है। सेवकों द्वारा स्वयं अपने शरीर का मूल्य से विक्रय कर दिया जाता है। ऐसा कहने वाले पुत्र को शक्तिवर कन्धे पर लेकर अपनी पुत्री और पत्नी के साथ चण्डी के मन्दिर गया (301-307)। वहाँ दीपक की किरणों जैसी पीली पीली योगिनियाँ विचरण कर रही थीं। राजा का कल्याण हो- यह कहकर पुत्र का मस्तक काट दिया तो आकाश से चण्डिका ने उस चतुर को यह बात कही - मैं संतुष्ट हूँ और राजा को सौ वर्ष की आयु पुनः प्राप्त हो गयी। यह सब राजा ने छिपकर सुना और सोचने लगा। आश्चर्य है उसका असीम धीरज, ब्राह्मण का अनोखा साहस - यह राजा सोच ही रहा था कि भाई को मृत देखकर वीर बड़ी बहिन उसी समय मर गयी। जब चिता बनाई तो दुःख सहन न करती हुई उस वीरवर पत्नी ने भी प्राण त्याग दिये। तब मैं कृतार्थ हूँ यह कहकर वह वीरवर प्रसन्न हुआ और दुर्गा को स्वयं का उपहार देने को तैयार हो गया (309-313)।

जय देवि जगत् के जन्म, जरा, मरण की कारण, उत्तेजित दैत्यराज का हृदय कमल चीरने वाली, जय हो, पाताल की गुफा के आकार के समान मुँह खोलने वाली,

तीव्र ध्वनि से चमकते ब्रह्माण्ड के भय में दीक्षित जय हो, जय हो। ताण्डव होते उदण्ड प्रचण्ड वायु में भी अचल, डोलती कंकाल माला से उग्र लहराते सर्प के कुण्डल वाली, जय दानव द्वारा अपहृत कमल माला रूप रक्त बहाने वाली, असमय संध्या सी मदमत्त भूत वेताल की माला वाली जय हो, म्यान से निकली तलवार की किरण से दिशाएँ श्यामल करने वाली जय हो, महिषासुर की खींची खाल से पूरी तरह ढकी हुई जय हो। इस प्रकार भगवती देवी की स्तुति करके तलवार से अपना सिर काटकर देवी को समर्पित करके वह सत्त्व का सागर धरती पर गिर पड़ा। राजा वह सब उसकी ऊर्जा गिनकर विस्मय भरे उत्साह से रोमांचित हो गया। ऐसे सेवक के बिना लक्ष्मी और जीवन से क्या मतलब ? यह सोचकर वह भी अपना सिर काटने को तैयार हो गया हे देवी मेरे जीवन से यह वीरवर पुत्र (परिवार) सहित जीवित हो जाए। यह शूद्रक ने कहा। जैसे ही तलवार की धार से उसका मस्तक लगा देवी प्रत्यक्ष बोली - हे पुत्र साहस मत कर। हे राजन् तुम्हारे इस साहस से शीघ्र ही यह वीरवर ब्राह्मण पुत्र, पुत्री, पत्नी सहित मेरे वरदान से उठ खड़े हों। इस प्रकार चण्डी की वाणी होते ही वे सब अचानक उठ खड़े हुए। तब राजा छिपा हुआ ही पल भर में अपने निवास में चला गया (314-325)।

तब वीरवर चकित होकर अपने घर बच्चे, पत्नी, लेकर गया। फिर राजद्वार पर आया। राजा ने हर्षपूर्वक विवरण बताकर उसे फिर पूछा - मानो वह पूरी घटना से अनभिज्ञ हो। तब वीरवर ने कहा - हे देव मैं वीरवर हूँ यहाँ। वह स्त्री मुझे दिखाई नहीं दी। निश्चय ही राक्षसी माया से रात में रो रही थी। इस प्रकार वीरवर की वही बात सुनकर राजा ने उसके धीरज की प्रशंसा थी। तब प्रभात में राजा सभा में आया और मन्त्रियों को रात का विवरण बताकर दृढ़तापूर्वक वीरवर को तत्काल सागर सहित लाटराज्य सागर पर्यन्त, नर्मदातट सहित, गौड़ (बंगाल) सहित दक्षिणा पथ उस शक्तिवर को दे दिया और उसके उपकार का शतांश ही लौटाना माना (326-332)।

यह कहकर वेताल ने राजा से फिर पूछा - हे साहसी राजन् बता उनमें कौन बढ़कर था। यह सुनकर राजा ने कहा - क्या कहा जाए ? सब वीर हैं परन्तु वीरव्रत की यह धैर्यलक्ष्मी कुलव्रत है। यह ऐसा सेवक है इसमें अचरज नहीं कि सेवा प्राण देकर भी करता है। उसके समान ही उसका ऐसा पुत्र है। इसमें भी आश्चर्य नहीं। स्वर्ण पर्वत के शिखर से काँच का टुकड़ा नहीं उत्पन्न होता। इसमें भी क्या आश्चर्य है कि उसके कुल के अनुरूप उसकी पत्नी भी साहसिन है। कल्पवृक्ष के बिना स्वर्ण की लता सहारा नहीं लेती। इसमें सत्वशालियों में शिखर श्रीमान् अकेला राजा है जिसने जीवन बेच देने वाले सेवक का बदला प्राण देकर चुकाया। यह सुनकर वेताल गायब होकर शीशम के वृक्ष पर चला गया और उसी प्रकार नीचे मुख किये व बिना साँस लटक गया (333-338)।¹

1. एक मालवी लोककथा में यह कहानी प्राप्त होती है। उसमें राजा शूद्रक के स्थान पर विक्रमादित्य है। जनपदीय लोककथाएँ, आदिवासी लोककला अकादेमी, भोपाल, 2010

पाँचवाँ वेताल

महत्त्वपूर्ण और प्रचुर लक्ष्य वाला वह राजा तब उसे लेकर फिर ले चला। वह वेताल तब कन्धे पर पड़ा बोला - हे राजन् एक विचित्र कथा सुनो। अंग राज्य में विष्णुस्वामी नामक एक बहुत धनी ब्राह्मण हुआ। उसके पुत्र युवक और सुखी थे। किसी समय यज्ञकर्ता विप्र ने उन्हें महासागर के पास भेजा। आदेश का पालन करते हुए यज्ञ के लिए कूर्म लाने के लिए समुद्र तक पहुँचकर उन्होंने विशाल आकार का कूर्म (कछुआ) भाँड़ा दिखने से घृणा से नहीं लिया क्योंकि उसके अंग चिपचिपे थे (339-342)।

कछुआ मिल जाने पर भी उसके आकार के कारण नहीं लिया। दीक्षा भंग होने से हमारे पिता की निश्चय ही अधोगति होगी। तू ले, मैं असमर्थ हूँ, तुम सक्षम हो, मैं नहीं हूँ। इस प्रकार उनकी बहुत देर तक बहस होती रही। मैं तो इस घृणास्पद काम में नारी चंग हूँ। भैया मैं तो भोजन चंग हूँ। शय्या चंग से भी मैं अधिक हूँ। इस प्रकार वे आपस में झगड़ते हुए विटक नगर के स्वामी प्रसेनजित के पास पहुँचकर अपनी महत्ता पूछने लगे। आज आराम करें। प्रातः उत्तर ढूँगा राजा के इस आदेश पर वे ब्राह्मण वहीं ठहर गये। तब उनमें से एक नये कपूर सा सुगन्धित चावल का भोजन करने लगा। उसने बिन मुरझाया विकूणित स्वीकार नहीं किया। जो श्मशान के निकट के खेत उगाये धान के चावल थे। राजा चकित होकर कहने लगा - सचमुच यह भोजन में उत्तम है। तब नारी चंग को कमलनयना दासी दे दी जो माला वाली होने से उसकी गन्ध से बुलाये गये भौरों से परेशान थी। उसकी शय्या की निकटता पाकर हँसी मजाक कर रही थी। नारी चंग भी उठ कर हाथ से नाक पकड़ने लगा। उसे उल्टी आने लगी और अचानक बाहर चला गया। मरे बकरे की गन्ध वाली है यह दूषित नारी। इस प्रकार चिल्लाते सुनकर राजा उससे मिला। राजा के पूछने पर कहा कि बिना माँ की यह लड़की बकरी के दूध से पाली पोसी गयी। तो दासी ने लाज से सिर झुका लिया। यह तो निश्चय ही स्त्रीचंग है - राजा ने यह कहकर शय्याचंग को ऐसी शय्या दी जिसमें रुई की सात सतहें थीं। बाल से उसके शरीर पर लाल लाल गोल निशान पड़ गये। उसाँस लेते हुए उसे परेशान देखकर वह राजा चकित होकर बोला - सचमुच यह शयनचंग है (343-357)।

तब राजा ने उन्हें पर्याप्त धन दिया। तब वे ब्राह्मण लड़के वहीं भोगविलास करते हुए रहने लगे। उनका पिता यज्ञभंग होने से खाना पीना त्याग कर उपवास करता हुआ पत्नी सहित स्वर्ग सिंधार गया। क्योंकि वह जप यज्ञ से पवित्र था। यह कहकर वेताल ने मानो माया से मोहित करते हुए पूछा - हे राजन् माता-पिता की हत्या उनमें से किसे लगी ? राजा इनमें कौन अधिक दक्ष है ? तब राजा ने कहा - उन सबमें शय्याचंग सर्वाधिक कोमल है जिसके शरीर पर बाल का निशान हो गया। बाकी दोनों उससे कम कोमल हैं। सो वे ही माता-पिता के पाप के भागी हैं। इस प्रकार मौन त्यागने से वह वेताल पुनः अदृश्य हो गया और उसी प्रकार पेड़ पर लटक गया (358-363)।

छठा वेताल

फिर उसे लेकर राजा बिना थके चल पड़ा और वह कन्धे पर पड़ा वेताल बोला - हे राजन् यह कथा सुनो। धर्म की भूमि, लक्ष्मी का क्षेत्र, स्थिति का स्थान, संपदाओं का घर स्वर्ग को जीतने वाली नगरी उज्जयिनी है। उसमें राजा पुण्यसेन का एक विख्यात बुद्धिमान हरिस्वामी नामक ब्राह्मण सेवक था। उसका पुत्र देवस्वामी वेद में पारंगत हुआ। उसकी बेटी सोमप्रभा कामदेव की कान्ति की प्रतिमा थी मानो। उसने माता-पिता को बताया कि मुझे आप या तो ज्ञानी को, या विज्ञानी को या वीर को प्रदान करें। इसी बीच दक्षिण का राजा जीतने को आया तो राज पुण्यसेन ने मंत्रियों के साथ सोचा कि बहुत महाधनी पर अमात्य बड़े रीझे हुए हैं। वह वीर भी है। इसलिए इसके पास एक बुद्धिमान दूत भेजो (364-370)। मन्त्री की इस बात के अनुसार वर्चस्वशाली राजा ने वह गुणी हरिस्वामी ब्राह्मण उसकी छावनी में भेजा। वहाँ राजा सन्धि करके थोड़ी देर ठहर गया। वहाँ किसी सुन्दर ब्राह्मण ने उसके पास जाकर उसकी बेटी का हाथ माँगा। हे मित्र मुझे ज्ञानी, विज्ञानी तथा वीर के सिवाय अन्य से अपनी बेटी का विवाह नहीं करना है। यह मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा है। तब युवा ब्राह्मण ने अपना विज्ञान दिखाया जिससे हरिस्वामी ने पलभर में तीनों लोक देख लिये। वह चकित हुआ और प्रसन्न होकर उसने अपनी कन्या का वाग्दान कर दिया और बता दिया कि शुभ सातवें दिन विवाह तय है (371-375)।

इसी बीच दूसरे ब्राह्मण वीर, बुद्धिमान, परिश्रमी ने देवस्वामी के पास आकर उसकी बहिन माँग ली। जब उससे कहा गया कि ज्ञानी, विज्ञानी और वीरों में से कोई एक उसे पा सकता है। तो उसकी बात सुनकर उसने अपनी धनुर्विधा दिखाई। अनेक मल्लों द्वारा चलाने योग्य उसके चढ़े धनुष को देखकर देवस्वामी ने उसे अपनी बहन देने का वचन दे दिया। माता ने भी किसी ज्ञानी ब्राह्मण को अपनी पुत्री देने का वचन दे दिया। क्योंकि वह उसके प्रभाव से चकित थी। सातवें दिन उनके लग्न आने पर गृहस्वामी ने चमकदार आभूषण वाली अपनी बेटी को देखा। उत्सव के दिन ज्ञानी, विज्ञानी और वीर एक साथ आ पहुँचे। परन्तु खोजने पर भी कन्या नहीं दिखाई दी (376-389)। तब दुःखी होकर रोते हुए उस पिता ने कहा - बता ज्ञानी वह तेरे पास आयी थी, वह कहाँ गयी। यह पूछने पर उसने बताया कि आज धूम्राक्ष राक्षस रूप पर मोहित होकर यहाँ से घोर विन्ध्य वन में ले गया। विज्ञानी के बनाये उत्तम रथ पर बैठकर वीर उस राक्षस को मारकर उस कन्या को ले आया। लग्न समय आने पर थके मन के उस पिता ने सोचा कि सबने बराबर का उपकार किया है। यह कहकर वेताल ने राजा से पूछा - हे स्वामी बताइए- उनमें कौन कन्या पाने का पात्र है ? पूछने पर राजा ने कहा - पात्र वह है जो उस कन्या को जीतकर लाया। बाकी दो तो उस लक्ष्यसिद्धि के कारण थे। यह सुनकर वह वेताल शीघ्र ही अदृश्य हो गया और उस पेड़ पर उसी प्रकार जा लटका (382-388)।

सातवाँ वेताल

तब निडर राजा पुनः उसे लेकर चल पड़ा। तब कन्धे पर के उस वेताल ने कहा - राजन् सुनो। शोभावती नगरी में श्रीमान् यज्ञकेतु राजा था। गौरी (पार्वती) की शक्ति में लीन था। उसने तीर्थयात्रा का महोत्सव किया। गौरीसर (गौरी तालाब) में दिशा दिशा से लोग आये। अपने नूपुर से सारस को बुलाने वाली कमलनयना विचरण कर रही थी। मुखकमलों से, भुजाओं के मृणाल के वनों से, उनमें पृथ्वी की तरंगों के जल से तालाब की पुनरावृत्ति हो रही थी। श्रेष्ठ नारियों के स्तनों पर नख के निशान लगे, स्वच्छ फेनों की कतार पानी ने प्रेम से वस्त्रों से बाँध दिये हों मानो, स्नान से धुले काजल के कारण श्वेत उनकी दृष्टि शोभित हो रही थी। कालकूट निकल जाने से दिशाएँ अमृत छटा से भर गयीं। स्नान से उठी जलधारा का हरण करने वाले स्तनों से वे स्नान से उठी व दिखाई दीं। आगे बिस (कमलतन्तु) सूत्र मुँह में लिये चकवों से अंकित के समान वे स्नान से उठी लगती थीं (389-395)।

वहाँ धवल नामक धोबी नहाने आया। उस युवक ने धवन कन्या मनसुन्दरी को देखा। स्नान करके भुजलता चंचलता से झटकारे तो लगा मानो उसकी सुन्दरता के जल से आकाश धो दिया हो। कटाक्ष की मछलियों का फटकना हड़बड़ाती तरंग हों। धोबियों के घर में मानो साकार मूर्त नदी उत्पन्न हो गयी हो। फिर मुसकान की कान्ति के बहाने जिसने यात्रा के उत्सव में लोगों को मानो धुली धुलाई श्वेत-पीले वसनों को दे दिये हों। पुष्ट स्तनों वाली उस चन्द्र बिम्ब जैसे मुख वाली को देखकर रजक अपने घर जाकर काम से तपने लगा (396-400)।

पिता को सब विवरण ज्ञाता हुआ और उसकी कामव्यथा को देखकर शूद्रपट नामक धोबी के पास जाकर उसकी कन्या की माँग की। तब पिता ने सादर अपनी मदनसुन्दरी नामक पुत्री दे दी। धवल ने उसे पाकर जीवन पा लिया और खूब उत्सव किया उसने। दी गयी बेटी पति के घर बहुत समय तक रह ली तो उसे लिवा लाने को शुद्धपट ने अपने पुत्र को भेज दिया (401-403)। भाई के निमन्त्रण पर वह पति के साथ जब आ रही थी तब मार्ग में गौरी के आश्रम पहुँचकर वहाँ के तालाब के किनारे वह बैठ गयी। तब धवल भगवती के दर्शन के लिए मन्दिर में गया। तब दैव से प्रेरित होकर उसने अपना सिर देवी को चढ़ा दिया। उस बहनोई को खोजने भाई भीतर गया। और सामने उसे मरा देखकर व्यथित होकर उसी प्रकार अपना सिर भी काट डाला। तब अकेली वह धोबन देवी के दर्शन को गयी। वहाँ उन्हें पड़ा देखकर मरने को तैयार हो गयी। उसने अशोक वृक्ष के एक ओर फन्दा तैयार किया। उन दोनों के दुःख में वह फूलों की शोभा वाली जल रही थी। फिर छाती पर हाथ जोड़े आँसू टपकाती लता के समान फूलों पर डोलते भँवरों के समान वह स्तुति करने लगी। शिवजी के कण्ठ के समान नीलकमल की

नूतन भ्रमर माला है, हे दैत्य संहार करने वाली रात्रि, हे देवी आपकी कृपा दृष्टि की जय हो। त्रिलोचन शिवजी के मन-सागर को हर्ष की लहर से विलास करने वाली, शिवजी के कुमुद की चाँदनी गौरी आपकी शोभा की जय हो। जम्हाई लेते वाहन सिंह की दाड़ों की किरण समूह जैसे मुस्कुराहट या खिलते दोनों चरणकमल वाली हे अम्बिके आपकी जय हो। यह सुनकर पार्वती सन्तुष्ट हुई और आदेश दिया कि तत्काल जीवन के लिए उन दोनों (शवों) के सिर जोड़ दो। क्योंकि भक्ति तो (मनचाहा देने वाली) कल्पलता के समान है (404-413)। व्याकुल हड़बड़ी में सिर जोड़ने में भाग्य से शरीर बदल गये उन दोनों के। भाई को पति का मुँह और पति के शरीर को भाई का सिर लगा दिया। तब वे उठ खड़े हुए। यह देखकर उसे शंका हुई। वेताल ने यह कहकर राजा से पूछा - वह सुलोचना बाला उन दोनों में से किसे पति के रूप में सेवन करें। यह सुनकर राजा बोला - उसका वही पति है? जिसका मुख पति का है। क्योंकि पूरे शरीर में सब इन्द्रियों का आधार मुख है। इस प्रकार राजा के मौन त्यागने से क्षण में अदृश्य हो गया वेताल वृक्ष पर पहुँचकर उसी प्रकार लटक गया (414-418)।

आठवाँ वेताल

तब राजा फिर उस वेताल को लेकर चल पड़ा। कन्धे पर का वेताल उससे बोला- सुनो। ताम्रलिप्ति का चन्द्रसिंह नामक राजा हुआ। उसके शौर्य और उत्साह से भरी कथा सब दिशाओं में व्यापक थी। उसकी सेवा में राजवंश का सत्त्वशील नामक कार्पटिक (सहयोगी, तीर्थवृत्ति वाला) द्वार पर बहुत समय तक गर्मी, सर्दी सहता रहा। तब किसी समय आखेट के रस से आकर्षित राजा को पीछे की एड़ लगने से क्रोधित होकर तेज भागते घोड़े ने अपहरण कर लिया। निर्जन वन में पहुँच कर दूर मार्ग के श्रम से थके राजा ने उस कार्पटिक के सिवा किसी अन्य सेवक को नहीं पाया (419-423)।

वहाँ पानी देखकर दो आँवले देकर कार्पटिक ने राजा को ढाढस देकर मार्ग बताया तो वह फिर नगर पहुँच गया। मन्त्रियों ने उत्सव मनाया। सन्तुष्ट होकर उन श्रीमान् ने कार्पटिक को अपने समान राजा बना दिया। तब किसी समय गर्व से उसने सिंहल राजा की पुत्री मृगांकलेखा को माँगने के लिए उसे भेजा तो वह गया (424-426)। वह उस समुद्र तक पहुँचा जिसकी ऊँची तरंगें आकाश का आलिंगन कर रह थीं। कैलास पर्वत के समान सुन्दर सूर्य शिखर पूरे गगन का भेदन कर रहा था। सिंहल की ओर वाहन (नाव) पर बैठकर प्रस्थान करने पर वहाँ उस पर भैसे के समान विशाल मेघ प्रकट हो गये। उससे तूफान आया और सागर प्रचण्ड ताण्डव करने लगा। प्रलय कारी भँवरों से परेशान दिशाएँ न जाने कहाँ विलीन हो गयीं। तब यान पर बैठे बनिये और ब्राह्मण ने राजा चन्द्रसिंह को डर से त्रस्त होकर पुकारा (427-430)।

स्वामी की शरण की उसकी पुकार सुनकर कार्पटिक ने सागर में सहसा सचमुच म्यानवाली तलवार लेकर डूबकी लगा ली। तब नाव टूटने पर उन सबको जलचर खा गये। परन्तु वह साहसी अपने उत्साह से बच गया। पास में ही ध्वज की लकड़ी को पानी में देखकर उसके पास से प्रवेश कर उसने पाताल में रत्न के तोरण वाले कांचनपुर को देखा। मणि - मन्दिर के मध्य में स्थित वहाँ पार्वती की महोत्सवपूर्वक पूजा करके नाग और दैत्य कन्याओं ने उसे प्रसन्न किया। हे गौरी गलते गर्व वाली गीर्वाण (वाणी) के गणों द्वारा वन्दित आपकी जय हो। काल को छोटे ग्रास बनाकर सरलता से हँकार करने वाली आपकी जय हो। उत्सुकतापूर्वक शिवजी के नयन-भ्रमर की हे कमलिनि आपकी जय हो। दैत्यराज के हृदय कमल बन्द करने वाली सघन चाँदनी आपकी जय हो। माया के गुण (त्रिगुण रस्सी) से लिपटे संसार के यन्त्र से विनोद करने वाली आपकी जय हो। स्फोट प्रकट होने से व्याप्त विश्व की सरस्वती आपकी जय हो। इस प्रकार भवानी की स्तुति करके उसके सामने उसने देखा कि हजारों दासियों के पीछे एक कन्या आ रही है। वह दिव्य आभूषण पहने है, मृगियों को भी आकर्षित करने वाले नयनों वाली, मतवाले हाथी सी चाल वाली, विलास लीला से शोभित, कामदेव के उपवन की मंजरी, लावण्य के जल की परिखा, मेखला के यन्त्र की मालिन और मानो नैनों की अग्नि से ध्वस्त कामदेव की रक्षा की नगरी हो। उसे देखकर वह खिसकते वीर्य का और कामदेव द्वारा प्रमाणित चित्रांकित के समान तत्काल ही चकित होकर अडिग रह गया (431-441)।

मणिमन्दिर में स्थित भवानी की पूजा करके उसने उसमें प्रवेश करके नयन कौमुदी उस कान्ति का पान किया। उसके स्फटिक के पलंग पर बैठने पर उस कार्पटिक को आदर सहित स्नान के लिए दासियाँ विमल तालाब पर ले गयीं। स्नान के लिए प्रेरित वहाँ ताम्रलिप्ति से दूर स्थित होने से राजोद्यान की क्रीड़ा पुष्करिणी के तट से उठ खड़ा हुआ। तब नवमधु से मतवाले के समान वह कामदेव के सर्प से डँस लिया जाने से अत्यन्त मूर्च्छित हो गया। शीघ्र ही उद्यानपाल ने उसके आने की बात बताने पर चण्डसेन राजा ने आकर उसका वह हाल देखा। उस राजा को किसी तरह पहचान कर आँखें खोलकर मन्द वाणी में अपना हाल बताया। यह सुनकर चकित राजा ने उस कामातुर को कहा - धीरज रखो। सागर द्वारा हम दोनों फिर पाताल में चलें (442-448)। स्नेही पर स्नेह रखने वाला वह चण्डसेन राजा सचिव को राज्यभार सौंपकर कार्पटिक के साथ सागर में चल पड़ा। तब नाव पर बैठकर उसके बताये पानी में डूबकी लगाकर उसके साथ शीघ्र ही पाताल में पहुँच गया। तब सुन्दर नयनों वाली उस कन्या को गौरी के आश्रम में देखा। मानो कामदेव के मयूर की नयी आवास केल हो। सैहिकेय (राहू और बालसिंह) के त्रास से लक्ष्मी हरिण-लक्ष्मण विष्णु के चक्र पर चढ़कर पाताल में स्थित उसे देखकर राजा पाताल में उस कन्या के पास पहुँचा। उसे देखकर राजा अत्यन्त चकित हो गया। सिर हिलाता वह चकित हुआ कि यह सही जगह अनुरक्त हुआ।

उस कन्या ने भी वरदा देवी की पूजा कर विवाह में उत्तम राजा को देखकर अपनी दासी को राजा को कहने के लिए चकित होकर बोली - साहसी आकार के इस उत्तम पुरुष से कह - हे देव पूजा गृहण करें। यह राजा से कहा तो उसने कन्या के पास आकर कहा हे सुभ्रु मैंने यहाँ रहकर ही सत्कार प्राप्त कर लिया (442-456)।

अपने निर्विकार साहस सत्व के स्तम्भित कर देने वाले उससे वह मन्त्र से आकर्षित नागिन के समान उसके पास चली गयी। स्वर्ण लताओं से रमणीय रत्नवृक्षों के वन में जो समस्त ऋतुओं के फलों से सम्पन्न है उसमें वह विश्राम कर रहा था। उनसे वह बोली - हे देव आप मेरे घर आये हैं। मेरी पूजा-सत्कार सादर गृहण कीजिए। उसकी ऐसी प्रार्थना पर राजा बोला - इसके साथ गौरी के दर्शन के लिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ। तुम तो माँगने वालों से अपनत्व रखती हो। यह सुनकर उस विनम्र कार्पटिक का परिचय करवाया। थोड़ी देर लज्जा सहित खड़ा रहा - उसे तथा उसके छल को याद करते हुए। तब वह बोली - हे राजेन्द्र मैं असुरराज कालनेमि की पुत्री हूँ। ये दोनों नगर मेरे भोग और मोक्ष देने वाले हैं। वे समस्त सिद्धियाँ देने वाली तथा स्वर्ण रत्न से निर्मित होने से चमकदार हैं। राजन् जन्म, मृत्यु, वृद्धता, रोग आदि से रहित दिव्य सुगंधित वायु वाली इन दोनों नगरियों सहित आपके अधीन हूँ मैं (457-463)।

यह सुनकर राजा ने कार्पटिक को दृष्टि से स्पर्श करते हुए कहा - मेरे मन का दर्पण यह एकमात्र मेरे प्रेम का विश्वस्त है। यह मेरा मित्र, पिता, पुत्र, बन्धु, स्वामी सब कुछ है। यह ऊँचे कुल का, सत्त्वसम्पन्न है। इसलिए मैं तुम्हें इसके लिए अर्पित करता हूँ। हे सुन्दर भौंहों वाली इस गुणी को पुत्री के समान अर्पित करता हूँ। यदि तेरा भव्य प्रेम है तो राजा की औचित्य से भरी मन्थर वाणी को सुन। वह कन्या धरती पर नजर गड़ाये लजाते हुए बोली - ठीक है। राजा ने कन्या और असुर राज्य देते हुए उससे कहा - एक आँवले का यह फल है। अन्य मेरे गुण वे दोनों पूछते तब तक उस सरोवर में वह डूबकी लगा गया और अपने उद्यान की लीलापुष्करिणी के तट से निकल आया। यह कथा राजा को बताकर वेताल फिर बोला - बता कौन सत्ववान् है? राजा या कार्पटिक। यह पूछने पर राजा ने कहा - राजा यदि हो तो आश्चर्य ही क्या? बताये मार्ग पर चलने वाले उसने क्रिया की प्रतिक्रिया की। प्रतिक्रिया करने के लिए ही डूबकी लगाई। प्रशंसनीय तो कार्पटिक है जिसने भय-चिल्लाहट आदि न सहते हुए परदेस में बिना सहारे के सागर में डूबकी लगा दी। प्रचुर छल करने वाला वेताल यह सुनते ही गायब हो गया और शीशम के पेड़ पर पहुँचकर फिर से लटक गया (464-472)।

नौवाँ वेताल

तब राजा बिना चिड़ते हुए उसे लेकर तेजी से चल पड़ा और उसने भी कन्धे पर से कहा - तुम्हारे ऐसे निर्वेद को धिक्कार है। कहाँ राज्य, कहाँ अमृत भरे पूर्ण चन्द्र जैसे मुख

वाली ललनाएँ और कहाँ यह मतवाला वेताल और अत्यन्त भीषण श्मशान ? (473-474)

क्षान्तिशील पापी ने संसार के शिरोमणि आपको घोर संदेह में डाल दिया है। तो यह कथा सुनो। उज्जयिनी में राजा वीरसेन था। वह श्रीसम्पन्न था। उसकी भार्या पद्मरति नामक की थी जो चित्त की चाँदनी थी। तपस्या से भवानीपति शिवजी भगवान् को पत्नी और उसने प्रसन्न करके पुत्र और विशालनेत्रा कन्या को प्राप्त किया। शूरदेव नामक उसका पुत्र बचपन के बाद बड़ा हो गया। अनंगरति नामक की वह कन्या भी युवती हो गई। उसने यह संकल्प किया कि विशाल आकृति का जो वीर अपनी विद्या से लोक में विज्ञात होगा, वही मेरा प्रेमपात्र होगा (475-479)।

विभिन्न दिशाओं के राजा राजकुमारी की माँग करते हुए मना कर दिये जाने पर लौट गये। लोक में सर्वगुण सम्पन्न लोग कहाँ हैं ? तब किसी समय चार एक जैसे लोग आये। वे विक्रान्त (पराक्रमी) विशाल आकार के और विद्याओं में दक्ष थे। राजा के पास आकर उन्होंने उसकी प्रिय पुत्री की याचना की। प्रतीहार के पूछने पर अपना वह स्थान बताया जहाँ से आये। एक बोला- अनोखे वस्त्र बनाने में कुशल और धनी मैं वीरता सम्पन्न शूद्र हूँ। शरीर तो सामने देख लो। दूसरा बोला - मैं वैश्य हूँ। समस्त शरीरधारियों की भाषा जानता हूँ। तीसरा बोला - मेरा जैसा कोई अन्य तलवारबाज राजपूत नहीं। चौथा बोला - मैं ब्राह्मण हूँ। मैं मुर्दे को जीवित करना जानता हूँ। हे राजन् वीरता, रूप, गुणों में एक समान समझो (480-485)।

यह सुनकर वीरदेव संदेह से परेशान हो गया। मन्त्रियों सहित देखा कि वे आपस में एक दूसरे के बिम्ब-प्रतिबिम्ब हों मानो। यह कहकर राजा से प्रचुर आशय वाले वेताल ने पूछा - हे राजन् कन्या किसे दी जाए। राजा ने कहा - इसमें संदेह नहीं कि वैश्य और शूद्र उसके योग्य नहीं हैं। पराश्रित वृत्ति होने से ब्राह्मण पापी है। अतः उस क्षत्रिया का पति क्षत्रिय होता है। यह सुनकर वेताल फिर जाकर लटक गया। राजा फिर उसे लेकर चला तो कन्धे से वह वेताल बोला (486-489)।

दसवाँ वेताल

पुरमण्डल में राजा वीरबाहु का निदर्शन नामक नगर है। उसमें धनियों में अर्थदत्त नामक वणिक् था। उसका धनदत्त नामक पुत्र पृथ्वी को आनन्द देने वाला था। उसकी बेटी मदनसेना थी। वह मानो मदन (कामदेव) की देवी हो। धनदत्त का मित्र धर्मदत्त नामक युवक वणिक् था। उसकी छोटी बहन ने किसी समय घर आने पर उसे देखा। उनकी नजर आनन्द, अचरज से भी तरंगित होने लगी। जिसकी कान्ति के जल में ऐसी डूबी कि उससे हट नहीं पा रही थी (490-493)।

भौहों की ललित चंचल तरंगों के नर्तन में, हार-हंस की शुभ्र तरंगों में जिसके लावण्य के मानस में कटाक्षों से मछलियों का अनुकरण हो रहा है। नींद उचट जाने वाले चन्द्र के मुख वाली उसे देखकर अपने घर पर धीरज नहीं मिला। मानो पथिक सार्थ (साथियों) से भटक गया हो। उसाँस के संताप से मुरझाये अधर पल्लव वाला वह मानो काम से अन्याश्रित हो गया मानो अशान्त मयूर या दीपक से। इसी बीच संध्या से लाल पद्मिनीप्रिय ताप से थके सूर्य के सागर में प्रवेश कर जाने पर दिशा दिशा में काले गूगल के निचोड़ जैसे नीले अन्धेरे के समूहों से अभिसार के योग्य मेष को उस क्षण ग्रहण कर लिया हो मानो। पूर्व दिशा रूपी कान्ता माँग के मणि मोतियों वाले चन्द्रमा के उदय होने पर जो शंकर द्वारा तैयार काम के संजीवन के औषध रूप है। ज्योत्सना के विलास से विलसित प्रभा से शुभ्र आकाश में ऐसा लग रहा था मानो क्षीरसागर में शयन करते विष्णु के हृदय को सुधा (चूने या अमृत) से पोत दिया हो (490-500)।

काम से दबे वणिक् पुत्र को बार बार मित्र ने ढाढस बँधाया। पल की नींद के अर्थ स्वप्न में उसी कामिनी को उसने देखा। तब प्रभात में निर्जन में वही कन्या खड़ी देखी तो उससे संगम की याचना की। अनुराग से लज्जा सही जाती है। उस प्रेमी-भँवरे ने लता के समान उसे व्याकुल कर दिया। छाती पर सिर रख कर लज्जा से झुकी उसने कहा। आज ही पिजाजी ने मुझे एक गुणी समुद्रदत्त नामक वणिक् को देने का वचन दे दिया। पहले ही आकर मेरे पिताजी से तुमने याचना क्यों न कर ली ? अब मैं परनारी हूँ। अतः तुम्हारे लिए अगम्या हूँ। यह सुनकर प्रबल काम के मारे उसने उसे देखते हुए बरबस गले लगाने को उत्सुक होकर कहा (501-506)।

हे सुभ्रु मेरे प्राणों की सौगन्ध है। तेरे बिना प्राणों की शंका हो गयी है। इसमें अच्छे बुरे काम की शंका किसे होना है ? प्राप्त अमृत को छोड़ना तो मन्दबुद्धि का काम है। कौन जानता है कि परलोक में किसका क्या होगा ? हे सुन्दरी मेरे पास आ। नहीं तो मैं स्वयं तेरे मुखामृत का पान कर लूँगा। चन्द्रमा मिलने पर नक्षत्र की चिन्ता क्या करना ? यह सुनकर वह छरहरी चकित हो गयी। आकाश देखती हुई, लाज से मानो मोर पींख फैलाते हुए बोली - मेरे भ्रष्ट होने पर पिता का कन्याफल नष्ट हो जाएगा। तब हमारे पूरे कुल का पात हो जाएगा। इन सबके तुम कारण मत बनो। हे स्वामी यदि पूर्व जन्म का हमारा कोई बन्धन हो तो वह पिता को अपना फल देकर विवाह करने पर तुम्हारे अधीन हो जाऊँगी। यह सुनकर वह युवा वणिक् बोला - यह सब अच्छी बात नहीं है। नयी माला को त्यागकर कौन उतरी माला से खेले। अछूते तेरे इस तन को न छूना ठीक है, न त्यागना चाहता हूँ। हाथ में आया छोड़कर फिर खोजने का श्रम कौन करे ? (507-514)

इस प्रकार आग्रह पूर्वक उसके कहने पर निर्जन में डरती वह अबला उस बलशाली को मिल गयी। लम्बी साँस लेती वह बोली - यह सच है कि मेरा विवाह तय हो चुका है। पर तेरे पास मैं दोषरहित हूँ। तेरे पुण्यों की सौगन्ध है कि मैं तेरे साथ एक रात रह लूँगी। यह

सुनकर वह संतुष्ट हो गया, उस मृगनयनी की प्रीत के लिए। प्रेम से उनका संगम हो, हठपूर्वक नहीं। तब लगन दिन आने पर विशाल उत्सव हुआ और समुद्रदत्त उस युवती को विवाह करके ले गया (515-518)।

तब उपभोग के बाद विकसित कुसुम की मंजरी वाले भवन में वे पति-पत्नी हल्की स्वच्छ चादर वाली शय्या पर पहुँचे। उस चापलूस कामी के द्वारा लज्जा से झुके मुख वाली की गाँठ चाहने पर भी हाथ रोक दिया और उसने नहीं खोली। तब उस बाला ने उस बनिये की पहले कही बात को याद कर बड़े यत्न से सहज लाज को त्यागकर पति से बोली। प्रौढ़ा युवती उचित दक्षता को कैसे सहन करे? बिना फूली आम की कली को भँवरा नहीं चूमता। यह कहकर बरबस गाँठ खोलने वाले उसे रोककर वह बोली - पहले वरण से बैरी द्वारा स्वीकृति को चाहते हो? धर्मदत्त वणिक् द्वारा हठपूर्वक संग के डर से मैंने उसे वचन दिया है कि बिना भ्रष्ट हुए मैं तेरे पास आ जाऊँगी। मैं उसे असत्य नहीं करना चाहती। इसलिए आप अनुमति दें। यह सुनकर उसने उसे और उसके आगमन की आशा को त्याग दिया। उसे छोड़ने पर वह रात में ही निर्जन में चली गयी। तारों के हार से धवल वस्त्र वाली चाँदनी मानो कमल के साथ हो गयी हो (519-526)।

उस सुलोचना को धर्मदत्त के भण्डार की ओर जाती देखकर सब कुछ छीनने वाले चोर ने चमकदार आभूषण पहने उसे देखा। वह चौड़ी छाती के परकोटे वाला, मेघ के समान साँवला, विशाल भुजा वाला सामने ऐसा लगता था मानो अन्धे रूपी शबर समूह का सेनापति आ गया हो। भँवरे जैसे नीले घुँघराले बाल कन्धे पर लटक रहे थे। सदा चलने के अनुराग से रात के पटियों पर मानो आश्रित हो। उगती डाढ़ी की लकीरों से आगे के बालों के घेरे से सुशोभित दिग्गजों के मोती चुराने में मदजल से मानो अंकित, बिना म्यान की तलवार की कान्ति के दीपों से अम्बर आलम्बित है मानो। तारों के रत्नों के अपहरण के लिए मानो चढ़ने की रस्सियाँ हों। मोतियों से झंकार करते आभूषणों वाली उस सुन्दर मुख वाली को देखकर लगा मानो चन्द्र नक्षत्र सहित स्वर्ग की चलती फिरती लक्ष्मी हो। दोनों आँखें मानो काजल से, दोनों कान मानो नीलकमल से, शरीर मानो काले कपड़े से - इस प्रकार अन्धकार से वह विभूषित थी। हाथी के समान उसने राजकदली हथिनी जैसी उसे पकड़कर बोला - वह कौन धन्य है जिसे तू खोज रही है। मैं सब कुछ चुराने वाला चोर हूँ। तू बेधड़क निडर कहाँ जा रही है? अथवा चढ़े धनुष वाला कामदेव अनुचर है। यह कहा उसने तो वह बोली - यदि चोर हो तो ये रत्न व मोतियों के जेवर ले ले और मुझे छोड़ दे। यह सुनकर हँसकर उससे बोला - पवित्र मुस्कान वाली, मैं ग्रामीण नहीं हूँ। जो काम की अलंकार तुझे त्यागकर अचेतन जैसा चला जाऊँ। यह कहकर उसने रोका तो उस प्रियंवदा ने कहा - मैं जिससे वाणी से बंधी हूँ। उसके पास से तेरे पास आ जाऊँगी। यह सुनकर वह बोला - तेरा यह कैसा विचित्र व सीधा क्रम है? गले की रत्न माला को कौन फेंके व त्यागे? जाती हूँ, फिर आ जाऊँगी - ऐसी बातों के

छल में धूर्त नहीं आते। नारी व नदी का फिर से आगमन कैसे? जो बच्चे के समान मूर्खता में हाथ आये रत्न को त्यागता है वह पुण्यहीन है सुन्दरी और उसे वह नहीं मिलता। उस उग्र साहस वाले के यह कहने पर उस बाला ने अपना विवरण बताया जिसमें रोचकता थी। वह बोला कि जैसे धर्मदत्त का वचन पालन हो रहा है उसी प्रकार जाकर मेरा भी करना। तू तो सत्यवती है (527-543)। यह कहकर चोर के छोड़ने पर वह भण्डार घर में धर्मदत्त के पास पहुँची तो वह भी चकित रह गया। उसने कहा - हे सुनयने तू परनारी है, अतः अगम्या है। काम के दावानल के धुँएँ से गगन मलिन होने का क्षण शान्त हो गया। वहाँ से उसने छोड़ी तो वह चोर के पास पहुँचकर बोली। उसकी सच्चाई सुनकर उसने भी उसे आभूषण सहित त्याग दिया। तब अपने पति समुद्रदत्त के पास फिर लौट कर उसने सारा विवरण बताया और फिर उसके साथ कामोत्सव मनाया (544-547)।

राजा को यह कहकर छल करने वाले वेताल ने पूछा - बता इनमें से महासत्त्व कौन है? सुनकर राजा ने कहा - कई लोगों तक बात पहुँच जाने से धर्मदत्त ने प्रिया को त्याग दिया। राजा के डर से सदा सुखी धनी दूसरों से विमुख रहते हैं। अन्य में मन लगायी नारी को समुद्रदत्त भी कैसे ग्रहण करें? विरक्त मन की नारियों को घर में रोकने पर वे क्या नहीं कर लेती हैं। चोर ही एकमात्र सत्ववान् है जिसने उसे छोड़ दिया। जबकि दस्यु लोग तो प्राण देकर भी धन के पीछे भागते हैं। यह सुनते ही वेताल पेड़ पर जा लटका। उसे राजा फिर लेकर वायुवेग से चल पड़ा (548-552)।

ग्यारहवाँ वेताल

तब कन्धे पर का वह वेताल हँसता हुआ फिर बोला - अहो राजन् तुम्हारा यह बड़ा काम उद्वेग रहित है। उज्जयिनी का स्वामी राजा धर्मध्वज नामक हुआ था। उसकी तीन पत्नियाँ थी। वे तरुणी और सुन्दर थीं। एक का नाम इन्दुलेखा, दूसरी पत्नी तारावली तथा अन्य मृगांकवती थी। सबकी छाती समुन्नत थीं। किसी समय दक्षिण वायु से लतावन के लहराने पर बसन्त में निरन्तर आम, चम्पा, केसर के फूलने के समय मुस्काते सिन्दुवार के अयाल वाले सिंह के, मानिनी के मान के गज को फाड़ने के कलियों के नख होने पर रात की बालों की चोटी के पाश की किरणों के भ्रमरसमूह पर दिशाओं में काले गगूल के टपकने से पत्रभंग (पत्तों की भाँत) की तुला पर स्थित होने पर (553-558)। ललना का भोग करो, मधुर मधु का पान करो। कोकिल कह रही है कि वसन्त अनन्त नहीं है। प्रियाओं के साथ राजा आम के रजसमूह से पीले अपने उद्यान में मधुमय उत्सव मनाता हुआ विहार करता रहा। तब उस नन्दन उत्सव में क्रीड़ा से चंचल दिशाएँ चन्द्रलेखा से नीलकमल की पंखुड़ियों के समान प्रशस्त हो गयीं। इसी बीच उस मृगनयनी की टहलने की हड़बड़ी में कान का कमल गिरने से अचानक जाँघ टूट गयी। दासियाँ किसी तरह उसे अपने रनिवास में ले जाकर स्फटिक के पलंग पर लिटा दी। वह मूर्छा के कारण बेहोश हो गई (559-563)।

तब अंधेरे के मयूर के पंखों के लाने पर संसार के घर में गृहपति के सब दूर दीपक (की ज्योति) पहुँचने पर आधी रात में मृगनयनियों के बार बार सी-सी करने पर संकुचित होते कमल कोश में बन्दी भँवरों के समान आकाश की श्वेत किरणों वाले कमलिनी के राजहंस के उदित होने पर कान्ता की मुसकान के अमृत में आसक्त प्रकाश के विकास होने पर रात की राजकुमारी के गेंद चन्द्रमा द्वारा रात कामिनी का हारों वाले हाथों से आकाश के भर जाने पर विलास के उत्सव, मदकान्ति के मतवाले पन कामदेव की प्राण, चन्द्रमा द्वारा वसंत विभूषित होने पर इन्द्र के हाथी ऐरावत की पूर्ण दन्त की शोभा वाली किरणखण्डों वाले चन्द्रमा की ज्योति से धरा के सुशोभित हो जाने पर ताराओं के साथ राजा महल पर लीला प्रेम से अलसाया कपूर सा उज्ज्वल मानो दूसरा चन्द्रमा सोया हो (564-570)।

मदमत्त वह रति से थकी शरीर लता वाली श्रम के पसीने से जिसका तिलक मिट गया है वह शीघ्र ही निद्रा में चली गयी। शीत की अभिलाषा में निर्वसन शरीर पर चन्द्र किरणों पड़ने से फोड़े उठ आये। तब सर्प से डँसी सी, आग छू जाती सी राजा द्वारा आशवासन पाकर धीरे से कदली (केल) के बिछौने पर राजा ने रात में मृगांकवती को बुलाया। तब वह नुपूर और मेखला झंकारती चकित होती हुई आयी। नीरव निर्जन स्थान पर कहीं से मूसल की आवाज सुनकर झटकने से हाथों में घाव पड़ गये। मानो आकर भँवरों ने फूले कमल की आशा में काट लिया हो वह तीखे सीत्कार करती हुई चिल्लाई-हाय मार डाला मुझे। तब शीघ्र ही राजा ने चन्दन रस लगे हाथ से सांत्वना देकर रात शीघ्र ही कम बची देखकर उठ खड़ा हुआ। यह कहकर वेताल ने राजा से पूछा - हे राजन् उन दोनों में कौन अधिक सुकुमारी है बताओ। राजा ने कहा - कोमल शरीर की वह सुकुमारता है जिसे मूसल शब्द से ही हाथ में घाव हो गये। यह सुनते ही वेताल अचानक लुप्त हो गया और तेजी से राजा पेड़ की छलंगी से उसे लेकर चल पड़ा (571-580)।

बारहवाँ वेताल

तब कन्धे पर से वह वेताल बोला - हे राजन् कथा सुनो। मेरे मत में आप समस्त संशय दूर करने वाले देवों के भी देव हैं। अंग राज्य में यशकेतु नामक विख्यात राजा था जिसके यशकमल का मृणाल नागनायक था। प्रचुर रोमांच कम्पन की ध्वनि से अपने आभूषणों से यति तैयार कर जिसकी किन्नरियाँ चरित्र गाती रहती हैं। जिसके पराक्रम को सुनकर लंका को लुडकाने के साक्षी वृद्ध राक्षसों को रामचरित की याद आ जाती है। उसका मंत्री दीर्घदर्शी अपने नाम को सार्थक कर रहा था। जिसके मंत्र (सलाह) से शत्रु रूपों का कहीं उद्भव नहीं होता था। उस पर पृथ्वी का भार रखकर वह राजा चन्द्रमुखी युवती श्यामा का सेवन करने लगा, जैसे चन्द्रमा रात्रि का सेवन करता है (581-586)।

उसके कामरस में आसक्त होने पर वह मंत्रियों में श्रेष्ठ श्रीमान् कोष, दुर्ग, सेना की व्यवस्था में व्यस्त सतत उन्नति करने लगा। लक्ष्मी का उपभोग तो दीर्घदर्शी कर रहा है, राजा तो नाममात्र का है। यह लोकनिन्दा फैलने पर वह चिन्ता से व्यथित हो गया। तब यह बात पत्नी मेधाविनी के साथ करके वह तीर्थयात्रा के बहाने अकेला सन्ध्या समय चला गया। धूमते हुए क्रम से सागर के तीर पहुँच कर निधिद नामक सार्थवाह से उसका साथ हो गया। उससे उसकी मित्रता हो गयी। वह सुवर्णद्वीप जा रहा था। उसके यान (जहाज) पर बैठकर वह सागर के बीच पहुँच गया (587-591)। तब वहाँ बिना हवा के भी देखा कि स्फटिक के पर्वतशिखर जैसा मोटा समुन्नत जलस्तम्भ अचानक उठ खड़ा हुआ। उसके बीच एक सुन्दर स्वर्ण-वृक्ष था। मानो मन्थन के डर से सागर ने फिर से पारिजात वृक्ष उत्पन्न कर दिया हो। विचित्र रत्नों से उज्ज्वल उस मूँगे के सुन्दर स्तम्भ पर माणक (लाल) के पलंग पर उसने एक कन्या को देखा। उसके अधर कमल के समान लाल थे। लहराते काले बालों से वह सुशोभित थी। मोती की मुसकान वाली मानो सागर की मूर्त देवी हो। चकित और प्रसन्न होते हुए उसने उसे देखकर उसका गीत सुना। उसके मुखकमल के लोभी भँवरों का मानो गुंजार हो। जब जिससे जो पाना होता है तब वह स्वयं जाता है। आक्रमण करके व्यापक कर्मगुणों से वह वहाँ ले जाया जाता है। देहधारियों का सब दूर निरन्तर सर्वत्र शुभाशुभ आमोद होता है। कीटमणि के फूलों का मानो प्रकाश (592-598)। इस कर्मक्षेत्र में जिसने जो बोया है वह वही उपभोग करता है। अन्धा जिसे पाता है उसे आँखों वाला उपाय से भी नहीं पाता है। इस प्रकार वीणा के स्वर के साथ गाये कानों के अमृत गीत को फैलाकर वृक्ष के पलंग सहित वह गायब हो गयी। तब उसे देखने से चकित स्तम्भित उस दीर्घदर्शी को बर्बर नायक कर्णधार सरलता से हँसता हुआ बोला। चकित क्या हो रहे हो ? यह कन्या यहाँ सदा दिखाई देती है। इसका नाम, शील या कुलको कोई नहीं जानता है। कर्णधार के यह कहने पर अनुकूल पवन के कारण धीरे से वह सार्थवाह अत्यन्त अनोखे द्वीप पर पहुँच गया (599-603)। और रत्नमय घर में कृतकृत्य होकर क्षण भर में पहुँच गया। उस घर में बहुत समय तक रहकर मन्त्री अपने नगर लौटा। इस बीच यशकेतु उसके वियोग की आग में तप्त हो गया था। तभी द्वारपाल ने आकर सूचना दी कि दीर्घदर्शी आ गया है। तब राजा प्रसन्न होकर उसके पास आया। चकित होकर अपने तीनों लोकों के राज्य को भी हल्का माना। उससे गले मिलकर पूछा - घर, भाई-बन्धु, पत्नी, लक्ष्मी और मेरी भी उपेक्षा करके छोड़कर क्यों चले गये थे ? राजा की यह बात सुनकर 'पुण्य तीर्थ के लिए' कहते हुए समुद्र में देखी दिव्य कन्या के अचरज का वर्णन किया (604-608)।

वह कथा सुनकर राजा नयी उत्कण्ठा से भर गया। सुनते ही पूर्वजन्म का प्रिय जन भीतर प्रवेश कर जाता है। वह कामातुर होकर दीर्घदर्शी को राज्य सौंपकर भिक्षु वेश में उस चन्द्रवदनी को देखने के लिए सागर की ओर चला। नदियाँ, नगर, आकर (खदानें),

अरण्य, ग्राम, पर्वतों को पार करता क्रमशः श्रीपर्वत पहुँचकर लक्ष्मी देवी को प्रणाम कर कुशनाभ मुनि से यह आश्वसन पाया - प्रेमिका प्राप्त करोगे। उनके आदेश पर लक्ष्मीदत्त नामक सार्थवाह को कहा - शीघ्र यान लाओ। वह चढ़कर सागर के बीच प्रिया की आशा में पहुँच गया। वहाँ वैदूर्य के शिखर के आकार की लहरों की माला वाले उठते जलस्तम्भ पर मणियों का वृक्ष देखा। विधाता ने मानो विचित्रता के निर्माण के रमणीय उपकरण - लक्ष्मी के खजाने को सागर के हाथ में रक्षा के लिए रख दिया। उस कल्पवृक्ष के तने पर गाती हुई दिव्यकन्या रत्न के पलंग पर बैठी थी। उस काम मंगला को उसने देखा। लावण्य के पुण्य प्रकट होता हुआ सागर शरीर रूप में अमृतलहरों से सम्पन्न लक्ष्मी मानो फिर प्रकट हो गयी हो। उसे देखकर वह राजा प्रचुर कम्पन और प्रमद (मतवालेपन) से चकित रह गया। क्या रूप है ? क्या कान्ति है ? यह कहकर कन्धा मटकाने लगा। लय तथा ताल के अनुसार विचित्र पदावली में स्वर लगाते हुए गाती हुई वृक्ष सहित उसे डूबती हुई देखकर वह बोला - चन्द्र, कौस्तुभ, लक्ष्मी, अमृत, वारुणी उत्पन्न करने वाले हे रत्नाकर आपकी जय हो। आप मेरी प्रिया प्रदान करें जो नयनपात्र की अमृत है। यह कहकर राजा ने अचानक अपना शरीर पानी में डाल दिया। काम के दावानल को बुझाने के विचार से उसने यह साहस किया। उसे समुद्र में डूबा देखकर सार्थवाह भी उसके वियोग के विशाल सागर में डूबा देखकर उसके वियोग के विशाल सागर में डूब गया (609-622)।

वह राजा यशःकेतु अपनी पूर्व पत्नी की खोज में सागर में प्रवेश कर गया। यह बात जल्दी से कही। तब उसे सुनकर सेठ आश्वसन देकर सफल हो गया। अनुकूल वायु से धीरे-धीरे अपने नगर चला गया। राजा भी सागर में घुसकर स्वर्ण के विशाल भवन में - रत्नों के परकोटे वाले श्रेष्ठ निर्जन नगर को देखा। बड़े यत्न से सूनी माणिक्य भवनों की पंक्ति खोजकर स्वर्ण भवन में मणि के पलंग पर सोती उस (कन्या) को देखा। तब आँचल हटाकर उसके सुन्दर मुखकमल को देखा। मानो सूर्य ने ओस हटाकर कमलिनी को देखा हो। वह जागी और राजा को देखकर मन में चकित हुई। छिपा वेश धारण करने वाला चक्रवर्ती पद के योग्य यह कमल नयन श्रीमान् निश्चय ही यशःकेतु राजा है। यह सोचकर उसकी कामलता में कँपकँपी छूट गयी। कामदेव जैसे मनोहर अंगों से कदम्ब खिलने की कान्ति वाली पुलक अंकुरित हो गयी। लाज से लहराती उसने तब सत्कार किया। अपना परिचय देकर उससे पूछा। तब वह पलंग पर बैठ गया। यशःकेतु नाम और उसका स्थान सुनकर वह पसीना पसीना हो गयी, काँपने लगी। मानो चन्द्रमा की कला चंचल पानी में बिम्बित हो रही हो। तब उस राजा रूपी भँवरे ने विभिन्न वर्णों से उस कली जैसी बालिका को प्रसन्नता से विकसित कर दिया। तब उन दोनों का मन सम्भोग का हो गया। उन युवकों के प्रथम संगम में भी कामदेव लज्जा नहीं सह सका। हे नाथ मैं आपके अधीन हूँ। बिना कृष्णपक्ष की चतुर्दशी और अष्टमी देखे वह उस राजा

के साथ संभोग करती रही। वह कोमलांगी अनुभवी प्रौढ़ा जैसी उसके साथ समुचित संगम हेतु झंकार करती करधनी को राजा ने खींच लिया। उसके कामातुर हो अचानक जांधिया खींचने पर देखने को भय से उस कन्या ने उसका प्रगाढ़ आलिंगन कर लिया (623-637)।

एकीभूत मर्यादारहित अविनयी होते हुए उनकी सतत विकल्प रहित रति चलती रही। उससे उसकी माला और बाल बिखर गये, पसीने से तिलक मिट गये और अधमूँदे नयनों से उस राजकुमारी का शरीर और सुन्दर हो गया। इस प्रकार हर रात उस राजा के साथ रमण करती सुन्दरी चतुर्दशी आ जाने पर उस राजा की अनुमति से चली गयी। उसने कहा कि इस नलिनी मण्डप में आप प्रवेश न करें स्वामी। यह कहकर उसके जाने पर वह भी छिप कर पीछे पीछे गया। तब उस खड्गाधारी ने दूर खड़े रहकर देखा कि मेघवर्णी राक्षस उस राजकुमारी को उसी तरह निगल गया जैसे राहु चन्द्रकला को। इस प्रकार उसे ग्रस्त देखकर दुःखी होकर क्रोध से उस राक्षस को तलवार से मार डाला। उस तलवार की धार से कटा उसका सिर पृथ्वी पर गिर गया। मानो नील पर्वत का पीले केश का दावानल हो।

तब उसके पेट की गुफा वाले शरीर के गड्ढे से निकली शाप कम हो जाने पर अपनी कथा को याद कर उसने अपने प्रिय को कहा। विद्याधर राजा मृगांकसेन की मृगांकवती नाम की मैं बड़ी बेटी हूँ जिनके एक हजार पुत्र हैं। यद्यपि अपने जैसे बहुत से पुत्रों का परिवार है। परन्तु मेरे बिना वे प्रतिदिन दिव्य रस का भोजन नहीं करते (638-647)।

किसी समय गौरीव्रत पर मैंने चतुर्दशी का उपवास रखा तो पिताजी का एक दिन बिना भोजन का रह गया। इसलिए क्रोधित होकर पिताजी ने मुझे शाप दिया कि चतुर्दशी और अष्टमी को तुझे अदृश्य को राक्षस खाकर त्याग देगा। भ्रष्ट विद्यावाली तू सूने रसातल में बहुत समय रहेगी, जब तक तेरा पति अंगराज राक्षस को मार न डाले। इस प्रकार पिताजी का मुझे अभिशाप है। अतः उस राक्षस को आप मारें। शाप नष्ट होने पर विद्यासम्पन्न होकर मेरा कल्याण हो जाए स्वामी। यह सुनकर अंगराज वियोग से चकित बोला - हे सुन्दर भाँहों वाली तुम मेरे साथ सात दिन तक विहार कर। उसकी इस प्रार्थना पर उस मुग्धा मृगनयनी का प्रेम से रोचक स्वर्ण कदलीवन के उद्यान में उसका सेवन किया। तब उस राजा ने उसके साथ क्रीड़ा करते हुए तालाब के पानी में डुबकी लगाई और खेल की तेजी से अपनी नगरी में निकला। दीर्घदर्शी के पास पहुँच कर उसे अपनी कहानी बताई। राज्य में प्रिया प्राप्ति का विशाल महोत्सव हुआ। इसी बीच सात दिन होने पर आकाश से जाने को वह तैयार हुई। मनुष्य के साथ रहने से उसे वह विद्या याद नहीं रही। उसे बिना विद्या की जानकर राजा नाचने लगा और उस सुनयना का चिर काल तक सेवन करता रहा। उसी उत्सव के दिन दीर्घदर्शी मर गया। आधी रात में सबको कारण ज्ञात नहीं हुआ जिसका आशय प्रकट था (648-658)।

यह कहकर वेताल ने राजा से पूछा - हे राजन् उन मंत्री के मरने का कारण बताओ। क्या यह देखकर कि राजा उस मृगनयनी को ले आया। मैंने ही इसे क्यों प्राप्त न कर लिया? यह उसके मन में हुआ अथवा इसलिए कि मैंने राज्य पा लिया। राजा उस महानगर में डूबकर भी क्या नष्ट हुआ क्या - इस प्रकार दुःखी हो गया? हे राजन् मुझे तत्त्व की बात बता। यह पूछने पर राजा ने कहा - वह मन्त्री जिस कारण मरा उसका कारण सुनो मित्र। स्वभाव से अनुरागी राजा ने यह दिव्य नारी प्राप्त कर ली। अब कष्ट यह है कि इससे वह राजकाज त्याग देगा। यह उसके मन में हुआ। यह सुनकर वेताल जल्दी से गायब हो गया। उसी फिर वृक्ष की डाल से लेकर राजा चल पड़ा (659-664)।

तेरहवाँ वेताल

तब भयंकर आकार के उस वेताल ने राजा से कहा - हे राजन् एक कथा सुनो जिसमें तुम्हें कोई सन्देह हो। वाराणसी में शिवस्वामी (या देवस्वामी) नामक एक महाजन ब्राह्मण था। ऐश्वर्य में पला उसका एक 'हरिस्वामी' नामक पुत्र हुआ। उसकी लावण्यवती नाम की मन से युवती प्रिया थी जिसकी आकृति सुन्दर और ललित थी। किसी समय उस सुन्दरता की सरिता के साथ महल के सबसे ऊपर सम्भोग के मनोहर उत्सव वाले क्रीड़ा के बिछौने पर सोया था। इसी बीच कामक्रीड़ा से थकी उस ब्राह्मण की प्रिया को मदनवेग नामक किसी नभचर ने देखा (665-669)। हथिनी के दाँतों के समान निर्मल उसके उरु तथा जघन देखकर वह कामातुर हो गया। तब अदृश्य होकर तत्काल उस बड़े नयनों वाली हड़बड़ाती, काँपती का मनावेग वाले उसने अपहरण कर लिया। तब वह युवा ब्राह्मण (हरिस्वामी) जागने पर उसे न देखकर वियोग के विष से दुःखी होकर मूर्च्छित हो गया। हाथ अमृत टपकाते मन्दिर सी मुस्कान वाली चन्द्र के समान आनन्द का बन्धु तेरा मुस्कराता चेहरा फिर देखना चाहता हूँ। इस प्रकार बड़बड़ाता हुआ मित्रों और स्वजनों को दुःख देने वाला वह कामातुर पगलाचा सा इधर उधर घूमने लगा। कृष्ण पक्ष के चन्द्र की उपमा वाली उसके लिए वह अपना नगर त्याग कर वैसे ही चला गया जैसे प्राण देह को त्यागकर चला जाता है। भोग, रोग, विष, घर, सर्पबन्ध, बन्धु गण और जले वन जैसा है यह संसार-वियोग भरे चित्तवालों के लिए। वह सूर्यकिरण से लिप्त रात दिन खींचा जाता हुआ भूख से दुर्बल धूलधुसरित समप्त तीर्थों की यात्रा करता हुआ श्रीमान् पद्मनाभ ब्राह्मण की यज्ञशाला में प्रवेश करके उसकी पत्नी द्वारा प्रसाद-भोजन प्राप्त किया। पास के पुष्कर के तट पर वटवृक्ष के नीचे भूख के कारण दिशा या दिन रात भी खाने में न देखी। इसी बीच बाज द्वारा लाये गये जीवित साँप ने विषभरी काली लार उस भोजन में डाल दी। उसे नहीं देखा व भोजन खा लिया और वह ब्राह्मण मर गया। भाग्य विपरीत होने पर सब पलट जाता है। उसे मरा जानकर वह यज्ञ कराने वाले स्वामी ने अपनी साध्वी वधू को उस भोजन के क्रोध से घर से निकाल दिया (670-682)।

यह कहकर उस वेताल ने राजा से फिर पूछा - हे राजन् वह ब्रह्महत्या किसे लगी। बताओ। राजा ने कहा - वह सर्प बाज द्वारा अत्यन्त पीड़ित था, पराधीन था। अतः विष त्यागने में उसका अपराध कैसे हुआ? वह बाज भी भाग्य द्वारा निर्मित माँस खाने को आतुर था। वह भूख से अविवेकी होने से पापी कैसे कहा जा सकता है? अन्न दान का स्वामी पत्नी सहित सचमुच - पापी नहीं था। यदि वह सत्य जानता तो पाप का भागी होता। मैं तो यही समझता हूँ। हे वेताल तुम क्या मानते हो? यह सुनकर वह गायब हो गया और वृक्ष पर लटक गया (683-687)।

चौदहवाँ वेताल

तब जाकर उसे लेकर वह राजा उसी प्रकार उसे कन्धे पर डालकर चल पड़ा। तब वह वेताल बोला - राजन् कथा सुनो। अयोध्या में राजा श्रीमान् वीरकेतु हुआ। जिसकी प्रतापाग्नि राजाओं को मन ही मन जलाती है। जिसके नगर में रत्नदत्त नामक वणिक् था। उसकी रत्नवती नाम की मनोहर पुत्री थी। रूप में सलोनी और ललिता नव यौवन से परिपूर्ण पुरुष से द्वेष करने के कारण उसने विवाह से मना कर दिया था। इसी बीच वीर राजा चौरों से लोगों के परेशान होने पर रात में नगर की गतिविधि देखने निकला। तब उसने ताल वृक्ष के समान ऊँचे पूरे चोर को देखा जो नीरव तेज चल रहा था और थोड़ा इधर-उधर देखता जा रहा था। कहीं चुपचाप साँस लेता था, कहीं अपने आकार को टेढ़ा कर लेता था। वह यक्ष्मा (टीबी) रोगी के समान तृष्णा से भरा और दावाग्नि के (यारूकाल) के समान असहनीय था। वियोगी के समान साँस लेता हुआ, प्रलय (कल्पांत) के समान दारुण, सब कुछ हरण करने वाले प्रलय, (रात में विचरने वाले) के समान उछलता, सेंध लगाने में कुशल, छिपे दुर्जन जैसा था वह। उस मनचाहे विश्वासघाती को देखकर राजा ने कहा (688-696)। हे मित्र अन्धेरे में अकेला घूम रहा है। तू कौन है यह सुनकर वह बहाना बनाकर बोला मैं ऐसा दैवी प्रभु हूँ। उसने भी पूछा तू कौन है? तो राजा ने भी वही कहा आ तुझे गड़ढे में इकट्ठा किया धन देता हूँ। यह कहकर चोर उसे मारने के लिए अपने घर ले गया। उस घर के बाहर रोककर धन लेने के लिए प्रवेश करने पर उस घर की सेविका वत्सला ने आकर राजा से कहा - हे भद्र इस मौत के मुँह में तुम्हें किसने भेज दिया? जाओ। यह विश्वासघाती चोर है। यह तुझे मार डालेगा। यह सुनकर राजा छिपकर अपनी राजधानी में चला गया। प्रातः शीघ्र उठकर तैयार होकर उस राजा ने युद्ध में दुर्जय उस चौर को स्वयं पकड़ लिया। तब निकलते खून से सना वह पल भर में राजाज्ञा से गिरफ्तार कर ले जाया गया। तब उस वणिक् की बेटी ने हड़बड़ी में पूछताछ की। उसे देखते ही वह उस पर लट्टू हो गयी और पिता से कहा - पिताजी, मैं इसे सबसे बढ़कर

1. यह कथा सावित्री की कथा जैसी है। यह मनोवैज्ञानिक कथा है।

मानती हूँ। इसका मैंने वरण कर लिया। उसकी यह बात बार बार सुनकर और यह देखकर कि वह तो बन्दी है वह वणिक् किसी प्रकार राजा के पास जाकर उसकी मुक्ति के लिए अपेक्षित धन पूछा। तब राजा ने हँसकर कहा - जो इस चोर का रक्षक है वह भी पाप का आश्रयदाता होने से पापी है। अतः वह भी वध्य है। इस प्रकार राजा द्वारा उसका निषेध करने पर उसकी पुत्री चोर पर नजर टिकाये उसके पीछे मरने को गयी (697-707)। तब श्मशान पहुँच कर उसने चोर को सूली पर पकड़ा पाया। ऊँचा मुख व आँखे किये। मानो तत्काल उसे ऐश्वर्य बिना धन के ही मिल गया हो। उसका थोड़ा जीव शेष था। उस तरुणी को देख कर उसने उसकी वह कथा सुनी। आँसू की बूँदे टपकाते वह हँसता हुआ उसने स्वयं को त्याग दिया। तब उसके साथ चिता पर उसे चढ़ी देखकर क्रीडा प्रेमी शंकर ने उसे श्मशान के घेरे में वर दे दिया। शम्भु के वर से पिता के योग्य उसने सौ पुत्र माँगे। और इस प्रकार लक्ष्मी और धर्म से सम्पन्न उसने पति को जिन्दा कर लिया।¹ तब अचानक जीवन प्राप्त कर उसने वह प्रिया प्राप्त की तो राजा ने प्रशंसा की ओर उसे श्रेष्ठ योद्धाओं में अग्रणी सेनापति बना दिया। यह कहकर छली वेताल ने पूछा - हे राजन् वह पहले रोया क्यों और फिर हँसा क्यों? यह पूछने पर राजा ने सुनकर कहा - उद्यत बनिया अकारण बन्धु बना और राजा का विरोध किया। भाग्य में लिखे को पोंछने में कौन समर्थ हो सकता है। यह ध्यान कर वह रोया और उस नारी के वृत्तान्त पर हँसा। यह सुनकर वह वेताल जाकर फिर लटक गया। और अडिग निश्चय वाला वह राजा (विक्रमादित्य) भी उसे लेकर चल पड़ा (708-716)।

पन्द्रहवाँ वेताल

तब कन्धे पर पड़ा वह वेताल बोला - हे भूस्वामी सुनो। आपके बिना इन संदेहों को और कौन काटने में समर्थ है। नेपाल राज्य में धनसम्पन्न एक यशःकेतु नामक राजा हुआ। उसकी पुत्री शशिप्रभा नाम की थी जो रति का भी आभूषण थी। वनसन्तोत्सव के समय उस कान्त सुलोचना को फूल तोड़ते समय कभी मनःस्वामी नामक ब्राह्मण-पुत्र ने देखा। जिसके लावण्य के जल से निरन्तर ढोया जाता कामदेव त्रिवली के तट पर अपनी कोमलता का सहारा लेता है। पुष्पों के धनुष वाला कामदेव कान्ति के सब कुछ कोश बिम्बाधर की फैलती सिन्दूरी कान्ति से मुद्रित उसे देखकर वह काम के वशीभूत होकर पसीना पसीना हो गया। पुलकित होकर वह गहरे मोह में अस्थिर सा थक सा गया (717-722)।

1. शशि का शश नाम भी था। मूलदेव का शश मित्र था। इन दोनों से सम्बन्धित अनेक प्राचीन कथाएँ हैं। मूलदेव के ईसवी पूर्व प्रथम शती के सिक्के भी मिलते हैं। यह विक्रमादित्य का सभा धूर्त था।

इसी बीच मद के क्रोध से मारने वाला हाथी आया। वह अपनी सूँड घुमाता विशाल वृक्षों को खींच रहा था। वह मानो वायु से प्रेरित प्रलय का बादल हो गले की गुफा में से गम्भीर गरजन कर रहा हो। तब उसके डर से परेशान काँपती वह अपनी करधनी बजा रही थी। भाग्य ने अवसर दिया। अतः उस युवक ने उसकी रक्षा की। ब्राह्मण पुत्र द्वारा रक्षा होने पर वह चंचल नयनों वाली वह थोड़ी ठहरकर हड़बड़ाती अपने अन्तःपुर जनानखाना में चली गयी। वह युवक भी कामदेव के तीर के सार के पंख से पवनों से विरहाग्नि के बढ़ने से काँपने लगा। क्षीण चन्द्र के समान तीर की डंडी के समान पीली कान्ति वाला वह हो गया। तब जीवन की आशा में मित्र के घर पहुँचा। शशि¹ के साथ विद्यमान मूलदेव नामक मित्र को पाकर उसाँस लेते हुए प्रणाम किया जहाँ बहुत से सैकड़ों धूर्तों का आवास था। उसका उतरा मुँह देखकर मूलदेव भी उससे हँसते हुए बोला - काम के साँप ने डँस लिया लगता है। तब उसका विवरण सुनकर उसने उसे योग-गोली या अँगुठी दी। वह स्त्री रूप बनाती है। और स्वयं बूढ़ा बन गया। उस सुन्दर कन्या के रूप वाले ब्राह्मण कुमार को लेकर तथा स्वयं वृद्ध ऋषि का रूप धारण कर मूलदेव राजा के पास गया (723-732)। यशःकेतु ने उनका यथोचित सत्कार किया। तब मूलदेव ने कहा - हे राजन् अपने पुत्र के लिए मैं यह कन्या लाया हूँ। परन्तु वह युवक कहीं चला गया। मैं उसे खोजने के लिए जा रहा हूँ। आपके पास यह कन्या मेरी धरोहर रहेगी। आप तो संसार की रक्षा करने में सक्षम हैं। आप रक्षा करें। यह कहकर पलभर के लिए दम्भ से आँखें झपक गयीं। तब राजा ने अपनी पुत्री शशिप्रभा को बुलाकर आदेश दिया - इस ब्राह्मणपुत्री की सावधानी से रक्षा करना। उस मुनिवेश धारी के जाने पर अन्तःपुर में वह मिथ्या कन्या रूपधारी मनःस्वामी सोचने लगा - उस धूर्तशिरोमणि ने मेरा कुछ तो उपकार किया कि मैंने उस सुमुखी का उन्हीं आँखों से दर्शन कर लिया। यह ध्यान कर विश्वास के साथ उसने उस कन्या से किसी समय कहा - हे सखि तुम लगातार उसाँसें लेती रहती हो। कुछ उखड़ी सी दिखाई देती हो। बताओ। यह कन्या रूप में उसने पूछा तो उसे तन्वंगी ने स्तनों के हार को आँसुओं से भिगोते हुए कहा - सखि जब मैं उद्यान में हाथी से परेशान थी तब एक युवक को देखा जिसकी आकृति बनाने की पंडित कल्पना भी नहीं कर सकता। उसके नयनों की चाल की चतुराई से मैं वैसे ही मूर्छित हो गयी जैसे सर्प के विष से। अधीर हो रही हूँ। आज सपने में उसके साथ अनोखा रति-उत्सव हुआ। हे सखि वही पसीने और रोमांचित अंगों से प्रकट हो रहा है। यह सुनकर मनःस्वामी ने सोचा कि मैं धन्य हूँ। और योग की गोली से वह पुरुष की आकृति का हो गया। उसे पहचान कर तत्काल वह अमृत से भीगी के समान लजा गयी और उसके आलिंगन से काँपती हुई उसमें काम उत्पन्न हो गया (733-744)। मनोरथ ने जिसका अभ्यास किया और दिलने जिसे चाहा तथा कामदेव ने जिसका आदेश दिया वैसा उन दोनों का मिलन होता रहा। उससे सघन मिलन से इतनी पिघल गयी कि मन को अमृत देने वाली संताप

शान्ति उसे अचानक मिलने लगी। उसका सतत सेवन करते हुए वह दिन में कन्या हो जाता था। तब राजस्वला राजकुमारी ने समय पर गर्भ धारण किया। इसी बीच मामा की बेटी उसकी सुन्दरी मृगांकवती नाम की बहन को पिता ने मंत्री के पुत्र को दे दी। उस उत्सव में मामा ने राजकुमारी को भी बुलाया। पिता की अनुमति से उस छिपी मिथ्या सखी के साथ गयी। वहाँ उसे सुन्दरी मिथ्या सखी को देखकर मंत्री का पुत्र कामातुर होकर बेहोश हो गया। मूरख राजा ने उस मन्त्रिपुत्र को प्रिय समझकर वह ब्राह्मण की धरोहर कन्या अपने सभासद के वचन से दे दी। देने पर उसने कहा - हे राजन् यह कौन सा क्रम है कि विप्र की धरोहर इसे दे दी गयी। अथवा राजा कितने ही बली हों। मैं तो स्वाधीन हूँ। किन्तु यह मन्त्रीपुत्र तीर्थयात्रा करके ही मेरा स्पर्श करे। तब उसे पाकर मन्त्रीपुत्र उसी समय तीर्थयात्रा पर चला गया। वह ब्राह्मण कुमार उसकी पत्नी के साथ स्त्रीरूप में ही बना रहा। उस पर उसका विश्वास हो गया तब अपना असली रूप दिखाकर मनस्वामी उसके साथ रात दिन प्रसन्नतापूर्वक अभिसार करता रहा (745-755)। तब मूलदेव ने जाकर राजा से अपनी कन्या माँगी। शाप के डर से काँपता राजा निरुत्तर हो गया। मंत्रियों से विचार विमर्श करके उसके पुत्र के लिए अपनी पुत्री दे दी। तब मिथ्या पुत्र शशि को वह राजकुमारी दिलाकर महामति मूलदेव लौट गया। राजकुमारी के साथ और शशि के साथ जाते हुए मार्ग में मनःस्वामी को पाया तो सारी बात सुना दी। तब मनःस्वामी कहा - हे धूर्त शिरोमणि आपकी कृपा से मेरी इच्छा पूरी हो गयी। मुझे राजकुमारी दीजिए। यह सुन्दरी मैंने गान्धर्व विवाह से प्राप्त की। यह सुन्दरी मुझसे ही गर्भवती हुई। यह सुनकर शशि बोला - राजा ने यह मुझे सौंपी है। कन्या पिता के अधीन होती है। क्या यह बात तुमने नहीं सुनी? इस प्रकार उन दोनों के विवाद में मूलदेव भी सन्देह में पड़ गया। निर्णय नहीं कर पाने से मुँह नीचा कर लिया उसने। यह कहकर वेताल ने राजा से पूछा - मेरा संदेह दूर करो कि धर्मानुसार वह किसकी पत्नी है? यह पूछने पर राजा ने कहा कि धर्म से तो उसका पति शशि है। मनःस्वामी उसका छिपा कामी था। पिता ने उसे अर्पित नहीं की। यह सुनकर वह वेताल लुप्त होकर पुनः पेड़ पर लटक गया। वह राजा भी उसे कन्धे पर ले चला तो वह बोला - राजन् कथा सुनो (745-765)।

सोलहवाँ वेताल

हिमालय पर्वत पर श्रीकांचनपुरी है। रत्नों के परकोटे की किरणों से लगातार आकाश में उसकी चमक थी। उसका विद्याधर का स्वामी जीमूतकेतु राजा था। समस्त यश वाले उसकी अनन्तता विख्यात थी। उसकी पत्नी उसके अनुकूल थी। वह विद्याधरस्वामी की दोहित्री थी। वह कनकवती नाम की थी और सुन्दरी कामदेव की प्रसिद्धि का क्षेत्र थी। उसके उससे कल्पवृक्ष के वरदान से श्रेष्ठ जीमूतवाहन नामक पुत्र हुआ जो गुणों का समूह है। स्वर्णलता के कुंजों में राजा इन्द्र का स्वर्ग के आँगन में

उत्कण्ठा सहित त्याग से मनोहर कीर्ति गाते रहते हैं। समस्त गुणों से सम्पन्न उस पुत्र का अभिषेक करके पिता ने उसे अनेक सिद्धि का अमृत फल वाला कल्पवृक्ष दिया। कान्ता के कटाक्ष से चंचल यौवन, धन, जीवन आदि वह वृक्ष माँगने वाले को देता है (766-772)।

संसार में दरिद्रता नष्ट करने के लिए तत्पर स्वर्ण से सबको भरपूर करके वह वृक्ष पल भर में गायब हो गया। कुल में क्रम से आगत उस कल्पवृक्ष के न रहने पर उस अपूर्व त्यागी से तीनों लोक चकित रह गया। शत्रु राजाओं को जब यह ज्ञात हुआ कि वह देवतरु नहीं रहा तो आपस में मिलकर वे उसके राज्य को छीनने में लग गये। जीमूतवाहन को ज्ञात हुआ कि उस विद्या से रहित हो गया राज्य तो उस भाग्य से बन्द मन वाले ने अनिच्छापूर्वक राज्य त्याग दिया। वह माता-पिता के साथ तपस्या के लिए मलय चला गया जो आकाश यात्रा करने वालों के विलासघर सिद्धों से सेवित है। खेलते हुए सर्प के कंगन वाले सिद्ध समूह से सेवित शिवजी के लहराते नीलकण्ठ की कान्ति वाला वन हो। विचरण करती सिद्ध नारियों के चरण कमल की शोभा की वृक्षों की कतार को धारण करती है जो सागर के पलंग से लगी रहती है। सर्वथा हार से अंकित मकरन्द से उज्ज्वल पल्लू तथा चन्दन और गूगल से सुशोभित वह पर्वतों में प्रमुख और प्रथम है। समस्त सिद्धियों के आधार उस राज्य में पहुँचकर वह जीमूतवाहन माता-पिता की सेवा में लग गया (773-781)।

फिर किसी समय एक विश्वसनीय मधुकर नामक मित्र के साथ उपवनों में मनमाना विचरण कर रहा था। उसने वहाँ रमणीय कुसुमकरन्द नामक वन में प्रवेश करके सुगन्ध उगलने वाली पुष्पलता को देखा। जहाँ गगनविहारिणी नारियों के तारों जैसे नुपूर की आवाज वाले चरणघातों से अनुरागी अशोक फूले फूले सुशोभित हो रहे थे। जहाँ विद्याधर की वधू के मधु के कुल्ले के छिटकाव से बकुलों के फूलों के मुखों के विकास का आरम्भ जमुहाई जैसा लग रहा था (782-785)। जहाँ देवांगना के उन्नत स्तनों के पास मन्दार मकरन्द से भरपूर सुन्दर वायु बहती रहती है। जहाँ मंडराते भ्रमरसमूह को देखकर मेघ समझकर स्वर्ण कदली के कुंजों में मोरनियाँ नाचती रहती हैं। जहाँ किन्नरियों का उत्कण्ठा से कोमल गीत आँसू बहाती हरिणियाँ अचल होकर सुनती रहती हैं। कैलास पर्वत के शिखर के विस्तार का भ्रम देने वाला समुन्नत प्रासाद देखा जिस पर पताका गंगा बन जाती है। शुभ्र कांति से दिशाएँ स्पष्ट हो गयीं ऐसा हिमालय मानो पुत्री-प्रेम से स्वयं आ गया हो। देवी के उस गर्भगृह में वीणा की धुन पर हृदय के आनन्द का झरना कान का अमृत सुना। वह सुनकर कुतूहल से खींचा पार्वती मन्दिर में प्रवेश कर उसने कमलनयना संसार की सार कन्या को देखा (786-792)।

ताजे पत्ते की कान्ति वाले दोनों चरण कमल सुशोभित हो रहे थे। रंग के समुद्र के संचार से मानो लाल रस लग गया हो। सौन्दर्य रूपी कमलिनी के छोटे हल्के कमलतंतु

के समान दोनों पिंडलियाँ उसकी शोभा की हँसी सुशोभित हो रही थी। विलास के मयूरपिच्छ की कदली के दण्ड जैसी जाँघें धारण किये थीं। कामदेव की नगरी के रणमीय दंततोरण का भ्रम देने वाली सौन्दर्यसरिता के तट रूपी पलंग के बिछौने पर रति की करधनी की परिखा वाली कामनगरी सा उसका जघन है। उसकी नाभि के गड्ढे के भँवरे में कामदेव के क्रोध की आग से व्याकुल काम का रोमावाली की धुँएँ की लकीर से अनुमान होता है। तारों वाले हार की किरणों से खिले खिले उसके दोनों स्तन ऐसे लगे हैं मानों मुख में लघु कमल तंतु का अंकुर लिये चक्रवाक हों। उसके कंगन और भुजबन्ध के नील रत्न की किरणों के फणों से तरुणाई की चन्दनलता के समान ललित दोनों भुजाएँ लगती हैं। कामदेव के छोटे वसन्त से अधरों की कान्तियों से उसकी वनस्थित किसलयों की पंक्ति श्यामल दिखाई देती है। उसकी स्पष्ट नासिका के बाँस पर ललाट के छत्र पर आश्रित कटाक्ष की छटा ने नीलकमल को बँधन से बाँध दिया। मुख कमल के भँवरों की पंक्ति जैसी बालों की पंक्ति है मानो कामदेव ने सौभाग्य-राजा की प्रशस्ति रख दी हो। उसे देखकर उसकी आँखें विस्मय से फैल गयीं और वह उसमें ही तन्मय हो गया और शीघ्र ही नये अवतरित कामदेव से वह चंचल हो गया (793-803)।

पुण्य से पाया जाने वाला तरुणाई का कल्पतरु रूप शान्त काया धनुष चढ़ाये कामदेव जैसा लक्ष्मी के विलास के भवन भुजस्तम्भों से विभूषित वाले उस राजहंस को वह सौन्दर्य की कमलिनी भी देखकर लज्जा गयी और उसकी काया लता कंपन की संपदा से तरंगित हो गयी। वह पसीने की बूँदों से बिना धागे की मोतियों की लता (माला) हो गयी। उसका वक्षस्थल तत्काल रोमांचित हो गया। मानो पुष्प के बाणों से बिखरी केसर फैल रही हो। तब सरलता से उस तरुणी के पास पहुँचकर जीमूतवाहन ने उपहार रूप में दाँतों की किरणों का कपूर भेंट करते हुए कहा - हे सुनयना आचरण में रोचक यह आपका कैसा क्रम है कि उससे बात करके प्रेमीजन पहले स्वागत करते हैं। यह कहकर उसके मुखकमल पर अपने नयनभ्रमर को टिकाकर चंचल कुण्डल की कान्ति से जगमाते मुख वाले उसने उस सखी से पूछा - कौतुक से कलियाँ खिलाता चंचल स्वभाव का मनहर मानव गुण का आधार किसका मन रसाधार पर नहीं डोलता ? विधाता की सीमा निर्माण में तीनों लोक के नयनोत्सव ललित आकृति वाली यह कन्या किस कुल का अलंकार है ? यह पूछने पर उस सखी ने प्रेम से मन्थर गम्भीर, उदार और मधुर उसके आशय को ताड़ती हुई बोली - उन्नत सत्त्व वाले आप जैसों के दर्शन से इसका मन क्यों न नाचे। पर हे नाथ आपके सामने यह लाज का घर रूप कन्या का उत्सवमय क्षण उपस्थित हो गया है। यह सुप्रतिभा ललना के समान बातचीत में आपके सामने मुखर कैसे हो सकती है ? (804-815)

सिद्धों के स्वामी की यह पुत्री है जो वंश के मोतियों की लता है। इसका नाम मलयवती है। पार्वती की नित्य स्तुति करना इसका व्रत है। यह कहकर सखी ने तत्काल

उसके मित्र से खूब अभिनय वाली जीमूतवाहन की कथा सुनी। तब नये खिले कुसुमबाणों से तरंगित कान्ता को दृष्टि से पीते हुए जीमूतवाहन ने कहा। सहज अभिलाषा से, कान्ति से और गुणों से इनके जल्दी दर्शन होना इस जन्म का फल है। आनन्द से मधुर दृष्टि है। मन प्रेम से लहरा रहा है। तुम्हारी बाहरी आचरण की शोभा प्रेम से तरंगित औचित्य सज्जनों का इतना ही होता है। अमृत बरसाने वाला समागम देखने की कृपा आदि ऐसी काया को कौन नहीं मानता ? विद्याधरों के उस राजा के इस प्रकार आनन्दपूर्वक कहने पर उस कन्या को प्रतीहारी ने बुलाया तो वह माता के पास चल पड़ी। मुझ पर जो अत्यन्त कोमल मन धरोहर रखा है उसका पालन करना। जाते हुए नूपुर की ध्वनि से मानो ऐसा उसने प्रिय को कहा (816-823)। कुल्हे मरोड़ते हुए एक स्तन दिखाते हुए उसने बालों के भँवरे हटाने के बहाने उस पर उसने नजर डाली। कंपन और स्तम्भ से रोकी गयी वह दुबली कठिनाई से अपने सुकुमार मन से विशाल भुजा वाले को ले जाते हुए गयी। उसाँस लेते हुए खिसकते आँचल वाली वह अपने अन्तःपुर में पहुँचकर कामदेव द्वारा डँसने के कारण बिछौने पर जा गिरी। शीघ्र ही उसकी विरहाग्नि बढ़ गयी जो आँसुओं के जल की सिंचाई से अधिक भड़क रही थी। इसी बीच सूर्य के सागर में प्रवेश कर जाने पर कमलिनी वन वाली साँझ अनुराग से भर गयी। तब कमल बन्द होने से चकित भँवरे धरती पर घूमने लगे। मानो साँझ ने तत्काल अन्धकार के बीज गण बो दिये हों। काजल जैसे काले रात के मुख के बालों जैसे अन्धरे से तब मानो चकवी के वियोग की अग्नि के धुँएँ की कांति उड़ने लगी। नील कमलों से हटाये गये भँवरों से मूर्च्छित नीलकण्ठों द्वारा उगला गया चिरकाल तक अन्धकार फैलने लगा (824-831)।

तब चण्डीपति शिवजी के जटा के घेरे का अलंकार रात का कपूर का तिलक रोहिणी का पति शशि दिखाई दिया। दिशा रूपी प्रिया से क्रीड़ा से प्रसन्न रात के मोतियों के कुण्डल कामदेव के शुभ्र छत्र चन्द्र के मुस्काते हुए उदित होने पर प्रफुल्लित पुष्पों की प्रसन्नता से प्रसंशित नीलकमल वाला तब कमलिनी के विरह में उसाँस लेता मन्द पवन बहने लगा। नारियों के हृदय के अकारण तोड़ने के यंत्र के पत्थर की प्रणाली के कामाग्नि के कुण्ड की महा ज्वाला बढ़ जाने पर चन्दन रस लगाकर केले के पत्ते पर सोने वाली वह सिद्धपति की पुत्री गहन संताप से थक गयी। न पानी के गीले कपड़ों से, न हारों से, न कमलों से और न चन्द्रकान्त मणियों से उसकी कामाग्नि शान्त हुई। लजाते हुए पास वाली सखी को उसने कहा - अरे वहाँ तू ही मेरे प्रिय को देखने की गवाह थी। अब मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ यह मैं किससे कहूँ ? कामदेव ने तो यह मेरा कन्या विरोधी सिलसिला शुरू कर दिया। प्रेमिका नारियाँ निर्लज्ज होती हैं जो स्वयं प्रिय के पास सन्देश भेजती हैं या स्वयं जाती हैं। उस अनमने को क्रीड़ापूर्वक क्या संदेश दें ? वह भाग्यशाली युवक

1. ईस्वी पूर्व प्रथम शती में उड़ीसा के राजा का ऐसा ही है नाम था - मेघवाहन।

किसकी बात सुनेगा ? (832-841) यह कहें कि सूचित किया तो हल्कापन होता है, कहते हो - तो ढीठपन, आओ कहें तो उपेक्षा पूर्वक गर्व होता है तुम्हारी प्रिया हूँ कहूँ तो ध्यान नहीं देने की बात है, आ रही हूँ तो अनुचित होता है और काम व्यथित हूँ तो चंचलता होती है। सखी समझ में नहीं आता कि क्या कहना चाहिए, यद्यपि वह निकट ही है। अब तो इस सार्थकता समाप्त होने की स्थिति में मृत्यु ही मेरी शरण है। सखी को यह कहकर उसने झरनों द्वारा संताप के दुःख से कठिन स्तनों को चन्दन से गीला किया। इसी बीच जीमूतवाहन भी विरह से व्याकुल हो गया। सन्ताप से विह्वल होकर हवा लगने की हालत से गयी। दुर्बल एवं ध्यान में मौन उसके पास पहुँचकर मित्र मधुकर ने कहा - हे मित्र तेरे मन में यह कैसी उथल पुथल है। सज्जन लोग विद्याप्राप्ति के परिश्रम में लगातार लगे रहते हैं जिससे बुद्धि की अस्थिरता से बाधा-कष्ट आने पर भी उसके चक्कर में नहीं पड़ते। यह सुनकर संतप्त जीमूतवाहन पल भर धरती की ओर देखते हुए उससे बोला - मैं स्वस्थ हूँ। तब मित्र ने ताजे चन्दन पत्रों के बिछौने पर पहुँचाया तो उसे वहाँ भी शान्ति नहीं मिली। इसी बीच विरह सहन नहीं होने से मलयवती ने गौरी के आश्रम में आकर वृक्ष पर फाँसी का फन्दा बनाया (842-852)। तब पार्वती को प्रणाम करके 'हाय मारी गयी' यह कहती हुई रोती हुई वह आँसू बहाती मृगनैनी कहने लगी - दूसरे जनम में भी वह जीमूतवाहन' ही स्वामी बने। यह कहकर वह फन्दे की ओर हुई। यह सुनकर मित्र के बुलाने पर जीमूतवाहन ने वृक्षलता के पीछे छिपकर उसे सुना और देखा। तब देवी ने कहा - हे पुत्रि साहस मत कर। तेरा पति जीमूतवाहन चक्रवर्ती होगा। इस प्रकार देवी का वरदान पाकर उसने सामने खड़े हुए जीमूतवाहन को देखा तो हर्ष और लज्जा से उसकी आँखें अधमुँदी हो गयीं। इसी बीच सेविका ने आकर उसे बताया - देवि बधाई हो। भाग्य से आपके लिए महोत्सव हो रहा है। पिता के निर्देश पर आपके भाई कर रहे हैं। विद्याधर के पुत्र जो सादर खड़े हैं, उन जीमूतकेतु के पुत्र को देने के लिए उपस्थित हुए हैं। अतः चलो आपके पिता ने आज ही विवाह रखा है। यह सुनकर वह मोहक मुस्काने वाली शीघ्रता से चली गयी। जीमूतवाहन ने भी जल्दी से पिता के पास पहुँचकर मंगल विवाह के योग्य गहने पहने। तब महोत्सव का आनन्द देने वाले सैकड़ों विद्याधर जिसके पीछे चले उसने उस प्रियतमा से विवाह करके सम्भोग में डूब गया। उसने अपनी प्रिया के अग्रज मित्रावसु को भी अपने बराबर महत्व दिया जो विलास क्रीड़ा की लीला में गहरे प्रेम का पात्र था (853-863)। तब किसी समय वह निश्चिंतता से मित्रावसु के साथ सागर तीर के वन को देखता हुआ विचरण कर रहा था। वहाँ शिखर के आकार का सर्प की अस्थियों का ढेर देखा मानो प्रलय के समय पाँचों महाभूत ओलों से भर गया हो। तब उसने जल्दी से मित्रावसु से पूछा - यह क्या है ? तब उसने कहा - उत्तम सर्पों को गरुड़ खा गया यहाँ।

1. यही कथा हर्ष के नाटक नागानन्द का मूल है।

सब नष्ट होने से डरते गरुड़ से तब वासुकि नाग ने याचना की तो उसने तय किया कि वह प्रतिदिन एक नाग को खाएगा। उनकी हड्डियों का समूह यह पर्वत शिखर जैसा ऊँचा हो गया। यह कहकर पिता के बुलाने पर तत्काल मित्रावसु चला गया। सर्पों पर दया से भर कर अकेला जीमूतवाहन विचरने लगा, यह सोचते हुए कि संसार में सार नहीं है। तब एक लड़के द्वारा बार बार ढाढस दी जाती एक वृद्धा स्त्री को देखा जिसका क्रन्दन से ओठ और मुख सूख रहा था। उस लड़के का मुख पूरे चाँद जैसा सुन्दर था जिसकी शोभा से दिशाएँ चमक रही थीं। उसके फैले फण के रत्न समूह से आकाश पीला हो रहा था। वह आनन्द का तालाब, चलता फिरता सन्तोष था। उस युवापुत्र को देखकर आँसू बहाती गद्गद् रो रही थी। सुन्दरता के अमृत की किरणों वाले, नेत्रों के आनन्द हाय पुत्र, शंखपाल महावंश में प्रकट मोतियों के महामणि, हाय शंखचूड़, सुन्दरता का कोष है तेरा यह शरीर। यह गरुड़ की चोंच के नुकीले असह्य वज्र को कैसे सहन करेगा। डरपोक नागराज ने तुझे गरुड़ के लिए भेजा है। तेरे इस सुकुमार शरीर का कौन रक्षक बनेगा ? इस प्रकार पुत्र का मुख-कमल सूँघकर वह रो रही थी। तब दया से व्यथित जीमूतवाहन' ने उसके पास जाकर कहा - माताजी, तुम्हारे पुत्र की रक्षा का मैंने निश्चय किया है। इस असार संसार में परोपकार कहाँ पाया जाता है। इस नाशवान् शरीर का यही सार संचय है जो दूसरों को कष्ट से बचाने का पवित्र पात्र बन जाए (864-878)।

यह सुनकर गरुड़ की शंका से परेशान वृद्धा पुत्र को पाकर काँपती हुई उसे प्रणाम करने लगी। मैं नागपति नहीं हूँ। पर अपना शरीर देकर तेरे पुत्र की रक्षा करने वाला मैं विद्याधर हूँ। यह उसने कहा। तब उसे बुढ़िया ने कहा - तब तो तू शंखचूड़ से बढ़कर है मेरे लिए। सैकड़ों कल्पों तक हे सौम्य अपने इस शरीर की रक्षा कर। उसके ऐसा कहने पर शंखचूड़ अत्यन्त चकित होता हुआ भाल पर अंजलि बनाकर उसे मुस्काते मुख वाला बोला - तुम साहसी का दर्शन हो गया, आपका अभिनन्दन है। पूर्णिमा के चन्द्र से प्रकट होती किरण वाला तू किसे प्रिय नहीं है ? आश्चर्य है कि अपने प्राणों को मेरे लिए देने को तैयार हो। घास के तिनके के लिए रत्न का विक्रय कैसे सहूँ मैं ? संसार सागर में मेरे जैसे कितने ही उत्पन्न हुए और चले गये। परन्तु आप जैसे कौस्तुभ की उत्पत्ति कहाँ दिखाई देती है ? वाणी से ही तुम्हारा यह सत्वशीलपन मुखचन्द्र में शोभित होता है। संसार के अन्धकार को अनुचित स्थान पर गिरा रहे हो। मेरे वियोग की आग से रहित होने का आप आश्वसन दें मेरी माता को। आप तो बिना मिले ही ऐसे सज्जन हैं जो चिरकाल से बन्धु हो (879-887)।

नागकुमार की यह कुलोचित बात सुनकर जीमूतवाहन ने कहा - अरे तुम तो अनोखी बात कह रहे हो ? हे मित्र कुल के अलंकार तुझ पुत्र के बिना यह वृद्धा कैसे जिए ? माताओं के लिए यह असहनीय दुःख है। इसकी रक्षा करने के लिए तुम अपनी रक्षा करो। यह तुम्हारे लिए जी रही है। अरे समझदार इसके प्राणत्याग के तुम कारण मत बनो। हे

महामति मेरे शरीर से दोनों की रक्षा करो। यह कहकर वह शंखचूड़ के पैरों पर गिर गया (888-891)

नाग पुत्र ने तब अबाध व्याकुलता से उससे कहा - मेरे जैसे लोग ऐसी बात सुनकर कभी विवेचना नहीं करते। शंख धवल और शंखपाल वाले महाकुल को शंखचूड़ द्वारा कायरता से कलंकित नहीं करना है। हे स्वामी गरुड़ (के आने) का समय निकट है। कल्याण हो। स्वामी शिवजी को प्रणाम करके गोकर्ण वधपर्वत पर शीघ्र जाता हूँ। यह कहकर वह पलभर में चला गया और पीछे-पीछे माता भी चली गयी। तभी प्रलय काल की भीषण आँधी से संसार व्याकुल हो गया। काल की भुजाओं के शंख की कान्ति की छटा से क्षितिज छा गये। सागर की लहरें मगर जैसी विशाल भयानक उड़ने लगीं। तब प्रचण्ड सूर्य से तपे मेरु पर्वत की किरणों से प्रचुर प्रयत्नाग्नि से मानो आकाश पीला पड़ गया। पंखों की हवा से गरुड़ का आगमन सूचित हुआ। तब मदभरा जीमूतवाहन शिला पर चढ़ गया। रत्नों के आँचल से ढका वह सोचने लगा कि प्राणियों के उपकार के लिए मेरा फिर फिर जन्म हो (892-899)।

तब आकाश में दिशाओं को जलाने वाली लाल छबि दिखाई दी। तब प्रलय की अग्नि की ज्वाला के समान चंचल पींख डुलाता पक्षियों का स्वामी उसकी तीव्र गति की टकराहट से फैलती बादलों की गड़गड़ाहट तीनों लोक ऐसा चिल्लाने लगा मानो असमय प्रलय से परेशान हो। तब उसने धैर्य के सागर उस विद्याधर शिरोमणि की चूडामणि से शोभित सिर की चोटी का हरण कर लिया। तब अपनी चोंच में उसका शरीर लेकर वह पक्षी आकाश में अलग अलग गति में गोल गोल घूमने लगा। उसकी चोंच की करवत से सामने रक्तधारा बहने लगी। तो मलयवती की गोद में उसकी चोटी का रत्न गिरा। उसे देखकर वज्र से कटी शिरीष लता के समान उस तन्वी ने व्यथित होकर जीमूतकेतु से निवेदन किया। तब अपनी विद्या से अपने पुत्र के प्राण देना जानकार अपनी पत्नी और वधू के साथ उस गरुड़ शिला पर गया (900-906)।

इसी बीच शीघ्रता से शंखचूड़ वहाँ गोकर्ण सागरतट पर मन के वेग से आ गया और प्रणाम कर देखा कि नख और मुख से उखाड़ा हुआ लटके सिर वाले विद्याधर स्वामी को लेकर गरुड़ आकाश में उड़ गया। उसे देखकर बिना आघात बहते आँसू वाला वह 'उसके वध में स्वयं को कारण मानकर' रोने लगा। हाय सत्व, प्रचुर उदारता, धीरज और गम्भीरता के सागर, हाय पूर्ण करुणा के कोष, हाय अकारण बन्धु - इस प्रकार शोक करता हुआ गरुड़ का अनुसरण करने के लिए प्राण त्याग का दृढ़ निश्चय करके वह गया। गरुड़ भी आकाश में शीघ्र ही छटपटाहट बन्द हो जाने पर जीमूतवाहन का आस्वाद ले ले कर चकित हो गया। अरे यह कौन धैर्य का सागर साहसी है कि खाये जाने पर जिसके अंग पुलकित होते जा रहे हैं। जीव बचने पर भी जो प्रसन्नमुख है। यह सोचकर गरुड़ ने पूछा - तू कौन है? तो उससे उसने कहा - तुझे इससे क्या? तू तो मुझे खा न! इसी समय

शंखचूड़ ने वहाँ आकर उससे कहा - हाय हाय गरुड़ ऐसा साहस मत कर। क्या देख नहीं रहे इस विद्याधरस्वामी के स्वस्ति के आकार का हृदयस्थल (907-916)।

वो नाग तो मैं हूँ जो आपका भोजन है। देखो मेरी दो जीभ-लताएँ। विषभरी मेरी फैलती फूँकार और रत्न वाले मेरे फण। महाशय मेरे शरीर में अभी भी माँस और रक्त है। तुम तृप्त नहीं दिख रहे हो मुझे। ऐसी स्थिति में तुम दूर क्यों खड़े हो? यह कहकर शरीर ऊँचा तान कर तथा विशाल वक्ष फैलाकर उसने गरुड़ को बार बार कहा - मुझे शीघ्र खा जाओ। तब अस्थियाँ शेष रह गयीं - ऐसे उसे त्यागकर दुःखी सर्पस्वामी पर जीमूतवाहन की बहू अपने दोनों गुरुजनों के साथ आ गयी। मलयवती ने ऐसी दशा में आये प्राणनाथ को सामने देखकर अपूर्व दुःख की अग्नि के धुँसे अन्धरे वाली अचेतन हो गयी। पुत्र को देखकर जीमूतकेतु पत्नी सहित गिर पड़े मानो जड़कटा चन्दन का वृक्ष। उन्हें गरुड़ ने ढाढस बँधाया उन्हें तब जीमूतवाहन को हाथ से छूकर करुणस्वर में माता दुःखी हो गयी। थोड़ी देर में जीव शेष होने पर वह माता से धीरे से बोला - माताजी यह शरीर तो नाशवान् है। इसका क्या दुःख करना? यह संसार तो वायु से उठी तरंगों की भँवरे हैं। पुण्ययोग से दूसरे के लिए प्राण देने का अवसर आता है (917-925)।

यह कहकर मुख की कान्ति बनाये रखते हुए प्राणों को त्यागते हुए प्रचुर शोक के अन्धकार से मानो संसार को भर रहा था। तब मलयवती ने मरने का निश्चय कर लिया। दुःख के स्तम्भ से वह ऐसी रोकी गयी कि न तो चल पायी न गिर पायी। तब भक्त वत्सला भगवती गौरी ने अमृत के सार से आश्वासन देते हुए उसके पति को जीवित कर दिया। उस युवक को चक्रवर्ती की सम्पदा देकर शीघ्र ही लुप्त हो गयी। तब गन्धर्वों सहित देवताओं ने उसकी प्राणशक्ति की पूजा की। तब वर देने वाले गरुड़ से उसने याचना की जो आत्मा से प्रसन्न था। उसने समस्त नागों को अभय की पवित्र दक्षिणा दी। अपनी प्रिया का मित्र जीमूतवाहन भी प्रसन्न होकर चला गया। यह कहकर वेताल ने राजा से पूछा - आत्मशक्ति वाला शंखचूड़ था या जीमूतवाहन? यह पूछने पर राजा ने कहा - आत्मशक्ति वाला शंखचूड़ है जो बालक होने पर भी वह महाशय अपने औचित्य से नहीं डिगा। जीमूतवाहन के इस आत्मदान में क्या अनोखापन है? प्राचीन काल में बोधिसत्व ने कई बार शरीर दिया। तीव्र तप, शुभ्र यश, श्लाघ्या लक्ष्मी, अद्भुत आत्मशक्ति, अकारण दान - ये लोगों में पूर्वाभ्यास से ही उत्पन्न होते हैं। यह सुनकर वेताल गायब हो गया और उसी फाँसी के फन्दे से शीशम के पेड़ पर लटक गया (926-935)।

सत्रहवाँ वेताल

फिर उस वेताल को लेकर राजा तीव्र गति से चल पड़ा। कन्धे पर पड़ा वह बोला - यह कथा सुनो। रुद्रक (कनक) पुर में राजा श्रीमान् यशोधन था। जिसकी कीर्ति के सामने मान्धाता, राम, नहुष भी मानो भुला दिये गये। किसी समय डर से एक बनिये ने

आकर कहा - हे देव मेरे एक कन्यारत्न है। उसके लिए आप ही पात्र हैं। यह सुनकर राजा ने उसे देखने के लिए ब्राह्मणों को भेजा। उन्मादिनी नामक की उस लड़की को देखकर वे उन्मत्त हो गये। तब ब्राह्मणों ने सोचा कि इसे पाकर राजा प्रेम में इतना डूब जाएगा कि प्रजा के काम से विमुख हो जाएगा। तब उन्होंने आकर राजा से कहा कि कन्या में बुरे लक्षण हैं। इस प्रकार अनादृत वह कन्या राजा ने अपने सेनापति को दे दी। तब वसन्त के समय मतवाले भँवरों के सफेद फूलों पर मंडराने पर कोयल की कूक से, पराग से, मलयपवन से व कामियों द्वारा कुंकुम के अंगराग से कामियों द्वारा अंकित करते हुए मानो राजा गजराज रूपी पर्वत पर स्थित चम्पा का सिर पर सेहरा बनाकर अशोक की माला की कान्ति वाला मानो दूसरा वसन्त आ गया। तब कमलनयन राजा नगर में चैत्रोत्सव देखने के लिए विचरने लगा। तब कामदेव की शंका में उसे सुन्दरियाँ देखने लगीं। तब उस अभिमानिनी युवती ने उन्मत्त होकर यह सोचकर अपने महल से उस राजा को स्वयं को दिखाया कि इसने कुलक्षणा मानकर मुझे अस्वीकार कर दिया था। नेत्रों की किरणों से खिलती, हाथों के पत्ते उत्पन्न हुए वह मोहक मुसकान से खिली साकार चैत्र लक्ष्मी जैसी सुशोभित हो रही थी। तारों के हार की किरण के फैलने के फेन वाले कान्ति के समुद्र में उसके कटाक्षों से यमुना के भँवरों का भ्रम होता था। बिम्बा फल के समान अधर के लाल पत्ते पर चंचल नयनों के भँवरे वाला उसका मुखकमल सुगन्ध और मुस्कान की केसर बिखेर रहा था (936-949)।

कामदेव के उद्यान की चाँदनी वाली उस चन्द्रमुखी को देखकर राजा समझ गया कि - अरे मैं तो टगा गया। तब राजधानी (महल) में प्रवेश करके काम ज्वर से पीड़ित उसे न उद्यानों में, न बावड़ियों में और न महलों में धीरज मिला। जिन बुरी नीति की मति वालों ने 'बुरे लक्षण वाली' और 'पगली मतवाली' कहा था वे ब्राह्मण मेरे नगर से निकल जाएँ। यह आदेश देकर राजा रात दिन जलने लगा। केल के पत्तों के बिछौनों पर चन्दन का पानी छिटककर वैद्यों द्वारा सेवा की जाने पर भी स्वस्थ नहीं हुआ। काम-ज्वर का इलाज तो प्रिया के आलिंगन के अमृत की निश्चिन्त प्राप्ति से विराज नामक ठाकुर ने अन्य बातचीत में पूछा तो राजा ने कहा - मित्र उस सुन्दरी सेनापति की पत्नी के बिना मेरे प्राण कहीं जाने को तैयार हो रहे हैं। यौवन के उदय के चन्द्रमा के समान उस मुख को जो देखते हैं वे धन्य हैं जो सुन्दरता के रसायन से तरंगित हो रहा हो। मैं राजा हूँ और मेरा परदार से संगम शोभा नहीं देता। असावधानी से मूर्ख राजाओं का मरना ही मार्ग है। यह कहकर उस दुर्बल काया वाले ने लम्बी और गरम साँस ली। मित्र मैं यह भी नहीं कहता कि उसे लाओ। सारा विवरण जानकर दूसरे दिन सेनापति ने उसके पास आकर उस बलधर ने अपने मन से प्रणाम सहित कहा - आप समस्त रत्नों के एकमात्र पात्र हो, अन्य देवता हो। नारियों में उत्तम रत्न उन्मादिनी नामकी मेरी पत्नी को ले लीजिए। तब यह सुनकर हँसते हुए राजा ने उसे कहा - अरे भक्त होकर भी मेरे सेवक ने कभी अहित नहीं

चाहा। यह संसार लोक नहीं है। कलियुग के कीचड़ से भरा है। पवित्र शील सम्पन्न चरितों से जगमगा रहा है। उस पर मैं राजा न्यायाधीश के पद पर स्थित हूँ। गहरी अनीति से लिपटी बुराई की चिन्ता की बीमारी कैसे स्वीकार करूँ? कुल में जनम के गुण होते हैं। धर्म और यश पर आदर है। सच कहूँ परनारी को सोचना मेरे योग्य नहीं है (950-965)।

यह कहते राजा ने सेनापति से कहा - मैं इस उन्मादिनी को मन्दिर में नर्तकी (देवदासी) बना देता हूँ। हे देव इस देवदासी से सहवास करें। इसमें दोष नहीं है। इस प्रकार उसके प्रार्थना करने पर भी राजा ने क्रोध से उसकी निन्दा की। तब सेनापति के जाने पर उसी उन्मादिनी को याद करते हुए प्राण देकर यश के विमल शरीर में प्रवेश कर गया। उस राजा के मरने पर दुःख से व्यथित सेनापति अग्नि में प्रवेश कर गया। सज्जन लोगों की अन्त पर नजर रहती है। यह कहकर वेताल ने राजा से पुनः पूछा - सेनापति और राजा में कौन अधिक पुण्यात्मा है? राजा ने कहा कि सेवकों की स्वामिभक्ति में आश्चर्य नहीं है। प्रशंसनीय तो अकेला राजा है जिसने प्राण त्याग दिये परन्तु निश्चय नहीं त्यागा क्योंकि राजा तो हाथियों के समान उदाम मद से भरे लीला से बन्द नजरों वाले न सुनते हैं और न देखते हैं। नारियों के समान सद्भाव, महान् लोगों के समान ऐसा राजाओं के विवेक की कब किससे उपमा दी जाए? यह सुनते ही वेताल शीशम के पेड़ पर चला गया। उसे फिर लेकर राजा पवन के समान चल पड़ा (966-974)।

अट्टारहवाँ वेताल

तब कन्धे पर पड़े उस वेताल ने राजा से फिर कहा। राजन् एक कथा सुनो। अन्य कौन संदेह काट सकता है? उज्जयिनी के एक चन्द्रप्रभ नामक राजा के नगर में अत्यन्त धनी देवस्वामी (चन्द्रस्वामी) नामक एक रईस था। उसका पुत्र श्रुतसागर था। जुए के व्यसन में लग गया था। गुण बिना कलंक के नहीं होते। वह वृद्ध छली लोगों व धूर्तों के बहाने बहुत सा धन जीत गया। लताओं से उसे बाँधकर रोज पीटा गया। वह चुप ही रहा। यह मर गया - यह समझकर कालान्तर में उसे त्याग दिया। तब वह दुर्बल निर्धन पूरी तरह से संप्रहित धन का आश्रित रात में चला गया। उस असहाय ने किसी तरह सूने मन्दिर में पहुँचकर देखा कि भस्म से विभूषित खोपड़ी के सिरे के सोंटे वाले एक दीन तपस्वी को देखा। उस तपस्वी ने भूख से दुर्बल को निमंत्रित किया। उसने विद्या निर्मित कंचनपुर में विप्र को भेज दिया वहाँ हिरण के बच्चों जैसी आँखों वाली सैकड़ों चन्द्रमा की कान्ति वाली सुन्दरियों द्वारा राजा के योग्य शिष्टता पूर्वक उसने स्नान, भोजन आदि पाया (975-982)।

चंचल करधनी की ध्वनि पूर्वक देवांगना के साथ वहाँ अनोखा और सुन्दर सहवास उसने पाया। इस प्रकार उस विद्या से बताया गया भाग्य का अनुभव करके वह प्रातः उठा तो उन सबके बिना वह प्रचुर दुःख से व्याकुल हो गया। तब उस साधु ने उस

पर कृपा करके प्रतिदिन वही किया कि रात जो सब कुछ दिखाई देता था वह सब दिन में कुछ नहीं रहता। तब किसी समय आराधना करके वह ब्राह्मण उससे बोला - हे भगवन् इच्छानुसार प्रदान करने वाली विद्या मुझे दें। इस प्रकार प्रार्थना करने पर वह व्यापक आशय वाला बोला - समस्त अनुराग आदि बंधनों के कठोर नियमों से यह विद्या पायी जाती है। जल के भीतर मुख तक पानी में जप से यह विघ्न करने वाली विद्या पाई जाती है। पानी में प्रवेश करते ही तू उसी क्षण विघ्न करने वाली विद्या को स्वप्न रूप में देखेगा। बन्धु, पुत्र, पत्नी वाले स्वयं को उत्पन्न को पुनः यदि तट पर खड़ा हुआ मैं स्मरण कराऊँ तब अग्नि में प्रवेश करोगे तब इस विद्या को प्राप्त करोगे। यह कहकर उसने नदी के तट पर उसे अपनी विद्या दे दी। ब्राह्मण भी वह विद्या प्राप्त कर जप करने के लिए पानी में प्रवेश कर गया। वहाँ स्वयं को स्वयं द्वारा भूल कर उसने देखा - हिरण्यपुरी में शंकर के पुरोहित रूप में उत्पन्न हुआ और समय पर विद्या, कला और गुणों से वह बढ़ रहा था। विश्वसनीय शशीप्रभा नामक पत्नी को प्राप्त किया। वह युवक वन में वसन्त के संतोष के विश्रान्ति भवन में उस आकर्षक देह वाली मृगनयनी के साथ विहार करता रहा। वहाँ उसने देखा कि वह प्रिया सैकड़ों दासियों से घिरी खेल रही है। संयोग से उस प्रिया को सर्प द्वारा धरती पर मारी गयी देखी। काम की विषम स्थिति से उसे देखकर वह रोने लगा। हाय प्रिये, हाय मन के सागर की चाँदनी, हाय सुनयना मुझ अविनीत की लक्ष्मी के समान कहाँ चली गयी सुन्दरी। इस प्रकार आँसू से गदगद वाणी द्वारा चिरकाल रोते हुए उसे देवदूत ने कहा - इसे आधी आयु दे दे। यह सुनकर उसने उसे अपनी आधी आयु दे दी। इससे उसे जीवन मिल गया तो उसने उसका आर्लिगन करके वह प्रशंसा की। तब समय पर कमल जैसी आँखों वाला पुत्र प्राप्त किया। वह स्नेह का घर और उसका अपना प्रतिबिम्ब था। इस प्रकार माया के विकल्प से उठी उस माया को देखा। इसी बीच तब उस तपस्वी ने उसे जगा दिया। याद करके अग्नि में प्रवेश के लिए वह अचानक तैयार हो गया। तब बन्धुओं के करुण रोने-चिल्लाने की ध्वनि की वाणी सुनाई दी। गोद में बेटा लेकर उस मृगनयनी पत्नी के द्वारा प्रयत्नपूर्वक विनती करने पर भी आग में प्रवेश कर ही गया (983-1002)। अपने पीछे मरने को उत्सुक पत्नी को देखकर वह माता सहित 'हाय मैं पापी हूँ' यह सोचकर थोड़ी देर के लिए वह जड़ हो गया। बर्फ के समान ठंडी ज्वाला वाली उस अग्नि द्वारा वह नहीं जलाया गया। जल में जप करता हुआ वह नदी के तट से निकल आया। यह सब दिन के चौथे भाग में चकित होकर देखकर पूरा विवरण हाथ जोड़कर तपस्वी को बता दिया। तब दुःख से व्याकुल वह तपस्वी बोला - हाय यह विकल्प तो बुरा हुआ। तेरी सिद्धि खण्डित हो गयी। वे सब विद्याएँ विस्मृत हो गयीं इसलिए। मैंने तुझे आदेश दिया विकल्प के लिए - यह उसने कहा। न जाने किस विघ्न के कारण अग्नि ने मुझे नहीं जलाया। यह कहकर तपस्वी के सामने उस ब्राह्मण ने सौगन्ध खाई कि अब यह तपस्वी भ्रष्ट विद्या का है, उसका कारण सोचने लगा। यह कहकर

वेताल ने राजा से पूछा- हे राजन् पूरा विधि विधान करने पर भी वह विद्या क्यों न दिखाई देती है। यह पूछने पर राजा ने कहा - उसके कहे अनुसार किया। परन्तु उस समय उसका भाव बन्धुओं में करुणा कर गया। उस क्रोध से चिरकाल से स्थित गुरु की विद्या भी इसलिए नष्ट हो गयी। जिनके भाव दूषित हो गये हों उनकी सिद्धि वाली ये विद्याएँ नष्ट हो जाती हैं। यह सुनते ही वेताल शीशम के पेड़ पर चला गया और राजा भी बिना खेद के फिर से उसे ले चला (1003-1012)।

उन्नीसवाँ वेताल

तब वह कन्धे पर पड़ा वेताल तेजी से जाते राजा से बोला - हे नाथ जब तक रात पूरी नहीं होती तब तक एक कथा सुनो। वंकोलक (कंकोलक) के लवपुर में सार्वभौम सूर्यप्रभ नामक राजा था जो यश के फूलों का जंगल था। उसकी वीरता विख्यात थी। वह पूरी धरती की रक्षा कर रहा था तब ताम्रलिप्ति के बनिये वनदत्त की पुत्री विद्याधर शाप की शक्ति से मनुष्य के भोग में थी। हिरण्यवती पत्नी से वह सुलोचना उत्पन्न हुई। जिसकी शोभा के मधु से मतवाला प्रबल विजेता कामदेव भी मतवाला हो गया। नाम से वह धनवती थी। धीरे-धीरे शरीर से वह जवान हो गयी। समय पर उसके पिता के दिवंगत होने पर राजा के आश्रित गोत्र के लोगों ने धन हरने के लिए उसकी पत्नी पर आक्षेप लगाये (1013-1018)। वह दुःखी और डरती हुई अपने आभूषण लेकर परेशान सी रात में छिपकर बेटी के साथ चली गयी। शीघ्रता से जाती हुई तम (अन्धकार व तमोगुण) के दुःख में जाती हुई कन्धे से शूली पर लटके चोर को देखा। कन्धे की चोट से बहुत परेशान हो रहा था। वह पूरी साँस तक चिल्ला रहा था - हाय मारा गया मैं। बनिये की पत्नी ने उसे देखा तो वह बोला - मैं चोर हूँ, पाप करता हूँ। इस सूली पर यह मेरी तीसरी रात है। पहले किये पापों के कारण अत्यन्त कष्ट होने पर भी जी रहा हूँ। बुरा काम करने वालों के प्राण बिना कष्ट के कैसे जाएँ? यह कहकर उसने इसे पूछा तो इसने अपना दुःखड़ा बताया। तब प्रेम के दुःख में दुःखी उन्होंने अपने नगर को त्यागने का कारण बताया। इस बीच नित्य क्षय से अत्यन्त दुःखी पाण्डु (पीलाई सफेदी लिये) कपाल के टुकड़े की छवि का मोटा सा चन्द्रमा उग आया। दिन जाने पर सूर्य के प्रिय संध्या की चिता की अग्नि शान्त होने पर तारों की अस्थि एकत्र करने को मानो किरण हाथों को आगे बढ़ाया। दिशाओं को ज्योत्स्ना से भर कर सफेद चादर से ढक दिया। मानो दुःख से ऊर्ध्व जल क्रिया से कुमुद जैसे पाण्डुर हो गया (1019-1027)।

तब प्रकाश में देखकर चोर उसकी बेटी के सामने बोला - यह कन्या मुझे दे दो। मैं तुझे सोना दूँगा। अरे जोर से मुसकाने वाली यह मत कह कि यह तो मरने के कगार पर है। तुझ माता द्वारा दी जाने पर मेरी आज्ञा से किसी के साथ संगम से परलोक में मुझे त्राण दिलाने वाला पुत्र होगा। मेरे पास हजार स्वर्ण हैं। उसके बदले यह कन्या दे दे। यह

सुनकर उसने पानी छोड़कर उसे बेटी दे दी। उसने भी पेड़ के नीचे रखा सारा धन दे दिया। उस कन्या को पुत्र के लिए अनुमति देकर चोर मर गया। तब पति के मित्र कुमारदत्त के घर वह पुत्री पहुँची और ढंग से चोर का उसने दाह संस्कार कर दिया। तब कालान्तर में समस्त धन से रहित सूर्यप्रभ के नगर में उस स्वर्ण समूह के साथ सुखपूर्वक रहने लगी। वहाँ रहते हुए जब किसी समय भरी जवानी वाली वह अपने भवन पर खड़ी थी तो यक्ष में कामदेव के समान सुन्दर ब्राह्मण के पुत्र को उसने देखा। वह भोगी विलासी ब्राह्मण यौवन के उन्माद से भरा था। उसका नाम सोमस्वामी था। उस सुन्दर वेश वाली को उसने देखा। उसकी जगद्विख्यात नर्तकी को बिना अधिक धन खर्च किये उसे हृदय में धारण कर लिया। ऐसे व्यसनी ब्राह्मण पुत्र को ही एक ध्यान से देखकर बनिये की बेटी काम के वशीभूत हो गयी। उसने लज्जा त्यागकर माता को सब कुछ कह दिया। तब चोर के उस आदेश को यादकर सखी को उसे बुलाने का आदेश दिया। वह ब्राह्मण झूठा हो गया। पुत्र के लिए उस (लड़की) से बोला - पाँच सौ रुपये मुझे खर्चे के दे दे। यह सुनकर सखी ने उसे दो सौ रुपये देकर एक रात के लिए ब्राह्मण को एकान्त में ले आयी। उस प्रिय को रात में लाया हुआ देखकर शयन घर में स्थित हर्ष से भरी वह बनिये की बेटी नये नये संगम उत्सव करने लगी। उसने पहले जो सम्भोग कभी देखे नहीं उन्हें वेश्याओं के साथ सैकड़ों विलास करने वाले उस प्रौढ़ दक्ष ने उसे रति की तृप्ति प्रदान की। रात पूरी होने पर छिपकर उसके जाने पर वह क्षण भर में शिथिल अंगों वाली, थके चेहरे वाली दुबली और मूँदी आँखों वाली हो गयी। तब समय पर उसके सूर्य जैसा तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। वह वर्ण से सम्पूर्ण और समस्त राजलक्षणों से सम्पन्न था मानो कुन्ती का पुत्र हो (1028-1044)। उसके उत्पन्न होने पर उसकी माता वणिक् पुत्री को स्वप्न में प्रत्यक्ष शिवजी ने प्रकट होकर आदेश दिया - यह पुत्र राजद्वार पर पलंग पर एक हजार स्वर्णमुद्रा के साथ छिपकर छोड़ आ। इस प्रकार उसके कहे अनुसार उसने जैसा सुना वैसा किया (1044-1046)। स्वप्न में शिवजी के निर्देश के अनुसार उस बालक को पाया जो कौशेय वस्त्र से ढका दिव्य रूप का और स्वर्ण सहित था। सूर्यप्रभ का वह चन्द्रप्रभ नामक बालक समय पर जवान हो गया और कला, विद्यादि का विशेष ज्ञाता भी हो गया। राजा ने उस पुत्र को सर्वगुण सम्पन्न देखकर चक्रवर्ती की श्रीसम्पन्नता देकर वाराणसी चला गया। वहाँ तपस्या से उस राजा के शाश्वत पद पर चले जाने पर चन्द्रप्रभ को ज्ञात हुआ तो शोकसंतप्त होकर तर्पण किया। तब वह पिताप्रेमी राज्य मंत्रियों को सौंपकर ब्राह्मणों के साथ उत्साह पूर्वक श्राद्ध करने के लिए गया तीर्थ पहुँचा। मित्रता, उपकार, गुरुभक्ति और कुल के महान् लोगों के वियोग में किये गये श्राद्ध में होती है (1052)। उन्होंने घोड़े और हाथियों के सैन्य समूहों से दिशाओं में जाते हुए आच्छादित कर मन्दाकिनी नदी में पहुँचकर पिताजी का यथोचित गयाश्राद्ध किया (1053)।

तब उस महाधनी ने सब तीर्थों में धन देकर वह कुलभूषण कालान्तर में गया पहुँचा। तब शास्त्रोचित विधि सम्पन्न की और उस धर्म वन में तीन दिन तक रहा। तब वह राजकूप में पहुँचकर पिण्ड डालने लगा। राजा सूर्यप्रभ के अपने गोत्र के नाम लेने पर पुरोहित के सामने वहाँ तीन हाथ उठे। यह देखकर चकित होकर उसने थोड़ी देर क्रिया रोक दी और राजा ने बूढ़े ब्राह्मण गुरुओं को पूछा - यह क्या है? श्रुति और स्तुति में दक्ष उन ब्राह्मणों ने अच्छाई देखकर कहा कि शंकु शस्त्र के निशान वाला यह एक हाथ चोर का है। दूसरा हाथ ब्राह्मण का है क्योंकि उसके हाथ में पवित्री (कुशा) है और यह कमल जैसा और कड़ा पहने हाथ राजा का है। राजा ब्राह्मणों की बात सुनकर संदेह में पड़ गया कि यह निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि पिण्ड किसे अर्पित करें। यह सब वर्णन करके वेताल ने राजा से पुनः पूछा - हे राजन् वह धर्मानुसार पिण्ड किसे प्रदान करे? यह पूछने पर राजा बोला - वह ब्राह्मण उसका पिता नहीं था क्योंकि उसने मूल्य के बदले एक रात उसकी माता के साथ संगम किया था। राजा ने भी स्वर्ण धन पाकर उसे संस्कारित किया था। केवल कर्म का सम्बन्ध होने से वह राज्य का भोग कर रहा, वह पिता नहीं है। चोर ही उसका पिता है जिसने पर्याप्त स्वर्ण देकर उसकी माता कन्या को प्राप्त किया था। अतः वही पिण्ड पाने का अधिकारी है। यह सुनकर वेताल तेजी से अदृश्य रूप से कन्धे से चला गया। और राजा भी शीघ्रता से उस वृक्ष पर लटके वेताल को ले आया (1054-1065)।

बीसवाँ वेताल

कन्धे पर पड़े हुए उस वेताल ने शीघ्र गति वाले उस राजा से फिर कहा - इस नीरव गहरे अन्धेरे वाले हम लम्बे रास्ते पर (जाते हुए) एक कथा सनो। चित्रकूट पुर में चन्द्रावलोक नामक राजा था। सदा सागर की लक्ष्मी का हरण करता रहा अतः प्रचुर रत्नों से सम्पन्न था। वह आखेट के रस से आकर्षित होकर किसी समय वायुवेग वाले घोड़े द्वारा हरण कर रोचक पेड़ों वाले वन में पहुँचा दिया गया। वहाँ फूली लता समूह से शोभित भँवरों के समूह के उत्सव रूप विशाल ताल, हिन्ताल, तमाल से श्यामल वन में कमलों से शोभित दर्पण जैसे स्वच्छ सरोवर को देखा। जो स्नान की हुई सिद्ध नारियों के समूह के स्तनों के कुंकुम से पीला हो रहा था (1066-1070)। अच्छी तरह से विश्राम करके कमलतंतु से आहार करके तीनों लोक का सार हंसगामिनी कन्या को देखा। मुसकान के फूल, कटाक्ष के भौरें, किसलय जैसे अधर, स्तनों के गुलदस्ते वाली वह मानो साक्षात् वनदेवी थी। अनेक तीरों से आहत बाणों से आहत मृगों द्वारा शाप देने से कामशर से चित्त वाला वह उसे देखते ही व्याकुल हो गया। इन्दीवरप्रभा नाम की वह सुन्दरी मेनका की पुत्री शकुन्तला मुनि कण्व की बेटी जैसी उसकी सखी द्वारा बतायी गयी। मुनिवर जब अपने तपोवन में थे तब उसने प्रणाम कर उस चन्द्रमुखी की याचना की और उन्होंने वह प्रसन्नता पूर्वक दे दी। तब उसे लेकर राजा लौटा। चलते हुए वह साँझ के समय तालाब

के तट पर पहुँचा। संसार के आभूषण तीखी किरणों वाले सूर्य के अस्त होने पर धरती से स्वर्ग तक आकाश में अन्धकार भर गया। तब शिवजी के मुकुट कामदेव का बन्धु मदमाता शंख की चूड़ी जैसे उदित चन्द्र से रात अलंकृत हो गयी। कान में केतकी केवड़े की पंखुरी, शरीर पर कपूर की सफेदी हो गयी तथा मृगनयनियों के स्तनों पर चाँदनी हार बन गयी। तब अश्वत्थ वृक्ष के नीचे छोटे पत्रों के बिछौने पर इलायची की लता के कुंज में राजा ने नववधू से समागम किया। उस चतुर ने उस अति मुग्धा के साथ हल्की लज्जा से भरा हुआ सद्भाव में भयंकर आकार की दाड़ों वाला विशाल मुख का ज्वालामुख नामक ब्रह्मराक्षस आकर उससे बोला। अरे पापी मेरे इस आश्रम में उद्दण्ड कन्या के साथ निर्लज्जता पूर्वक ऐसे रमण कर रहा है मानो अपने स्वयं के उद्यान में रमण कर रहा हो। खुले मुख में पहुँचकर दृढ़ और विकट दन्तों के बीच पीसा हुआ तू पुण्यहीन राजा पल भर में ही रह नहीं पाएगा। यह सुनकर चन्द्रावलोको उसकी ही शरण में चला गया। विद्वान लोग देश-काल देखकर अपना प्रभाव नहीं बताते (1071-1085)। राजा की शिष्टता से ज्वालामुख थोड़ा पसीजा और बोला - सुनो राजन् जिससे तुम्हारी रक्षा होगी। स्वयं माता पिता ने दृढ़ता से धारण किया गया सत्ववर्ष है। दोनों हाथों तथा पैरों से तुम्हें ही उसका मस्तक उखाड़ना है। ऐसा शिशु मुझे भेंट करने के लिए स्वयं लाओ। सातवें दिन इस वन में ब्राह्मण का वध कर दो। अन्यथा अनुयायियों सहित तेरा मोक्ष हो जाएगा। ठीक है - यह कहकर दुःखी राजा पत्नी सहित चला गया। कुत्ते के खुर (पंजे) के सहारे पत्नी सहित वह अपने नगर चला गया और राक्षस को दिये वचन की बात मन्त्रियों को बताई (1086-1090)।

उस बुद्धिमान राजा के बुद्धिसम्पन्न सुमति नामक मुख्यमंत्री था। मणियों से अलंकृत स्वर्ण-पुरुष को लेकर इसके बदले स्वयं को कौन देता है? यह घोषणा करते हुए चल पड़ा। यह सुनकर किसी ब्राह्मण बालक ने स्वयं को दे दिया। तब वह महाशय पिता को सुवर्ण पुरुष दिलाकर अपनी दीन माता तथा निर्धन पिता से बोला - नगर के राजा और सेवकों के भले के लिए मैं इस प्रचुर मूल्य में स्वयं को राक्षस के लिए दे रहा हूँ। आपकी गरीबी हटाने के लिए मैंने कुशलतापूर्वक स्वयं को वायु से कांपती दीपक की बाती के समान चंचल अपने प्राणों द्वारा प्रस्तुत किया है। यह चर्बी, हड्डी, मांस, रक्त से घृणित शरीर क्षणिक है। सचमुच परोपकार से ही यह प्रशंसा पाता है। इस प्रकार काया की निन्दा करते हुए उस बालक ने पिता को धीरे से धीरज दिया और राजा के इच्छित के लिए तैयार हो गया। तब उस मंत्री ने राजा को वह कथा बताकर पीपल के पेड़ के नीचे तक माता-पिता के साथ बालक को ले गया (1091-1098)। ब्रह्मराक्षस के आने पर राजा ने स्वयं पुरोहित के द्वारा मण्डल बनाकर उस बालक को मारने के लिए तैयार हो गया। राक्षस को प्रत्यक्ष देखकर वह स्तंभित हाथों और रोके गये पैरों वाले बालक को माता-पिता ने हृदय से लगा लिया। राजा की आज्ञा से उन्मुक्त तलवार द्वारा वध होना है। परोपकार में मेरा जन्म सदा लगा रहे। यह सोचकर मुस्कुराकर ब्राह्मण बालक जोर से

हँसा। जिससे वे राजा सहित सभी चकित हो गये। राक्षस सहित उन सबने वध का साहस नहीं किया और यह क्या है? इसलिए संदेह सहित उन सबने प्रशंसा की। यह कहकर महा छली वेताल ने राजा से ब्राह्मण बालक असमसय हँसने का कारण पूछा। राजा ने कहा - जो कोई भी निर्बल दबाया जाए तो वह माता या पिता में से किसी की शरण में जाता है। उनसे रक्षा नहीं मिलने पर उसकी रक्षा हेतु राजा की शरण में जाता है। वहाँ से भी रक्षा न मिलने पर पूजाकरके देव का स्मरण करता है। वे सभी वहाँ इसे मारने पर तुले हैं। उन्हें देखकर उस प्रचुर आत्मबल वाले बालक ने सोचा - अरे दुःख के सार इस विनासशील शरीर के लिए कुर्म का आरम्भ हो रहा है। यह सोचकर वह हँसा। यह सुनकर वेताल फिर शीशम के पेड़ पर चला गया। वहाँ लटके उस वेताल को राजा फिर ले आया (1099-1109)।

इक्कीसवाँ वेताल

तब कन्धे पर पड़े वेताल ने कहा - राजन् आवागमन से थक गये हो सो मनोविनोद की एक कथा सुनो। विशाला नगरी में अर्थदत्त नामक बनिया था। उसकी बहुत प्रिय अनंगमंजरी नामक पुत्री थी। उसने वह रूपवती कन्या अपने तुल्य धनी और अच्छे कुल के मणिकर्ण नामक वणिक् को दे दी। उस बेटी के बिना पिता एक पल भी नहीं रह पाता था। तब पिता ने अपने घर से उसे नहीं भेजा। किसी समय मणिकर्मा के अपनी नगरी चले जाने पर वह अबाध ऐसी प्रसन्न हुई मानो काले साँप से छूटी हो। वह राज्य, यह अमृत, यह चन्द्र, यह उत्सवशाली पल जब आँखों से वांछित व्यक्ति पुण्य से दिखाई देता है तब गर्मी के समय वह जवानी से मतवाली चन्दन लगाकर फूले मोगरे की माला बालों में लगाये थी जिस पर भँवरे मंडरा रहे थे। तब वह अपने महल पर चढ़ी तो कामदेव जैसे सुन्दर कमलाकर नामक युवक ब्राह्मणपुत्र को उसने देखा (1110-1117)।

उस नेत्रों के आनन्द के बन्धु उस ब्राह्मणकुमार को देखकर वह पल भर में ही कमलिनी के समान, उसमें डूबती सी, डँसीसी, चुराई गयी सी पल भर में हो गयी। उसे देखने से उसे प्रचुर कंपन और मोह हो गया। झंकार करते मणि के अलंकार मानो उसे कह रहे थे कि यह उचित नहीं है। सुन्दरता की मणि पुतली पद्मराग मणि की किरणों जैसी उजली वह चन्द्रराग जैसे मुख वाली उसे देर तक देखकर वह भी अत्यधिक रूप से चकित सिर डुलाता हुआ उसके मुख में प्रवेश करता सा धीरे धीरे दृष्टि को आकर्षित करता सा हो गया। तब वह युवती कामाग्नि के प्रचुर ताप से गल गयी थी और उसने कमलतन्तु और केलवन उसे जलाने की सामग्री मानी। शीतल किरणों जैसी मुस्काती काम से उजली रात को सघन घनघोर वनाग्नि से घिरी के समान माना। उसने अपने उद्यान में आकर पार्वती की स्तुति की कि कामदेव जैसे उससे मेरा संगम हो जाए (1118-1124)।

कृष्ण पक्ष की चन्द्रलेखा जैसी अथवा शरत् के छोटे झरने जैसी वह केवल शोभा के रूप में शेष बची जिसके भुजबन्द कंगन से टकराने लगे। काम-ज्वर के डर से परेशान दुर्बल पीले मुँह वाली उसे मालतिका नाम की सखी देखकर दुःख से व्याकुल हो गयी। उसके निर्देश पर वह कमलाकर के घर जाकर उस कामातुर को उसके उद्यान में देखा। उस रोते हुए को मित्र ने आशवासन दिया। उसके पास जाकर सखी ने वह कामवेदना बताई कि आपके बिना वह सुन्दर नेत्रों वाली सुन्दरी ध्यान करती है, तेजी से गलती जा रही, जल्दी सो जाती, बेसुध हो जाती, काँपती उलट-पुलट होती रहती केवल तुम्हारे बिना (1125-1129)। इसमें चन्दन इन्धन है, चन्द्रमा विष की बूँदें हैं, हार आग का बदला रूप है (विकार) है, ऐसे संताप से वह परेशान हो रही थी। इस प्रकार उसकी वाणी से तत्काल अमृत सार मानो उठा हुआ सेवकों से बताये अनुसार उस सेविका के साथ वह रात में उस उद्यान में पहुँचा। सखी की वाणी से अनंगवती ने उसे आया जानकर तेल भरने से दीपक की कान्ति के समान खिल गयी। तब उसे आया देखकर खिले नयनकमल वाली उस सुन्दरी ने लाज त्यागकर उसे गले से लगा लिया और हे सुन्दर मिल गये हो अब मेरे सामने से कहाँ जाओगे? उसे यह कहकर उस तन्वी ने प्राण त्याग दिये। अचानक उसे मरी देखकर कमलाकर रोता हुआ देर तक उसका प्रगाढ़ आलिंगन कर मर गया। तब प्रातः उस दुःख से बन्धुवर्ग मिलने पर अर्थदत्त क्रोध, लज्जा और दुःख से पुत्री की निन्दा करने लगा। मणिकर्ण नामक उसका कुमार पति प्रेयसी से मिलने और अपने जन की उत्कण्ठा से वह भरा हुआ था। तब बगीचे में पहुँचकर उसे अन्य पुरुष के साथ मरी देखकर वह प्रेमी भी मर गया (1130-1138)।

एक तो अन्य के प्रेम में जल गयी और एक उसके बिना मर गया। यह काम का कैसा आरा है कि समझदार होकर भी चक्कर में पड़ा रहता है? तब बनियों की कुलदेवता भगवती गौरी ने कृपा करके उन सबको जीवित कर दिया। क्योंकि उसकी गुणों द्वारा प्रार्थना की गयी थी। यह कहकर वेताल ने राजा से पूछा - राजन् इनमें से सर्वाधिक प्रेम किसका है यह बताओ। राजा ने कहा कि बनिये की बेटी और ब्राह्मण तो काम के चक्कर में मरे, इससे अचरज नहीं। परन्तु पति कौमार ने अचानक अपने प्रिय प्राणों को ब्रज से मानो विदीर्ण कर दिये यह उसका गहरा प्रेम है। यह सुनकर वेताल जाकर फिर लटक गया। और वह राजा भी उसे बड़े जतन से बिना अप्रसन्न हुए ले आया (1139-1144)।

बाईसवाँ वेताल

तब कन्धे के वेताल ने कहा - सुनो राजन् ब्रह्मस्थल अग्रहार में उत्तम ब्राह्मण विष्णुस्वामी था। उसके वेदज्ञ चार पुत्र थे। पिता के मरने पर वे अपने मामा के घर चले गये। वे निर्धन थे। अतः वहाँ तिरस्कार झेलते हुए रहने लगे। और सोचा कि दरिद्रता का दुःख तो मृत्यु से अधिक है। माँस की जीविका वाले गिद्ध नित्य शव के पास जाते हैं,

जले हुए बिना पत्ते के वृक्ष पर भी सदा आसरा चाहने वाले पंछी पहुँचते रहते हैं। परन्तु जिस आदमी को दरिद्रता ने छू लिया उसे कोई नहीं छूता। शीतल, दीर्घ निद्रा वाले, बिना साँस के सुखी शवों के साथ संताप से बिना नींद का साँस लेता दरिद्र कैसे स्पर्धा कर सकता है? (1145-1149)।

तब एक ने कहा - आज मैं भूतों से भयंकर श्मशान में दुर्गति के दुःख से अपने प्राण देने के लिए तैयारी से गया। तब किसी समझदार ने दया करके मेरी रक्षा कर ली कि अपने किये कर्म के भोग के बिना मृत्यु कहाँ से मिल जाती है? यह ध्यान में रखकर वे सब अपनी इच्छानुसार फिर मिलने का स्थान तय करके अलग अलग दिशाओं में चले गये। तब अनेक अनोखेपन से भरी पृथ्वी पर भ्रमण करके वे विद्या प्राप्त करके कालान्तर में मिले और आपस में बोले (1150-1153)।

भाइयों में अग्रज बोला कि अस्थि व्यवस्थित करने की विद्या मैं जानता हूँ। तब उससे छोटा बोला कि उसमें माँस जोड़ने का काम मैं जानता हूँ। तब अन्य बोला कि मैं चमड़ा, रोएँ आदि लगाने में दक्ष हूँ। उससे बाद वाले ने कहा कि मैं प्राण देने के विज्ञान में दक्ष हूँ। आपस में उन्हें समस्त विद्या देखने की उत्सुकता थी। संयोग से उन्हें सिंह की बिखरी हड्डियाँ मिल गयीं। उस पूरे को माँस, त्वचा, रोम सहित करके चौथे ने अपनी विद्या से सिंह को जीवित कर दिया। दाड़ों के कंगूरे वाले मुख वाला वह भूख से दुबला हो गया था। सो उसने सामने के ही ब्राह्मणपुत्रों को अपने तीखे नखों से मार डाला। यह कहकर वेताल ने भूमिपति राजा से पूछा - बोलो राजन् ब्राह्मण वध का पाप किसे लगा? यह पूछा तो राजा बोला - जिसने सिंह को जिलाया। यह घोर पाप उसका ही है। निश्चय ही वह अन्यों का नहीं है, इसमें संदेह नहीं है। यह सुनकर वेताल फिर जाकर लटक गया। अपार वीरता से सम्पन्न वह राजा भी उसे लेकर चल पड़ा (1154-1161)।

तेईसवाँ वेताल

कन्धे पर का वह वेताल फिर बोला - राजन् अपने इस कर्तव्य बन्धन से पीछे नहीं हटे तुम। तो कथा सुनो। कलिंग राज्य में यज्ञस्थल अग्रहार में एक ब्राह्मण था। सोमपान से पवित्र कुल में उत्पन्न उसका नाम था यज्ञसोम। उसकी सोमदत्ता पत्नी के एक गुणी पुत्र हुआ। वह चन्द्रमा के समान विस्तृत आकार का था और बचपन में ही उसने बहुत पढ़ लिख लिया। उसके उस देवस्वामी नामक पुत्र ने समय पर यौवन पाया। वह विद्या, नम्रता, सौभाग्य और सौन्दर्य के अमृत से भरपूर था। यमराज की निर्दयता के कारण काल की आज्ञा से पूर्व कर्म की लहर के अनोखेपन से वह युवक मर गया। नेत्रों के उत्सव की सुन्दरता एवं कुल के आचरण के गुणों की अधिकता वाले विद्वानों को कलियुग के समान व्याकुल काल सहन नहीं करता है। उसे देखकर दुःख से व्यथित माता पिता उद्विग्न होकर जोर से चिल्लाकर ऐसे रोने लगे कि दिशाएँ उसकी प्रतिध्वनि से गूँज उठी

(1162-1168)। तब उसे समस्त गुणों के बन्धु सब बन्धुगण श्मशान की बात करते तमाल से घिरे श्मशान के उस समूह में ले गये। संस्कार के लिए लाये गये उस सुन्दर आकृति के ब्राह्मणपुत्र को श्मशान की मढ़ी में रहने वाले एक महाव्रती (तपस्वी) ने देखा। उसे देखकर उसने सोचा कि मेरा नाम शिव है। मैं वृद्ध हूँ। मन दुःखी रहता है। ध्यान योग के समाधान के तत्त्व में चर्चाकुशल भी हूँ। संभोग से भोगे गये इस पुराने तन को त्यागकर ब्राह्मण के इस ताजे शरीर में प्रवेश कर लूँ। तब कपाल धारण कर मढ़ी में अकेले ही प्रवेश कर ध्यान करके वह गीले आँसुओं से रूँधते गले से निकलते स्वर से चिल्ला चिल्लाकर साँप जैसी भुजाओं वाला भस्म से सफेद वह नाचने लगा। उसके सिर पर जटाएँ लहरा रहीं थीं। मानो दूसरे शिवजी हों। साँप जैसे कुँचली त्यागता है उसी प्रकार शरीर को त्यागकर ब्राह्मणपुत्र के शरीर में उसी प्रकार प्रवेश कर गया जिस प्रकार सूने घर में जाते हैं। तब वह द्विजपुत्र जीवित होकर सोये से उठने के समान उठ खड़ा हुआ। इससे बहुत देर तक लोगों में प्रसन्नता से भरा प्रचुर कोलाहल होता रहा। बन्धुओं और पिता के दीनतापूर्वक विनय करने पर भी वह उसी समय वैराग्य उत्पन्न हो जाने से महाव्रती हो गया (1169-1177)।

यह कहकर वेताल ने उस उत्तम नृप से पूछा - हे राजन् वह महाव्रती पहले रोया और फिर नाचा क्यों? यह पूछने पर राजा बोला - सुनो इसका कारण। बहुत समय तक साथ देने वाले इस शरीर का बहुत लालन पालन किया। बचपन में माता ने बड़ा किया। जवानी में सुखों ने इसकी सेवा की। आज पुराना हो गया तो त्याग रहा हूँ। यह सोचकर वह अत्यन्त दुःखी होकर रो रहा था। फिर से (नये शरीर में) प्रवेश करके मेरी सिद्धि हो गयी। मैं अटूट व्रत वाला हूँ। इसलिए हर्ष और गर्व से नाचा कि उत्सव लौट आया। यह सुनकर वेताल शीशम के पेड़ पर जा लटका। तब महान् लक्ष्य वाला वह राजा भी जाकर जल्दी से ले आया (1178-1182)।

चौबीसवाँ वेताल

कन्धे पर पड़े स्वच्छन्द वेताल ने फिर कहा - हे महामति राजन्। लक्ष्मी के उपभोग के लिए जाना चाहते हो तो एक कहानी सुनो। दक्षिण देश का महाबली धीमान् नामक एक राजा था। शत्रुओं द्वारा जीता गया वह पत्नी और पुत्री सहित चला गया। उसकी पत्नी का नाम चन्द्रवती था और कन्या का नाम लावण्यवती था। दूर मार्ग पर थके चन्द्र (हंस) विलास में धीरे-धीरे थकान आ गयी। उन दोनों के साथ राजा विशाल वन में पहुँचकर भीलों के टापड़ों के वन में पहुँच गये जो चीतों के चमड़े से छाये थे। मोर पंखों के वस्त्र, गुंजा की मालाएँ सिर पर बँधी ऐसे शबरो से भवन भरा था मानो साँझ के लाल शिखरों वाले शत्रुओं से भरा हो। रत्न और आभूषणों के लोभी उनके द्वारा वहाँ पर वह राजा रणक्षेत्र में आमने सामने अनेक शबरो को मार कर गिर पड़ा। उसके मारे जाने पर डर

से उसकी पत्नी बेटी के साथ सिंह के गिरने के परेशान सुनयना हिरनी के समान चली गयी (1183-1189)।

काँपते स्तन और नितम्ब भार से अलसायी वे परेशानी से चंचल नीलकमल की शोभा वाले नयनों वाली पुत्री के साथ दूर जाकर लवली लता, लोंग, इलायची की लताओं से भरे वन में प्रवेश करके कमल के आनन्द के घर एक तालाब के तट पर बैठ गयीं। इसी बीच मृग समूह के खेल के रस के कौतुक वाला एक चण्डसिंह नामक क्षत्रिय पुत्र सहित उस वन में पहुँचा। उन दोनों प्रचुर धूल की कान्ति वाले रमणीय रेखांकन से शोभित नारी के पैरों की छाप को देखकर चकित हो गये। एक के छोटे चरण कमल वाली मानकर तथा दूसरी को लम्बी अंगुलियों वाली मानकर चण्डसिंह हर्ष से सिंह के समान पराक्रमी पुत्र से कहा - ये दोनों सुन्दरियाँ यदि हमें दिखाई देगी तो यह लम्बे पैरों वाली मेरे योग्य होगी और दूसरी तेरी। यह कहकर विनोद की बातें करके उन दोनों सत्य प्रतिज्ञों ने यत्नपूर्वक देखकर दो पूर्ण चन्द्र मुखों को पा लिया। उन कोमल दोनों सुन्दरियों को पाकर वे दोनों सत्यप्रतिज्ञ उन्हें लेकर अपने घर जाकर उन दोनों के साथ उन्होंने काम महोत्सव मनाया। बड़े पैरों वाली कन्या का स्वयं चण्डसिंह ने सेवन किया। चण्डसिंह के पुत्र ने उस कन्या की माता को पाया। इस प्रकार वे दोनों लेन देन के वचन से बँधे थे। पत्नी को पाकर समय पर औरस पुत्र भी हुए। इस प्रकार वर्णन कर वेताल ने राजा से पूछा - उन दोनों के वंश में उत्पन्न हुए वे आपस में क्या लगते हैं? यह पूछने पर उत्तर (निर्णय) नहीं जानने से राजा (चुपचाप) चलता रहा। इससे सन्तुष्ट होकर तब वेताल ने प्रशंसा करते हुए उससे कहा - हे राजन् तेरे बुद्धिबल और धैर्य से किसका शरीर रोमांचित नहीं हो जाता। यह पापी शान्तिशील तेरे साथ बहुत बड़ा छल करने वाला है। तू बुद्धिमान् है। तुझे शीघ्र ही प्रयत्न द्वारा जालसाजी करनी चाहिए। भीषण महाप्रेत यज्ञ में वह बुरी नीयत वाला तुझे कहेगा कि धरती पर साष्टांग प्रणाम करो। तब स्वयं कोमल वाणी में उस दुष्ट श्रमण को कहना - मेरे चरण कमलों में समस्त सामन्तों के सिर झुकते हैं। मैंने ऐसा प्रणाम करना नहीं सीखा। तो वह तू ही बता। तेरे ऐसा कहने पर वह साष्टांग प्रणाम कर दिखाएगा। तब तलवार से उसे मार डालना। वरना वह तुझे मार डालेगा। तुम तीनों लोकों के आभूषण हो। तुम्हें (बलिका) पशु बनाकर वह विद्याधरों की पृथ्वी के उपभोग के चक्रवर्ती पद को पाना चाहता है। यह सब तुम्हें कहना था। तुम्हारा कल्याण हो। मैं जाता हूँ। यह कहकर वह वेताल प्रेत के शरीर से निकलकर चला गया। राजा भी शव लेकर उस क्षान्तिशील के पास गया। तब रात का कुछ भाग शेष था। राजा भी प्रचुर उत्साह के उत्सव से सम्पन्न था (1190-1209)।

पच्चीसवाँ वेताल

उस राजा को आया देखकर बुद्धिहीन उस अनार्य क्षान्तिशील ने उसकी धर्म मर्यादा की जोर जोर से प्रशंसा की। तब बहुत से लक्षणों वाले चिता की धूल वाले सफेद मण्डल में जिसमें मानव के रक्त से भरे घड़े थे, बहुत प्रकाश वाले विशाल दीपक थे - उसमें शव को उतारा। वह ब्रती तपस्वी दक्षिण की ओर मुख किये था। तब उस मन्त्रज्ञाता मानव के रक्त का अर्घ्य दिया। नेत्र का धूप दिया। तब वेताल को बुलाया। उसकी लगातार पुष्पों और नैवेद्य से अर्चना की। तब बोला - राजन् श्रेय के लिए प्रणाम करो। तब राजा बोला - मैं तो अनजान हूँ। स्वयं प्रणाम के लिए वैसा करो। यह सुनकर भाग्य से मूढ़ हुआ उसने इसे प्रणाम करके बताया। अष्टांग प्रणाम की मुद्रा में जब वह (ब्रती) था तब राजा ने तलवार से उसे मार डाला। सिर काटकर उससे शीघ्र ही उठाकर पूजा-विधि सम्पन्न की। तब पुष्पवर्षा हुई और वेताल ने वरदान दिया कि राजा की यह कथा तीनों लोकों में पूजा (आदर) प्राप्त करे (1210-1216)।

तब ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी ने प्रत्यक्ष आकर राजा की प्रशंसा की तथा वरदानों से उसकी (पूजा) सम्मान किया। उसे भगवान् विष्णु ने कहा कि हे राजन् तुम मेरे अंश हो। हे विक्रमादित्य प्राचीन काल में तुम म्लेच्छ शशांक से उत्पन्न हुए थे। तब तुम राजवंश के आभूषण विक्रमसेन हुए। भोग और मोक्ष से मनोहर विद्याधर की लक्ष्मी का उपभोग करके शिवजी के वरदान से विद्याधरों का चक्रवर्ती बनकर प्रभात में अपने नगर में प्रवेश कर वह लक्ष्मी से सुशोभित हुआ।

इस प्रकार भूचक्र पर हिमसमूह की प्रकट अट्टहास छवि वाले पाताल में नागराज शेषनाग के फैले फणों पर फैलते रत्नों से उजली, आकाश में ब्रह्मा के विमान के हंस की फैलती कान्ति की प्रकाश से उजली और उसकी कल्पपर्यन्त प्रचुर पुण्य वाली गंगा के समान कीर्ति सुशोभित होती रहे (1217-1221)।

इस प्रकार विप्र ने ढाढस देकर मुझे उत्तम मन्त्र प्रदान किया। उसके सिद्ध होने पर उस वेताल को मैंने अपना वाहन बना लिया। उस प्रभाव से यहाँ आये हुए तुझे मैंने देख लिया। यह कहकर विक्रमकेसरी ने प्रचुर हर्ष प्राप्त किया। मृगांकदत्त यह सुनकर उस शशांकवती को याद करते हुए चलता रहा और उज्जयिनी पहुँच गया। जहाँ न जल था और न वृक्ष था।

क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी (लम्बक 9) में वेतालपञ्चविंशतिका सम्पूर्ण।

अष्टमस्तरङ्गः ।

जितं विघ्नजिता यस्य पुष्पवृष्टिरिवाम्बरात् ।
तारावली कराघातच्युता पतति नृत्यतः ॥1॥
ततोऽतिवाह्य रात्रिं तां प्रभाते काननात्ततः ।
प्रचण्डशक्तिप्रमुखैः प्रस्थितः सचिवैः सह ॥2॥
स शशाङ्कवतीहेतोः पुनरुज्जयिनीं प्रति ।
मृगाङ्कदत्तः प्रययौ चिन्वञ्शेषान्स्वमन्त्रिणः ॥3॥
गच्छता ददृशे तेन मार्गे विक्रमकेसरी ।
मंत्री पुंसातिविकृतेनोहामानो नभस्तले ॥4॥
दश्यते चान्यमन्त्रिभ्यो यावत्तेन स संभ्रमात् ।
तावत्स मंत्री गगनात्तत्समीपेऽवतीर्णवान् ॥5॥
अवरुह्य च तस्याशु पुंसः स्कन्धादुपेत्य सः ।
मृगाङ्कदत्तं जग्राह पादयोः साश्रुलोचनः ॥6॥
तेनाश्लिष्टश्च हृष्टेन तथा तन्मन्त्रिभिः क्रमात् ।
विससर्ज पुमांसं तं स्मृतोऽभ्येष्यसि मामिति ॥7॥
ततो मृगाङ्कदत्तेन कौतुकादुपविश्य सः ।
पृष्टः स्वोदन्तमाचख्यौ वने विक्रमकेसरी ॥8॥
तदा भवद्भ्यो विभ्रष्टो नागशापात्परिभ्रमन् ।
बहून्यहानि चिन्वानो युष्मानहमचिन्तयम् ॥9॥
गच्छाम्युज्जयिनीं तत्र गन्तव्यं तैर्ध्रुवं यतः ।
एवं निश्चित्य च प्रायामहं तां नगरीं प्रति ॥10॥
क्रमात्तन्निकटं प्राप्य ग्रामं ब्रह्मस्थलाभिधम् ।
वापीतटेऽहमेकस्मिन्वृक्षमूल उपाविशम् ॥11॥
तत्रैत्य सर्पदंशातो वृद्धो मां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
इत उत्तिष्ठ मा पुत्र मदीयां गतिमाप्स्यसि ॥12॥
इहास्ति हि महासर्पो येन दष्टो रुजादितः ।
उद्यतोऽस्यां महावाप्यामेषोऽहं देहमुज्झितुम् ॥13॥

इत्युक्तवन्तं कृपया देहत्यागान्निवार्यं तम् ।
 तत्राकार्षमहं विप्रं निर्विषं विषविद्यया ॥14॥
 ततः स विप्रः साकूतमुदन्तं कृत्स्नमादरात् ।
 पृष्ट्वा मां प्रीतिमानेवं विदितार्थोऽभ्यभाषत ॥15॥
 प्राणास्त्वया मम प्रप्ता तत्प्रवीर गृहाण मे ।
 वेतालसाधनं मन्त्रमिमं प्राप्तं मया पितुः ॥16॥
 त्वादृशामुपयुक्तोऽयं सिद्धिकृत्सत्त्वशालिनाम् ।
 मादृशाः पुनरेतेन क्लीबाः किं नाम कुर्वते ॥17॥
 इत्युक्तस्तेन तमहं प्रत्यवोचं द्विजोत्तमम् ।
 मृगाङ्ग दत्तवियुतो वेतालैः किं करोम्यहम् ॥18॥
 तच्छ्रुत्वा स विहस्यैवं विप्रो मां पुनरब्रवीत् ।
 किं न जानास्यभीष्टं यद्वेतालात्सर्वमाप्यते ॥19॥
 अपि विद्याधरैश्चर्यं वेतालस्य प्रसादतः ।
 किं त्रिविक्रमसेनेन न प्राप्तं भूभुजा पुरा ॥20॥
 तथा च कथयाम्येतां तदीयां ते कथां शृणु ।
 प्रतिष्ठानाभिधानोऽस्ति देशो गोदावरीतटे ॥21॥
 तत्र विक्रमसेनस्य पुत्रः शक्रपराक्रमः ।
 प्राक्त्रिविक्रमसेनाख्यः ख्यातकीर्तिरभून्नृपः ॥22॥
 तस्य प्रत्यहमास्थानगतस्योपेत्य भूपतेः ।
 सेवार्थं क्षान्तिशीलाख्यो भिक्षुः फलमुपानयत् ॥23॥
 सोऽपि राजा तदादाय फलमासन्नवर्तिनः ।
 हस्ते ददौ प्रतिदिनं कोषागाराधिकारिः ॥24॥
 इत्थं गतेषु वर्षेषु दशस्वत्र किलैकदा ।
 दत्त्वा राज्ञे फलं तस्मै भिक्षावास्थानतो गते ॥25॥
 स राजा तत्फलं प्रादात्प्रविष्टायान्न दैवतः ।
 क्रीडामर्कटपोताय हस्तभ्रष्टाय रक्षिणाम् ॥26॥
 स मर्कटस्तदश्नाति यावत्तावत्फलात्ततः ।
 विभिन्नमध्यान्निरगादनर्घं रत्नमुत्तमम् ॥27॥

तद्दृष्ट्वादाय पप्रच्छ तं भाण्डागारिकं नृपः ।
 भिक्षूपनीतानि मया यानि नित्यं फलानि ते ॥28॥
 हस्ते दत्तानि तानि क्व स्थापितानि सदा त्वया ।
 तच्छ्रुत्वा तं स सभयः कोषाध्यक्षो व्यजिज्ञपत् ॥29॥
 क्षिप्तानि तान्यनुद्धाट्य मया गञ्जे गवाक्षतः ।
 यद्यादिशसि तद्देव तमुद्धाट्य गवेषये ॥30॥
 इत्यूचिषाननुमतो राज्ञा गत्वा क्षणेन सः ।
 कोषाध्यक्षः समागत्य प्रभुं व्यज्ञापयत्पुनः ॥31॥
 शीर्णानि नात्र पश्यामि कोषे तानि फलान्यहम् ।
 रत्नराशिं तु पश्यामि रश्मिज्वालाकुलं विभो ॥32॥
 तच्छ्रुत्वा तान्मणीन्दत्त्वा तुष्टोऽस्मै कोषरक्षिणे ।
 राजान्येद्युरपृच्छत्स भिक्षुं तं प्राग्वदागतम् ॥33॥
 भिक्षो धनव्ययेनैवं सेवसे मां किमन्वहम् ।
 नेदानीं मे गृहीष्यामि फलं यावन्न वक्ष्यसि ॥34॥
 इत्युक्तवन्तं राजानं भिक्षुस्तं विजनेऽब्रवीत् ।
 वीरसाचिव्यसापेक्षं मंत्रसाधनमस्ति मे ॥35॥
 तत्र वीरेन्द्र साहाय्यं क्रियमाणं त्वयार्थये ।
 तच्छ्रुत्वा प्रतिपेदे तत्तथेत्यस्य स भूपतिः ॥36॥
 ततः स श्रमणस्तुष्टो नृपं पुनरुवाच तम् ।
 तर्हि कृष्णचतुर्दश्यामागामिन्यां निशागमे ॥37॥
 इतो महाश्मशानान्तर्वटस्याधः स्थितस्य मे ।
 आगन्तव्यं त्वया देव प्रतिपालयतोऽन्तिकम् ॥38॥
 बाढमेवं करिष्यामीत्युक्ते तेन महीभुजा ।
 स क्षान्तिशीलः श्रमणो हृष्टः स्वनिलयं ययौ ॥39॥
 अथ तां स महासत्त्वः प्राप्य कृष्णचतुर्दशीम् ।
 प्रार्थनां प्रतिपन्नां तां भिक्षोस्तस्य नृपः स्मरन् ॥40॥
 प्रदोषे नीलवसनस्तमालकृतशेखरः ।
 निर्ययौ राजधानीतः खड्गपाणिरलक्षितः ॥41॥

ययौ च घोरनिबिडध्वान्तव्रातमलीमसम् ।
 चितानलोग्रनयनज्वालादारुणदर्शनम् ॥42॥
 असंख्यनरकङ्कालकपालास्थिविशङ्क टम् ।
 हृष्यत्संनिहितोत्तालभूतवेतालवेष्टितम् ॥43॥
 भैरवस्यापरं रूपमिव गम्भीरभीषणम् ।
 स्फूर्जन्महाशिवावारावं श्मशानं तदविह्वलः ॥44॥
 विचित्य चात्र तं प्राप्य भिक्षुं वटतरोरधः ।
 कुर्वाणं मण्डलन्यासमुपसृत्य जगाद सः ॥45॥
 एषोऽहमागतो भिक्षो ब्रूहि किं करवाणि ते ।
 तच्छ्रुत्वा स नृपं दृष्ट्वा भिक्षुरुवाच तम् ॥46॥
 राजन्कृतः प्रसादश्चेत्तदितो दक्षिणामुखम् ।
 गत्वा विदूरमेकाकी विद्यते शिंशपातरुः ॥47॥
 तस्मिन्नुल्लम्बितमृतः कोऽप्येकः पुरुषः स्थितः ।
 तमिहानय गत्वा त्वं सानार्थ्यं कुरु वीर मे ॥48॥
 तच्छ्रुत्वैव तथेत्युक्तवा स राजा सत्यसंगरः ।
 दक्षिणां दिशमालम्ब्य प्रवीरः प्रययौ ततः ॥49॥
 आत्तदीप्तचितालातलक्षितेन पथात्र सः ।
 गत्वा तमसि तं प्राप कथंचिच्छिंशपातरुम् ॥50॥
 तस्य स्कन्धे चिताधूमदग्धस्य क्रव्यगन्धिनः ।
 सोऽपश्यल्लम्बमानं तं भूतस्येव शवं तरोः ॥51॥
 आरुह्य चात्र भूमौ तं च्छिन्नरज्जुमपातयत् ।
 पतितश्चात्र सोऽकस्माच्चक्रन्द व्यथितो यथा ॥52॥
 ततोऽवरुह्य कृपया जीवाशङ्की स तस्य यत् ।
 राजाङ्गं प्रामृशत्तेन सोऽट्टहासं व्यधाच्छवः ॥53॥
 ततः स राजा मत्त्वा तं वेतालाधिष्ठितं तदा ।
 किं हसस्येहि गच्छाव इति यावदकम्पितः ॥54॥
 वक्ति तावन्न भूमौ सवेतालं शवमैक्षत ।
 ऐक्षतात्रैव वृक्षे तु लम्बमानं स्थितं पुनः ॥55॥

ततोऽधिरुह्य भूयोऽपि तमवातारयत्ततः ।
 वज्रादपि हि वीराणां चित्तरत्नमखण्डितम् ॥56॥
 आरोप्य च सवेतालं स्कन्धे मौनेन तं शवम् ।
 स त्रिविक्रमसेनोऽथ राजा गन्तुं प्रचक्रमे ॥57॥
 यान्तं च तं शवान्तःस्थो वेतालोऽसस्थितोऽब्रवीत् ।
 राजान्नध्वविनोदाय कथामाख्यामि ते शृणु ॥58॥

प्रथमो वेतालः

अस्ति वाराणसी नाम पुरारिवसतिः पुरी ।
 स्थलीव कैलासगिरेर्या पुण्यजनसेविता ॥59॥
 भूरिवारिभृता शशदुपकण्ठनिवेशिनी ।
 हारयष्टिरिवाभाति यस्याः स्वर्गतरङ्गिणी ॥60॥
 प्रतापानलनिर्दग्धविपक्षकुलकाननः ।
 तस्यां प्रतापमुकुटो नाम राजाभवत्पुरा ॥61॥
 तस्याभूद्ब्रजमुकुटस्तनयो रूपशौर्ययोः ।
 कुर्वाणो दर्पदलनं स्मरस्यारिजनस्य च ॥62॥
 राजपुत्रस्य तस्यात्र मन्त्रिपुत्रो महामतिः ।
 आसीद्बुद्धिशरीराख्यः शरीराभ्यधिकः सखा ॥63॥
 तेन सख्या सह क्रीडन्स कदाचिन्नृपात्मजः ।
 जगाम दूरमध्वानं मृगयातिप्रसङ्गतः ॥64॥
 शौर्यश्रीचामराणीव सिंहानां मस्तकानि सः ।
 छिन्दञ्शरैः सटालानि विवेशैकं महावनम् ॥65॥
 तत्रास्थाने स्मरस्येव पठत्कोकिलबन्दिनि ।
 दत्तोपकारे तरुभिर्मञ्जरीचलचामरैः ॥66॥
 सोऽन्वितो मन्त्रिपुत्रेण तेनापश्यत्सरोवरम् ।
 विचित्रकमलोत्पत्तिधामाम्बुधिमिवापरम् ॥67॥

तस्मिन्तदैव सरसि स्नानार्थं काचिदागता ।
 तेन दिव्याकृतिः कन्या ददृशे सपरिच्छदा ॥68॥
 पूरयन्तीव लावण्यनिर्झरिण सरोवरम् ।
 दृष्टिपातैः सृजन्तीव तत्रोत्पलवनं नवम् ॥69॥
 प्रत्यादिशन्तीव मुखेनाम्बुजानि जितेन्दुना ।
 सा जहार मनस्तस्य राजपुत्रस्य तत्क्षणम् ॥70॥
 सोऽप्यहर्षीत्तथा तस्या युवा दृष्ट्वा विलोचने ।
 यथा नैक्षत सा कन्या लज्जां स्वामप्यलंकृतिम् ॥71॥
 यूनि पश्यति तस्मिन्सा केयं स्यादिति सानुगे ।
 संज्ञां स्वदेशाद्याख्यातुं विलासच्छब्दानाकरोत् ॥72॥
 करोति स्मोत्पलं कर्णे गृहीत्वा पुष्पशेखरात् ।
 चिरं च दन्तरचनां चकारादाय च व्यधात् ॥73॥
 पद्मं शिरसि साकृतं हृदये चादधे करम् ।
 राजपुत्रश्च तस्यास्तां संज्ञां न ज्ञातवांस्तदा ॥74॥
 मन्त्रिपुत्रस्तु बुबुधे स सखा तस्य बुद्धिमान् ।
 क्षणाच्च सा ययौ कन्या नीयमानानुगैस्ततः ॥75॥
 प्राप्य च स्वगृहं तस्थौ पर्यङ्केऽङ्गं निधाय सा ।
 चिन्तं तु निजसंज्ञार्थमास्थात्तस्मिन्पुत्रात्मजे ॥76॥
 सोऽपि राजसुतो भ्रष्टविद्यो विद्याधरो यथा ।
 गत्वा स्वनगरीं कृच्छ्रां प्रापावस्थां तथा विना ॥77॥
 सख्या च मन्त्रिपुत्रेण तेन पृष्टस्तदा रहः ।
 शंसता तामदुष्प्रापां त्यक्तधैर्यो जगाद सः ॥78॥
 यस्या न नाम न ग्रामो नान्वयो वावबुध्यते ।
 सा कथं प्राप्यते तन्मामाश्वासयसि किं मृषा ॥79॥
 इत्युक्तो राजपुत्रेण मन्त्रिपुत्रस्तमभ्यधात् ।
 किं दृष्टं त्वया तद्यत्संज्ञया सूचितं तथा ॥80॥
 न्यस्तं यदुत्पलं कर्णे तेनैतत्ते तयोदितम् ।
 कर्णोत्पलस्य राष्ट्रैऽहं निवसामि महीभृतः ॥81॥

कृता यदन्तरचना तेनैतत्कथितं तथा ।
 तत्र जानीहि मां दन्तघाटकस्य सुतामिति ॥82॥
 पद्मावतीति नामोक्तं तयोत्तंसितपद्मया ।
 त्वयि प्राणा इति प्रोक्तं हृदयार्पितहस्तया ॥83॥
 कलिङ्गदेशे ह्यस्त्यत्र ख्यातः कर्णोत्पलो नृपः ।
 तस्य प्रसादवित्तोऽस्ति महान्यो दन्तघाटकः ॥84॥
 सङ्ग्रामवर्धनाख्यस्य तस्याप्यस्ति जगत्त्रये ।
 रत्नं पद्मावती नाम कन्या प्राणाधिकप्रिया ॥85॥
 एतच्च लोकतो देव यथावद्विदितं मम ।
 अतो ज्ञाता मया संज्ञा तस्या देशादिशंसिनी ॥86॥
 इत्युक्तो मन्त्रिपुत्रेण तेन राजसुतोऽथ सः ।
 तुतोष तस्मै सुधिष्ये लब्धोपाया जहर्ष च ॥87॥
 संमन्य च समं तेन स तद्युक्तः स्वमन्दिरात् ।
 प्रियार्थी मृगयाव्याजात्पुनस्तामगमद्दिशम् ॥88॥
 अर्धमार्गं च वाताश्ववेगवञ्चितसैनिकः ।
 तं मन्त्रिपुत्रैकयुतः कलिङ्गविषयं ययौ ॥89॥
 तत्र तौ प्राप्य नगरं कर्णोत्पलमहीभृतः ।
 अन्विष्य दृष्ट्वा भवनं दन्तघाटस्य तस्य च ॥90॥
 तददूरे च वासार्थमेकस्या वृद्धयोषितः ।
 गृहं प्राविशतां मन्त्रिपुत्रराजसुतावुभौ ॥91॥
 दत्ताम्बुयवसौ वाहौ गुप्तेऽवास्थाप्य चात्र सः ।
 राजपुत्रे स्थिते वृद्धां मन्त्रिपुत्रो जगाद् ताम् ॥92॥
 कच्चिद्वेत्स्यम्ब सङ्ग्रामवर्धनं दन्तघाटकम् ।
 तच्छ्रुत्वा सा जरद्योषित्सश्रद्धा तमभाषत ॥93॥
 वेद्म्येव धात्री तस्यास्मि स्थापिता तेन चाधुना ।
 पद्मावत्याः स्वदुहितुः पार्श्वे ज्येष्ठतरेत्यहम् ॥94॥
 किं त्वहं न सदा तत्र गच्छाम्युपहताम्बरा ।
 कुपुत्रः कितवो वस्वं दृष्ट्वा हि हरते मम ॥95॥

एवमुक्तवतीं प्रीतः स्वोत्तरीयादिदानतः ।
 संतोष्य सोऽत्र वृद्धां तां मन्त्रिपुत्रोऽब्रवीत्पुनः ॥96॥
 माता त्वं तद्वदामस्ते गुप्तं यत्तत्कुरुष्व नः ।
 दन्तघाटसुतामेतां गत्वा पद्मावतीं वद ॥97॥
 सोऽत्रागतो राजपुत्रो दृष्टो यः सरसि त्वया ।
 तेन चेह तवाख्यातुं प्रेषिता प्रणयादहम् ॥98॥
 तच्छ्रुत्वा सा तथेत्युक्त्वा वृद्धा दानवशीकृता ।
 गत्वा पद्मावतीपार्श्वमाजगाम क्षणान्तरे ॥99॥
 पृष्टा जगाद तौ राजसुतमन्त्रिसुतौ च सा ।
 युष्मदागमनं गत्वा गुप्तं तस्या मयोदितम् ॥100॥
 तया श्रुत्वा न निर्भर्त्स्य पाणिभ्यामहमाहता ।
 द्वाभ्यां कर्पूरलिप्ताभ्यामुभयोर्गण्डयोर्मुखे ॥101॥
 ततः परिभवोद्विग्ना रुदत्यहमिहागता ।
 एतास्तदङ्गुलीमुद्राः पुत्रौ मे पश्यतं मुखे ॥102॥
 एवं तयोक्ते नैराश्यविषण्णं तं नृपात्मजम् ।
 जगाद स महाप्राज्ञो मन्त्रिपुत्रो जनान्तिकम् ॥103॥
 मा गा विषादं रक्षन्त्या मन्त्रं निर्भर्त्स्य यत्तया ।
 कर्पूरशुभ्रा वक्रेऽस्याः स्वाङ्गुल्यो दश पातिताः ॥104॥
 तदेतदुक्तं पक्षेऽस्मिञ्शुक्ले चन्द्रवतीरिमाः ।
 रात्रीर्दश प्रतीक्षध्वं संगमानुचिता इति ॥105॥
 इत्याश्वास्य स तं राजसुतं सन्त्रिसुतस्ततः ।
 विक्रीय मुप्तं हस्तस्थं काश्चनं किञ्चिदापणे ॥106॥
 वृद्धया साधयामास महार्हं भोजनं तया ।
 ततस्तौ बुभुजाते द्वौ तत्तया सह वृद्धया ॥107॥
 एवं नीत्वा दशाहानि जिज्ञासार्थं पुनः स ताम् ।
 पद्मावत्यन्तिकं वृद्धां मन्त्रिपुत्रो विसृष्टवान् ॥108॥
 सापि मृष्टान्नपानादिलुब्धा तदनुरोधतः ।
 गत्वा वासगृहं तस्या भूयोऽभ्येत्य जगाद तौ ॥109॥

इतो गत्वाद्य तूष्णीमप्यहं तत्र स्थिता तया ।
 युष्मत्कथापरार्थं तमुद्गिरन्त्या स्वयं पुनः ॥110॥
 सालक्तकाभिस्तिसृभिः कराङ्गुलिभिराहता ।
 उरस्यस्मिन्नथैषाहमिहायाता तदन्तिकात् ॥111॥
 तच्छ्रुत्वा राजपुत्रं तं स्वैरं मन्त्रिसुतोऽब्रवीत् ।
 मा कार्षीरन्यथा शङ्कामस्या हि हृदये तया ॥112॥
 सालक्तकाङ्गुलीमुद्रात्रयं विन्यस्य युक्तितः ।
 रजस्वला निशास्तिस्रः स्थिताहमिति सूचितम् ॥113॥
 एवमुक्त्वा नृपसुतं मन्त्रिपुत्रस्त्रयहे गते ।
 पद्मावत्यै पुनस्तस्यै वृद्धां तां प्रजिघाय सः ॥114॥
 सा गता मन्दिरं तस्यास्तया संमान्य भोजिता ।
 प्रीत्या पानादिलीलाभिर्दिनं चात्र विनोदिता ॥115॥
 सायं च यावत्सा वृद्धा गृहमागन्तुमिच्छति ।
 उदभूद्भक्ततावत्तत्र कोलाहलो बहिः ॥116॥
 हा हा भ्रष्टोऽयमालानाजनान्मथनप्रधावति ।
 मत्तहस्तीति लोकस्य तत्राक्रन्दोऽथ शुश्रुवे ॥117॥
 ततः पद्मावती सा तां वृद्धामेवमभाषत ।
 स्पष्टेन हस्तिरुद्धेन गन्तुं युक्तं न ते पथा ॥118॥
 तत्पीठिकां समारोप्य बद्धालम्बनरञ्जुकाम् ।
 बृहद्रवाक्षेणानेन त्वामत्र प्रक्षिपामहे ॥119॥
 गृहोद्याने ततो वृक्षमारुह्यामुं विलङ्घ्य च ।
 प्राकारमवरुह्यान्वृक्षेण स्वगृहं ब्रज ॥120॥
 इत्युक्त्वा सा गवाक्षेण क्षेपयामास तत्र ताम् ।
 वृद्धां चेटीभिरुद्याने रञ्जुपीठिकया ततः ॥121॥
 साथ गत्वा यथोक्तेन पथा सर्वं शशंस तत् ।
 यथावद्राजपुत्राय तस्मै मन्त्रिसुताय च ॥122॥
 ततः स मन्त्रिपुत्रस्तं राजापुत्रमभाषत ।
 सिद्धं तवेष्टं मार्गो हि युक्तया ते दर्शितस्तया ॥123॥

तद्गच्छाद्यैव तत्र त्वं प्रदोषेऽस्मिन्नृपागते ।
 एतेनैव पथा तस्याः प्रियाया मन्दिरं विश ॥124॥
 इत्युक्तस्तेन तद्युक्तो राजपुत्रो ययौ स तत् ।
 उद्यानं वृद्धयोक्तेन तेन प्राकारवर्त्मना ॥125॥
 तत्रापश्यच्च रज्जुं तां लम्बमानां सपीठिकाम् ।
 मार्गोन्मुखाभिश्चेटीभिरुपरिष्ठादधिष्ठिताम् ॥126॥
 आरूढस्तां व दृष्ट्वैव दासीभिस्ताभिराशु सः ।
 रज्जूत्क्षिप्तो गवाक्षेण प्रविवेश प्रियान्तिकम् ॥127॥
 तस्मिन्प्रविष्टे स ययौ मन्त्रिपुत्रः स्वमास्पदम् ।
 राजपुत्रस्तु तां पद्मावतीं तत्र ददर्श सः ॥128॥
 पूर्णामृतांशुवदनां प्रसरत्कान्तिचन्द्रिकाम् ।
 कृष्णपक्षभयाद्गुप्तस्थितां राकानिशामिव ॥129॥
 सापि दृष्ट्वा तमुत्थाय चिरौत्सुक्योचितैस्ततः ।
 कण्ठग्रहादिभिस्तैरुपचारैरमानयत् ॥130॥
 ततस्तया स गान्धर्वविधिनोद्बुद्धया सह ।
 गुप्तं राजसुतस्तस्थौ पूर्णेच्छस्तत्र कान्तया ॥131॥
 स्थित्वा चाहानि कतिचिद्रात्रौ तामवदत्प्रियाम् ।
 सखा मम सहायातो मन्त्रिपुत्र इह स्थितः ॥132॥
 स चात्र तिष्ठत्येकाकी त्वज्येष्ठतरिकागृहे ।
 गत्वा संभाव्य तं तन्वि पुनरेष्यामि तेऽन्तिकम् ॥133॥
 तच्छ्रुत्वा तमवोचत्सा धूर्ता पद्मावती प्रियम् ।
 हन्तार्यपुत्र पृच्छामि ताः संज्ञा मत्कृतास्त्वया ॥134॥
 ज्ञाता किं किमु वा तेन सख्या मन्त्रिसुतेन ते ।
 एवमुक्तवतीमेतां राजपुत्रो जगाद सः ॥135॥
 न ज्ञातं तन्मया किंचिज्ज्ञात्वा सर्वं च तेन मे ।
 आख्यातं मन्त्रिपुत्रेण दिव्यप्रज्ञानशालिना ॥136॥
 एतच्छ्रुत्वा विचिन्त्यैव भामिनी सा जगाद तम् ।
 तर्ह्ययुक्तं कृतं यन्मे चिरात्स कथितस्त्वया ॥137॥

स मे भ्राता सखा यस्ते तस्य च प्रथमं मया ।
 ताम्बूलादिसमाचारः कर्तव्यो हि सदा भवेत् ॥138॥
 इत्युक्तवत्यानुमतस्तया पूर्वपथेन सः ।
 राजपुत्रोऽन्तिकं तस्य सख्युरागात्ततो निशि ॥139॥
 शशंस च कथामध्ये तत्तस्मै यत्तदाश्रयम् ।
 संज्ञाविज्ञानकथनं कृतं तेन प्रियान्तिके ॥140॥
 मन्त्रिपुत्रस्तु सोऽयुक्तमिति न श्रद्धेऽस्य तत् ।
 तावच्च सा तयोस्तत्र विभाताभूद्विभावरी ॥141॥
 अथैतयोर्विधौ सांध्ये निवृत्ते कुर्वतोः कथाः ।
 आगात्पक्वान्नताम्बूलहस्ता पद्मावतीसखी ॥142॥
 सा मन्त्रिपुत्रं कुशलं पृष्ट्वा दत्तोपचारिका ।
 निषेद्धुं राजपुत्रस्य भोजनं तत्र युक्तितः ॥143॥
 कथान्तरे स्वामिनीं स्वां भोजनादौ तदागमम् ।
 प्रतीक्षमाणामावेद्य क्षणाद्गुप्तं ततो ययौ ॥144॥
 ततस्तं मन्त्रिपुत्रः स राजपुत्रमभाषत ।
 कौतुकं पश्य देवैकं दर्शयाम्यधुना तव ॥145॥
 इत्युक्त्वा भक्ष्यमेकं स पक्वान्नं दत्तवांस्ततः ।
 सारमेयाय स च तत्खादित्वैव व्यपद्यत ॥146॥
 तद्दृष्ट्वा किमिदं चित्रमिति राजसुतोऽत्र सः ।
 पप्रच्छ मन्त्रिपुत्रं तं स चैतं प्रत्यभाषत ॥147॥
 संज्ञाज्ञानेन धूर्तं मां विदित्वा हन्तुकामया ।
 तथा विषान्नं प्रहितं मम त्वदनुरक्तया ॥148॥
 नास्मिन्सति मदेकाग्रो राजपुत्रो भवेदयम् ।
 एतद्वशश्च मुक्त्वा मां नगरीं स्वां व्रजेदिति ॥149॥
 तन्मुञ्च मन्युमेतस्यां बन्धुत्यागान्महात्मनः ।
 कुर्यास्त्वं हरणे युक्तिं वक्ष्याम्यालोच्य यामहम् ॥150॥
 इत्युक्तवन्तं तं मन्त्रिसुतं राजसुतोऽत्र सः ।
 सत्यं बुद्धिशरीरस्त्वमिति यावत्प्रशंसति ॥151॥

अशङ्कितं बहिस्तावददुःखाकुलजनारवः ।
 हा धिग्रजः सुतो बालो विपन्न इति शुश्रुवे ॥152॥
 तदाकर्णनहृद्योऽथ मन्त्रिपुत्रो नृपात्मजम् ।
 जगाद हन्त गच्छाद्य पद्मावत्या गृहं निशि ॥153॥
 तत्र तां पाययेस्तावद्यावत्यानमदेन सा ।
 निःसंज्ञा नष्टचेष्टा च गतजीवेव जायते ॥154॥
 ततस्तस्याः सनिद्रायाः शूलेनाङ्गं कटीतटे ।
 दत्त्वाग्निदत्तेनादाय तदाभरणसंचयम् ॥155॥
 आगच्छेस्त्वं गवाक्षेण रज्जुलम्बविनिर्गतः ।
 ततः परं यथा भद्रं भवेज्ज्ञास्याम्यहं तथा ॥156॥
 इत्युक्त्वा कारयित्वा च क्रोडबालनिभाश्रिकम् ।
 मन्त्रिपुत्रो ददौ तस्मै त्रिशूलं राजसूनुवे ॥157॥
 राजपुत्रः स हस्ते तत्कृत्वा कुटिलकर्कशम् ।
 कालायसदृढं चित्तमिव कान्तावयस्ययोः ॥158॥
 तथेति पूर्ववद्रात्रावगात्पद्मावतीगृहम् ।
 अविचार्य प्रभूणां हि शुचेर्वाक्यं स्वमन्त्रिणः ॥159॥
 तत्र तां मद्यनिश्चेष्टां शूलेन जघनेऽङ्किताम् ।
 हतालंकरणां कृत्वा तस्यागात्सख्युरन्तिकम् ॥160॥
 दर्शिताभरणस्तस्मै शशंस च यथाकृतम् ।
 ततः स मन्त्रिपुत्रोऽपि सिद्धं मेने मनीषितम् ॥161॥
 प्रातर्गत्वा श्मशानं च सोऽभूत्तापसवेषभृत् ।
 स्वैरं राजसुतं तं च विदधे शिष्यरूपिणम् ॥162॥
 अब्रवीत्तं च गच्छैकमितोऽलंकरणादिमाम् ।
 मुक्तावलीं समादाय त्वं विक्रेतुमिवापणे ॥163॥
 बहुमूल्यं वदेश्चास्या येनेतां नैव कश्चन ।
 गृह्णीयाद्भ्राम्यमाणां च सर्वः कोऽपि विलोकयेत् ॥164॥
 गुरुणा मम विक्रेतुमियं दत्तेत्यनाकुलः ।
 ब्रूयाश्च यदि गृह्णीयुरत्र त्वां पुररक्षिणः ॥165॥

इति स प्रेषितस्तेन गत्वा राजसुतस्तदा ।
 अतिष्ठदापणे भ्राम्यन्व्यक्तं मुक्तावलीं दधत् ॥166॥
 तथाभूतश्च जगृहे स दृष्ट्वा पुररक्षिभिः ।
 दन्तघाटसुतामोषज्ञप्तेश्चौरगवेषिभिः ॥167॥
 निन्ये च नगराध्यक्षनिकटं तैः स तत्क्षणात् ।
 स च तं तापसाकारं दृष्ट्वा पप्रच्छ सान्त्वतः ॥168॥
 कुतो मुक्तावलीयं ते भगवन्निह हारिता ।
 दन्तघाटककन्याया हतं ह्याभरणं निशि ॥169॥
 तच्छ्रुत्वा राजपुत्रस्तं सोऽवादीत्तापसाकृतिः ।
 गुरुणा मम दत्तेयमेत्यासौ पृच्छ्यतामिति ॥170॥
 ततश्चोपेत्य तं नत्वा पप्रच्छ नगराधिपः ।
 मुक्तावलीयं भगवन्कुतस्ते शिष्यहस्तगा ॥171॥
 श्रुत्वैतद्विजनं कृत्वा स धूर्तस्तमभाषत ।
 अहं तपस्वी भ्राम्यामि सदारण्येष्वितस्ततः ॥172॥
 सोऽहं दैवादिह प्राप्तः श्मशानेऽत्र स्थितो निशि ।
 अपश्यं योगिनीचक्रं समागतमितस्ततः ॥173॥
 तन्मध्ये चैक्यानीय योगिन्या राजपुत्रकः ।
 उद्धाटितहृदम्भोजो भैरवाय निवेदितः ॥174॥
 पानमत्ता च सा हर्तुं जपतो मेऽक्षमालिकाम् ।
 प्रावर्तत महामाया विकारान्कुर्वती मुखे ॥175॥
 अतिप्रवृत्ता च मया क्रुद्धेन जघनस्थले ।
 अङ्किता सा त्रिशूलेन मन्त्रप्रज्वालितश्रिणा ॥176॥
 हता मुक्तावली चेयं तस्याः कण्ठान्मया तदा ।
 सैषाद्य तापसानर्हा विक्रेया मम वर्तते ॥177॥
 एतच्छ्रुत्वा पुराध्यक्षो गत्वा भूपं व्यजिज्ञपत् ।
 भूपोऽप्याकर्ण्य तत्तां च बुद्ध्वा तन्मौक्तिकावलीम् ॥178॥
 प्रेक्षणप्रेषितायातवृद्धाप्तवनितामुखात् ।
 श्रुत्वा च दृश्यशूलाङ्गां जघने सत्यमेव ताम् ॥179॥

ग्रस्तः सुतो मे डाकिन्या तयेत्युत्पन्ननिश्चयः ।
 स्वयं तस्थान्तिकं गत्वा मन्त्रिपुत्रतपस्विनः ॥180॥
 पृष्ट्वा च निग्रहं तस्याः पद्मावत्याः स तद्विरा ।
 पितृभ्यां शोच्यमानायाः पुरान्निर्वासनं व्यधात् ॥181॥
 निर्वासिताटवीस्था सा विभ्रापि न जहौ तनुम् ।
 उपायं मन्त्रिपुत्रेण तं संभाव्य तथा कृतम् ॥182॥
 दिनान्ते तां च शोचन्तीमश्वारूढावुपेयतुः ।
 त्यक्ततापसवेषौ तौ मन्त्रिपुत्रनृपात्मजौ ॥183॥
 आश्रवास्यारोप्य तुरगे स्वराष्ट्रं निन्यतुश्च ताम् ।
 तत्र तस्थौ तया साकं राजपुत्रः स निर्वृतः ॥184॥
 दन्तघाटस्त्वरण्ये तां क्रव्यादैर्भक्षितां सुताम् ।
 मत्वा व्यपादि शोकेन भार्या चानुजगाम तम् ॥185॥
 इत्याख्याय स भूयस्तं वेतालो नृपमब्रवीत् ।
 तन्मेऽत्र संशयं छिन्द्वि दंपत्योरेतयोर्वधात् ॥186॥
 मन्त्रिपुत्रस्य किं पापं राजपुत्रस्य किं नु वा ।
 पद्मावत्याः किमथवा त्वं हि बुद्धिमतां वरः ॥187॥
 जानानश्च न चेद्राजन्मम तत्त्वं वदिष्यसि ।
 तदेष शतधा मूर्धा निश्चितं ते स्फुटिष्यति ॥188॥
 इत्युक्तवन्तं वेतालं विजानञ्शापभीतितः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तमेवं प्रत्यब्रवीन्नृपः ॥189॥
 योगेश्वर किमज्ञेयमेतत्रैषां हि पातकम् ।
 त्रयाणामपि राजस्तु पापं कर्णोत्पलस्य तत् ॥190॥
 वेतालोऽप्याह राज्ञः किं ते हि तत्कारिणस्त्रयः ।
 काकाः किमपराध्यन्ति हंसैर्जग्धेषु शालिषु ॥191॥
 राजा ततोऽब्रवीच्चैनं न दुष्यन्ति त्रयोऽपि ते ।
 मन्त्रिसूनोर्हि तत्तावत्प्रभुकार्यमपातकम् ॥192॥
 पद्मावतीराजपुत्रौ तौ हि कामशराग्निना ।
 संतप्तावविचारार्हावादोषौ स्वार्थमुद्यतौ ॥193॥

कर्णोत्पलस्तु राजा स नीतिशास्त्रेष्वशिक्षितः ।
 चारैः प्रजास्वनन्विष्यंस्तत्त्वशुद्धिं निजास्वपि ॥194॥
 अजानन्धूर्तचरितानीङ्गिताद्यविचक्षणः ।
 तथा तन्निर्विचारं यच्चक्रे तेन स पापभाक् ॥195॥
 इत्याकर्ण्य विमुक्तमौनमुदिते सम्यङ् नृपेणोत्तरे
 स्कन्धात्तस्य स दाढ्यमाकलयितुं मायाबलात्तत्क्षणम् ।
 वेतालो नृकलेवरान्तरगतः क्वाप्यप्रतर्क्यो ययौ
 निष्कम्पः स च भूपतिः पुनरमुं प्राप्तुं व्यधान्निश्चयम् ॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बकेऽष्टमस्तरङ्गः ।

नवमस्तरङ्गः।

(द्वितीयो वेतालः)

ततोऽत्र पुनरानेतुं तं वेतालमगात्नृपः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तच्छिंशपापादपान्तिकम् ॥1॥
 प्राप्तोऽत्र वीक्षते यावच्चितालोकवशात्त्रिंशि ।
 तावद्दर्शं तं भूमौ कूजन्तं पतितं शवम् ॥2॥
 अथ तं मृतदेहस्थं वेतालं स महीपतिः ।
 आरोप्य स्कन्धमानेतुं तूष्णीं प्रववृते जवात् ॥3॥
 ततः स्कन्धात्स वेतालो भूयस्तं नृपमब्रवीत् ।
 राजन्महत्यनुचिते क्लेशेऽस्मिन्पतितो भवान् ॥4॥
 अतस्तव विनोदाय कथयामि कथां शृणु ।
 अस्त्यग्रहारः कालिन्दीकूले ब्रह्मस्थलाभिधः ॥5॥
 अग्निस्वामीति तत्रासीद्ब्राह्मणो वेदपारगः ।
 तस्यातिरूपा मन्दारवतीत्यजनि कन्यका ॥6॥
 यां निर्माय नवानर्घलावण्यां नियतं विधिः ।
 स्वर्गस्त्रीपूर्वनिर्माणं निजमेवाजुगुप्सत ॥7॥

तस्यां च यौवनस्थायामाययुः कान्यकुब्जतः ।
 समसर्वगुणास्तत्र त्रयो ब्राह्मणपुत्रकाः ॥8॥
 तेषां चात्मार्थमेकैकस्तत्पितृस्तामयाचत ।
 अनिच्छन्दानमन्यस्मै तस्याः प्राणव्ययादपि ॥9॥
 तत्पिता स तु तन्मध्यान्नैकस्मायपि तां ददौ ।
 भीतोऽन्ययोर्वधात्तेन तस्थौ कन्यैव सा ततः ॥10॥
 ते च त्रयोऽपि तद्वक्त्रचन्द्रैकासक्तदृष्टयः ।
 चकोरव्रतमालम्ब्य तत्रैवासन्दिवानिशम् ॥11॥
 अथाकस्मात्समुत्पन्नदाहज्वरवशेन सा ।
 जगाम मन्दारवती कुमारी किल पञ्चताम् ॥12॥
 ततस्तां विप्रपुत्रास्ते परासुं शोकविक्लवाः ।
 कृतप्रसाधनां नीत्वा श्मशानं चक्रुरग्निसात् ॥13॥
 एकश्च तेषां तत्रैव विधाय मठिकां ततः ।
 कृततद्भस्मशय्यः सन्नास्तायाचितभैक्षभुक् ॥14॥
 द्वितीयोऽस्थीन्युपादाय तस्या भागीरथीं ययौ ।
 तृतीयस्तापसो भूत्वा भ्रान्तुं देशान्तराण्यगात् ॥15॥
 स भ्राम्यंस्तापसः प्राप ग्रामं वक्रोलकाभिधम् ।
 तत्रातिथिः सन्कस्यापि विप्रस्य प्राविशद्गृहम् ॥16॥
 तत्पूजितः स यावच्च भोक्तुं तत्र प्रचक्रमे ।
 तावदेकः शिशुस्तत्र प्रवृत्तोऽभूत्प्ररोदितुम् ॥17॥
 स सान्त्वयमानोऽपि यदा न व्यरंसीत्तदा क्रुधा ।
 बाहावादाय गृहिणी ज्वलत्यग्नौ तमक्षिपत् ॥18॥
 क्षिप्तमात्रः स मृद्वङ्गो भस्मीभावमवाप्तवान् ।
 तद्दृष्ट्वा जातरोमाश्रः सोऽब्रवीत्तापसोऽतिथिः ॥19॥
 हा धिक्कष्टं प्रविष्टोऽस्मि ब्रह्मराक्षसवेश्मनि ।
 तन्मूर्तं किल्विषमिदं न भोक्ष्येऽन्नमिहाधुना ॥20॥
 एवं वदन्तं तं सोऽत्र गृहस्थः प्राह पश्य मे ।
 शक्तिं पठितसिद्धस्य मन्त्रस्य मृतजीवनीम् ॥21॥

इत्युक्त्वादाय तन्मन्त्रपुस्तिकामनुवाच्य च ।
 तत्र भस्मनि चिक्षेप स धूलिमभिमन्त्रिताम् ॥22॥
 तेनोदतिष्ठत्तद्रूप एव जीवन्स बालकः ।
 ततः स निर्वृतस्तत्र भुक्तवान्विप्रतापसः ॥23॥
 गृहस्थोऽपि स तां नागदन्तेऽवस्थाप्य पुस्तिकाम् ।
 भुक्त्वा च शयनं भेजे रात्रौ तत्रैव तद्युतः ॥24॥
 सुप्ते गृहपतौ तस्मिन्स्वैरमुत्थाय शङ्कितः ।
 स प्रियाजीवितार्थी तां पुस्तिकां तापसोऽग्रहीत् ॥25॥
 गृहीत्वैव च निर्गत्य ततो रात्रिदिनं ब्रजन् ।
 क्रमाच्छ्मशानं तत्प्राप यत्र दग्धास्य सा प्रिया ॥26॥
 ददर्श चात्र तत्कालं तं द्वितीयमुपागतम् ।
 यः स गङ्गाम्भसि क्षेमुं तदस्थीनि गतोऽभवत् ॥27॥
 ततस्तं च तमाद्यं च तस्या भस्मनि शायिनम् ।
 निबद्धमठिकं तत्र द्वावप्येतौ जगाद सः ॥28॥
 मठिकापास्यतामेषा यावदुत्थापयामि ताम् ।
 जीवन्ती भस्मतः कान्तां मन्त्रशक्त्या कयाप्यहम् ॥29॥
 इति तौ प्रेर्य निर्बन्धान्निर्लोठ्य मठिकां च सः ।
 उद्घाट्य तापसो विप्रः पुस्तिकां तामवाचयत् ॥30॥
 अभिमन्त्र्य च मन्त्रेण धूलिं भस्मन्यवाक्षिपत् ।
 उदतिष्ठच्च जीवन्ती सा मन्दारवती ततः ॥31॥
 वह्निं प्रविश्य निष्क्रान्तं वपुः पूर्वाधिकद्युति ।
 तदा बभार सा कन्या काश्रनेनेव निर्मितम् ॥32॥
 तादृशीं तां पुनर्जातां ते दृष्ट्वैव स्मरातुराः ।
 प्राप्तुकामास्त्रयोऽप्येवमन्योन्यं कलहं व्यधुः ॥33॥
 एकोऽब्रवीदियं भार्या मम मन्त्रबलार्जिता ।
 तीर्थप्रभावजा भार्या ममेयमिति चापरः ॥34॥
 रक्षित्वा भस्म तपसा जीवितेयं मयेह यत् ।
 तदेषा मम भार्येति तृतीयोऽत्र जगाद सः ॥35॥

विवादिनिर्णये तेषां त्वं तावन्मे महीपते ।
 निश्चयं ब्रूहि कस्यैषा कन्या भार्योपपद्यते ॥36॥
 विदलिष्यति मूर्धा ते यदि जानन्न वक्ष्यसि ।
 इति वेतालतः श्रुत्वा तं स राजैवमभ्यधात् ॥37॥
 यः क्लेशमनुभूयापि मन्त्रेणैतामजीवयत् ।
 पिता स तस्यास्तत्कार्यकरणान्न पुनः पतिः ॥38॥
 यश्चास्थीनि निनायास्य गङ्गायां स सुतो मतः ।
 यस्तु तद्भस्मशय्यां तामाश्लिष्यासीत्तपश्चरन् ॥39॥
 श्मशान एव तत्प्रीत्या भर्ता तस्याः स उच्यते ।
 कृतं तदनुरूपं हि तेन गाढानुरागिणा ॥40॥
 एवं नृपात्रिविक्रमसेनाच्छ्रुत्वैव मुक्तमौनात्सः ।
 तस्य स्कन्धादगमद्वेतालोऽतर्कितः स्वपदम् ॥41॥
 राजाथ भिक्ष्वर्थसमुद्यतस्तं प्राप्तुं स भूयोऽपि मनो बबन्ध ।
 प्राणात्ययेऽपि प्रतिपन्नमर्थं तिष्ठन्त्यनिर्वाह्य न धीरसत्त्वाः ॥42॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके नवमस्तरङ्गः ।

दशमस्तरङ्गः

(तृतीयो वेतालः)

अथ भूयोऽपि वेतालमानेतुं नृपसत्तमः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तमुपागाच्छिंशपातरुम् ॥1॥
 तत्रस्थमेतं संप्राप्य मृगदेहगतं पुनः ।
 स्कन्धे गृहीत्वैवागन्तुं तूष्णीं प्रववृते ततः ॥2॥
 प्रयान्तं च तमाह स्म स वेतालोऽस्य पृष्ठगः ।
 चित्रं नोद्विजसे राजन्निशि कुर्वन्गमागमम् ॥3॥
 तदखेदाय भूयस्ते वर्णयामि कथां शृणु ।
 अस्ति पाटलिपुत्राख्यं ख्यातं भूमण्डले पुरम् ॥4॥
 तत्रासीन्नृपतिः पूर्वं नाम्ना विक्रमकेसरी ।
 गुणानामिव रत्नानामाश्रयं यं व्यधाद्विधिः ॥5॥

तत्र शापावतीर्णोऽभूद्विव्यविज्ञानवाञ्छुकः ।
 विदग्धचूडामणिरित्याख्यया सर्वशास्त्रवित् ॥6॥
 तेनोपदिष्टां सदृशीं राजपुत्रीं नृपात्मजः ।
 मागधीमुपयेमे स भार्या चन्द्रप्रभाभिधाम् ॥7॥
 तस्या अपि तथाभूता सर्वविज्ञानशालिनी ।
 शारिका सोमिका नाम राजपुत्र्याः किलाभवत् ॥8॥
 ते चैकपञ्जरस्थे द्वे तत्रास्तां शुकशारिके ।
 सेवमाने स्वविज्ञानैर्दपती तौ निजप्रभू ॥9॥
 एकदा साभिलाषस्तां शारिकां सोऽब्रवीच्छुकः ।
 एकशय्यासनाहारं सुभगे भज मामिति ॥10॥
 नाहं पुरुषसंसर्गमिच्छामि पुरुषा यतः ।
 दुष्टाः कृतघ्ना इति सा शारिका प्रत्युवाच तम् ॥11॥
 न दुष्टाः पुरुषा दुष्टा नृशंसहृदयाः स्त्रियः ।
 इति भूयः शुकनोक्ते विवादोऽत्रालगत्तयोः ॥12॥
 कृतदासत्वभार्यात्वपणौ तौ शकुनी मिथः ।
 निश्चयायाथ सभ्यं तं राजपुत्रमुपेयतुः ॥13॥
 स विवादपदं श्रुत्वा तयोरास्थानगः पितुः ।
 कथं कृतघ्नाः पुरुषा ब्रूहीत्याह स्म शारिकाम् ॥14॥
 ततः सा शृणुतेत्युक्त्वा निजपक्षप्रसिद्धये ।
 पुंदोषाख्यायिनीमेतां शारिकाकथयत्कथाम् ॥15॥
 अस्ति कामन्दिका नाम या महानगरी भुवि ।
 अर्थदत्ताभिधानोऽस्ति वणिक्तस्यां महाधनः ॥16॥
 धनदत्ताभिधानश्च पुत्रस्तस्योदपद्यत ।
 पितर्युपरते सोऽपि बभूवोच्छृङ्खलो युवा ॥17॥
 द्यूतादिसङ्गे धूर्ताश्च मिलित्वा तमपातयन् ।
 कामं व्यसनवृक्षस्य मूलं दुर्जनसंगतिः ॥18॥
 अचिराद् व्यसनक्षीणधनो दौर्गत्यलज्जया ।
 सोऽथ त्यक्त्वा स्वदेशं तं भ्रान्तुं देशान्तराण्यगात् ॥19॥

गच्छंश्च चन्दनपुरं नाम स्थानमवाप्य सः ।
 विवेश भोजनार्थी सन्नेकस्य वणिजो गृहम् ॥20॥
 स वणिक्सुकुमारं तं दृष्ट्वा पृष्ट्वान्वयादिकम् ।
 ज्ञात्वा कुलीनं सत्कृत्य स्वीचक्रे दैवयोगतः ॥21॥
 ददौ च सधनां तस्मै नाम्ना रत्नावलीं सुताम् ।
 ततः स धनदत्तोऽत्र तस्थौ श्वशुरवेश्मनि ॥22॥
 दिनेष्वेव च यातेषु सुखविस्मृतदुर्गतिः ।
 स्वदेशं गन्तुकामोऽभूत्प्राप्तार्थो व्यसनोन्मुखः ॥23॥
 ततोऽनुमान्य कथमप्यवशं श्वशुरं शठः ।
 तं दुहित्रेकसंतानं गृहीत्वा तामलंकृताम् ॥24॥
 भार्या रत्नावलीं युक्तामेकया वृद्धया स्त्रिया ।
 स आत्मना तृतीयः सन्देशात्प्रस्थितवांस्ततः ॥25॥
 क्रमात्प्राप्याटवीं दूरामुक्त्वा तस्करजां भियम् ।
 गृहीत्वाभरणं तस्या भार्यायाः स्वीचकार सः ॥26॥
 दृश्यतां द्यूतवेश्यादिकष्टव्यसनसङ्गिनाम् ।
 हृदयं हा कृतघ्नानां पुसां निस्त्रिंशककशम् ॥27॥
 सोऽथ पापोऽर्थहेतोस्तां भार्या गुणवतीमपि ।
 हन्तुं श्वभ्रे निचिक्षेप तया वृद्धस्त्रिया युताम् ॥28॥
 क्षिप्तवैव च गते तस्मिन्साथ वृद्धा व्यपद्यत ।
 तद्भार्या तु लतागुल्मविग्रया न व्यपादि सा ॥29॥
 उत्तस्थौ च ततः श्वभ्रात्क्रोशन्ती करुणं शनैः ।
 आलम्ब्य तृणगुल्मादि सशेषत्वात्किलायुषः ॥30॥
 आययौ विक्षताङ्गी च पृष्ट्वा मार्गं पदे पदे ।
 यथागतेनैव पथा कृच्छ्रात्तत्सदनं पितुः ॥31॥
 तत्राकस्मात्तथाभूता प्राप्ता पृष्ठा ससंभ्रमम् ।
 मात्रा पित्रा च रुदती साध्वी सैवमभाषत ॥32॥
 मुषिताः स्म पथि स्तेनैर्नीतो बद्ध्वा च मत्पतिः ।
 बद्ध्वा मृता निपत्यापि श्वभ्रे नाहं मृता पुनः ॥33॥

अथागतेन केनापि पथिकेन कृपालुना ।
 उद्धृताहं ततः श्वभ्रात्प्राप्तास्मीह च दैवतः ॥34॥
 एवमुक्तवती मात्रा पित्रा चाश्रासिता ततः ।
 भर्तृचित्तैव सा तस्थौ तत्र रत्नावली सती ॥35॥
 याति काले च तद्धर्ता स स्वदेशगतः पुनः ।
 द्यूतक्षपिततद्वित्तो धनदत्तो व्यचिन्तयत् ॥36॥
 आनयामि पुनर्गत्वा मार्गित्वा श्वशुराद्धनम् ।
 गृहे स्थिता मे त्वत्पुत्रीत्यभिधास्ये च तत्र तम् ॥37॥
 एवं स हृदये ध्यात्वा प्रायाच्छ्वशुरवेश्म तत् ।
 प्राप्तं च तत्र तं दूरात्स्वभार्या पश्यति स्म सा ॥38॥
 धावित्वा चापतन्तस्य सा पापस्यापि पादयोः ।
 दुष्टेऽपि पत्यौ साध्वीनां नान्यथावृत्ति मानसम् ॥39॥
 भीताय च ततस्तस्मै तदशेषं न्यवेदयत् ।
 यन्मृषा चौरपातादि पित्रोः प्राग्वर्णितं तथा ॥40॥
 ततस्तया समं तत्र निर्भयः श्वाशुरे गृहे ।
 प्रविष्टः श्वशुराभ्यां स हर्षाद्दृष्ट्वाभ्यनन्दत ॥41॥
 दिष्ट्या जीवन्नयं मुक्तश्चौरैरिति महोत्सवः ।
 तेन तच्छ्वशुरेणाथ चक्रे मिलितबन्धुना ॥42॥
 ततः स धनदत्तोऽत्र भुञ्जानः श्वशुरश्रियम् ।
 रत्नावल्या तथा साकमासीत्पत्न्या यथासुखम् ॥43॥
 एकदा तत्र रात्रौ च स नृशंसश्चकार यत् ।
 कथोपरोधतः शान्तमवाच्यमपि कथ्यते ॥44॥
 हत्वाङ्क सुप्तां भार्या तां तदाभरणसंचयम् ।
 अपहृत्य ततः प्रायात्स स्वदेशमलक्षितः ॥45॥
 ईदृशाः पुरुषाः पापा इति शारिकयोदिते ।
 त्वमिदानीं वदेत्याह राजपुत्रस्तदा शुक्म् ॥46॥
 ततो जगाद स शुको देव दुःसहसाहसाः ।
 स्त्रियो दुश्चरिताः पापास्तथा च श्रूयतां कथा ॥47॥

अस्ति हर्षवती नाम नगरी तत्र चाभवत् ।
 अग्रणीर्धर्मदत्ताख्यो बहुकोटीश्वरो वणिक् ॥48॥
 वसुदत्ताभिधाना च रूपेऽनन्यसमा सुता ।
 बभूव तस्य वणिजः प्राणेभ्योऽप्यधिकप्रिया ॥49॥
 सा च तेन समानाय रूपयौवनशालिने ।
 दत्ता वराङ्गनानेत्रचकोरामृतरश्मये ॥50॥
 नाम्ना समुद्रदत्ताय वणिक्पुत्राय साधवे ।
 नगर्यामार्यजुष्टायां ताम्रलिप्त्यां निवासिने ॥51॥
 कदाचित्सा स्वदेशस्थे पत्यौ स्वस्य पितुर्गृहे ।
 स्थिता वणिक्सुता दूरात्कंचित्पुरुषमैक्षत ॥52॥
 तं युवानं सुकान्तं सा चपला मारमोहिता ।
 गुप्तं सखीमुखानीतं भेजे प्रच्छन्नकामुकम् ॥53॥
 ततः प्रभृति तेनैव सह तत्र सदा रहः ।
 रात्रौ रात्रावरंस्तासौ तदेकासक्तमानसा ॥54॥
 एकदा च स कौमारः पतिस्तस्याः स्वदेशतः ।
 आजगामात्र तत्पित्रोः प्रमोद इव मूर्तिमान् ॥55॥
 सोसत्वे च दिने तस्मिन्सा नक्तं कृतमण्डना ।
 मात्रानुप्रेषिता भेजे शय्यास्थापि न तं पतिम् ॥56॥
 प्रार्थिता तेन चालीकसुप्तं चक्रेऽन्यमानसा ।
 पानमत्तोऽध्वखिन्नश्च सोऽपि जह्वेऽथ निद्रया ॥57॥
 ततश्च सुप्ते सर्वस्मिन्भुक्तपीते जने शनैः ।
 संधि भित्त्वा विवेशात्र चौरौ वासगृहान्तरे ॥58॥
 तत्कालं तमपश्यन्ती साप्युत्थाय वणिक्सुता ।
 स्वजारकृतसंकेता निरगान्निभृतं ततः ॥59॥
 तदालोक्य स चौरोऽत्र विघ्नितेच्छो व्यचिन्तयत् ।
 येषामर्थे प्रविष्टोऽहं तैरेवाभरणैर्वृता ॥60॥
 निशीथे निर्गतैषा तद्वीक्षेऽहं सा क्व गच्छति ।
 इत्याकलय्य निर्गत्य स चौरस्तां वणिक्सुताम् ॥61॥

वसुदत्तामनु ययौ दत्तदृष्टिरलक्षितः ।
 सापि पुष्पादिहस्तैकसंकेतसखीयुता ॥62॥
 गत्वा बाह्यं प्रविष्टाभूदुद्यानं नातिदूरगम् ।
 तत्रापश्यच्च तं वृक्षे लम्बमानं स्वकामुकम् ॥63॥
 संकेतकागतं रात्रौ लब्ध्वा नगररक्षिभिः ।
 उल्लम्बितं चौरबुद्ध्या पाशकण्ठं मृतं स्थितम् ॥64॥
 ततः सा विह्वलोद्भ्रान्ता हा हतास्मीति वादिनी ।
 पपात भूमौ कृपणं विलपन्ती रुरोद च ॥65॥
 अवतार्याथ वृक्षात्तं गतासुं निजकामुकम् ।
 उपवेश्याङ्गरागेण पुष्पैश्चालंचकार सा ॥66॥
 समालिङ्ग्य च निःसंज्ञं रागशोकान्धमानसा ।
 उन्नमय्य मुखं यावत्तस्यार्ता परिचुम्बति ॥67॥
 तावत्स तस्याः सहसा निर्जीवः परपूरुषः ।
 वेतालानुप्रविष्टः सन्दन्तैश्चिच्छेद नासिकाम् ॥68॥
 तेन सा विह्वला तस्मात्सव्यथापसृताप्यहो ।
 किंस्विज्जीवेदिति हता पुनरेत्य तमैक्षत ॥69॥
 दृष्ट्वा च वीतवेतालं निश्चेष्टं मृतमेव तम् ।
 सा भीता परिभूता च चचाल रुदती शनैः ॥70॥
 तावच्छन्नः स्थितः सोऽथ चौरः सर्वं व्यलोकयत् ।
 अचिन्तयच्च किमिदं पापया कृतमेतया ॥71॥
 अहो बताशयः स्त्रीणां भीषणो घनतामसः ।
 अन्धकूप इवागाधः पाताय गहनः परम् ॥72॥
 तदिदानीमियं किं नु कुर्यादिति विचिन्त्य सः ।
 कौतुकाहूरतश्चौरो भूयोऽप्यनुससार ताम् ॥73॥
 सापि गत्वा प्रविश्यैव तत्सुप्तस्थितभर्तुकम् ।
 गृहं तदा स्वकं प्रोच्चैः प्ररुदत्येवमब्रवीत् ॥74॥
 परित्रायध्वमेतेन दुष्टेन मम नासिका ।
 छिन्ना निरपराधाया भर्तुरुपेण शत्रुणा ॥75॥

श्रुत्वैतं मुहुराक्रन्दं तस्याः सर्वे ससंभ्रमम् ।
 उदतिष्ठन्प्रबुध्यात्र पतिः परिजनः पिता ॥76॥
 एत्याथ तत्पिता दृष्ट्वा तामार्द्रच्छिन्ननासिकाम् ।
 क्रुद्धस्तं बन्धयामास भार्याद्रोहीति तत्पतिम् ॥77॥
 स तु नैवाब्रवीत्किंचिद्बन्धमानोऽपि मूकवत् ।
 विपर्यस्तेषु सर्वेषु शृण्वत्सु श्वशुरादिषु ॥78॥
 ततो ज्ञात्वैव तच्चौरैः तस्मिन्नपसृते लघु ।
 कोलाहलेन तस्यां च व्यतीतायां क्रमान्निशि ॥79॥
 स निन्ये वणिजा तेन श्वशुरेण वणिक्सुतः ।
 राजान्तिकं तथा सार्धं भार्यया छिन्ननासया ॥80॥
 राजा च कृतविज्ञप्तिः स्वदारद्रोहासाविति ।
 तस्यादिशद्वणिक्सूनोर्वधं न्यक्कृततद्वचाः ॥81॥
 ततो वध्यभुवं तस्मिन्नीयमाने सडिण्डिमम् ।
 उपागम्य स चौरोऽत्र बभाषे राजपूरुषान् ॥82॥
 निष्कारणं न वध्योऽयं यथावृत्तं तुद्यहम् ।
 मां प्रापयत राजाग्रं यावत्सर्वं वदाम्यतः ॥83॥
 इत्युचिवान्स नीतस्तैर्नृपस्याग्रं वृताभयः ।
 आ मूलाद्रान्निवृत्तान्तं चौरः सर्वं न्यवेदयत् ॥84॥
 अब्रवीच्च न चेद्देव मद्वाचि प्रत्ययस्तव ।
 तत्सा नासा मुखे तस्य शवस्याद्यापि वीक्ष्यताम् ॥85॥
 तच्छ्रुत्वा वीक्षितुं भृत्यान्प्रेष्य सत्यमवेत्य तत् ।
 स राजा तं वणिक्पुत्रं मुक्तवान्वधनिग्रहात् ॥86॥
 तां च कर्णावपि च्छित्वा दुष्टां देशान्निरस्तवान् ।
 तद्भार्या श्वशुरं चास्य तं सर्वस्वमदण्डयत् ॥87॥
 चौरं च तं पुराध्यक्षं तुष्टश्चक्रे स भूपतिः ।
 एवं स्त्रियो भवन्तीह निसर्गविषमाः शठाः ॥88॥
 इत्युक्तवानेव शुको भूत्वा चित्ररथाभिधः ।
 क्षीणेन्द्रशापो गन्धर्वो दिव्यरूपो दिवं ययौ ॥89॥

शारिका सापि तत्कालं भूत्वा स्वः स्त्री तिलोत्तमा ।
 तथैव क्षीणतच्छापा जगाम सहसा दिवम् ॥90॥
 विवादश्राप्यनिर्णीतः सभायां सोऽभवत्तयोः ।
 इत्याख्याय कथां भूयस्तं वेतालोऽब्रवीन्नृपम् ॥91॥
 तद्भवान्वक्तुं किं पापाः पुरुषाः किमुत स्त्रियः ।
 अजल्पतो जानतस्ते शिरो यास्यति खण्डशः ॥92॥
 एतन्निशम्य वचनं वेतालस्यांसवर्तिनस्तस्य ।
 स जगाद भूपतिस्तं योगेश्वर योषितः पापाः ॥93॥
 पुरुषः कोऽपि हि तादृक्कृवापि कदाचिद्देहुराचारः ।
 प्रायः सर्वत्र सदा स्त्रियस्तु तादृग्विधा एव ॥94॥
 इत्युक्तवतो नृपतेः प्राग्वत्स्कन्धात्स तस्य वेतालः ।
 नष्टोऽभूत्स च राजा जग्राह पुनस्तदानयनयत्नम् ॥95॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके दशमस्तरङ्गः ।

एकादशस्तरङ्गः

(चतुर्थो वेतालः)

ततो गत्वा पुनस्तस्य निकटं शिंशपातरोः ।
 स त्रिविक्रमसेनोऽत्र श्मशानं निशि भूपतिः ॥1॥
 लब्ध्वा मुक्तादृहासं तं वेतालं नृशरीरगम् ।
 निष्कम्पः स्कन्धमारोप्य तूष्णीमुदचलत्ततः ॥2॥
 चलन्तं च तमंसस्थो वेतालः सोऽब्रवीत्पुनः ।
 राजन्कुभिक्षोरेतस्य कृते कोऽयं तव श्रमः ॥3॥
 आयासे निष्फलेऽमुष्मिन्निवेको बत नास्ति ते ।
 तदिमां शृणु मत्तस्त्वं कथां पथि विनोदिनीम् ॥4॥
 अस्ति शोभावती नाम सत्याख्या नगरी भुवि ।
 तस्यां च शूद्रकाख्योऽभूद्भूपतिः प्राज्यविक्रमः ॥5॥
 यस्य जज्वाल जयिनः प्रतापज्वलनोऽनिशम् ।
 बन्दीकृतारिललनाधूतचामरमारुतैः ॥6॥

अलुप्तधर्मचरणस्फीता मन्थे वसुंधरा ।
 राज्ञि यस्मिन्विसस्मार रामादीनपि भूपतीन् ॥7॥
 तं कदाचिन्महीपालं प्रियशूरमुपाययौ ।
 सेवार्थं मालवादेको नाम्ना वीरवरो द्विजः ॥8॥
 यस्य धर्मवती नाम भार्या सत्ववरः सुतः ।
 कन्या वीरवती चेति त्रयं गृहपरिच्छदः ॥9॥
 सेवापरिच्छदश्चान्यत्रयं कट्यां कृपाणिका ।
 करे करतलैकत्र चारु चर्म परत्र च ॥10॥
 तावन्मात्रपरीवारो दीनारशतपञ्चकम् ।
 प्रत्यहं प्रार्थयामास राज्ञस्तस्मात्स वृत्तये ॥11॥
 राजापि स तमाकारसूचितोदार पौरुषम् ।
 वीक्ष्य तस्मै ददौ वृत्तिं शूद्रकस्तां यथेप्सिताम् ॥12॥
 अल्पे परिकरेऽप्येभिरियद्विः स्वर्णरूपकैः ।
 किमेष व्यसनं पुष्पात्यथ कंचन सद्द्वयम् ॥13॥
 इत्यन्वेष्टुं समाचारं कौतुकात्स महीपतिः ।
 प्रच्छन्नास्थापयामास चारानस्यात्र पृष्ठतः ॥14॥
 स च वीरवरः प्रातः कृत्वा भूपस्य दर्शनम् ।
 स्थित्वा च तस्या मध्याह्नं सिंहद्वारे धृतायुधः ॥15॥
 गत्वा स्ववृत्तिलब्धानां दीनाराणां शतं गृहे ।
 भोजनार्थं स्वभार्याया हस्ते प्रादात्किलान्वहम् ॥16॥
 वस्त्राङ्गरागताम्बूलं क्रीणाति स्म शतेन च ।
 शतं स्नात्वा च पूजार्थं व्यधाद्विष्णोः शिवस्य च ॥17॥
 विप्रेभ्यः कृपणेभ्यश्च ददौ दानं शतद्वयम् ।
 एवं विभेजे पञ्चापि तानि नित्यं शतान्यसौ ॥18॥
 ततः कृत्वाम्निकार्यादि भुक्त्वा गत्वैकको निशि ।
 सिंहद्वारे पुनस्तस्थौ पाणौ करतलां दधत् ॥19॥
 एतां सततचर्यां च तस्य वीरवरस्य सः ।
 राजा चारमुखाच्छ्रुत्वा तुतोष हृदि शूद्रकः ॥20॥

निवारयामास च तांशारांस्तस्यानुमार्गगान् ।
 मेने विशेषपूजाहं पुरुषातिशयं च तम् ॥21॥
 अथ यातेषु दिवसेष्ववहेलावलङ्घिते ।
 ग्रीष्मे वीरवरेणात्र सुप्रचण्डार्कतेजसि ॥22॥
 तदीर्घ्यात इवोद्भूतविद्युत्करतलां दधत् ।
 धाराप्रहारी निनदन्नाजगाम घनागमः ॥23॥
 तदा च घोरमेघौघे प्रवर्षति दिवानिशम् ।
 सिंहद्वारे तथैवासीत्सोऽत्र वीरवरोऽचलः ॥24॥
 तं च दृष्ट्वा दिवा राजा प्रासादाग्रात्स शूद्रकः ।
 निशि भूयस्तदारोहजिज्ञासुस्तस्य तां स्थितिम् ॥25॥
 जगाद च ततः को नु सिंहद्वारे स्थितोऽत्र भोः ।
 तच्छ्रुत्वाहं स्थितोऽत्रेति सोऽपि वीरवरोऽब्रवीत् ॥26॥
 अहो सुदृढसत्त्वोऽयं भक्तो वीरवरो मयि ।
 तदेष प्रापणीयो मेऽवश्यमेव महत्पदम् ॥27॥
 इति संचिन्त्य नृपतिः प्रासादादवतीर्थ सः ।
 शूद्रकः शयनं भेजे प्रविश्यान्तःपुरं ततः ॥28॥
 अत्येद्युश्च भृशं मेघे धारासारेण वर्षति ।
 प्रदोषे गुप्तभवने काले तमसि जृम्भिते ॥29॥
 पुनः स राजा जिज्ञासुः प्रासादमधिरुह्य तम् ।
 सिंहद्वारे स्थितः कोऽत्रेत्येकाकी प्राह तं स्फुटम् ॥30॥
 अहं स्थित इति प्रोक्ते पुनर्वीरवरेण च ।
 यावद्विस्मयते सोऽत्र राजा तद्द्वैर्यदर्शनात् ॥31॥
 तावद्विदूरे शुश्राव सहसा रुदतीं स्त्रियम् ।
 विषादविकलामेकां प्रलापकरुणस्वनम् ॥32॥
 न मे राष्ट्रे पराभूतो न दरिद्रो न दुःखितः ।
 कश्चिदस्ति तदेषा का रोदित्येकाकिनी निशि ॥33॥
 इति चाचिन्त्यच्छ्रुत्वा स जातकरुणो नृपः ।
 आदिदेश च तं वीरवरमेकमधः स्थितम् ॥34॥

भो वीरवर शृण्वेषा दूरे स्त्री कापि रोदिति ।
 कासौ रोदिति किं चेति त्वया गत्वा निरूप्यताम् ॥35॥
 तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा गन्तुं वीरवरस्ततः ।
 प्रावर्तत निबद्धासिधेनुः करतलाकरः ॥36॥
 न च मेघान्धकारं तज्ज्वलद्विद्युद्विलोचनम् ।
 स्थूलधाराशिलावर्षि रक्षोरूपमजीगणत् ॥37॥
 प्रस्थितं वीक्ष्य तादृश्यां तस्यां रात्रौ तमेककम् ।
 करुणाकौतुकाविष्टो राजा प्रासादपृष्ठतः ॥38॥
 अवतीर्य गृहीतासिरेकाकी तस्य पृष्ठतः ।
 सोऽपि प्रतस्थे तत्रैव शूद्रकोऽनुपलक्षितः ॥39॥
 स च वीरवरो गत्वा रुदितानुसृतिख्यः (?)
 बहिर्नगर्याः प्रापैकं सरस्तत्र ददर्श च ॥40॥
 हा शूर हा कृपालो हा त्यागिञ्छून्या त्वया कथम् ।
 वत्स्यामीत्यादि रुदतीं तां स्त्रियं वारिमध्यगाम् ॥41॥
 का त्वं रोदिषि किं चैवमित्यन्वक्त्वाभूपतिः ।
 पप्रच्छ तां च साश्चर्यस्ततः साप्येवमभ्यधात् ॥42॥
 भो वीरवर जानीहि वत्स मां पृथिवीमिमाम् ।
 तस्या ममाधुना राजा शूद्रको धार्मिकः पतिः ॥43॥
 तृतीये च दिने तस्य राज्ञो मृत्युर्भविष्यति ।
 तादृशं च पतिं प्राप्स्याम्यहमन्यं नृपं कुतः ॥44॥
 अतस्तमनुशोचामि दुःखितात्मानमेव च ।
 एतच्छ्रुत्वा स तां त्रस्त इव वीरवरोऽब्रवीत् ॥45॥
 हे देवि कच्चिदप्यस्ति कोऽप्युपायः स तादृशः ।
 येनास्य न भवेन्मृत्युर्जगद्रक्षामणेः प्रभोः ॥46॥
 इति तद्वचनं श्रुत्वा सा जगाद वसुंधरा ।
 एकोऽस्त्युपायस्तं चैकः कर्तुं शक्तो भवानिति ॥47॥
 ततो वीरवरोऽवादीत्तर्हि देवि वद द्रुतम् ।
 यावत्तत्साधयाम्याशु कोऽर्थः प्राणैर्ममान्यथा ॥48॥

तच्छ्रुत्वोवाच वसुधा वीरः कोऽन्यस्त्वया समः ।
 स्वामिभक्तस्तदेतस्य शर्मोपायमिमं शृणु ॥49॥
 राज्ञा कृतप्रतिष्ठास्ति यैषा राजकुलान्तिके ।
 उत्तमा चण्डिका देवी सांनिध्योत्कर्षशालिनी ॥50॥
 तस्यै सत्त्ववरं पुत्रमुपहारीकरोषि चेत् ।
 तन्नैष राजा म्रियते जीवत्यन्यत्समाशतम् ॥51॥
 अद्यैव चैतद्भवता कृतं चेदस्ति तच्छिवम् ।
 अन्यथास्य तृतीयेऽह्नि प्राप्ते नास्त्येव जीवितम् ॥52॥
 इत्युक्तः स तथा पृथ्व्या वीरो वीरवरस्तदा ।
 यामि देवि करोम्येतदधुनैवेत्यभाषत ॥53॥
 ततो भद्रं तवेत्युक्त्वा वसुधा सा तिरोदधे ।
 तच्च सर्वं स शुश्राव गुणमन्वक्स्थितो नृपः ॥54॥
 ततश्च गूढे जिज्ञासौ तस्मिन्नाज्ञयनुगच्छति ।
 शूद्रके त्वरितं गेहं निशि वीरवरो ययौ ॥55॥
 तत्र पुत्रोपहारोऽस्य राजार्थं धरया यथा ।
 उक्तस्तथाब्रवीत्पत्न्यै धर्मवत्यै विबोध्य सः ॥56॥
 तच्छ्रुत्वा सा तमाह स्म नाथ कार्यं शिवं प्रभोः ।
 तत्प्रबोध्य सुतस्यास्य शिशोर्वक्तुं भवानिति ॥57॥
 ततः प्रबोध्य सुप्तं तं बालं सत्त्ववरं सुतम् ।
 आख्याय तं च वृत्तान्तमेवं वीरवरोऽब्रवीत् ॥58॥
 तत्पुत्र चण्डिकादेव्या उपहारीकृते त्वयि ।
 राजा जीवत्यसौ नो चेत्तृतीयेऽह्नि विपद्यते ॥59॥
 एतच्छ्रुत्वैव बालोऽपि यथार्थं नाम दर्शयन् ।
 अक्लीबचित्तः पितरं तं स सत्त्ववरोऽब्रवीत् ॥60॥
 कृतार्थोऽहं मम प्राणै राजा चेत्तात जीवति ।
 भुक्तस्य हि तदन्नस्य दत्ता स्यान्निष्कृतिर्मया ॥61॥
 तत्किं विलम्ब्यते नीत्वा भगवत्याः पुरोऽधुना ।
 उपहारीकुरुध्वं मामस्तु शान्तिर्मया प्रभोः ॥62॥

इति सत्त्ववरेणोक्ते तेन वीरवरोऽत्र सः ।
 साधु सत्यं प्रसूतोऽसि मत्तः पुत्रेत्यभाषत ॥63॥
 एतत्सोऽन्वागतो राजा सर्वं श्रुत्वा बहिः स्थितः ।
 अहो एषां समं सत्त्वं सर्वेषामित्यचिन्तयत् ॥64॥
 ततो वीरवरः स्कन्धे कृत्वा सत्त्ववरं सुतम् ।
 भार्या धर्मवती चास्य कन्यां वीरवतीमपि ॥65॥
 उभौ तौ ययतुस्तस्यां रात्रौ तच्चण्डिकागृहम् ।
 राजापि शूद्रकश्छन्नः पृष्ठतः स तयोर्ययौ ॥66॥
 तत्र देव्याः पुरः स्कन्धात्सोऽथ पित्रावतारितः ।
 देवीं सत्त्ववरो नत्वा धैर्यराशिर्व्यजिज्ञपत् ॥67॥
 मम मूर्धोपहारेण राजा जीवतु शूद्रकः ।
 अन्यद्वर्षशतं देवि कुर्याद्राज्यमकण्टकम् ॥68॥
 एवमुक्तवतस्य साधु साध्वित्युदीर्य सः ।
 सूनोः सत्त्ववरस्याथ कृष्ट्वा करतलां शिशोः ॥69॥
 छित्त्वा शिरश्चण्डिकायै देव्यै वीरवरो ददौ ।
 मत्पुत्रेणोपहारेण राजा जीवत्विति ब्रुवन् ॥70॥
 साधु कः स्वामिभक्तोऽन्यः समो वीरवर त्वया ।
 येनैवमेकसत्पुत्रप्राणव्ययविधायिना ॥71॥
 दत्तो जीवश्च राज्यं च शूद्रकस्यास्य भूपतेः ।
 इत्यन्तरिक्षादुदगात्तत्क्षणं तत्र भारती ॥72॥
 तच्च सर्वं नृपे तस्मिंश्छन्नेशृण्वति पश्यति ।
 कन्या वीरवती सा तु बाला वीरवरात्मजा ॥73॥
 उपेत्याश्लिष्य मूर्धानं तस्य भ्रातुर्हृतस्य तम् ।
 विलपन्त्युरुशोकान्धा हृत्स्फोटेन व्यपद्यत ॥74॥
 ततो वीरवरं भार्या धर्मवत्येवमब्रवीत् ।
 राजस्तावत्कृतं श्रेयस्तदिदानीं वदामि ते ॥75॥
 निर्जाना यत्र बालापि भ्रातृशोकादियं मृता ।
 नष्टेऽपत्यद्वयेऽप्यस्मिस्तत्र किं जीवितेन मे ॥76॥

प्रागेव राज्ञः श्रेयोऽर्थं मूढया स्वशिरो मया ।
 देव्यै नोपहतं तस्माद्देहानुज्ञां ममाधुना ॥77॥
 प्रविशाम्यनलं तावदात्तापत्यकलेवरा ।
 इत्याग्रहाद्ब्रुवन्ती तां सोऽथ वीरवरोऽब्रवीत् ॥78॥
 एवं कुरुष्व भद्रं ते का हि संप्रति ते रतिः ।
 अपत्यदुःखैकमये जीवितव्ये मनस्विनि ॥79॥
 किं न दत्तो मयैवात्मेत्येषा मा भूच्च ते व्यथा ।
 दद्यां किं नाहमात्मानमन्यसाध्यं भवेद्यदि ॥80॥
 तत्प्रतीक्षस्व यावत्ते चितामत्र करोम्यहम् ।
 अमीभिर्दारुभिर्देवीक्षेत्रनिर्माणसंभृतैः ॥81॥
 इत्युक्त्वा दारुभिस्तैः स कृत्वा वीरवरश्चिताम् ।
 दीपाग्नेर्ज्वालयामास न्यस्तापत्यशवद्वयाम् ॥82॥
 ततो धर्मवती पत्नी पतित्वा सास्य पादयोः ।
 प्राणम्य देवीं चण्डी तां व्यजिज्ञपदपांसुला ॥83॥
 जन्मान्तरेऽप्ययं भूयादार्यपुत्रः पतिर्मम ।
 एतत्प्रभोस्तु राज्ञोऽस्तु मदेहेनामुना शिवम् ॥84॥
 इत्युदीर्यैव सा साध्वी तस्मिन्नम्भोवहेलया ।
 ज्वालाकलापजटिले निपपात चितानले ॥85॥
 ततश्च चिन्तयामास वीरो वीरवरोऽत्र सः ।
 निष्पन्नं राजकार्यं मे वाग्दिव्या ह्युद्रता यथा ॥86॥
 भुक्तस्य चात्रपिण्डस्य जातोऽहमनृणः प्रभोः ।
 तदिदानीं ममैकस्य केयं जीवितगुधुता ॥87॥
 भरणीयं प्रियं कृत्स्नं व्ययीकृत्य कुटुम्बकम् ।
 जीवयन्नेकमात्मानं मातृशः को हि शोभते ॥88॥
 तत्किमात्मोपहारेणाप्येतां प्रीणामि नाम्बिकाम् ।
 इत्यालोच्य स देवीं तां स्तुल्या प्रागुपतस्थिवान् ॥89॥
 जय महिषासुरमारिणि दारिणि रुरुदानवस्य शूलकरे ।
 जय विबुधोत्सवकारिणी धारिणि भुवनत्रयस्य मातृवरे ॥90॥

जय जगदर्चितचरणे शरणे निःश्रेयसस्य भक्तानाम् ।
 जय धृतभास्करकिरणे हरणे दुरितान्धकारवृन्दानाम् ॥91॥
 जय कालि जय कपालिनि जय कङ्कालिनि शिवे नमस्तेऽस्तु ।
 शूद्रकनृपतेरधुना प्रसीद मन्मस्तकोपहारेण ॥92॥
 इत्युपस्थाय देव्यां स तस्यां वीरवरः पुनः ।
 सद्यः करतलाघातेनोत्तमाङ्गं खमच्छिनत् ॥93॥
 तदालोक्याखिलं तत्र च्छन्नस्थः शूद्रको नृपः ।
 साकुलश्च सद्दुःखश्च साश्चर्यश्च व्यचिन्तयत् ॥94॥
 अहो किमप्यनेनैतदन्यत्रादृष्टमश्रुतम् ।
 साधुना सकुटुम्बेन दुष्करं मत्कृते कृतम् ॥95॥
 विचित्रेऽप्यत्र संसारे धीरः स्यादीदृशः कुतः ।
 अख्यापयन्प्रभोरर्थे परोक्षं यो ददात्यसून् ॥96॥
 एतस्य चोपकारस्य न कुर्यां सदृशं यदि ।
 तन्मे का प्रभुता किं च जीवितव्यं पशोरिव ॥97॥
 इति संचिन्त्य नृपतिः खड्गमाकृष्य कोपतः ।
 उपेत्य शूद्रको देवीं तां प्रवीरो व्यजिज्ञपत् ॥98॥
 सततानुप्रपन्नस्य भगवत्यधुनामुना ।
 मम मूर्धोपहारेण सुप्रीता कुर्वनुग्रहम् ॥99॥
 अयं वीरवरो विप्रो नामानुगुणचेष्टितः ।
 मदर्थमुज्झितप्राणः सकुटुम्बोऽपि जीवतु ॥100॥
 इत्युदीर्यासिना राजा शिरश्छेतुं स शूद्रकः ।
 यावत्प्रवर्तते तावदुदभूद्भारती दिवः ॥101॥
 मा साहसं कृथाः स्तुष्टा सत्त्वेनानेन ते ह्यहम् ।
 प्रत्युज्जीवतु सापत्यदारो वीरवरो द्विजः ॥102॥
 इत्युक्त्वा व्यरमद्वाक्सा स चोत्तस्थौ सपुत्रकः ।
 साकं दुहित्रा पत्न्या च जीवन्वीरवरोऽक्षतः ॥103॥
 तद्विलोक्याद्भुतं राजा छन्नो भूत्वा पुनश्च सः ।
 पश्यन्नतुमस्तामासीद्दृष्ट्या हर्षाश्रुपूर्णया ॥104॥

सोऽपि वीरवरो दृष्ट्वा सुप्तोत्थित इवाशु तम् ।
 पुत्रदारं तथात्मानमभूद्विभ्रान्तमानसः ॥105॥
 पप्रच्छ च पृथङ् नामग्राहं दारसुतान्स तान् ।
 भस्मीभूताः कथं यूयं जीवन्तः पुनरुत्थिताः ॥106॥
 मयापि स्वशिरश्छिन्नं जीवाम्येष च किं न्विदम् ।
 किं विभ्रमोऽयमाहोस्वित्सुस्पष्टो देव्यनुग्रहः ॥107॥
 एवं वदन्स तैरूचे दारापत्यैरलक्षितः ।
 देव्यनुग्रह एवायं जीवामो यदमी इति ॥108॥
 ततः स तत्तथा मत्वा नत्वा वीरवरोऽम्बिकाम् ।
 आदाय पुत्रदारांस्तान्सिद्धकार्यो गृहं ययौ ॥109॥
 तत्र प्रवेश्य पुत्रं तं भार्यां दुहितरं च ताम् ।
 सिंहद्वारमगाद्राज्ञो रात्रौ तस्यां स पूर्ववत् ॥110॥
 राजा स शूद्रकोऽप्येतद्दृष्ट्वा सर्वमलक्षितः ।
 गत्वारुरोह स्वावासप्रासादं तं पुनस्तदा ॥111॥
 व्याहरच्च स्थितः कोऽत्र सिंहद्वारीति पृष्ठतः ।
 ततो वीरवरोऽवादीत्सैष तिष्ठाम्यहं प्रभो ॥112॥
 देवादेशाद्रतश्चाहमभूवं तां स्त्रियं प्रति ।
 राक्षसीव च सा क्वापि दृष्टनष्टैव मे गता ॥113॥
 एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य राजा वीरवरस्य सः ।
 सुतरां विस्मयाविष्टो दृष्टोदन्तो व्यचिन्तयत् ॥114॥
 अहो समुद्रगम्भीरवीरचित्ता मनस्विनः ।
 कृत्वाप्यनन्यसामान्यमुल्लेखं नोद्गिरन्ति ये ॥115॥
 इत्याद्याकलयंस्तूष्णीं प्रासादादवरुह्य सः ।
 प्रविश्यान्तःपुरं राजा रात्रिशेषं निनाय तम् ॥116॥
 प्रातश्चास्थानसमये दर्शनोपगतस्थिते ।
 तस्मिन्वीरवरे प्रीतस्तथा कृत्स्नं स भूपतिः ॥117॥
 तदीयं रात्रिवृत्तान्तं मन्त्रिभ्यस्तमवर्णयत् ।
 यथा बभूवुराश्चर्यमोहिता इव तेऽखिलाः ॥118॥

ददौ तस्मै सपुत्राय प्रीत्या वीरवराय च ।
 लाटदेशे ततो राज्यं स कर्णाटयुते नृपः ॥119॥
 ततोऽत्र तुल्यविभवावन्योन्यस्योपकारिणौ ।
 आसातां तौ सुखं वीरवरशूद्रकभूपती ॥120॥
 इत्याख्याय कथामेतां वेतालोऽत्यद्भुतां तदा ।
 तं त्रिविक्रमसेनं स राजानमवदत्पुनः ॥121॥
 तद्ब्रूहि राजन्नेतेषु वीरः सर्वेषु कोऽधिकः ।
 पूर्वं एव स शापस्ते यदि जानन्न वक्ष्यसि ॥122॥
 एतच्छ्रुत्वा स भूपालो वेतालं प्रत्युवाच तम् ।
 एतेषु शूद्रको राजा प्रवीरः सोऽखिलेष्विति ॥123॥
 ततोऽब्रवीत्स वेतालो राजन्वीरवरो न किम् ।
 सोऽधिको यस्य तुल्योऽस्यां पृथ्व्यामेव न जायते ॥124॥
 तत्पत्नी नाधिका किं वा स्त्रीभूता यान्वमन्यत ।
 तथोपहारपशुतां सूनोः प्रत्यक्षदर्शिनी ॥125॥
 स वा सत्त्ववरो नात्र तत्पुत्रोऽभ्यधिकः कथम् ।
 बालस्यापि सतो यस्य सत्त्वोत्कर्षः स तादृशः ॥126॥
 तत्कस्माच्छूद्रकं भूपमेभ्यस्त्वं भाषसेऽधिकम् ।
 इत्युक्तवन्तं वेतालं स जगाद पुनर्नृपः ॥127॥
 मैवं वीरवरस्तावत्स तादृक्कुलपुत्रकः ।
 तस्य प्राणैः सुतैर्दारैः स्वामिसंरक्षणं व्रतम् ॥128॥
 तत्पत्नी सापि कुलजा साध्वी पत्येकदेवता ।
 भर्तृवर्तमानुसारेण तस्या धर्मोऽस्तु कोऽपरः ॥129॥
 ताभ्यां जातस्तु तद्रूप एव सत्त्ववरोऽपि सः ।
 यादृशास्तन्तवः कामं तादृशो जायते पटः ॥130॥
 येषां प्राणैस्तु भृत्यानां नृपैरात्माभिरक्ष्यते ।
 तेषामर्थं त्यजन्देहं शूद्रकोऽत्र विशिष्यते ॥131॥
 इत्याकर्ण्य वचः स तस्य नृपतेरंसादसंलक्षितो
 वेतालः सहसा ययौ निजपदं भूयोऽपि तन्मायया ।

राजाप्युच्चलितो बभूव पुनरप्यानेतुमेतं पथा
 पूर्वैर्णैव सुनिश्चितः पितृवने तस्मिन्स तस्यां निशि ॥132॥
 इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बक एकादशस्तरङ्गः ।

द्वादशस्तरङ्गः

(पञ्चमो वेतालः)

ततस्तस्य पुनर्गत्वा शिंशापाशाखिनोऽन्तिकम् ।
 तथैवोल्लम्बमानं तं दृष्ट्वा नरशरीरगम् ॥1॥
 वेतालमवतार्यैव कृत्वास्मै बहु वैकृतम् ।
 स त्रिविक्रमसेनो द्राम्गन्तुं प्रववृते ततः ॥2॥
 आगच्छन्तं च तं तूष्णीं वेतालः पूर्ववत्पथि ।
 रात्रौ महाश्मशानेऽत्र स्कन्धस्थो व्याजहार सः ॥3॥
 राजन्नभिनिविष्टोऽसि कष्टेऽत्यन्तप्रियोऽसि च ।
 तत्ते चेतोविनोदाय वर्णयामि कथां शृणु ॥4॥
 उज्जयिन्यामभूद्विप्रः पुण्यसेनस्य भूपतेः ।
 अनुजीवी प्रियोऽमात्यो हरिस्वामीति सद्रुणः ॥5॥
 तस्यात्मनोऽनुरूपायां भार्यायां गृहमेधिनः ।
 गुणवान्सदृशः पुत्रो देवस्वामीत्यजायत ॥6॥
 तद्वृत्तानन्यसामान्यरूपलावण्यविश्रुता ।
 कन्या सोमप्रभा नाम तस्यान्वर्थोदपद्यत ॥7॥
 सा प्रदेया सती कन्या रूपोत्कर्षाभिमानिनी ।
 मातुर्मुखेन पितरं भ्रातरं च जगाद तम् ॥8॥
 शूरस्य ज्ञानिनो वाहं देया विज्ञानिनोऽपि वा ।
 अन्यस्मै नास्मि दातव्या कार्यं मज्जीवितेन चेत् ॥9॥
 तच्छ्रुत्वा तादृशं तस्याश्चिन्वन्नेकतमं वरम् ।
 तत्पिता स हरिस्वामी यावच्चिन्तां वहत्यलम् ॥10॥

तावद्व्यसर्जि राज्ञा स पुण्यसेनेन दूत्यया ।
 संध्यर्थं विग्रहायातदाक्षिणात्यनृपान्तिकम् ॥11॥
 कृतकार्यश्च तत्रासावेकेनाभ्येत्य तां सुताम् ।
 याचितोऽभूद्विजाग्रयेण श्रुततद्रूपसंपदा ॥12॥
 विज्ञानिनो ज्ञानिनो वा शूराद्वा नापरं पतिम् ।
 मत्पुत्रीच्छति तत्तेषां मध्यात्कथय को भवान् ॥13॥
 इत्युक्तस्तेन भार्यार्थी स हरिस्वामिना द्विजः ।
 अहं जानामि विज्ञानमिति तं प्रत्यभाषत ॥14॥
 तर्हि तद्दर्शयस्वेति पुनरुक्तश्च तेन सः ।
 विज्ञानी कल्पयामास स्वशक्त्या द्युचरं रथम् ॥15॥
 मायायन्त्ररथे तत्र तं हरिस्वामिनं क्षणात् ।
 आरोप्य नीत्वा स्वर्गादींल्लोकांस्तस्मायदर्शयत् ॥16॥
 अनिनाय च तुष्टं तं तत्रैव कटकं पुनः ।
 दाक्षिणात्यस्य नृपतेर्यत्रायातः स कार्यतः ॥17॥
 ततः सोऽस्मै हरिस्वामी प्रतिशुश्राव तां सुताम् ।
 विज्ञानिने विवाहं च निश्चकायाहिन सप्तमे ॥18॥
 तत्कालमुज्जयिन्यामप्यन्येनैत्य द्विजन्मना ।
 देवस्वामी स तत्पुत्रः स्वसारं तामयाच्यत ॥19॥
 ज्ञानिविज्ञानिशूरेभ्यो नान्यमिच्छति सा पतिम् ।
 इति तेनापि सोऽप्युक्तः शूरमात्मानमभ्यधात् ॥20॥
 ततो दर्शितशस्त्रास्त्रश्रिये तस्मै द्विजोऽनुजाम् ।
 देवस्वामी स शूराय दातुं तां प्रत्यपद्यत ॥21॥
 सप्तमेऽहिन च तत्रैव विवाहं गणकोक्तितः ।
 तस्यापि सोऽभ्यधान्मातुः परोक्षं कृतनिश्चयः ॥22॥
 तन्मातापि हरिस्वामिभार्या तत्कालमेव सा ।
 केनाप्येत्य तृतीयेन सुतां तां याचिता पृथक् ॥23॥
 ज्ञानी शूरोऽथ विज्ञानी भर्तास्मदुहितुर्मतः ।
 इत्युक्तच्च तया मातरहं ज्ञातीति सोऽभ्यधात् ॥24॥

पृष्ट्वा भूतं भविष्यच्च तस्मै तां ज्ञानिने सुताम् ।
 प्रतिजज्ञे प्रदातुं साप्यहिन तत्रैव सप्तमे ॥25॥
 अन्येद्युश्चागतः सोऽत्र हरिस्वामी यथाकृतम् ।
 पत्न्यै पुत्राय चाचख्यौ तं कन्यादाननिश्चयम् ॥26॥
 तौ च तं स्वकृतं तस्मै भिन्नं भिन्नमवोचताम् ।
 सोऽपि तेनाकुलो जज्ञे वरत्रयनिमन्त्रणात् ॥27॥
 अथोद्वाहदिने तस्मिन्हरिस्वामिगृहे वराः ।
 आययुर्ज्ञानिविज्ञानिशूरास्तत्र त्रयोऽपि ते ॥28॥
 तत्कालं चात्र सा चित्रं कन्या सोमप्रभा वधूः ।
 अशङ्कि तं गता कापि न विचित्याप्यलभ्यत ॥29॥
 ततोऽब्रवीद्धरिस्वामी ज्ञानिनं तं ससंभ्रमः ।
 ज्ञानिनिदानीं ब्रूहाशु दुहिता मे क्व सा गता ॥30॥
 तच्छ्रुत्वा सोऽवदज्ज्ञानी राक्षसेनापहत्य सा ।
 नीता विन्ध्याटवी धूमशिखेन वसतिं निजाम् ॥31॥
 इत्युक्तो ज्ञानिना भीतो हरिस्वामी जगाद सः ।
 हा धिक्कथं सा प्राप्येत विवाहश्चापि हा कथम् ॥32॥
 श्रुत्वैतत्प्राह विज्ञानी धीरो भव नयामि वः ।
 तत्राधुनैव यत्रैष ज्ञानी वदति तां स्थिताम् ॥33॥
 इत्युक्त्वा तत्क्षणं कृत्वा रथं सर्वास्त्रसंयुतम् ।
 तत्रारोप्य हरिस्वामिज्ञानिशूरान्खगामिनि ॥34॥
 तान्स संप्रापयामास क्षणाद्विन्ध्याटवीभुवि ।
 ज्ञानिना तां समाख्यातां वसतिं तत्र रक्षसः ॥35॥
 तत्र तं राक्षसं क्रुद्धं ज्ञातवृत्तान्तनिर्गतम् ।
 शूरोऽथ योधयामास हरिस्वामिपुरस्कृतः ॥36॥
 तदाश्चर्यमभूद्युद्धं तयोर्मानुषरक्षसोः ।
 चित्रास्त्रयोधिनाः स्र्य रामरावणयोरिव ॥37॥
 क्षणेन च स सङ्ग्रामदुर्मदस्यापि रक्षसः ।
 अर्धचन्द्रेण बाणेन शूरस्तस्याच्छिनच्छिरः ॥38॥

हते रक्षसि तां सोमप्रभामाप्तां तदास्पदात् ।
 आदाय विज्ञानिरथेनाजग्मुस्ते ततोऽखिलाः ॥39॥
 हरिस्वामिगृहं प्राप्य तेषां लग्नेऽप्युपस्थिते ।
 ज्ञानिविज्ञानिशूराणां विवाद उदभून्महान् ॥40॥
 ज्ञानी जगाद नाहं चेज्जानीयां तदियं कथम् ।
 प्राप्येत कन्या गूढस्था देया मह्यमसावितः ॥41॥
 विज्ञानी त्वदन्नाहं कुर्यां चेद्व्योमगं रथम् ।
 गमागमौ कथं स्यातां देवानामिव वः क्षणात् ॥42॥
 कथं स्याच्चारथं युद्धं रथिना रक्षसा सह ।
 तस्मान्मह्यमियं देया लग्नो ह्येष मयार्जितः ॥43॥
 शूरोऽप्युवाच हन्यां चेन्नाहं तं राक्षसं रणे ।
 तद्युवाभ्यां कृत्ने यत्नेऽप्येतां कन्यां क आनयेत् ॥44॥
 तन्मह्यमेषा दातव्येत्येवं तेषु विवादिषु ।
 हरिस्वामी क्षणं तूष्णीमासीदुद्भ्रान्तमानसः ॥45॥
 तत्कस्मै सात्र देयेति राजन्वदतु मे भवान् ।
 न वदिष्यसि जानंश्चेत्तत्ते मूर्धा स्फुटिष्यति ॥46॥
 इति वेतालतस्तस्माच्छ्रुत्वा मौनं विहाय च ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तमुवाचैवं महीपतिः ॥47॥
 शूराय सा प्रदातव्या येन प्राणपणोद्यमात् ।
 अर्जिता बाहुवीर्येण हत्वा तं युधि राक्षसम् ॥48॥
 ज्ञानिविज्ञानिनौ त्वस्य धात्रा कर्मकरौ कृतौ ।
 सदा गणकतक्षाणौ परोपकरणे न किम् ॥49॥
 इत्युक्तं मनुजपतेर्निशम्य तस्य स्कन्धाग्रात्सपदि स पूर्ववज्जगाम ।
 वेतालो निजपदमेव सोऽपि राजानुद्वेगः पुनरपि तं प्रति प्रतस्थे ॥50॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके द्वादशस्तरङ्गः ।

त्रयोदशस्तरङ्गः

(षष्ठो वेतालः)

ततो गत्वा पुनस्तस्मात्प्राप्य तं शिंशपातरोः ।
 वेतालं प्राग्वदादाय स्कन्धे मौनेन भूपतिः ॥1॥
 स त्रिविक्रमसेनोऽत्र यावदागच्छति द्रुतम् ।
 तावत्पथि स वेतालो भूयोऽप्येवमुवाच तम् ॥2॥
 राजन्सुधीः सुसत्त्वश्च भवांस्तेन प्रियोऽसि मे ।
 अतो विनोदिनीं वच्मि कथां प्रश्नं च मे शृणु ॥3॥
 आसीद्राजा यशःकेतुरिति खयातो महीतले ।
 तस्य शोभावती नाम राजधान्यभवत्पुरी ॥4॥
 तस्यामभून्नगर्यां च गौर्यायतनमुत्तमम् ।
 तस्य दक्षिणतश्चासीद्गौरीतीर्थाभिधं सरः ॥5॥
 तस्याषाढचतुर्दश्यां शुक्लायां प्रतिवत्सरम् ।
 यात्रायां स्नातुमेति स्म नानादिग्भ्यो महाजनः ॥6॥
 एकदा च तिथौ तस्यां स्नातुमत्राययौ युवा ।
 रजको धवलो नाम ग्रामाद्ब्रह्मस्थलाभिधात् ॥7॥
 सोऽपश्यद्रजकस्यात्र तीर्थे स्नानागतां सुताम् ।
 कन्यां शुद्धपटाख्यस्य नाम्ना मदनसुन्दरीम् ॥8॥
 इन्दोर्लावण्यहारिण्या तथा स हृतमानसः ।
 अन्विष्य तन्नामकुले कामार्तोऽथ गृहं ययौ ॥9॥
 तत्रानवस्थितस्तिष्ठन्निराहारस्तथा विना ।
 पृष्टो मात्रार्तया तस्यै तच्छशंस मनोगतम् ॥10॥
 सा गत्वा विमलाख्याय तत्स्वभर्त्रे न्यवेदयत् ।
 सोऽप्यागत्य तथावस्थं दृष्ट्वा तं सुतमभ्यधात् ॥11॥
 किं विषीदसि पुत्रैवमदुष्प्राप्येऽपि वाञ्छिते ।
 स हि मद्याचितः शुद्धपटो दास्यति ते सुताम् ॥12॥
 अन्यूना हि वर्यं तस्मात्कुलेनार्थेन कर्मणा ।
 तं वेद्म्यहं स मां वेत्ति तेनैतन्मे न दुष्करम् ॥13॥

इत्याश्वास्य स तं पुत्रमाहारादौ प्रवर्त्य च ।
 तद्युक्तो विमलोऽन्येद्युर्ययौ शुद्धपटास्पदम् ॥14॥
 ययाचे चात्र पुत्रस्य तस्यार्थे धवलस्य सः ।
 कन्यां तस्मात्स चास्मै तां प्रतिशुश्राव सादरम् ॥15॥
 लग्नं निश्चित्य चान्येद्युस्तां स शुद्धपटः सुताम् ।
 धवलाय ददौ तस्मै तुल्यां मदनसुन्दरीम् ॥16॥
 कृतोद्वाहश्च स तथा साकं दर्शनसक्तया ।
 भार्यया स्वपितुर्गोहं जगाम धवलः कृती ॥17॥
 सुखस्थितस्य तस्याथ कदाचिच्छ्वशुरात्मजः ।
 तस्या मदनसुन्दर्या भ्राता तत्रागतोऽभवत् ॥18॥
 स कृतप्रश्रयः सर्वैः स्वस्त्राशिलष्याभिनन्दितः ।
 संबन्धिपृष्टकुशलो विश्रान्तश्च जगाद तान् ॥19॥
 अहं मदनसुन्दर्या जामातुश्च निमन्त्रणे ।
 तातेन प्रेषितो यस्माद्देवीपूजोत्सवोऽस्ति नः ॥20॥
 श्रद्धाय चैतत्तद्वाक्यं यथाहैः पानभोजनैः ।
 ते संबन्ध्यादयः सर्वे तदहस्तमुपाचरन् ॥21॥
 प्रातर्मदनसुन्दर्या श्वशुर्येण च तेन सः ।
 सहितो धवलः प्रायाद्गृहं तच्छ्वाशुरं प्रति ॥22॥
 प्राप्य शोभावती तां च पुरीमात्मतृतीयकः ।
 ददर्श निकटं प्राप्य स गौर्यायतनं महत् ॥23॥
 निजगाद च तौ भार्याश्वशुर्यौ श्रद्धया ततः ।
 एतमेतां भगवतीं पश्यामो देवतामिह ॥24॥
 तच्छ्रुत्वा स श्वशुर्यस्तं निषेधन्प्रत्यभाषा ।
 इयन्तो रिक्तहस्ताः किं पश्यामो देवतामिति ॥25॥
 अहं तावद्ब्रजाम्येको युवामत्रैव तिष्ठतम् ।
 इत्युक्त्वा धवलो द्रष्टुं देवीं तां स ततो ययौ ॥26॥
 प्रविश्यायतनं तस्याः प्रणम्य च विभाव्य च ।
 तामष्टादशदोर्दण्डखण्डितोच्चण्डदानवाम् ॥27॥

पादपद्मतलाक्षिममहिषासुरमर्दिनीम् ।
 स विधिप्रेरणोत्पन्नबुद्धिरेवमचिन्तयत् ॥28॥
 जीवोपहारैर्विविधैरिमां देवीं जनोऽर्चति ।
 अहं तु सिद्धयै किं नैतां प्रीणाम्यात्मोपहारतः ॥29॥
 इति ध्यात्वैव तद्गर्भगृहादादाय निर्जनात् ।
 खड्गं सांयात्रिकैः कैश्चिद्देव्याः प्राक्प्राभृतीकृतम् ॥30॥
 बद्ध्वा शिरोरुहैर्घण्टाशृङ्खलायां निजं शिरः ।
 चिच्छेदैतेन खड्गेन तच्छिन्नं चापतद्भुवि ॥31॥
 चिरं यावत्स नायाति तावद्गत्वा तमीक्षितुम् ।
 तत्रैव देवीभवने तच्छ्वशुर्यो विवेश सः ॥32॥
 सोऽपि दृष्ट्वा तमुत्कृतमूर्धानं भगिनीपतिम् ।
 व्यामोहितस्तथैव स्वं शिरस्तेनासिनाच्छिनत् ॥33॥
 सोऽपि यावच्च नायाति तावदुद्भ्रान्तमानसा ।
 तद्देवीभवनं सापि ययौ मदनसुन्दरी ॥34॥
 प्रविश्य दृष्ट्वैव पतिं भ्रातरं च तथागतौ ।
 हा किमेतद्भ्रतास्मीति विलपन्त्यपतद्भुवि ॥35॥
 क्षणाच्चोत्थाय शोचन्ती तावकाण्डहताबुभौ ।
 किं ममाप्यधुनानेन जीवितेनेत्यचिन्तयत् ॥36॥
 व्यजिज्ञपच्च देवी तां देहत्यागोन्मुखी सती ।
 देवि सौभाग्यचारित्रविधानैकाधिदेवते ॥37॥
 अध्यासितशरीरार्थे भर्तुर्मारिपोरपि ।
 अशेषललनालोकशरण्ये दुःखहारिणि ॥38॥
 हतावेकपदे कस्माद्भर्ता भ्राता च मे त्वया ।
 न युक्तमेतन्मयि ते नित्यभक्ता हाहं त्वयि ॥39॥
 तन्मे श्रितायाः शरणं शृण्वेकं कृपणं वचः ।
 एतां तावत्त्यजाम्यत्र दौर्भाग्योपहतां तनुम् ॥40॥
 जनिष्ये देवि भूयस्तु यत्र कुत्रापि जन्मनि ।
 तत्रैतावेव भूयास्तां द्वौ भर्तृभ्रातरौ मम ॥41॥

इति संस्तुत्य विज्ञप्य देवीं नत्वा च तां पुनः ।
 पाशं विरचयामास लतयाशोकपादपे ॥42॥
 तत्रार्पयति यावच्च पाशे कण्ठं वितत्य सा ।
 तावत्तत्रोच्चचारैवं भारती गगनाङ्गणात् ॥43॥
 मा कृथाः साहसं पुत्रि बालाया अपि तेऽमुना ।
 सत्वोत्कर्षेण तुष्टास्मि पाशमेतं परित्यज ॥44॥
 संश्लेषय शिरः स्वं स्वं भर्तृभ्रातृकबन्धयोः ।
 उत्तिष्ठतां ते जीवन्तावेतौ द्वावपि मद्ररात् ॥45॥
 एतच्छ्रुत्वैव संत्यज्य पाशं हर्षादुपेत्य सा ।
 अविभाव्यातिरभसाद्भ्रान्ता मदनसुन्दरी ॥46॥
 बाला भर्तृशिरो भ्रातृदेहेन समयोजयत् ।
 भर्तृदेहेन च भ्रातृशिरो विधिनियोगतः ॥47॥
 ततोऽक्षताङ्गौ जीवन्तावुभावुत्तस्थतुश्च तौ ।
 शिरोविनिमयाज्जातसंकरौ काययोर्मिथः ॥48॥
 अथान्योन्योदितस्वस्वयथावृत्तान्ततोषिणः ।
 प्रणम्य देवीं शर्वाणीं यथेष्टं ते ययुस्त्रयः ॥49॥
 यान्ती च दृष्ट्वा स्वकृतं शिरोविनिमयं तयोः ।
 विग्रा किंकार्यतामूढा साभून्मदनसुन्दरी ॥50॥
 तद्ब्रूहि राजन्को भर्ता तस्याः संकीर्णयोस्तयोः ।
 पूर्वोक्तः स्यात्स शापस्ते जानानो न ब्रवीषि चेत् ॥51॥
 इत्याकर्ण्य कथाप्रश्नं राजा वेतालतस्ततः ।
 स त्रिविक्रमसेनोऽत्र तमेवं प्रत्यभाषत ॥52॥
 यत्संस्थं तत्पतिशिरः सैष तस्याः पतिस्तयोः ।
 प्रधानं च शिरोऽङ्गेषु प्रत्यभिज्ञा च तद्रता ॥53॥
 इत्युक्तवतो नृपतेस्तस्यांसात्पुनरतर्कितः स ययौ ।
 वेतालः स च राजा जगाम भूयस्तमानेतुम् ॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके त्रयोदशस्तरङ्गः ।

त्रयोदशस्तरङ्गः ।
 चतुर्दशस्तरङ्गः
 (सप्तमो वेतालः)

ततो गत्वा पुनः प्राप्य वेतालं शिंशापातरोः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तं स्कन्धे जग्राह भूपतिः ॥1॥
 गृहीत्वा प्रस्थितं तं च वेतालः सोऽब्रवीत्पथि ।
 राजञ्जमविनोदार्थं कथामाख्यामि ते शृणु ॥2॥
 अस्तीह ताम्रलिप्तीति पुरी पूर्वाम्बुधेस्तटे ।
 चण्डसेनाभिधानश्च राजा तस्यामभूत्पुरि ॥3॥
 पराङ्मुखः परस्त्रीषु यो न सङ्ग्रामभूमिषु ।
 हर्ता च शत्रुलक्ष्मीणां न परद्रव्यसम्पदाम् ॥4॥
 तस्यैकदा दाक्षिणात्यो राजपुत्रो जनप्रियः ।
 आययौ सत्त्वशीलाख्यः सिंहद्वारेऽत्र भूपतेः ॥5॥
 तत्र चात्मानमावेद्य नैर्धन्यात्तं नृपं प्रति ।
 कपटं पाटयामास राजपुत्रैः सहापरैः ॥6॥
 ततः कार्पटिको भूत्वा बहून्यब्दानि तत्र सः ।
 तस्थौ कुर्वन्सदा सेवां नैव प्राप फलं नृपात् ॥7॥
 यदि राजान्वये जन्म निर्धनत्वं किमीदृशम् ।
 निर्धनत्वेऽपि किं धात्रा कृतेयं मे महेच्छता ॥8॥
 अयं हि सेवमानं मामेवं क्लिष्टपरिच्छदम् ।
 चिरं क्षुधावसीदन्तं राजा नाद्यापि वीक्षते ॥9॥
 इति यावच्च स ध्यायत्यत्र कार्पटिकस्ततः ।
 तावदाखेटकार्थं स निरगादेकदा नृपः ॥10॥
 तस्मिन्कार्पटिके धावत्यग्रे लगुडवाहिनि ।
 जगाम चाश्वपादातयुतः सोऽथ मृगाटवीम् ॥11॥
 कृताखेटश्च तत्रारान्महान्तं मत्तसूकरम् ।
 अनुधावन्क्षणात्प्रापदतिदूरं वनान्तरम् ॥12॥

तत्र पर्णतृणच्छन्नमार्गं हारितसूकरः ।
 श्रान्तो महावने सोऽथ राजा दिङ्मोहमाययौ ॥13॥
 एकः कार्पटिकश्चाथ स तं वाताश्वपृष्ठगम् ।
 प्राणानपेक्षोऽनुययौ पदातिः क्षुत्तृषादितः ॥14॥
 तं च दृष्ट्वा तथाभूतमन्वायातं स भूपतिः ।
 सस्नेहमवदत्कच्चिद्वेत्सि मार्गं यथागतम् ॥15॥
 तदाकर्ण्यञ्जलिं बद्ध्वा स तं कार्पटिकोऽभ्यधात् ।
 वेद्मि किं च क्षणं तावदिह विश्राम्यतु प्रभुः ॥16॥
 द्युवधूमेखलामध्यमणिरेष हि संप्रति ।
 देदीप्यते स्फुरद्रश्मिशिखाजालोऽब्जिनीपतिः ॥17॥
 एतच्छ्रुत्वा स राजा तं सोपरोधमभाषत ।
 तर्हि क्वापीह पानीयं भवता प्रेक्ष्यतामिति ॥18॥
 तथेत्यारुह्य स ततस्तुङ्गं कार्पटिकस्तरुम् ।
 नदीं दृष्ट्वावरुह्याथ नृपं तत्र निनाय तम् ॥19॥
 तद्वाहं व विपर्याणीकृतं कृतविवर्तनम् ।
 दत्ताम्बुशष्पकवलं विदधे विगतश्रमम् ॥20॥
 कृतस्नानाय राज्ञे च प्रोन्मुच्च वसनाञ्चलात् ।
 प्रक्षाल्योपानयत्तस्मै हृद्यान्यामलकानि सः ॥21॥
 एतानि कुत इत्येतं पृच्छन्तं स च भूपतिम् ।
 एवं व्यजिज्ञपज्जानुस्थितः सामलकाञ्जलिः ॥22॥
 एतद्वृत्तिरहं नित्यं व्यतीतदशवत्सरः ।
 चराम्याराधयन्देवमनेकान्तमुनिव्रतम् ॥23॥
 तच्छ्रुत्वा सत्यनामा त्वं सत्त्वशीलः किमुच्यते ।
 इत्युक्त्वा स कृपाक्रान्तो हीतश्चाचिन्तयन्नृपः ॥24॥
 धिङ् नृपान्क्लिष्टमक्लिष्टं ये भृत्येषु न जानते ।
 धिक्च तं परिवारं यो न ज्ञापयति तांस्तथा ॥25॥
 इति संचिन्त्य जग्राह स राजामलकद्वयम् ।
 हस्तात्कार्पटिकस्याथ कथंचिदनुबध्नतः ॥26॥

भुक्त्वा च तन्निपीयाम्बु विश्रामात्र स क्षणम् ।
 जग्धामलकसंपीतजलकार्पटिकान्वितः ॥27॥
 ततः सज्जीकृतं तेन बाहं कार्पटिकेन सः ।
 आरुह्याग्रेसरे तस्मिन्नेव मार्गप्रदर्शिनि ॥28॥
 पश्चाद्भागमनारूढे हयस्याभ्यर्थितेऽप्यलम् ।
 यथा स राजा स्वपुरीं पथि प्राप्तात्मसैनिकः ॥29॥
 तत्र प्रख्याप्य तद्भक्तिं वसुभिर्विषयैश्च तम् ।
 अपूरयत्कार्पटिकं न चामन्यत निष्कृतिम् ॥30॥
 ततः कृतार्थः पार्श्वेऽस्य चण्डसिंहस्य भूपतेः ।
 मुक्तकार्पटिकाचारः सत्त्वशीलः स तस्थिवान् ॥31॥
 एकदा तेन राज्ञा च स सिंहलपतेः सुताम् ।
 याचितुं सिंहलद्वीपमात्मार्थं प्रेषितोऽभवत् ॥32॥
 तत्राब्धिवर्त्मना गच्छन्नर्चिताभीष्टदेवतः ।
 आरुरोह प्रवहणं राजादिष्टैः सह द्विजैः ॥33॥
 गते तस्मिन्प्रवहणे मध्यभागमशङ्कितम् ।
 उत्तस्थौ जलधेस्तस्माद्ध्वजो जनितविस्मयः ॥34॥
 अभ्रंलिहाग्रः सुमहाञ्जाम्बूनदविनिर्मितः ।
 विचित्रवर्णविचलद्वैजयन्तीविराजितः ॥35॥
 तत्कालं चात्र सहसा समुन्नम्य घनावली ।
 भृशं वर्षितुमारेभे ववौ तीव्रश्च मारुतः ॥36॥
 तैर्वर्षवातैः स बलादाकृष्याधोरणैरिव ।
 आसज्यत ध्वजस्तम्भे तस्मिन्प्रवहणद्विपः ॥37॥
 तावच्च स ध्वजस्तस्मिन्वारिधौ वीचिविप्लुते ।
 वहनेन समं तेन प्रावर्तन निमज्जितुम् ॥38॥
 ततो द्विजास्ते तत्रस्थाश्चण्डसिंहं स्वभूपतिम् ।
 उद्दिश्योद्घोषयामासुरब्रह्मण्यं भयाकुलाः ॥39॥
 तदाकर्ण्यसहिष्णुश्च स्वामिभक्तेरनुध्वजम् ।
 स सत्त्वशीलो निस्त्रिंशहस्तो बद्धोत्तरीयकः ॥40॥

आत्मानमक्षिपत्तत्र निरपेक्षो महोदधौ ।
 उदधेः कारणाशङ्की वीरः प्रतिविधित्सया ॥41॥
 मग्ने च तस्मिन्वातोर्मिदूरोत्क्षिप्तमभज्यत ।
 वहनं तच्च तस्थाश्च निपेतुर्यादसां मुखे ॥42॥
 स च मग्नोऽम्बुधौ तत्र सत्त्वशीलो निरीक्षते ।
 यावत्तावद्दर्शात्र पुरीं दिव्यां न वारिधिम् ॥43॥
 तस्मिन्मणिमयस्तम्भैर्भास्वरे हेममन्दिरे ।
 सद्रत्नबद्धसोपानवापीकोद्यानशोभिनि ॥44॥
 नानामणिशिलाभित्तिरत्नचित्रोच्छ्रितध्वजम् ।
 कात्यायनीदेवगृहं मेरुप्रोन्नतमैक्षत ॥45॥
 तत्र प्रणम्य देवीं तां स्तुत्याभ्यर्च्य तदग्रतः ।
 इन्द्रजालं किमेतत्स्यादित्याश्चर्यादुपाविशत् ॥46॥
 तावच्च देव्यग्रगतप्रभामण्डलकान्तरात् ।
 अकस्मान्निरगात्कन्या दिव्योद्धाट्य कवाटकम् ॥47॥
 इन्दीवराक्षी फुल्लाब्जवदना कुसुमस्मिता ।
 मृणालनालमृद्भङ्गी जङ्गमेव सरोजिनी ॥48॥
 स्त्रीसहस्रपरीवारा देवीगर्भगृहं च सा ।
 विवेश सत्त्वशीलस्य हृदयं च ततः समम् ॥49॥
 निरगात्कृतपूजा च देवीगर्भगृहात्ततः ।
 न पुनः सत्त्वशीलस्य हृदयात्सा कथंचन ॥50॥
 प्राविशत्सा च तत्रैव प्रभामण्डलकान्तरे ।
 सत्त्वशीलोऽप्यसौ तस्याः पश्चात्तत्र प्रविष्टवान् ॥51॥
 प्रविश्य च ददर्शान्तरन्यदेवोत्तमं पुरम् ।
 संकेतोद्यानमिव यत्सर्वासां भोगसंपदाम् ॥52॥
 तत्रान्तर्मणिपर्यङ्कनिषण्णां तां विलोक्य सः ।
 कन्यामुपेत्य तत्पाश्वे सत्त्वशील उपाविशत् ॥53॥
 आसीच्च तन्मुखासक्तलोचनो लिखितो यथा ।
 अङ्गैः सोत्कम्पपुलकैर्वदन्नलिङ्गनोत्कताम् ॥54॥

दृष्ट्वा च तं स्मराविष्टं चेटीनामत्र सा मुखम् ।
 अद्राक्षीत्ताश्च तत्कालमिङ्गितज्ञास्तमब्रुवन् ॥55॥
 अतिथिस्त्वमिह प्राप्तस्तदस्मत्स्वामिनीकृतम् ।
 भजस्वातिथ्यमुत्तिष्ठ स्नाहि भुङ्क्ष्व ततः परम् ॥56॥
 तच्छ्रुत्वा सोऽवलम्ब्याशां कथमप्युत्थितस्ततः ।
 ययौ प्रदर्शितां ताभिरकामुद्यानवापिकाम् ॥57॥
 तस्यां निमग्नश्चोत्तस्थौ ताम्रलिप्त्यां स तत्क्षणात् ।
 चण्डसिंहनृपोद्यानवापीमध्यात्ससंभ्रमः ॥58॥
 तत्र प्राप्तमकस्माच्च वीक्ष्यात्मानमचिन्तयत् ।
 अहो किमेतत्कोद्यानमिदं दिव्यं क्व तत्पुरम् ॥59॥
 तत्रामृतासारसमं क्व तत्तस्याश्च दर्शनम् ।
 क्व चानन्तरमेवेदं तद्विश्लेषमहाविषम् ॥60॥
 स्वप्नश्च नायं सुस्पष्टो विनिद्रोऽनुभवो हि मे ।
 ध्रुवं पातालकन्याभिस्ताभिर्मूढोऽस्मि वञ्चितः ॥61॥
 इति ध्यायन्विना तां स कन्यामुन्मादवानिव ।
 उद्याने तत्र बभ्राम कामार्तो विललाप च ॥62॥
 तदवस्थं च तं दृष्ट्वा पिशङ्गैः पुष्परेणुभिः ।
 वातोद्भूतैः परीताङ्गं विप्रयोगानलैरिव ॥63॥
 उद्यानपाला गत्वैव चण्डसिंहमहीभृतम् ।
 व्यजिज्ञपन्स चोद्भ्रान्तः स्वयमेत्य ददर्श तम् ॥64॥
 सान्त्वयित्वा च पप्रच्छ किमिदं ब्रूहि नः सखे ।
 क्व प्रस्थितस्त्वं क्व प्राप्तः क्वास्तः क्व पतितः शरः ॥65॥
 तच्छ्रुत्वा स स्ववृत्तान्तं तस्मै सर्वं शशंस तम् ।
 सत्त्वशीलो नृपतये सोऽप्यथैवमचिन्तयत् ॥66॥
 हन्त वीरोऽपि मत्पुण्यैः कामेनेष विडम्बितः ।
 आनृण्यं गन्तुमेतस्य लब्धो ह्यवसरो मया ॥67॥
 इत्यन्तश्चिन्तयित्वा स वीरो राजा जगाद तम् ।
 तर्हि मुञ्च मुधा शोकमहं त्वां प्रापयामि ताम् ॥68॥

नीत्वा तेनैव मार्गेण प्रियामसुरकन्यकाम् ।
 इति चाश्वासयामास तं स स्नानादिना नृपः ॥६९॥
 अन्येद्युर्मन्त्रिविन्यस्तराज्यस्तेन समं च सः ।
 प्रायात्प्रवहणारूढस्तद्दर्शितपथोऽम्बुधिमा ॥७०॥
 प्राप्य तन्मध्यभागं च दृष्ट्वा तं प्राग्वदुत्थितम् ।
 सपताकं ध्वजं सत्त्वशीलस्तं नृपमभ्यधात् ॥७१॥
 सोऽयमभ्युत्थितो दिव्यप्रभावोऽत्र महाध्वजः ।
 मयि मग्रेऽत्र मङ्क्लव्यं देवेनैतमनुध्वजम् ॥७२॥
 इत्युक्त्वा निकटं प्राप्य ध्वजस्यास्य निमज्जतः ।
 मार्गे स सत्त्वशीलोऽसौ पूर्वमात्मानमक्षिपत् ॥७३॥
 ततो राजापि चिक्षेप तत्रात्मानं तथैव सः ।
 अन्तर्मग्नौ च तौ क्षिप्तं तद्विव्यं प्रापतुः पुरम् ॥७४॥
 तत्र दृष्ट्वा स साश्चर्यो राजा देवीं प्रणम्य ताम् ।
 पार्वतीं सत्त्वशीलेन सहितः समुपाविशत् ॥७५॥
 तावश्च निरगात्तत्र सा सखीजनसंगता ।
 रूपिणीव प्रभा कन्या प्रभामण्डलकात्ततः ॥७६॥
 इयं सा सुमुखीत्युक्ते सत्त्वशीलेन तां नृपः ।
 दृष्ट्वा युक्तमभिष्वङ्गं तस्य तस्याममन्यत ॥७७॥
 सापि तं वीक्ष्य राजानं शुभशारीरलक्षणम् ।
 पुरुषातिशयोऽपूर्वः कोऽयं स्यादित्यचिन्तयत् ॥७८॥
 विवेश चाम्बिकाधाम पूजायै सा नृपोऽपि सः ।
 जगामोद्यानमादाय सत्त्वशीलमवज्ञया ॥७९॥
 क्षणाच्च कृतपूजा सा निरगाद्दैत्यकन्यका ।
 याचित्वा सत्पतिप्राप्तिं देव्या गर्भगृहान्तरात् ॥८०॥
 निर्गत्य सा जगादैकां सखीं सखि गवेष्यताम् ।
 योऽसाविह मया दृष्टो महात्मा क्व स तिष्ठति ॥८१॥
 आतिथ्यं गृह्यतामेत्य प्रसादः क्रियतां त्वया ।
 इति चैषोऽर्थ्यतां पूज्यः पुमान्कोऽप्युत्तमो ह्यसौ ॥८२॥

एवं सखी तयोक्ता सा विचित्योद्यानवर्तिने ।
 स्वस्वामिनीनिदेशं तं प्रह्ला तस्मै न्यवेदयत् ॥८३॥
 तच्छ्रुत्वा स नृपो वीरः सावहेलमुवाच ताम् ।
 एषैवातिथ्यमस्माकमन्यत्किमुपयुज्यते ॥८४॥
 एतच्छ्रुत्वा तथा गत्वा सख्या सा श्राविता तदा ।
 मेने मान्यमुदारं तं सर्वथा दैत्यकन्यका ॥८५॥
 ततश्चाकृष्यमाणेव धैर्यपाशेन तेन सा ।
 नृपेण मानुषायोग्येऽप्यातिथ्ये निःस्पृहात्मना ॥८६॥
 पत्यर्थं पार्वतीसेवापरिपाकसमर्पितम् ।
 मत्वा तत्स्वयमुद्यानं विवेशासुरपुत्रिका ॥८७॥
 विचित्रशकुनालापैर्वाताञ्चितलताभुजैः ।
 विकीर्णकुमुमैरारान्नन्दमानेव पादपैः ॥८८॥
 उपगम्य च सा तत्र यथावत्प्रश्रयानता ।
 आतिथ्यग्रहणार्थं तं प्रार्थयामास पार्थिवम् ॥८९॥
 ततः स सत्त्वशीलं तमुद्दिश्योवाच तां नृपः ।
 अनेन कथितां देवीमिहाहं द्रष्टुमागतः ॥९०॥
 गौरीं ध्वजपथप्राप्यपरमाद्भुतकेतनाम् ।
 सा दृष्ट्वा तदनु त्वं च कान्यातिथ्यार्थितात्र नः ॥९१॥
 तच्छ्रुत्वा साब्रवीत्कन्या कौतुकात्तर्हि वीक्षितुम् ।
 आगम्यतां द्वितीयं मे पुरं त्रिजगदद्भुतम् ॥९२॥
 एवमुक्तवतीं तां च स विहस्य नृपोऽब्रवीत् ।
 तदप्यनेनैवोक्तं मे यत्र सा स्नानवापिका ॥९३॥
 ततः सा कन्यकावादीद्देव मा स्मैवमादिश ।
 न विडम्बनशीलाहं का वा पूज्ये विडम्बना ॥९४॥
 अहं हि सत्वोत्कर्षेण युष्माकं किंकरीकृता ।
 तन्मम प्रार्थनाभङ्गं नैवैवं कर्तुमर्हथ ॥९५॥
 एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा सत्त्वशीलसखः स तत् ।
 प्रभामण्डलकोपान्तं ययौ राजा तथा सह ॥९६॥

अपावृतकवाटे च तस्मिन्नन्तस्तथैव सः ।
 प्रवेशितो ददर्शास्यास्तद्विव्यमपरं पुरम् ॥97॥
 नित्यसंनद्धसर्वर्तुं सदापुष्पफलद्रुमम् ।
 मेरुपृष्ठमिवाशेषं निर्मितं रत्नकाञ्चनैः ॥98॥
 रत्नासने महाहो तं राजानमुपवेश्य सा ।
 यथोचितोपनीतार्घ्यां दैत्यराजसुताब्रवीत् ॥99॥
 कन्याहमसुरेन्द्रस्य कालनेमेर्महात्मनः ।
 चक्रायुधेन च स मे स्वर्गतिं प्रापितः पिता ॥100॥
 विश्वकर्मकृतं चेदं पैतृकं मे पुरद्वयम् ।
 न जरात्र न मृत्युश्च बाधते सर्वकामदे ॥101॥
 इदानीं च पितात्वं मे सपुराहं वशे तव ।
 इत्यर्पितात्मसर्वस्वां तामुवाच स भूपतिः ॥102॥
 यद्येवं तत्सुते ह्यस्मै मया दत्तास्यनिन्दिते ।
 सत्त्वशीलाय वीराय सुहृदे बान्धवाय च ॥103॥
 एवं देवीप्रसादेन मूर्तेनेव नृपेण सा ।
 उक्ता गुणज्ञा विनता तत्तथैत्यन्वमन्यत ॥104॥
 ततः कृतार्थं तं तस्याः कृतपाणिग्रहं नृपः ।
 दत्तासुरपुरैश्वर्यं सत्त्वशीलमुवाच सः ॥105॥
 भुक्तयोरामलकयोस्तयोरेकं मया तव ।
 संशोधितमसंशुद्धादृणी तेऽहं द्वितीयतः ॥106॥
 इति प्रणतमुक्त्वा तं दैत्यपुत्रीं जगाद ताम् ।
 मार्गो मे दर्शयतां येन स्वपुरीं प्राप्नुयामिति ॥107॥
 ततोऽपराजितं नाम खड्गं भक्ष्यं फलं च सा ।
 एकं जरामृत्युहरं तस्मै दैत्यसुता ददौ ॥108॥
 ताभ्यां युक्तस्तयोक्तायां वाण्यां मग्नः स्वदेशतः ।
 उत्थाय सर्वसंसिद्धकामोऽभूत्स क्रमानृपः ॥109॥
 सत्त्वशीलोऽपि दैत्यस्त्रीपुरराज्यं शशास सः ।
 तद्ब्रूहि कोऽब्धिपतने द्वयोः सत्त्वाधिकोऽनयोः ॥110॥

इति श्रुत्वा तथा प्रश्नं वेतालाच्छापभीतितः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तं भूपतिः प्रत्यभाषत ॥111॥
 एतयोः सत्त्वशीलोऽत्र स मे सत्त्वाधिको मतः ।
 स ह्यविज्ञाततत्त्वार्थो निरास्थः पतितोऽम्बुधौ ॥112॥
 राजा तु तत्त्वं विज्ञाय विवेशाम्भोधिमास्थया ।
 दैत्यकन्यां च नावाञ्छदसाध्या स्पृहयेति सः ॥113॥
 इति तस्याकर्ण्य वचो निरस्तमौनस्य भूपतेः स्कन्धात् ।
 स जगाम पूर्ववत्तं वेतालः शिंशापातरुं स्वपदम् ॥114॥
 राजापि तथैव स तं पुनरप्यानेतुमनुजगाम जवात् ।
 प्रारब्धे ह्यसमाप्ते कार्ये शिथिलीभवन्ति किं सुधियः ॥115॥

इति महाकाविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके चतुर्दशस्तरङ्गः ।

पञ्चदशस्तरङ्गः

(अष्टमो वेतालः)

गत्वा तां शिंशापां भूयो वेतालं प्राप्य भूमिपः ।
 तं त्रिविक्रमसेनोऽत्र स्कन्धे कृत्वोच्चचाल सः ॥1॥
 प्रयान्तं स पुनस्तं च वेतालं स्कन्धतोऽब्रवीत् ।
 श्रमविस्मृतये राजन्मत्तः प्रश्नमिमं शृणु ॥2॥
 अङ्गदेशेऽग्रहारोऽस्ति महान्वृक्षघटाभिधः ।
 विष्णुस्वामीति पत्रासीद्विजो यज्वा महाधनः ॥3॥
 तस्य च स्वानुरूपायां पत्न्यां जाताः क्रमात्त्रयः ।
 बभूवुस्तरुणाः पुत्रा दिव्यवैदग्ध्यशालिनः ॥4॥
 ते पित्रा प्रेषितास्तेन कूर्महेतोः कदाचन ।
 प्रारब्धयज्ञेन ययुस्ते त्रयो भ्रातरोऽम्बुधिम् ॥5॥
 प्राप्य कूर्मं ततो ज्यायान्कनिष्ठौ तावभाषत ।
 गृह्णातु युवयोरेकः कूर्मं क्रतुकृते पितुः ॥6॥

अहमेतं न शक्रोमि ग्रहीतुं विम्लपिच्छलम् ।
 इत्युक्तवन्तं तं ज्येष्ठं कनिष्ठौ ताववोचताम् ॥7॥
 तवात्र विचिकित्सा चेन्नावयोरपि सा कथम् ।
 तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीज्येष्ठो गृह्णीतं गच्छतं युवाम् ॥8॥
 पितुर्यज्ञक्रियालोपो भवेद्युष्मत्कृतोऽन्यथा ।
 ततो नरकपातः स्याद्युवयोस्तस्य च ध्रुवम् ॥9॥
 इत्युक्तावनुजौ तेन तौ विहस्य तमूचतुः ।
 धर्मं वेत्स्यावयोरेव समानमपि नात्मनः ॥10॥
 ततो ज्येष्ठोऽब्रवीत्किं मे जानीथो नैव चङ्गताम् ।
 अहं भोजनचङ्गोऽस्मि नार्हः स्पष्टं जुगुप्सितम् ॥11॥
 एतत्तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातरं मध्यमोऽब्रवीम् ।
 अहं तर्हीधिकश्चङ्गो नारीचङ्गो विचक्षणः ॥12॥
 मध्यमेनैवमुक्ते तु ज्यायान्पुनरुवाच सः ।
 कूर्मं गृह्णातु तर्होष कनीयानावयोरिति ॥13॥
 ततः स भृकुटिं कृत्वा कनीयानप्युवाच तौ ।
 हे मूर्खौ तूलिकाचङ्गश्चङ्गोऽहं हि विशेषतः ॥14॥
 एवं ते कलहासक्तास्त्रयोऽपि भ्रातरो मिथः ।
 निर्णयायाभिमानैकग्रस्ताः कूर्मं विहाय तम् ॥15॥
 राज्ञः प्रसेनजिन्नामस्तत्प्रदेशभुवोऽन्तिकम् ।
 नगरं सहसा जग्मुर्विटङ्गपुरनामकम् ॥16॥
 तत्र प्रतीहारमुखेनाववेद्यान्तः प्रविश्य च ।
 नृपं विज्ञापयामासुः स्ववृत्तान्तं तथैव ते ॥17॥
 तिष्ठतेहैव यावद्दः परीक्षिष्ये क्रमादहम् ।
 इत्युक्तास्तेन राज्ञा च तस्थुस्तत्र तथेति ते ॥18॥
 स्वाहारकाले चानाय्य तेभ्यः सोऽग्रासनं नृपः ।
 राजार्हं दापयामास षड्रसं स्वादुभोजनम् ॥19॥
 भुञ्जानेषु च सर्वेषु तदैको बुभुजे न सः ।
 विप्रो भोजनचङ्गोऽत्र जुगुप्साकूणिताननः ॥20॥

कथं न भोजनं भुङ्क्ते ब्रह्मन्स्वादु सुगन्ध्यपि ।
 इति राज्ञा स्वयं पृष्टः शनैर्विप्रो जगाद सः ॥21॥
 शवधूमदुरामोदः शालिभक्तेऽत्र विद्यते ।
 तेन नाहमिदं भोक्तुमुत्सहे स्वाद्वपि प्रभो ॥22॥
 इत्युक्ते तेन सर्वेऽपि तत्राघ्राय नृपाज्ञया ।
 ऊचुः कलमशाल्यन्नमदोषं तत्सुगन्धि च ॥23॥
 स तु भोजनचङ्गस्तत्राश्रात्पिहितनासिकः ।
 ततः स राजा संचिन्त्य यावदन्विष्यति क्रमात् ॥24॥
 तावन्नियोगिजनतस्तदन्नं बुबुधे तथा ।
 ग्रामशमशाननिकटक्षेत्रसंभवशालिजम् ॥25॥
 ततोऽतिविस्मितस्तुष्टः स राजा तमभाषत ।
 सत्यं भोजनचङ्गस्त्वं तदन्यद्भुज्यतामिति ॥26॥
 कृताहारश्च स नृपो विप्रान्वासगृहेषु तान् ।
 विमृज्यानाययामास स्वामेकां गणिकोत्तमाम् ॥27॥
 तां च तस्मै द्वितीयस्मै प्राहिणोत्कृतमण्डनाम् ।
 विप्राय नारीचङ्गाय सायं सर्वाङ्गसुन्दरीम् ॥28॥
 सा च वासगृहं तस्य राजभृत्यान्विता ययौ ।
 राकानिशेव पूर्णेन्दुमुखी कंदर्पदीपिनी ॥29॥
 प्रविष्टायां च तस्यां स प्रभाभासितवेश्मनि ।
 उत्पन्नमूर्च्छः संरुद्धनासाग्रो वामपाणिना ॥30॥
 नारीचङ्गोऽब्रवीद्राजभृत्यान्निष्कास्यतामिति ।
 न चेन्मृतोऽहं निर्याति गन्धोऽस्याश्छागलो यतः ॥31॥
 इत्युक्तास्तेन निन्युस्ते विप्रां तां राजपूरुषाः ।
 राज्ञोऽन्तिकं वारवधूं वृत्तान्तं जगदुश्च तम् ॥32॥
 राजाप्यानाय्य तत्कालं नारीचङ्गमुवाच तम् ।
 येयं श्रीखण्डकपूर्कालागुरुमदोत्तमैः ॥33॥
 कृतप्रसाधना दिक्षु प्रसरच्चारुसौरभा ।
 तस्या वारविलासिन्या गन्धः स्याच्छागलः कुतः ॥34॥

इत्युक्तोऽपि स राज्ञा तन्नारीचङ्गस्तदा न यत् ।
 प्रतिपेदे तदा राजा विचारपतितोऽभवत् ॥35॥
 पृच्छंश्च युक्त्या बुबुधे तामजक्षीरवर्धिताम् ।
 तन्मुखादेव बालत्वे मातृधात्रीवियोगतः ॥36॥
 ततोऽतिविस्मितस्तस्य नारीचङ्गस्य चङ्गताम् ।
 प्रशंसन्नृपतिस्तस्मै तृतीयाय द्विजन्मने ॥37॥
 तद्रसात्तूलिकाचङ्गायाशु शय्यामदापयत् ।
 पर्यङ्कोपरि विन्यस्तसप्तसंख्याकतूलिकाम् ॥38॥
 तस्यां च तूलिकाचङ्गो महार्हे वासवेश्मनि ।
 सुष्वाप धौतसुश्लक्ष्णपटप्रच्छदवाससि ॥39॥
 यामार्घ एव च गते स रात्रौ शयनात्ततः ।
 उत्तस्थौ पाण्यवष्टब्धनपार्श्वः क्रन्दन्व्यथार्दितः ॥40॥
 ददृशे तस्य पार्श्वे च तत्रत्यै राजपूरुषैः ।
 गाढलग्नस्य बालस्य मुद्रेव कुटिलारुणा ॥41॥
 गत्वा च तैस्तदाख्यातं राज्ञे राजाप्युवाच तान् ।
 तूलिकानां तले किञ्चिन्मा स्यात्तद्वीक्ष्यतामिति ॥42॥
 गत्वेक्षन्ते च ते यावदेकैकं तूलिकातलम् ।
 तावत्सर्वतलादापुर्बालं पर्यङ्कपृष्ठतः ॥43॥
 नीत्वा चादर्शयन् राज्ञे सोऽप्यानीतस्य वीक्ष्य तत् ।
 तद्रूपं तूलिकाचङ्गस्याङ्गं राजा विसिस्मिये ॥44॥
 सप्तभ्यस्तूलिकाभ्योऽस्य बालो लग्नस्तनौ कथम् ।
 इति चित्रीयमाणस्तां राजा रात्रिं निनाय सः ॥45॥
 प्रातश्चाद्भुतवैदग्ध्यसौकुमार्या अमी इति ।
 तेभ्यस्त्रिभ्योऽपि चङ्गेभ्यो हेमलक्षत्रयं ददौ ॥46॥
 ततस्ते सुखितास्तत्र तस्थुर्विस्मृतकच्छपाः ।
 पितुर्विघ्नितयज्ञार्थफलोपार्जितपातकाः ॥47॥
 इत्याख्याय कथाद्भुतमंसनिषण्णः पुनः स वेतालः ।
 पप्रच्छ तं त्रिविक्रमसेनं पृथ्वीपतिं प्रश्नम् ॥48॥

राजन्विचिन्त्य शापं पूर्वोक्तं ब्रूहि मे त्वमेतेषाम् ।
 भोजननारीशय्याचङ्गानां कोऽधिकश्चङ्ग ॥49॥
 तच्छ्रुत्वैव स धीमान्वेतालं प्रत्युवाच तं नृपतिः ।
 अहमेषां निष्कैतवमधिकं जानामि तूलिकाचङ्गम् ॥50॥
 यस्याङ्गे प्रत्यक्षं बालप्रतिबिम्बमुद्रतं दृष्टम् ।
 इतराभ्यां हि भवेत्तत्पूर्वं जात्वन्व्यतोऽवगतम् ॥51॥
 इति तस्योक्तवर्तोऽसाद्वेतालो भूपतेर्ययौ प्राग्वत् ।
 सोऽपि तथैव च राजा तमन्वयासीदनिर्विण्णः ॥52॥
 इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके पञ्चदशस्तरङ्गः ।

षोडशस्तरङ्गः

(नवमो वेतालः)

ततो गत्वा पुनस्तस्माच्छिशापापादपान्नृपः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तं स्कन्धे वेतालमग्रहीत् ॥1॥
 प्रस्थितश्च ततस्तेन वेतालेनाभ्यधायि सः ।
 राजन्क्व राज्यं क्वैतस्मिञ्शमशाने भ्रमणं निशि ॥2॥
 किमेतन्नेक्षसे भूतसंकुलं रात्रिभीषणम् ।
 चिताधूमैरिव ध्वान्तैर्निरुद्धं पितृकाननम् ॥3॥
 कष्टं कीदृग्रहोऽयं ते भिक्षोस्तस्यानुरोधतः ।
 तदिमं शृणु तावन्मे प्रश्नं मार्गविनोदनम् ॥4॥
 अवन्तिष्वस्ति नगरी युगादौ देवनिर्मिता ।
 शैवी तनुरिवोद्दामभोगिभूतिविभूषिता ॥5॥
 पद्मावती भोगवती या हिरण्यवतीति च ।
 कृतादिषु त्रिषु ख्याता कलावुज्जयिनीति च ॥6॥
 तस्यां च वीरदेवाख्यो राजाभूद्भूभृतां वरः ।
 तस्य पद्मरतिर्नाम महादेवी बभूव च ॥7॥
 सोऽथ राजा तथा साकं गत्वा मन्दाकिनीतटे ।
 हरमाराधयामास तपसा पुत्रकाम्यया ॥8॥

चिरं तपःस्थितश्चात्र परितुष्टेश्वरोदिताम् ।
 कृतस्नानार्चनविधिः शुश्रावेमां गिरं दिवः ॥9॥
 राजन्नुत्पत्स्यते पुत्रः शूरस्तव कुलोद्भवः ।
 कन्या चानन्यसामान्यलावण्यन्यकृताप्सराः ॥10॥
 श्रुत्वैतां नाभर्सी वार्णा सिद्धाभीष्टः स भूपतिः ।
 वीरदेवः स्वनगरीमाययौ महिषीसखः ॥11॥
 तत्रास्य शूरदेवाख्ये जाते प्रथममात्मजे ।
 तस्यां पद्मरतौ देव्यां क्रमादजनि कन्यका ॥12॥
 अनङ्गस्यापि रूपेण रतिमुत्पादयेदियम् ।
 इत्यनङ्गरतिर्नाम्ना पित्रा तेन व्यथायि सा ॥13॥
 वृद्धिं गतायास्तस्याश्च स पिता सदृशं वरम् ।
 प्रेप्सुरानाययत्पृथ्व्यां पटेषु लिखितान्नृपान् ॥14॥
 तेष्वेकोऽपि न यत्तस्य तत्तुल्यः प्रत्यभासत ।
 तेन राजा स वात्सल्यात्तां सुतां प्रत्यभाषत ॥15॥
 अहं तावन्न पश्यामि सदृशं पुत्रिं ते वरम् ।
 तत्कुरुष्व नृपान्सर्वान्मेलयित्वा स्वयंवरम् ॥16॥
 एतत्पितृवचः श्रुत्वा राजपुत्री जगाद सा ।
 तात स्वयंवरं कर्तुं हेपणान्नाहमुत्सहे ॥17॥
 किं त्वेकं वेत्ति योऽपूर्वं विज्ञानं स्वाकृतिर्युवा ।
 तस्मै त्वयाहं दातव्या नार्थोऽन्येनाधिकेन मे ॥18॥
 इत्यनङ्गरतेस्तस्याः श्रुत्वा स्वदुहितुर्वचः ।
 तादृशं तद्वरं यावदन्विष्यति स भूपतिः ॥19॥
 तावत्तल्लोकतो बुद्ध्वा चत्वारस्तमुपाययुः ।
 वीरा विज्ञानिनो भव्याः पुरुषा दक्षिणापथात् ॥20॥
 ते राज्ञा पूजितास्तस्मै स्वं स्वं विज्ञानमेकशः ।
 शशंसुः संनिधौ तस्या राजपुत्र्यास्तदर्थिनः ॥21॥
 एको जगाद शूद्रोऽहमाख्यया पञ्चपट्टिकः ।
 पञ्चाग्र्यवस्त्रयुग्मानि करोम्येकोऽहमन्वहम् ॥22॥

तेभ्य एकं प्रयच्छामि देवायैकं द्विजन्मने ।
 एकं च परिगृह्णामि वाससोरात्मनः कृते ॥23॥
 एकं ददामि भार्यायै यदि सा भवतीह मे ।
 एकं विक्रीय चाहारपानादि विदधाम्यहम् ॥24॥
 एवंविज्ञानिनेऽनङ्गरतिर्मे दीयतामिति ।
 इत्येकेनोदिते तेन द्वितीयः पुरुषोऽब्रवीत् ॥25॥
 भाषाज्ञो नाम वैश्योऽहं सर्वेषां मृगपक्षिणाम् ।
 रुतं वेद्मि तदेषा मे राजपुत्री प्रदीयताम् ॥26॥
 एवमुक्ते द्वितीयेन तृतीयः प्रोक्तवांस्ततः ।
 अहं खड्गधरो नाम दोःशाली क्षत्रियो नृप ॥27॥
 न खड्गविद्याविज्ञाने प्रतिमल्लोऽस्ति मे क्षितौ ।
 तदेषा तनया राजंस्त्वया मह्यं वितीर्यताम् ॥28॥
 इत्युक्ते तु तृतीयेन चतुर्थं इदमभ्यधात् ।
 विप्रोऽहं जीवदत्ताख्यो विज्ञानं च ममेदृशम् ॥29॥
 जन्तून्मृतानप्यानीय दर्शयाम्याशु जीवतः ।
 तद्वीरचर्यासिद्धं मां पतिमेषा प्रपद्यताम् ॥30॥
 एवं वक्तृन्स तान्पश्यन्दिव्यवेषाकृतीन्वृषः ।
 वीरदेवः सुतायुक्तो दोलारूढ इवाभवत् ॥31॥
 इत्याख्याय कथामेतां वेतालः पृष्टवान्नृपम् ।
 स त्रिविक्रमसेनं तं दत्तपूर्वोक्तशापभीः ॥32॥
 तद्भवान्वक्तुं तावन्मे कस्मै देया विशांपते ।
 तेषां चतुर्णां मध्यात्सा कन्यानङ्गरतिर्भवेत् ॥33॥
 एतच्छ्रुत्वा स राजा तं वेतालं प्रत्यभाषत ।
 मौनं त्याजयति प्रायः कालक्षेपाय मां भवान् ॥34॥
 अन्यथा गहनः कोऽयं प्रश्नो योगेश्वरोच्यताम् ।
 शूद्राय हि कुविन्दाय क्षत्रिया दीयते कथम् ॥35॥
 वैश्यायापि कथं देया क्षत्रिया यच्च तद्गतम् ।
 मृगादिभाषाविज्ञानं कार्यं तत्त्वोपयुज्यते ॥36॥

योऽपि विप्रस्तृतीयोऽत्र तेनापि पतितेन किम् ।
 स्वकर्मप्रच्युतेनेन्द्रजालिना वीरमानिना ॥37॥
 तस्मात्तस्मै क्षत्रियाय चतुर्थाय समाय सा ।
 देया खड्गधरायैव स्वविद्यावीर्यशालिने ॥38॥
 एतत्तस्य वचो निशम्य नृपतेरंसस्थलात्पूर्वव
 द्वेतालः स जगाम योगबलतः स्वस्थानमेवाशु तत् ।
 भूपालोऽपि स तं तथैव पुनरप्यानेतुमन्वग्यया
 वुत्साहैकघने हि वीरहृदये नाप्नोति खेदोऽन्तरम् ॥39॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके षोडशस्तरङ्गः ।

सप्तदशस्तरङ्गः । (दशमो वेतालः)

स त्रिविक्रमसेनोऽथ गत्वा तं शिंशापातरोः ।
 राजा जग्राह वेतालं पुनरंसे चचाल च ॥1॥
 प्रयान्तं च तमाह स्म वेतालः सोंऽसपृष्ठगः ।
 श्रान्तोऽसि राजंस्तदिमां शृणु श्रमहरां कथाम् ॥2॥
 अभूत्सकलभूपालमस्तकन्यस्तशासनः ।
 वीरबाहुरिति ख्यातो नाम्ना पार्थिवसत्तमः ॥3॥
 तस्यानङ्गपुरं नाम बभूव नगरोत्तमम् ।
 तत्रासीदर्थदत्ताख्यः सार्थवाहो महाधनः ॥4॥
 तस्यासीद्धनदत्ताख्यज्येष्ठपुत्रकनीयसी ।
 सुता मदनसेनेति कन्यारत्नं वणिक्पतेः ॥5॥
 तामेकदा निजोद्याने क्रीडन्तीं ससखीजनाम् ।
 ददर्श धर्मदत्ताख्यो भ्रातृमित्रं वणिक्सुतः ॥6॥
 स तामालोक्य लावण्यरसनिर्भरनिर्झराम् ।
 आलक्ष्य कुचकुम्भाग्रां वलित्रयतरङ्गिताम् ॥7॥

यौवनद्विरदस्येव क्रीडामज्जनवापिकाम् ।
 सद्योऽभूत्स्मरबाणौघसंतापहतचेतनः ॥8॥
 अहो धाराधिरूढेन रूपेण द्योतितामुना ।
 इयं मे मानसं भेतुं भल्ली मारेण निर्मिता ॥9॥
 इत्यादि यावद्धयायन्स निर्वर्णयति तां चिरम् ।
 तावत्तस्यातिचक्राम चक्राह्वस्येव वासरः ॥10॥
 ततो मदनसेना सा विवेश स्वगृहान्तरम् ।
 चित्तं च धर्मदत्तस्य तदनालोकनव्यथा ॥11॥
 तददर्शनदुःखाग्निसंतापेनेव च ज्वलन् ।
 लोहितो निपपाताशु भास्वानप्यपराम्बुधौ ॥12॥
 तां विज्ञायैव सुमुखीं नक्तमभ्यन्तरे गताम् ।
 उदियाय शनैश्चन्द्रस्तन्मुखाब्जविनिर्जितः ॥13॥
 तावद्गत्वा गृहं तां स धर्मदत्तोऽनुचिन्तयन् ।
 तस्थौ निपत्य शयने चन्द्रपादाहतो लुठन् ॥14॥
 यत्नेन पृच्छ्यमानोऽपि सखिभिर्बन्धुभिस्तथा ।
 न किञ्चित्कथयामास स्मरग्रहविमोहितः ॥15॥
 निशि कृच्छ्राच्च संप्राप्तनिद्रः स्वप्ने तथैव ताम् ।
 पश्यन्ननुनयन्कान्तां किं किं चक्रे न सोत्सुकः ॥16॥
 प्रातः प्रबुद्धो गत्वा च ददर्शैकाकिनीं रहः ।
 सखी प्रतीक्षमाणां तां तत्रोद्यानस्थितां पुनः ॥17॥
 उपेत्य च परिष्वङ्गलालसः प्रेमपेशलैः ।
 तामुपच्छन्दयामास वचोभिश्चरणानतः ॥18॥
 कन्याहं परदाराश्च न तवास्मीह सांप्रतम् ।
 पित्रा समुद्रदत्ताय दत्ताहं वणिजे यतः ॥19॥
 दिनैः कतिपयैरेव विवाहो भविता च मे ।
 तद्गच्छ तूष्णीं मा कश्चित्पश्येद्दोषो भवेत्ततः ॥20॥
 इत्युक्तः स तयात्यर्थं धर्मदत्तो जगाद ताम् ।
 यदस्तु मे न जीवेयं विना हि भवतीमहम् ॥21॥

तच्छ्रुत्वा सा वाणिक्कन्या बलात्कारभयाकुला ।
 तमुवाच विवाहो मे तावत्संपद्यतामिह ॥22॥
 कन्यादानफलं तातः प्राप्नोतु चिरकाङ्क्षितम् ।
 ततोऽहं त्वामुपैष्यामि निश्चितं प्रणयार्जिता ॥23॥
 श्रुत्वैतत्सोऽब्रवीन्नेष्टा ह्यन्यपूर्वा मम प्रिया ।
 परभुक्ते हि कमले किमलेर्जायते रतिः ॥24॥
 इत्युक्ता तेन सावादीत्कृतोद्गाहैव तर्ह्यहम् ।
 पूर्वं त्वामुपयास्यामि ततोऽभ्येष्यामि तं पतिम् ॥25॥
 एवमुक्तवतीं तस्मिन्नोज्झति प्रत्ययं विना ।
 वणिक्पुत्रे सशपथं सत्वाचं बबन्ध सा ॥26॥
 ततस्तेनोज्झिता विग्रा सा विवेश स्वमन्दिरम् ।
 प्राप्ते च लग्नदिवसे निर्वृत्तोद्गाहमङ्गला ॥27॥
 गत्वा पतिगृहं नीत्वा सोत्सवेन च तद्दिनम् ।
 सा पत्या सममध्यास्त शयनीयगृहं निशि ॥28॥
 तत्र शय्यानिषण्णापि न तस्य प्रत्यपद्यत ।
 पत्युः समुद्रदत्तस्य परिष्वङ्गसंमुखी ॥29॥
 तेनानुनीयमानापि यदुदश्रुर्बभूव सा ।
 तत्स नाभिमतोऽस्म्यस्या नूनमित्यकरोद्धुदि ॥30॥
 जगाद चानभिमतो यद्यहं तव सुन्दरि ।
 तन्मे नार्थस्त्वया गच्छ यः प्रियस्तव तं प्रति ॥31॥
 तच्छ्रुत्वा सा नतमुखी शनैरेवमुवाच तम् ।
 त्वं मे प्राणाधिकः प्रेयान्विज्ञप्तिं किं तु मे शृणु ॥32॥
 अनुतिष्ठ सहर्षं च प्रयच्छ च ममाभयम् ।
 कुरुष्व शपथं यावदार्यपुत्र वदामि ते ॥33॥
 एवमुक्तवती कृच्छ्रात्तथा तेन कृते पुनः ।
 सलज्जं सविषादं च सभयं च जगाद सा ॥34॥
 एकाकिनीं गृहोद्याने दृष्ट्वा मामेकदा युवा ।
 अरुणद्धर्मदत्ताख्यः सखा भ्रातुः स्मरातुरः ॥35॥

रक्षन्त्या सपरीवादं कन्यादानफलं पितुः ।
 मया हठप्रवृत्तस्य तस्य वाक्संयमः कृतः ॥36॥
 पूर्वं कृतविवाहा त्वामुपैष्यामि ततः प्रियम् ।
 तन्मे सत्यवचः पाल्यमनुमन्यस्व तत्प्रभो ॥37॥
 यावत्तन्निकटं गत्वा क्षणेनोपैमि तेऽन्तिकम् ।
 नहि शक्रोम्यतिक्रान्तुं सत्यमाबाल्यसेवितम् ॥38॥
 इति तस्या वचोवज्रपातेन सहसा हतः ।
 समुद्रदत्तः सत्येन बद्धः क्षणमचिन्तयत् ॥39॥
 अहो धिगन्यरक्तेयं गन्तव्यं ध्रुवमेतया ।
 तत्सत्यं हन्मि किं यातु कोऽस्याः परिणयग्रहः ॥40॥
 इत्यालोच्यानुमेने तां यथेष्टगमनाय सः ।
 साप्युत्थाय ततस्यस्तान्निर्ययौ पतिवेश्मनः ॥41॥
 तावदत्रोदयाद्रीन्द्रहर्म्याग्रं हिमदीधितिः ।
 आरुरोह कराक्रान्तहसत्पूर्वदिगङ्गनः ॥42॥
 ततस्तमः स्वप्याश्लिष्य स्थितेष्वद्रिदरीप्रियाः ।
 सेवमानेषु भृङ्गेष्वप्यपरं कुमुदाकरम् ॥43॥
 यान्ती मदनसेना सा मार्गे दृष्ट्वैकका निशि ।
 चौरेणाधाव्य केनापि रुधे वसनाश्ले ॥44॥
 का त्वं ब्रूहि क्व यासीति तेनोक्ता बिभ्यती च सा ।
 उवाच किं तवानेन मुञ्च कार्यमिहास्ति मे ॥45॥
 ततश्चौरोऽब्रवीन्मत्तश्चौरात्त्वं मुच्यसे कथम् ।
 तच्छ्रुत्वा सावदत्तं च गृहाणाभरणानि मे ॥46॥
 अथ चौरोऽभ्यधान्मुग्धे किमेमिरुपलैर्मम ।
 चन्द्रकान्ताननां तार्क्ष्यरत्नासितशिरोरुहाम् ॥47॥
 वज्रमध्यां सुवर्णाङ्गीं पटारागाङ्घ्रिहारिणीम् ।
 जगदाभरणं नैव मोक्ष्यामि भवतीमहम् ॥48॥
 इत्युक्ता तेन चौरेण विवशा सा वणिक्सुता ।
 आख्याय निजवृत्तान्तमेवं प्रार्थयते स्म तम् ॥49॥

क्षमस्व मे क्षणं यावत्कृत्वा सत्यानुपालनम् ।
 इहस्थस्यैव ते पार्श्वमागमिष्यामि सत्वरम् ॥50॥
 नाहमुल्लङ्घयिष्यामि भद्र सत्यामिमां गिरम् ।
 श्रुत्वैतत्सत्यसंधां तां मत्वा चौरो मुमोच सः ॥51॥
 तस्थौ प्रतीक्षमाणश्च तत्रैव स तदागमम् ।
 सापि तस्यान्तिकं धर्मदत्तस्य वणिजो ययौ ॥52॥
 स चाभीष्टामपि प्राप्तं तथा तां विजने स्थिताम् ।
 दृष्ट्वा पृष्ट्वा यथावृत्तं विचिन्त्य क्षणमब्रवीत् ॥53॥
 सत्येन तव तुष्टोऽस्मि किं त्वया मे परस्त्रिया ।
 यावत्त्वां नेक्षते कश्चित्तावद्गच्छ यथागतम् ॥54॥
 इति तेन परित्यक्ता सा तथेत्याययौ ततः ।
 चौरस्य निकटं तस्य प्रतिपालयतः पथि ॥55॥
 ब्रूहि कस्तेऽत्र वृत्तान्तो गताया इति पृच्छते ।
 तस्मै सा तेन वणिजा यथा मुक्ता तथाब्रवीत् ॥56॥
 ततः स चौरोऽवादीत्तां यद्येवं तन्मयाप्यसि ।
 विमुक्ता सत्यतुष्टेन गृहं साभरणा ब्रज ॥57॥
 एवं तेनापि सा त्यक्ता रक्षिता चानुयायिना ।
 अलुप्तशीला मुदिता पत्युरेवाययौ गृहम् ॥58॥
 तत्र गुप्तं प्रविष्टा स प्रहृष्टोपागता सती ।
 दृष्ट्वा पृष्टवते तस्मै पत्ये सर्वमवर्णयत् ॥59॥
 सोऽप्यलुप्तमुखच्छायां तामसंभोगलक्षणाम् ।
 संभाव्याभ्यग्राचारित्रां सत्यलाभरतां सतीम् ॥60॥
 अदृष्टमनसं भार्यामभिनन्द्य कुलोचितम् ।
 तस्थौ समुद्रदत्तोऽथ तया सह यथासुखम् ॥61॥
 इति तत्र कथामुक्त्वा पितृवनभूमौ तदा स वेतालः ।
 वदति स्म तं त्रिविक्रमसेनं वसुधाधिपं भूयः ॥62॥
 तद्ब्रूहि चौरवणिजामेषां मध्यान्नेन्द्र कस्त्यागी ।
 जानन्यदि न वदिष्यसि विदलिष्यति ते शिरः शतधा ॥63॥

तच्छ्रुत्वा स महीपतिरुज्झितमौनस्तमाह वेतालम् ।
 एषां चौरस्त्यागी न पुनर्वणिजावुभावपि तौ ॥64॥
 यो हि पतिस्तामजहादत्याज्यां तादृशी विवाह्यापि ।
 कुलजः सोऽन्यासक्तां भार्या जानन्कथं वहतु ॥65॥
 योऽप्यपरः स भयात्तामत्याक्षीत्कालजीर्णसंवेगः ।
 विदितार्थो भर्तास्याः प्रातर्ब्रूयानृपायेति ॥66॥
 चौरस्तु गुप्तचारी निरपेक्षः पापकर्मकृत्प्राप्तम् ।
 स्त्रीरत्नं यदमुञ्चत्साभरणं तेन स त्यागी ॥67॥
 एतच्छ्रुत्वैवांसतस्तस्य राज्ञो वेतालोऽगात्पूर्ववत्स्वं पदं सः ।
 राजा भूयोऽप्यत्र संप्रामुमेतं प्रायादेवाखण्डितोद्दामधैर्यः ॥68॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके सप्तदशस्तरङ्गः ।

अष्टादशस्तरङ्गः

(एकादशो वेतालः)

ततो गत्वा पुनः प्राप्य शिंशपातोऽग्रहीनृपः ।
 स त्रिविक्रमसेनोऽसे वेतालं तं चचाल च ॥1॥
 आयान्तं च तंमंसस्थो वेतालः सोऽब्रवीन्नृपम् ।
 राजन्विचित्रामेकां ते वर्णयामि कथां शृणु ॥2॥
 उज्जयिन्यामभूत्पूर्वं नाम्ना धर्मध्वजो नृपः ।
 तिस्रस्तस्याभवन्भार्या राजपुत्रयोऽतिवल्लभाः ॥3॥
 एका तास्विन्दुलेखेति तारावल्यपरा तथा ।
 नाम्ना मृगाङ्क वत्यन्या निःसामान्यवपुर्गुणाः ॥4॥
 ताभिः स विहरन्राजा राज्ञीभिस्तिसृभिः सह ।
 आसांचक्रे कृती तत्र जिताशेषरिपुः सुखम् ॥5॥
 एकदा तत्र संप्राप्ते वसन्तसमयोत्सवे ।
 प्रियाभिः सहितस्ताभिरुद्यानं क्रीडितुं ययौ ॥6॥
 तत्रालिमालामौर्वीकाः पश्यन्पुष्पानता लताः ।
 चापयष्टीरनङ्गस्य मधुना सज्जिता इव ॥7॥

शृण्वंश्च तद्द्रुमाग्रस्थकोकिलोदीरितां गिरम् ।
 संभोगैकरसस्याज्ञामिव मानसजन्मनः ॥8॥
 सिषेवेऽन्तः पुरैः साकं स राजा वासवोपमः ।
 पानं मदस्य कंदर्पजीवितस्यापि जीवितम् ॥9॥
 तन्निःश्वाससुगन्धीनि तद्बिम्बौष्ठरुचीनि च ।
 प्रियापीतावशेषाणि पिबन्नेमे मधूनि सः ॥10॥
 तत्र तस्येन्दुलेखाया राज्ञः केलिकचग्रहात् ।
 तस्याः पपात कर्णाग्रादुत्सङ्गे त्वङ्गदुत्पलम् ॥11॥
 तेनोरुपृष्ठे सहसा क्षते जातेभिघातजे ।
 अभिजाता महादेवी हाहेत्युक्तवा मुमूर्च्छ सा ॥12॥
 तदृष्ट्वा विह्वलेनार्या राज्ञा परिजनेन च ।
 समाश्वासयत राज्ञी सा शनैः शीताम्बुमारुतैः ॥13॥
 ततो नीत्वा स राजा तां राजधानीं भिषक्कृतैः ।
 प्रियामुपाचरद्विव्यैरामुक्तव्रणपट्टिकाम् ॥14॥
 रात्रौ च सुस्थितां दृष्ट्वा तां स राजा द्वितीयया ।
 हारावल्या सहारोहच्चन्द्रप्रासादमीश्वरः ॥15॥
 तत्र तस्याङ्ग सुमाया राज्ञस्तस्या हिमत्विषः ।
 करा जालपथैः पेतुरङ्गे चलितवाससि ॥16॥
 ततः क्षणात्प्रबुद्धा सा हा दग्धास्मीति वादिनी ।
 शयनात्सहसोत्तस्थौ तदङ्गपरिमर्शिनी ॥17॥
 किमेतदिति संभ्रान्तः प्रबुद्धोऽथ ददर्श सः ।
 उत्थाय राजा विस्फोटानङ्गे तस्या विनिर्गतान् ॥18॥
 पृच्छन्तं सा च तं ग्राह राज्ञी तारावली तदा ।
 नग्राङ्गे पतितैरिन्दोः करैरेतत्कृतं मम ॥19॥
 इत्युक्तवत्याः क्रन्दन्त्याः सार्तिराह्वयति स्म सः ।
 तस्याः परिजनं राजा विह्वलाकुलधावितम् ॥20॥
 तेनास्याः कारयामास सजलैर्नलिनीदलैः ।
 शय्यामदापयच्चाङ्गे श्रीखण्डार्द्रविलेपनम् ॥21॥

तावदबुद्धा तृतीयास्य सा मृगाङ्गवती प्रिया ।
 तत्पार्श्वमागन्तुमना निर्ययौ निजमन्दिरात् ॥22॥
 निर्गता साशृणोत्ववापि गृहे धान्यावघातजम् ।
 निःशब्दायां निशि व्यक्तं विदूरे मुसलध्वनिम् ॥23॥
 श्रुत्वैव हा मृतास्मीति ब्रुवाणा धुन्वती करौ ।
 उपाविशद्व्यथाक्रान्ता मार्गे सा मृगलोचना ॥24॥
 ततः प्रतिनिवृत्त्यैव नीत्वा परिजनेन सा ।
 स्वमेवान्तःपुरं बाला रुदती शयनेऽपतत् ॥25॥
 ददर्श तत्र तस्याश्च चिन्वन्साश्रुः परिच्छदः ।
 आलीनभ्रमरौ पद्माविव हस्तौ किणाङ्कितौ ॥26॥
 गत्वा च सोऽब्रवीद्राज्ञे राजाप्यागत्य विह्वलः ।
 किमेतदिति पप्रच्छ सोऽथ धर्मध्वजः प्रियाम् ॥27॥
 सापि प्रदर्श्य हस्तौ तमित्युवाच रुजान्विता ।
 श्रुते मुसलशब्दे मे जातावेतौ किणाङ्कितौ ॥28॥
 ततः स दाहशमनं दापयामास हस्तयोः ।
 तस्याश्चन्दनलेपादि राजाद्भुतविषादवान् ॥29॥
 एकस्या उत्पलेनापि पतता क्षतमाहितम् ।
 द्वितीयस्याः पुनर्दग्धमङ्गं शशिकरैरपि ॥30॥
 एतस्यास्तु तृतीयस्याः श्रुतेनापि विनिर्गताः ।
 कष्टं मुसलशब्देन हस्तयोरीदृशाः किणाः ॥31॥
 अहो युगपदेतासां प्रेयसीनां ममाधुना ।
 गुणोऽप्यत्यभिजातत्वं जातो दोषाय दैवतः ॥32॥
 इति चिन्तयतस्तस्य भ्रमतोऽन्तःपुरेषु च ।
 त्रियामा शतयामेव कृच्छ्रात्सा नृपतेर्ययौ ॥33॥
 प्रातश्च स भिषक्छल्यहर्तृभिः सह संव्यधात् ।
 तथा यथामूदचिरात्स्वस्थान्तःपुरनिर्वृतः ॥34॥
 एवमेतां कथामुक्त्वा वेतालोऽत्यद्भुतां तदा ।
 स त्रिविक्रमसेनं तं पप्रच्छांसस्थितो नृपम् ॥35॥

अभिजाततरैतासु राजन्नाज्ञीषु का वद ।
पूर्वोक्तः सोऽस्तु शापस्ते जानन्यदि न जल्पसि ॥36॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्राजा सुकुमारतरात्र सा ।
आस्पृष्टे मुसले यस्याः शब्देनैवोद्रताः किणाः ॥37॥
उत्पलेन्दुकरैः स्पर्शो वृत्ते त्वितरयोर्द्वयोः ।
संजाता व्रणविस्फोटास्तेन तस्या न ते समे ॥38॥
इति तस्योक्तवर्तोऽसाद्राज्ञो भूयो जगाम स स्वपदम् ।
वेतालः स च राजा तथैव तं सुदृढनिश्चयोऽनुययौ ॥39॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बकेऽष्टादशस्तरङ्गः ।

एकोनविंशस्तरङ्गः ।

(द्वादशो वेतालः)

स त्रिविक्रमसेनोऽथ पुनस्तं शिंशपातरुम् ।
गत्वा प्राप्य च वेतालं राजा स्कन्धे चकार तम् ॥1॥
प्रतस्थे च तमादाय तूष्णीमेव स पूर्ववत् ।
ततो भूयस्तमाह स्म वेतालः सोऽसपृष्ठतः ॥2॥
राजन्नेवमनुद्विग्नः पर्याप्तमसि मे प्रियः ।
तदेतां शृण्वखेदाय हृद्यामाख्यामि ते कथाम् ॥3॥
अङ्गदेशे यशःकेतुरिति राजाभवत्पुरा ।
क्षमामाश्रितोऽङ्गुपत्यर्थमदग्धोऽन्य इव स्मरः ॥4॥
बाहुवीर्यजिताशेषवैरिवर्गस्य तस्य च ।
दीर्घदर्शीत्यभूमन्त्री शक्रस्येव बृहस्पतिः ॥5॥
तस्मिन्मन्त्रिणि विन्यस्य राज्यं स हतकण्टकम् ।
शनैः सुखैकसक्तोऽभूद्वयोरूपमदावृषः ॥6॥
तस्थावन्तःपुरे शश्वन्नास्थाने प्रमदास्पदे ।
शुश्राव रक्तिमद्रीतं वचनं न हितैषिणाम् ॥7॥
रज्यति स्म च निश्चिन्तो जालवातायनेषु सः ।
न पुना राजकार्येषु बहुच्छिद्रेषु जात्वपि ॥8॥

दीर्घदर्शी तु तद्राज्यचिन्ताभारं समुद्रहन् ।
अतिष्ठत्स महामन्त्री दिवानिशमतन्द्रितः ॥9॥
नाममात्रे कृतधृतिं प्रक्षिप्य व्यसने नृपम् ।
मन्त्री राज्ञः श्रियं भुङ्क्ते दीर्घदर्शीह सांप्रतम् ॥10॥
इत्युत्पन्ने महत्यत्र जनवादेऽथ गेहिनीम् ।
स्वैरं मेधाविनीं नाम दीर्घदर्शीं जगाद सः ॥11॥
प्रिये राज्ञि सुखासक्ते तद्भारं वहतोऽपि मे ।
राज्यं भक्षितमेतेनेत्युत्पन्नमयशो जने ॥12॥
लोकवादश्च मिथ्यापि महतामिह दोषकृत ।
तत्याज किं न रामोऽपि जनवादेन जानकीम् ॥13॥
तदत्र किं मया कार्यमित्युक्ते तेन मन्त्रिणा ।
भार्या मेधाविनी धीरा सान्वर्था तमभाषत ॥14॥
तीर्थयात्रापदेशेन युक्त्यापृच्छय महीपतिम् ।
कंचित्कालं विदेशं ते गन्तुं युक्तं महामते ॥15॥
एवं ते निःस्पृहस्यैष जनवादो निवत्स्यति ।
त्वय्यस्थिते ततो राज्यमुद्रक्ष्यति नृपः स्वयम् ॥16॥
ततश्चास्य शनैरेतद्व्यसनं हानिमेष्यति ।
आगतस्यात्र निर्गर्हा भवित्री मन्त्रिता च ते ॥17॥
इत्युक्तो भार्याया गत्वा दीर्घदर्शीं तथेति सः ।
कथाप्रसङ्गे तं भूपं यशःकेतुं व्यजिज्ञपत् ॥18॥
अनुजानीहि मां राजन्दिवसान्कांश्चिदप्यहम् ।
ब्रजामि तीर्थयात्रायै धर्मो हि प्रेप्सितः स मे ॥19॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्राजा मैवं तीर्थैर्विना परः ।
दानादिः किं न धर्मोऽस्ति स्वर्ग्यस्ते स्वगृहेष्वपि ॥20॥
अथावोचत्स मन्त्री तमर्थशुद्ध्यादि मृग्यते ।
दानादौ नित्यशुद्धानि तीर्थानि नृपते पुनः ॥21॥
यावच्च यौवनं राजंस्तावद्म्यानि धीमता ।
अविश्वस्ये शरीरे हि संगमस्तैः कुतोऽन्यदा ॥22॥

इति तस्मिन्वदत्येव राज्ञि चैवं निषेधति ।
 प्रविश्यात्र प्रतीहारो राजानं तं व्यजिज्ञत् ॥23॥
 देव व्योमसरोमध्यमंशुमाली विगाहते ।
 तदुत्तिष्ठत सैषा वः स्नानवेलातिवर्तते ॥24॥
 श्रुत्वैतत्सहसा स्नातुमुदतिष्ठन्महीपतिः ।
 यात्रोन्मुखः स मन्त्री च तं प्रणम्य गृहं यया ॥25॥
 तत्रावस्थाप्य भार्यां तामनुयात्रानिवारिताम् ।
 स प्रतस्थे ततो युक्त्या स्वभृत्यैरप्यतर्कितः ॥26॥
 एकाकी च भ्रमंस्तांस्तान्देशांस्तीर्थानि च ब्रजन् ।
 स प्राप पुण्ड्रविषयं दीर्घदर्शी सुनिश्चयः ॥27॥
 तत्र पत्तन एकस्मिन्नदूरेऽब्धेः प्रविश्य सः ।
 एकं देवकुलं शैवं तत्प्राङ्गण उपाविशत् ॥28॥
 तत्रार्ककरसंतापक्लान्तं दूराध्वधूसरम् ।
 ददर्श निधिदत्ताख्यो वणिद्रेवार्चनागतः ॥29॥
 स तं तथाविधं दृष्ट्वा सोपवीतं सुलक्षणम् ।
 संभाव्य चोत्तमं विप्रमातिथेयोऽनयदृहम् ॥30॥
 तत्र चापूजयत्स्नानभोजनाद्यैस्तमुत्तमैः ।
 कः कुतस्त्वं क्व यासीति विश्रान्तं च स पृष्टवान् ॥31॥
 दीर्घदर्शीति विप्रोऽहमङ्गदेशादिहागतः ।
 तीर्थयात्रार्थमित्येव गाम्भीर्यात्सोऽप्युवाच तम् ॥32॥
 ततः स निधिदत्तोऽपि तं जगाद महावणिक् ।
 सुवर्णद्वीपगमनायोद्यतोऽहं वणिज्यया ॥33॥
 तत्त्वं तिष्ठेह मद्देहे यावदेष्याम्यहं ततः ।
 तीर्थयात्रापरिश्रान्तो विश्रान्तो ह्यथ यास्यसि ॥34॥
 तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्दीर्घदर्शी तर्हि ममेह किम् ।
 त्वयैव सह यास्यामि सार्थवाह यथासुखम् ॥35॥
 एवमस्त्विति तेनोक्ते साधुना सोऽथ तद्गृहे ।
 चिरादवाप्तशयनो निशां मन्त्री निनाय ताम् ॥36॥

अन्येद्युरथ तेनैव वणिजा सह वारिधिम् ।
 गत्वारुरोह तद्भाण्डपूर्णं प्रवहणं च सः ॥37॥
 तेन गच्छन्प्रवहणेनाब्धिमद्भुतभीषणम् ।
 विलोकयन्स संप्राप स्वर्णद्वीपं क्रमेण तत् ॥38॥
 क्व मन्त्रिमुख्यता चास्य क्व वाध्वोल्लङ्घिताम्बुधिः ।
 अयशोभीरवः किं न कुर्वते बत साधवः ॥39॥
 तत्र द्वीपे समं तेन कंचित्कालमुवास सः ।
 वणिजा निधिदत्तेन कुर्वता क्रयविक्रयौ ॥40॥
 आगच्छंश्च ततोऽकस्मात्तद्युक्तो वहनस्थितः ।
 कल्पवृक्षं ददर्शाब्धावूर्मेः पश्चात्समुत्थितम् ॥41॥
 प्रवालशाखासुभगैः स्कन्धैर्जाम्बूनदोज्ज्वलैः ।
 फलैर्मणिमयैः कान्तैः कुसुमैश्चोपशोभितम् ॥42॥
 तस्य स्कन्धे च सद्रत्नपर्यङ्कोत्सङ्गवर्तिनीम् ।
 कन्यामत्यद्भुताकारकमनीयामवैक्षत ॥43॥
 अहो किमेतदित्येवं यावद्भूयायति स क्षणम् ।
 तावत्सा वीणिनी कन्या गातुमेवं प्रचक्रमे ॥44॥
 यत्कर्मबीजमुप्तं येन पुरा निश्चितं स तद्भुङ्क्ते ।
 पूर्वकृतस्य हि शक्यो विधिनापि न कर्तुमन्यथाभावः ॥45॥
 इत्युद्राय क्षणान्तस्मिन्नम्भोधौ दिव्यकन्यका ।
 सकल्पद्रुमपर्यङ्कशय्यात्रैव ममज्ज सा 46॥
 किमप्यपूर्वमद्येदं मया दृष्टमिहाद्भुतम् ।
 क्वाब्धिः क्व दृष्टनष्टोऽत्र गायदिव्याङ्गनस्तरुः ॥47॥
 यदि वा वन्द्य एषोऽब्धिराकरः शश्वदीदृशाम् ।
 लक्ष्मीन्दुपारिजाताद्या नास्मात्ते ते किमुद्रताः ॥48॥
 इति तं चिन्तयन्तं च तत्क्षणं दीर्घदर्शिनम् ।
 विलोक्य विस्मयाविष्टं कर्णधारादयोऽब्रुवन् ॥49॥
 एवमेषा सदैवेह दृश्यते वरकन्यका ।
 निमज्जति च तत्कालं तवैतद्दर्शनं नवम् ॥50॥

इत्युक्तस्तैः समं तेन निधिदत्तेन स क्रमात् ।
 मन्त्री चित्रीयमाणोऽब्धेस्तीरं पोतगतोऽभ्यगात् ॥51॥
 तत्रोत्तारितभाण्डेन तेनैव वणिजा सह ।
 जगाम हृष्टभृत्येन सोत्सवं सोऽथ तद्गृहम् ॥52॥
 स्थित्वा नातिचिरं तत्र निधिदत्तमुवाच तम् ।
 सार्थवाह भवद्गोहे विश्रान्तोऽहं चिरं सुखम् ॥53॥
 इदानीं गन्तुमिच्छामि स्वदेशं भद्रमस्तु ते ।
 इत्युक्त्वा तमनिच्छन्तमप्यामन्त्र्य वणिक्पतिम् ॥54॥
 दीर्घदर्शी स सत्त्वैकसहायः प्रस्थितस्ततः ।
 क्रमोल्लङ्घितदूराध्वा प्रापाङ्गविषयं निजम् ॥55॥
 तत्र तं ददृशुश्चारा बहिर्नगरमागतम् ।
 ये यशःकेतुना राज्ञा प्राङ्मन्यस्तास्तद्गवेषणे ॥56॥
 तैश्च गत्वा स विज्ञप्तश्चारे राजा तमभ्यगात् ।
 स्वयं निर्गत्य नगरात्तद्विश्लेषसुदुःखितः ॥57॥
 उपेत्य च परिष्वङ्गपूर्वं तमभिनन्द्य सः ।
 निनायाभ्यन्तरं भूपश्चिराध्वक्षामधूसरम् ॥58॥
 त्यक्त्वास्मान्किं त्वया नीतं न परं बत मानसम् ।
 यावच्छरीरमप्येतन्नःस्नेहपरुषां दशाम् ॥59॥
 किं वा भगवतो वेत्ति भवितव्यस्य को गतिम् ।
 यदकस्मात्तवैषाभूत्तीर्थादिगमने मतिः ॥60॥
 तद्ब्रूहि के त्वया भ्रान्ता देशा दृष्टं च किं नवम् ।
 इति तत्र च तं राजा स जगाद स्वमन्त्रिणम् ॥61॥
 ततः सुवर्णद्वीपान्तं सोऽध्वानं वर्णयन्क्रमात् ।
 अब्धावुद्गमिनीं तस्मै तां दृष्ट्वां दिव्यकन्यकाम् ॥62॥
 गायन्तीं त्रिजगत्सारभूतां कल्पतरुस्थिताम् ।
 यथावत्कथयामास दीर्घदर्शी महीभृते ॥63॥
 स तां श्रुत्वैव च नृपस्तथा स्मरवशोऽभवत् ।
 यथा तथा विना मेने निष्फले राज्यजीविते ॥64॥

जगाद च तमेकान्ते नीत्वा स्वसचिवं तदा ।
 द्रष्टव्यासौ मयावश्यं जीवितं नास्ति मेऽन्यथा ॥65॥
 यामि त्वदुक्तेन पथा प्रणम्य भवितव्यताम् ।
 निवारणीयो नाहं ते नानुगम्यश्च सर्वथा ॥66॥
 गुप्तमेको हि यास्यामि राज्यं तु मे त्वया ।
 मद्ब्रूचो मान्यथा कार्षीः शापितोऽसि ममासुभिः ॥67॥
 इत्युक्त्वा तत्प्रतिवचो निरस्य विससर्ज तम् ।
 मन्त्रिणं स्वगृहं राजा चिरोत्कं स्वजनं प्रति ॥68॥
 तत्रानलोत्सवेऽप्यासीद्दीर्घदर्शी सुदुर्मनाः ।
 स्वामिन्यसाध्यव्यसने सुखं सन्मन्त्रिणां कुतः ॥69॥
 अन्येद्युश्च स तद्धस्तन्यस्तराज्यभरो नृपः ।
 यशःकेतुस्ततः प्रायान्निशि तापसवेषभृत् ॥70॥
 गच्छंश्च कुशनाभाख्यं मुनिं मार्गे ददर्श सः ।
 सोऽत्र तं तापसाकल्पं प्रणतं मुनिरादिशत् ॥71॥
 लक्ष्मीदत्तेन वणिजा सह पोतेन वारिधौ ।
 गत्वा प्राप्स्यसि तामिष्टां कन्यां ब्रज निराकुलः ॥72॥
 इति तद्ब्रूवसा प्रीतस्तं प्रणम्य स पार्थिवः ।
 गच्छन्देशान्नदीरन्क्रान्त्वा तं प्रापदम्बुधिम् ॥73॥
 सुतारशङ्खधवलैर्वीचीभूभिर्विकस्वरैः ।
 वीक्षमाणमिवावर्तनेत्रैरातिथ्यसंभ्रमात् ॥74॥
 तत्तीरे वणिजा तेन मुनिप्रोक्तेन संगतिः ।
 लक्ष्मीदत्तेन जज्ञेऽस्य स्वर्णद्वीपं घियासुना ॥75॥
 तेनैव सह चक्राङ्गपादमुद्रादिदर्शनात् ।
 प्रह्वेणारुह्य वहनं प्रतस्थे सोऽम्बुधौ नृपः ॥76॥
 मध्यमब्धेश्च संप्राप्ते वहने वारिमध्यतः ।
 उदगात्कल्पविटपिस्कन्धस्था सात्र कन्यका ॥77॥
 यावत्पश्यति तां राजा चकोर इव चन्द्रिकाम् ।
 तावत्सा गायति स्मैवं वल्लकीवाद्यसुन्दरम् ॥78॥

यत्कर्मबीजमुप्तं येन पुरा निश्चितं स तद्भुङ्क्ते ।
 पूर्वकृतस्य हि शक्यो विधिनापि न कर्तुमन्यथाभावः ॥79॥
 तस्माद्यत्र यथा यद्भवितव्यं यस्य दैवयोगेन ।
 तत्र तथा तत्प्राप्त्यै विवशोऽसौ नीयतेऽत्र न भ्रान्तिः ॥80॥
 इति सूचितभव्यार्था गायन्तीं तां विभावयन् ।
 निःस्पन्दः स क्षणं तस्थौ राजा स्मरशराहतः ॥81॥
 रत्नाकर नमः सत्यमगाधहृदयाय ते ।
 येन त्वयैतां प्रच्छाद्य विप्रलब्धो हरिः श्रिया ॥82॥
 तत्सुरैरप्यलभ्यान्तं सपक्षक्षमाभृदाश्रयम् ।
 शरणं त्वां प्रपन्नोऽहमिष्टसिद्धिं विधत्स्व मे ॥83॥
 एवं यावत्समुद्रं तं स नतः स्तौति भूमिपः ।
 तावत्सा कन्यका तत्र निममज्ज सपादपा ॥84॥
 तद्दृष्ट्वैवानुमार्गोऽस्याः स राजात्मानमक्षिपत् ।
 वारिधावत्र कामाग्निस्तापस्येव शान्तये ॥85॥
 तद्वीक्ष्याशङ्कितं मत्वा विनष्टं तं स सज्जनः ।
 लक्ष्मीदत्तो वणिद्रुःखाद्देहत्यागोद्यतोऽभवत् ॥86॥
 मा कार्षीः साहसं नास्ति मग्नस्यास्याम्बुधौ भयम् ।
 एष राजा यशःकेतुर्नाम्ना तापसवेषभृत् ॥87॥
 एतत्कन्यार्थमायातः पूर्वभार्येयमस्य च ।
 एतां प्राप्य पुनश्चासावङ्गराज्यं समेष्यति ॥88॥
 इत्यथाश्वासितो वाचा तत्कालं गगनोत्थया ।
 सार्थवाहो यथाकामं स जगामेष्टसिद्धये ॥89॥
 स राजापि यशःकेतुर्निमग्नोऽन्तर्महोदधौ ।
 अकस्मान्नगरं दिव्यमपश्यज्जातविस्मयः ॥90॥
 भास्वन्मणिमयस्तम्भैः काञ्चनोज्ज्वलभित्तिभिः ।
 विराजमानं प्रासादैर्मुक्ताजालगवाक्षकैः ॥91॥
 नानारत्नशिलापट्टबद्धसोपानवापिकैः ।
 कामदैः कल्पवृक्षाद्यैरुद्यानैरुपशोभितम् ॥92॥

समृद्धेऽपि पुरे तत्र निर्जनेऽथ गृहं गृहम् ।
 अनुप्रविश्य न यदा तां ददर्श प्रियां क्वचित् ॥93॥
 तदा विचिन्वन्दृष्ट्वैकमुत्तुङ्गं मणिमन्दिरम् ।
 आरुह्य द्वारमुद्घाट्य प्रविवेश स भूपतिः ॥94॥
 प्रविश्य चान्तः सद्रत्नपर्यङ्कस्थितमेककम् ।
 वस्त्राच्छादितसर्वाङ्गं शयानं कंचिदैक्षत ॥95॥
 किं स्यात्सैवेति सोत्कण्ठमुद्घाटयति तन्मुखम् ।
 यावत्तावदपश्यत्तां स्वेप्सितामेव सोऽङ्गनाम् ॥96॥
 स्रस्तनीलांशुकध्वान्तहसन्मुखशशिश्रियम् ।
 ज्योत्स्नावदातां पातालगतामिव दिवा निशाम् ॥97॥
 तद्दर्शनेन चास्याभूदवस्था कापि सा तदा ।
 ग्रीष्मतीं मरुपान्थस्य सरित्संदर्शनेन या ॥98॥
 साप्युन्मीलितचक्षुस्तं कल्याणाकृतिलक्षणम् ।
 वीक्ष्याकस्मात्तथाप्राप्तं संभ्रमाच्छयनं जहौ ॥99॥
 कृतातिथ्या नतमुखी पूजयन्तीव पादयोः ।
 फुल्लेक्षणोत्पलन्यासैः शनैरेतमुवाच च ॥100॥
 को भवान्किमगम्यं च प्रविष्टोऽसि रसातलम् ।
 राजचिह्नाङ्किततनोः किं च ते तापसव्रतम् ॥101॥
 इत्यादिश महाभाग प्रसादो यदि ते मयि ।
 एवं तस्या वचःश्रुत्वा स राजा प्रत्युवाच ताम् ॥102॥
 अङ्गराजो यशःकेतुरिति नाम्नास्मि सुन्दरि ।
 आप्तादन्वहदृश्यां च त्वामश्रौषमिहाम्बुधौ ॥103॥
 ततस्त्वदर्थं कृत्वेमं वेषं राज्यं विमुच्य च ।
 आगत्यैष प्रविष्टोऽहमनुमार्गेण तेऽम्बुधिम् ॥104॥
 तन्मे कथय कासि त्वमित्युक्ते तेन चाथ सा ।
 सलज्जा सानुरागा च सानन्दा चैवमभ्यधात् ॥105॥
 मृगाङ्कसेन इत्यस्ति श्रीमान्विद्याधराधिपः ।
 मां मृगाङ्कवतीं नाम्ना विद्धि तस्य सुतामिमाम् ॥106॥

स मामस्मिन्स्वनगरे विमुच्यैकाकिनीं पिता ।
 न जाने हेतुना केन गतः क्वापि सपौरकः ॥107॥
 तेनाहं शून्यवसतेनिर्विण्णोन्मज्ज्य वारिधेः ।
 यन्त्रकल्पद्रुमारूढा गायामि भवितव्यताम् ॥108॥
 एवमुक्तवती तेन स्मरता तन्मुनेर्वचः ।
 तथारज्यत सा राज्ञा वचोभिः प्रेमपेशलैः ॥109॥
 यथानुरागविवशा भार्यात्वं तस्य तत्क्षणम् ।
 अङ्गीचकार वीरस्य समयं त्वेकमभ्यधात् ॥110॥
 शुक्लकृष्णचतुर्दश्यामष्टम्यां चार्यपुत्र ते ।
 प्रतिमासमनायत्ता चतुरो दिवसानहम् ॥111॥
 यत्र क्वापि दिनेष्वेषु गच्छन्ती चास्मि न त्वया ।
 प्रष्टव्या न निषेद्धव्या कारणं ह्यत्र विद्यते ॥112॥
 एवं तामुक्तसमयां स राजा दिव्यकन्यकाम् ।
 तथेत्युक्तवैव गान्धर्वविधिना परिणीतवान् ॥113॥
 भेजे ततश्च संभोगसुखं तत्र तथा सह ।
 यथाभूदन्य एवास्या मान्मथो मण्डनक्रमः ॥114॥
 केशेषु स्रस्तमाल्येषु कचग्रहनखावली ।
 बिम्बाधरेऽथ निष्पीतनीरागे दशनक्षतिः ॥115॥
 कुचयोः करजश्रेणिर्भिन्नमाणिक्यमालयोः ।
 लुप्ताङ्गरागेष्वङ्गेषु गाढालिङ्गनरागिता ॥116॥
 इति तद्दिव्यसंभोगसुखास्थितमत्र तम् ।
 सा मृगाङ्गवती भार्या भूपं प्राहेदमेकदा ॥117॥
 त्वमिहैव प्रतीक्षेथा कार्यार्थं क्वापि याम्यहम् ।
 अद्य सैषा हि संप्राप्ता मम कृष्णचतुर्दशी ॥118॥
 इहस्थस्त्वार्यपुत्रामुं मा स्म गाः स्फाटिकं गृहम् ।
 मात्र वाप्यां निपतितो भूलोकं त्वं गमिष्यसि ॥119॥
 इत्युक्त्वा सा तमामन्त्र्य ययौ तस्मात्पुराद्बहिः ।
 राजापि प्राप्तखड्गस्तां छत्रो जिज्ञासुरन्वगात् ॥120॥

तत्रापश्यत्तमःश्यामं व्यात्तवक्त्रबिलं च सः ।
 साकारमिव पातालमायान्तं राक्षसं नृपः ॥121॥
 स राक्षसो निपत्यैव मुक्तघोररवस्तदा ।
 तां मृगाङ्गवतीं वक्त्रे निक्षिप्यैव निगीर्णवान् ॥122॥
 तद्दृष्ट्वातिकोपेन सहसा स ज्वलन्निव ।
 निर्मोकमुक्तभुजगश्यामलेन महासिना ॥123॥
 कोषाकृष्टेन धावित्वा राजसिंहोऽभिधावतः ।
 चिच्छेद रक्षसस्तस्य संदष्टौष्टपुटं शिरः ॥124॥
 रक्षःकबन्धवान्तेन राज्ञस्तस्यास्रवारिणा ।
 क्रोधजोऽथ शशामाभिर्न तु कान्तावियोगजः ॥125॥
 ततो मोहनिशान्धेऽस्मिन्विष्टगतिके नृपे ।
 अकस्मान्मेघमलिनस्याङ्गं भित्त्वेव रक्षसः ॥126॥
 तस्योद्दयोतितदिकचक्रा चन्द्रमूर्तिरिवामला ।
 सा मृगाङ्गवती जीवन्त्यक्षताङ्गी विनिर्ययौ ॥127॥
 तां तथा संकटोत्तीर्णां दृष्ट्वा कान्तां ससंभ्रमम् ।
 एहोहीति वदन्राजा प्रध्राव्यैवालिलिङ्ग सः ॥128॥
 प्रिये किमेतत्स्वप्नोऽयमुत मायेति तेन सा ।
 पृष्ट्वा नृपेण संस्मृत्य विद्याधर्यैवमब्रवीत् ॥129॥
 शृण्वार्यपुत्र न स्वप्नो न मायेयमयं पुनः ।
 विद्याधरेन्द्रात्स्वपितुः शापोऽभूदीदृशो मम ॥130॥
 बहुपुत्रोऽपि स हि मे पिता पूर्वं वसन्निह ।
 मया विनातिवात्सल्यान्नाहारमकरोत्सदा ॥131॥
 अहं च सर्वदा शर्वपूजासक्तेह निर्जने ।
 चतुर्दशयोरथाष्टम्योरगच्छं पक्षयोर्द्वयोः ॥132॥
 एकदा च चतुर्दश्यामिहागत्य रसान्मम ।
 चिरं गौरीं समर्चन्त्या दैवादवसितं दिनम् ॥133॥
 तदहर्मत्प्रतीक्षः सन्धुधितोऽपि स मत्पिता ।
 नाभुङ्क्त नापिबकिंचिदासीत्क्रुद्धस्तु मां प्रति ॥134॥

ततो रात्रावुपेतां मां सापराधामधोमुखीम् ।
 भवितव्यबलग्रस्तमत्स्नेहः शपति स्म सः ॥135॥
 यथा त्वदवलेपेन ग्रस्तोऽद्याहमयं क्षुधा ।
 मासि मासि तथाष्टम्योश्चतुर्दश्योश्च केवलम् ॥136॥
 हरार्चनरसाद्यान्तीमत्रैव त्वां बहिः पुरे ।
 नाम्ना कृतान्तसंत्रासो राक्षसो निगरिष्यति ॥137॥
 भित्त्वा भित्त्वास्य हृदयं जीवन्ती च निरेष्यसि ।
 न स्मरिष्यसि शापं च न तां निगरणव्यथाम् ॥138॥
 स्थास्यस्येकाकिनी चात्रेत्युक्तशापवचाः शनैः ।
 सोऽनुनीतो मया ध्यात्वा शापान्तं मेऽब्रवीत्पिता ॥139॥
 भर्ता भूत्वा यशःकेतुनामाङ्गनृपतिर्यदा ।
 राक्षसेन निगीर्णां त्वां दृष्ट्वा तं निहनिष्यति ॥140॥
 तदा त्वं मोक्षयसे शापाद्भुदयात्तस्य निर्गता ।
 संस्मरिष्यसि शापादि विद्याः सर्वास्तथा निजाः ॥141॥
 इत्यादिश्य स शापान्तं त्यक्त्वा मामेककामिह ।
 निषधार्द्रिं गतस्तातो भूलोकं सपरिच्छदः ॥142॥
 अहं तथा चरन्ती च शापमोहादिहावसम् ।
 क्षीणश्रैष स शापो मे जाता सर्वत्र च स्मृतिः ॥143॥
 तत्तातपार्श्वमधुना निषधार्द्रिं ब्रजाम्यहम् ।
 शापान्ते स्वां गतिं याम इत्येष समयो हि नः ॥144॥
 त्वमिहास्व स्वराष्ट्रं वा ब्रज स्वातन्त्र्यमत्र ते ।
 एवं तयोक्ते स नृपो दुःखितोऽर्थयते स्म ताम् ॥145॥
 सप्ताहानि न गन्तव्यं प्रसीद सुमुखि त्वया ।
 क्षिपावस्तावदौत्सुक्यमुद्याने क्रीडनैरिह ॥146॥
 त्वं गच्छाथ पितुः स्थानं यास्याम्यहमपि स्वकम् ।
 एतत्तद्वचनं मुग्धा तथेत्यङ्गीचकार सा ॥147॥
 ततोऽत्र रेमे स तथा सहोद्यानेषु कान्तया ।
 सजलोत्पलनेत्रासु वापीषु षडहं नृपः ॥148॥

मा स्म यातं विहायास्मानिति पूत्कुर्वतीष्विव ।
 उत्क्षिप्तवीचिहस्तासु हंससारसनिःस्वनैः ॥149॥
 सप्तमेऽह्नि स युक्त्या तां प्रियां तत्रानयद्गृहे ।
 भूलोकप्रापिणी यत्र सा यन्त्रद्वारवापिका ॥150॥
 तत्र कण्ठे गृहीत्वा तां तस्यां वाप्यां निपत्य सः ।
 उत्तस्थौ स्वपुरोद्यानवापीमध्यात्तया सह ॥151॥
 तत्र कान्तासखं प्राप्तं तं दृष्ट्वाद्यानपालकाः ।
 हृष्टास्तन्मन्त्रिणे गत्वा जगदुर्दीर्घदर्शिने ॥152॥
 सोऽप्येत्य पादपतितस्तमानीतेप्सिताङ्गनम् ।
 दृष्ट्वा प्रावेशयन्मन्त्री सपौरोऽभ्यन्तरं नृपम् ॥153॥
 अहो सैषा कथं प्राप्ता राज्ञा दिव्याङ्गनामुना ।
 व्योम्नीव विद्युदिव या क्षणदृश्या मयेक्षिता ॥154॥
 यद्यस्य लिखितं धात्रा ललाटाक्षरपङ्क्तिषु ।
 तदवश्यमसंभाव्यमपि तस्योपतिष्ठते ॥155॥
 इत्यत्र मन्त्रिमुख्येऽस्मिन्ध्यायत्यन्यजनेऽपि च ।
 दिव्यस्त्रीप्राप्तिसाश्चर्यं राजागमनसोत्सवे ॥156॥
 सा मृगाङ्कवती दृष्ट्वा तं स्वदेशागतं नृपम् ।
 इयेष पूर्णसप्ताहा यातुं वैद्याधरीं गतिम् ॥157॥
 नाविरासीच्च विद्यास्याः स्मृताप्युत्पतनी तदा ।
 ततः सा मुषितेवात्र विषादमगमत्परम् ॥158॥
 किमकस्माद्विषण्णेव दृश्यसे वद मे प्रिये ।
 इत्युक्ता तेन राज्ञा सा विद्याधर्येवमब्रवीत् ॥159॥
 स्थिताहं शापमुक्तापि त्वत्स्नेहाद्यदियच्चिरम् ।
 तेन विद्या मम भ्रष्टा नष्टा दिव्या च सा गतिः ॥160॥
 तच्छ्रुत्वा हन्त सिद्धयं मप विद्याधरीति सः ।
 राजा ततो यशःकेतुः पूर्णं चक्रे महोत्सवम् ॥161॥
 तद्दृष्ट्वा दीर्घदर्शी स मन्त्री गत्वा गृहं निशि ।
 शयनीयगतोऽकस्माद्भुत्स्फोटेन व्यपद्यत ॥162॥
 ततोऽनुभूय तच्छोकं धृतराज्यभरः स्वयम् ।
 यशःकेतुश्चिरं तस्थौ स मृगाङ्कवतीयुतः ॥163॥

इत्येतां कथयित्वा मार्गं तस्मै कथां स वेतालः ।
 अवदत्पुनस्त्रिविक्रमसेनं नृपतिं तमंसगतः ॥164॥
 तद्ब्रूहि भूपते ते संपन्ने स्वामिनस्तथाभ्युदये ।
 हृदयं सपदि स्फुटितं तस्य महामन्त्रिणः किमिति ॥165॥
 दिव्यस्त्री न मया किं प्राप्तेति शुचास्फुटद्बुदयम् ।
 किं वा राज्यमभीप्सो राजागमजेन दुःखेन ॥166॥
 एतच्च यदि न वक्ष्यसि मष्ट्यं जानन्नपीह तद्राजन् ।
 धर्मश्च तव विनङ्कयति यास्यति दलशश झटिति शिरः ॥167॥
 श्रुत्वेति तु त्रिविक्रमसेनो राजा जगाद वेतालम् ।
 नैतत्तस्मिन्द्वयमपि शुभचरिते युज्यते हि मन्त्रिवरे ॥168॥
 किं तु स्त्रीमात्ररसादुपेक्षितं येन भूभुजा राज्यम् ।
 तस्याधुना तु दिव्यस्त्रीरक्तस्यात्र का वार्ता ॥169॥
 तन्मे कष्टेऽपि कृते प्रत्युत दोषो बताधिकीभूतः ।
 इति तस्य विभावयतो हृदयं तन्मन्त्रिणः स्फुटितम् ॥170॥
 इत्युक्ते नरपतिना पुनः स मायी वेतालो निजपदमेव तज्जगाम ।
 राजापि प्रसभमवाप्तुमन्वधावद्भूयोऽपि द्रुतमथ तं स धीरचेताः ॥171॥
 इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके एकोनविंशस्तरङ्गः ।

विंशस्तरङ्गः ।

(त्रयोदशो वेतालः)

अथ गत्वा पुनः प्राप्य शिंशपातस्ततो नृपः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तं स्कन्धे वेतालमाददे ॥1॥
 आयान्तं च स वेतालो भूयस्तं नृपमब्रवीत् ।
 राजशृणु कथामेकां संक्षिप्तां वर्णयामि ते ॥2॥
 अस्ति वाराणसी नाम पुरी हरनिवासभूः ।
 देवस्वामीति तत्रासीतिन्मान्यो नरपतेद्विजः ॥3॥
 महाधनस्य तस्यैको हरिस्वामीत्यभूत्सुतः ।
 तस्य भार्या च लावण्यवतीत्युत्तमाभवत् ॥4॥

तिलोत्तमादिनाकस्त्रीनिर्माणे प्राप्तकौशलः ।
 अनर्घरूपलावण्यां मन्ये यां निर्ममे विधिः ॥5॥
 तथा स कान्तया साकं हरिस्वामी कदाचन ।
 रतिश्रान्तो ययौ निद्रां हर्म्ये चन्द्रांशुशीतले ॥6॥
 तत्कालं तेन मार्गेण कामचारी विहायसा ।
 आगान्मदनवेगाख्यो विद्याधरकुमारकः ॥7॥
 स तत्र लावण्यवतीं पत्युः पार्श्वे ददर्श ताम् ।
 सुप्तां रतिक्लमस्रस्तवस्त्रव्यक्ताङ्गसौष्टवाम् ॥8॥
 तद्रूपहतचित्तः सन्मदनान्धः स तत्क्षणम् ।
 सुप्तामेव निपत्यैतां गृहीत्वा नभसा ययौ ॥9॥
 क्षणात्प्रबुद्धोऽथ युवा हरिस्वामी स तत्पतिः ।
 प्राणेश्वरीमपश्यंस्तामुदतिष्ठत्ससंभ्रमः ॥10॥
 अहो किमेतत्क्व गता कुपिता सा नु किं मयि ।
 छन्ना जिज्ञासितुं किं मे चित्तं परिहसत्युत ॥11॥
 इत्यनेकविकल्पौघव्याकुलस्तामितस्ततः ।
 हर्म्यप्रासादवलभीष्वन्विव्यन्सोऽभ्रमन्निशि ॥12॥
 आगृहोद्यानतश्चिन्वन्यन्न प्राप कुतोऽपि ताम् ।
 तत्स शोकाग्निसंतप्तो विललापाश्रुगद्गदम् ॥13॥
 हा चन्द्रबिम्बवदने हा ज्योत्स्नागौरि हा प्रिये ।
 रात्र्या तुल्यगुणद्वेषात्किं नु सोढासि नानया ॥14॥
 त्वया कान्त्या जितो बिभ्यदिव चन्दनशीतलैः ।
 करैरसुखयद्यो मां सोऽयमिन्दुस्त्वया विना ॥15॥
 लब्धान्तर इवेदानीं तैरेव तुदति प्रिये ।
 प्रज्वलद्भिर्वाङ्गारैर्विषद्विधैरिवाशुगैः ॥16॥
 इत्यादि क्रन्दतस्तस्य सा हरिस्वामिनस्तदा ।
 कृच्छ्राद्व्यतीयाय निशा न पुनर्विरहव्यथा ॥17॥
 प्रातर्बिभेद विश्वस्य करैः संतमसं रविः ।
 भेतुं न चक्षमे तस्य मोहान्धतमसं पुनः ॥18॥

विलब्ध इव चक्राह्वैस्तस्य तीर्णनिशैस्तदा ।
 भेजे शतगुणीभावं करुणाक्रद्रितध्वनिः ॥19॥
 स्वजनैः सान्त्वयमानोऽपि वियोगानलदीपितः ।
 न च लेभे द्विजयुवा धृतिं तां प्रेयसीं विना ॥20॥
 इह स्थितमिह स्नातं कृतमत्र प्रसाधनम् ।
 विहतं च तयात्रेति ययौ त्वित इतो रुदन् ॥21॥
 मृता तावन्न सा तत्किमात्मैवं हन्यते त्वया ।
 अवश्यं तामवाप्तासि जीवञ्जातु कुतश्चन ॥22॥
 तद्धैर्यमवलम्बस्व तां गवेषय च प्रियाम् ।
 अप्राप्यं नाम नेहास्ति धीरस्य व्यवसायिनः ॥23॥
 इति बन्धुसुहृद्वाक्यैर्बोधितः सोऽथ कृच्छ्र तः ।
 दिनैः कैश्चिद्धरिस्वामी बबन्ध धृतिमास्थया ॥24॥
 अचिन्तयच्च सर्वस्वं कृत्वा ब्राह्मणसादहम् ।
 भ्रमामि तावत्तीर्थानि क्षपयाम्यघसंचयम् ॥25॥
 पापक्षयाद्धि तां जातु प्रियां भ्राम्यन्नवाप्नुयाम् ।
 इत्यालोच्य यथावस्थं स्नानाद्युत्थाय सोऽकरोत् ॥26॥
 अन्येद्युश्च विचित्रान्नपानं सत्रे द्विजन्मनाम् ।
 चकारावारितं किं च ददौ धनमशेषतः ॥27॥
 ब्राह्मण्यमात्रवित्तस्य निर्गत्यैव स्वदेशतः ।
 प्रियाप्राप्तीच्छया सोऽथ तीर्थानि भ्रमितुं ययौ ॥28॥
 भ्राम्यतश्च जगामास्य भीमो ग्रीष्मर्तुकेसरी ।
 प्रचण्डादित्यवदनो दीप्ततद्रश्मिकेसरः ॥29॥
 प्रियाविरहसंतप्तपान्थनिःश्वासमारुतैः ।
 न्यस्तोष्माण इवात्युष्णा वान्ति स्म च समीरणाः ॥30॥
 शुष्यद्विदीर्णपङ्काश्च हृदयैः स्फुटितैरिव ।
 जलाशया ददृशिरे धर्मलुप्ताम्बुसंपदः ॥31॥
 चीरीचीत्कारमुखरास्तापम्लानदलाधराः ।
 मधुश्रीविरहान्मार्गेष्वरुदन्निव पादपाः ॥32॥

तस्मिन्कालेऽर्कतापेन वियोगेन क्षुधा तृषा ।
 नित्याध्वना च स क्लान्तो विरूक्षक्षामधूसरः ॥33॥
 भोजनार्थी हरिस्वामी प्राप ग्रामं क्वचिद्भ्रमन् ।
 पद्मनाभाभिधानस्य गृहं विप्रस्य सत्त्रिणः ॥34॥
 तत्र दृष्ट्वा स भुञ्जानान्विप्रानभ्यन्तरे बहून् ।
 द्वारशाखां समालम्ब्य तस्थौ निःशब्दनिश्चलः ॥35॥
 तथास्थितं तमालोक्य सत्त्रिणस्तस्य गेहिनी ।
 पद्मनाभस्य संजातदया साध्वी व्यचिन्तयत् ॥36॥
 अहो क्षुत्राम गुर्वेषा न कुर्यात्कस्य लाघवम् ।
 यदेवमयमन्नार्थी कोऽप्यास्ते द्वार्यधोमुखः ॥37॥
 दूराध्वाभ्यागतः स्नातस्तावत्क्षीणेन्द्रियः क्षुधा ।
 तदेष चान्नदानस्य पात्रमित्यवधार्य सा ॥38॥
 परमात्रभृत् साध्वी तस्मै सघृतशर्करम् ।
 पात्रमुत्क्षिप्य पाणिभ्यामानीय प्रश्रिता ददौ ॥39॥
 जगाद चैतं भुङ्क्ष्वैतद्गत्वा वापीतटे क्वचित् ।
 इदं स्थानं समुच्छिष्टं भुञ्जानैर्ब्राह्मणैर्वृतम् ॥40॥
 तथेपि सोऽन्नपात्रं तद्गृहीत्वा नातिदूरतः ।
 गत्वा स्थापितवान्वाप्यास्तटे वटतरोरधः ॥41॥
 प्रक्षाल्य पाणिपादं च वाप्यामाचम्य चात्र सः ।
 यावद्भक्षयितुं तुष्टः परमात्रमुपैति तत् ॥42॥
 तावद्गृहीत्वा कृष्णाहिं चञ्च्वा पादयुगेन च ।
 श्येनः कुतश्चिदागत्य तरौ तस्मिन्नुपाविशत् ॥43॥
 तेन तस्योह्यमानस्य सर्पस्याक्रम्य पक्षिणा ।
 उत्क्रान्तजीवितस्यास्याद्विषलाला विनिर्ययौ ॥44॥
 सा तत्राधःस्थिते तस्मिन्नन्नपात्रेऽपतत्तदा ।
 तच्चादृष्ट्वा हरिस्वामी स एत्यान्नमभुङ्क्त तत् ॥45॥
 क्षुधार्तस्य तदा तस्य मृष्टान्नं तत्क्षणेन तत् ।
 कृत्स्नं भुक्तवतस्तीव्रा प्रोदभूद्विषवेदना ॥46॥

अहो विधौ विपर्यस्ते न विपर्यस्यतीह किम् ।
 यद्विषीभूतमन्नं मे सक्षीरघृतशर्करम् ॥47॥
 इति जल्पन्विषार्तः स हरिस्वामी परिस्खलन् ।
 गत्वा तां सन्निष्ठास्तस्य विप्रस्योवाच गेहिनीम् ॥48॥
 त्वद्दत्ताद्विषमन्नामे जातं तद्विषमन्निष्ठा ।
 कंचिन्ममानय क्षिप्रं ब्रह्महत्यान्यथास्ति ते ॥49॥
 इत्युक्त्वैव स तां साध्वीं किमेतदिति विह्वालाम् ।
 हरिस्वामी परावृत्तनेत्रः प्राणैर्व्ययुज्यत ॥50॥
 ततः सा तेन निर्दोषाप्यातिथेद्यपि सन्निष्ठा ।
 भार्या निष्कासिता गेहान्मिथ्यातिथिवधक्रुधा ॥51॥
 साप्युत्पन्नमृषावद्या सुशुभादपि कर्मणः ।
 जातावमाना तपसे साध्वी तीर्थमशिश्रियत् ॥52॥
 कस्य विप्रवधः सोऽस्तु सर्पश्येनानन्देष्विति ।
 तदाभूद्धर्मराजाग्रे वादो नासीत्तु निर्णयः ॥53॥
 तत्रिविक्रमसेन त्वं राजन्ब्रूहि ममाधुना ।
 कस्य सा ब्रह्महत्येति पूर्वः शापः स तेऽन्यथा ॥54॥
 इति वेतालतः श्रुत्वा राजा शापनियन्त्रितः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तं मुक्तामौनोऽब्रवीदिदम् ॥55॥
 तस्य तत्पातकं तावत्सर्पस्य यदि वास्य कः ।
 विवशस्यापराधोऽस्ति भक्ष्यमाणस्य शत्रुणा ॥56॥
 अथ श्येनस्य तेनापि किं दुष्टं क्षुधितात्मना ।
 अकस्मात्प्राप्तमानीय भक्ष्यं भक्षयता निजम् ॥57॥
 दंपत्योरन्नदात्रोर्वा तयोरेकस्य वा कुतः ।
 अभाव्यदोषौ धर्मैकप्रवृत्तो तावुभौ यतः ॥58॥
 तदहं तस्य मन्ये सा ब्रह्महत्या जडात्मनः ।
 अविचार्यैव यो ब्रूयादेषामेकतमस्य ताम् ॥59॥
 इत्युक्तवतोऽस्य नृपस्यांसाद्भूयोऽप्यगात्स वेतालः ।
 निजपदमेव नृपोऽपि स पुनरपि धीरस्तमन्वगादेव ॥60॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके विंशस्तरङ्गः ।

एकविंशस्तरङ्गः

(चतुर्दशो वेतालः)

स त्रिविक्रमसेनोऽथ गत्वा तं शिंशपातरोः ।
 भूयोऽप्यासाद्य वेतालं स्कन्धे जग्राह भूपतिः ॥1॥
 प्रस्थितं च तमुर्वीशं स वेतालोऽभ्यधात्पुनः ।
 राजञ्श्रान्तोऽसि तच्चित्रां कथामाख्यामि ते शृणु ॥2॥
 अस्त्ययोध्येति नगरी राजधानी बभूव या ।
 रक्षःकुलकृतान्तस्य रामरूपस्य शार्ङ्गिणः ॥3॥
 तस्यां राजाभवद्वीरकेतुर्नाम ररक्ष यः ।
 क्षोणीमिमां महाबाहुः प्राकारो नगरीमिव ॥4॥
 तस्मिन्महीपतावस्यां पुर्यामेको महावणिक् ।
 रत्नदत्ताभिधानोऽभूद्वणिङ्निवहनायकः ॥5॥
 नन्दयन्त्यभिधानायां पत्न्यां तस्योदपद्यत ।
 सुता रत्नवती नाम देवताराधनार्जिता ॥6॥
 सा च तस्य पितुर्वेश्मन्यवर्धत मनस्विनी ।
 रूपलावण्यविनयैः सहैव सहजैर्गुणैः ॥7॥
 यौवनस्थां च तां तस्माद्रत्नदत्तान्न केवलम् ।
 महान्तो वणिजो यावद्राजानोऽपि ययाचिरे ॥8॥
 सा तु पुंद्रेषिणी नैच्छद्भर्तारमपि वासवम् ।
 प्राणत्यागोद्यता सेहे न विवाहकथामपि ॥9॥
 तेन तस्याः पिता तूष्णीं तस्थौ वात्सल्यदुःस्थितः ।
 स च प्रवादोऽयोध्यायां तस्यां सर्वत्र पप्रथे ॥10॥
 अत्रान्तरे सदा चौरैर्मुष्यमाणाः किलाखिलाः ।
 संभूयात्र नृपं पौरा वीरकेतुं व्यजिज्ञपन् ॥11॥
 नित्यं मुष्यामहे चौरैः रात्रौ रात्राविह प्रभो ।
 लक्ष्यन्ते ते च नास्माभिस्तद्देवो वेत्तु यत्परम् ॥12॥

इति पौरैः स विज्ञप्तो राजा तामभितः पुरीम् ।
 तस्करान्वेषणे छत्रानादिशद्रात्रिरक्षकान् ॥13॥
 तेऽपि प्रापुर्नयच्चौरान्पुरी सामुष्यतैव च ।
 तदैकदा स्वयं राजा निशि स्वैरं विनिर्ययौ ॥14॥
 एकाकी चात्तशस्त्रोऽत्र भ्रमन्सोऽपश्यदेकतः ।
 एकं प्राकारपृष्ठेन यान्तं कमपि पूरुषम् ॥15॥
 निःशब्दपदविन्यासविचित्रगतिकौशलम् ।
 सशङ्कलोलनयनं पश्यन्तं पृष्ठतो मुहुः ॥16॥
 अयं स नूनं चौरो मे मुष्णात्येकचरः पुरीम् ।
 इति मत्वैव निकटं स तस्योपययौ नृपः ॥17॥
 ततः स चौरो दृष्ट्वा तं नृपं कोऽसीत्यभाषत ।
 चौरोऽहमिति राजा तं चौरं प्रत्यब्रवीत्स तम् ॥18॥
 सोऽथ चौरोऽभ्यधाद्वृष्ट्वा तर्हि तुल्योऽसि मे सुहृत् ।
 तदेहि मद्गृहं तावन्मित्राचारं करोमि ते ॥19॥
 तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा तेनैव सह भूपतिः ।
 ययौ वनान्तर्धरणीखातान्तर्वर्तिं तद्गृहम् ॥20॥
 अशेषभोगभोगाढ्यं भास्वद्दीपप्रकाशितम् ।
 नवीनमिव पातालं बलिराजानधिष्ठितम् ॥21॥
 तत्र प्रविष्टे तस्मिंश्च कृतासनपरिग्रहे ।
 राज्ञि सोऽभ्यन्तरगृहं प्रविवेशाथ तस्करः ॥22॥
 तत्क्षणं च तमेत्यैका दासी तत्रावदन्नृपम् ।
 महाभाग प्रविष्टस्त्वमिह मृत्युमुखे कथम् ॥23॥
 एकचौरो ह्यसौ पापं निर्गत्यातः करिष्यति ।
 ध्रुवं विश्वासघातीति तदितस्वरितं ब्रज ॥24॥
 इत्युक्तः स तथा राजा निर्गत्यैव ततो द्रुतम् ।
 गत्वा स्वराजधानीं च निशि सैन्यान्यसज्जयत् ॥25॥
 संनद्धसैन्यश्रागत्य दस्योस्तस्य रुरोध तत् ।
 भृगुहृद्द्वारविवरं रसत्तूर्याकुलैर्बलैः ॥26॥

ततो रुद्धे गृहे वृत्तं प्रतिभेदमवेत्य सः ।
 मरणे निश्चितश्चौरः शूरो युद्धाय निर्ययौ ॥27॥
 निर्गतश्चरणे चक्रे पराक्रमममानुषम् ।
 करांश्चकर्त करिणां जङ्घाश्चिच्छेद वाजिनाम् ॥28॥
 जहार च शिरांस्येको भटानां खड्गचर्मभृत् ।
 ततस्तं क्षपितानीकमभ्यधावत्स्वयं नृपः ॥29॥
 स तस्य खड्गविद्याज्ञो राजा करणयुक्तितः ।
 हस्ताज्जहार निस्त्रिंशमथ तां क्षुरिकामपि ॥30॥
 अशस्त्रं मुक्तशस्त्रोऽथ बाहुयुद्धेन तं नृपः ।
 चौरं निहत्य धरणौ सजीवग्राहमग्रहीत् ॥31॥
 निनाय तं च संयम्य सधनं नगरीं निजाम् ।
 प्रातश्चाज्ञापयत्तस्य शूलारोपणनिग्रहम् ॥32॥
 नीयमानं च तं वध्यभूमिं चौरं सडिण्डिमम् ।
 ददर्श सा रत्नवती वणिक्कन्यात्र हर्म्यतः ॥33॥
 ब्रणितं धूलिलिप्ताङ्गमप्येतं मारमोहिता ।
 दृष्ट्वैव गत्वा पितरं रत्नदत्तमुवाच सा ॥34॥
 वधाय नीयते योऽयमेष भर्ता वृतो मया ।
 तन्नुपाद्रक्ष तातैनं न चेदेनमनु म्रिये ॥35॥
 तच्छ्रुत्वा तां पितावादीत्किमिदं पुत्रि भाषसे ।
 या त्वं नेच्छसि भूपालमपि भर्तृनभीप्सतः ॥36॥
 सा पापं तस्करमिमं वाञ्छस्यापद्गतं कथम् ।
 इत्यादि पित्रा प्रोक्तापि निश्चयान्न चचाल सा ॥37॥
 ततः स तत्पिता गत्वा तस्य चौरस्य सत्वरम् ।
 सर्वस्वेनापि राजानं वधान्मोक्षमयाचत ॥38॥
 राजा तु तं न तत्याज हेमकोटिशतैरपि ।
 स्वशरीरपणानीतं चौरं सर्वापहारिणम् ॥39॥
 ततः पितर्युपायाते विमुखे सा वणिक्सुता ।
 अनुमर्तुं कृतस्नाना वार्यमाणापि बन्धुभिः ॥40॥

आरुह्य शिबिकां तस्य दस्योर्वध्यभुवं ययौ ।
 अन्वीयमाना रुदता पित्रा मात्रा जनेन च ॥41॥
 तावच्च वधकैः सोऽत्र चौरः शूलेऽधिरोपितः ।
 तां ददर्श गलत्प्राणस्तथा सज्ञातिमागताम् ॥42॥
 जनाच्छ्रुत्वा च वृत्तान्तमश्रु मुक्त्वा क्षणं ततः ।
 हसन्स चौरः किमपि प्राणाञ्छूलगतो जहौ ॥43॥
 ततोऽवतारितं शूलात्सा तच्चौरकलेवरम् ।
 आदाय चारुरोहात्र चितां साध्वी वणिक्सुता ॥44॥
 तत्क्षणं च श्मशानेऽत्र भैरवः कृतसंनिधिः ।
 अदृश्यो भगवानेवं तामुवाचान्तरिक्षतः ॥45॥
 अस्मिन्स्वयंवरपतावेवं भक्त्या तवानया ।
 तुष्टोऽस्मि तद्वरं मत्तः प्रार्थयस्व पतिव्रते ॥46॥
 तच्छ्रुत्वैव वरं देवादेवं वव्रे प्रणम्य सा ।
 नाथ पुत्रशतं भूयादपुत्रस्यापि मत्पितुः ॥47॥
 येनानन्यसुतो नैष प्राणाञ्जह्यान्मया विना ।
 इति प्रोक्तवतीमेनां साध्वी देवोऽब्रवीत्पुनः ॥48॥
 पितुः पुत्रशतं तेऽस्तु वरमन्यं वृणीष्व च ।
 त्वादृशी दृढसत्त्वा हि नैतावन्मात्रमर्हति ॥49॥
 तदाकर्ण्यार्थं सावादीत्प्रसन्नो मयि चेत्प्रभुः ।
 तज्जीवत्वेष भर्ता मे धार्मिकश्च सदास्त्विति ॥50॥
 एवमस्त्वक्षतो जीवन्नुत्तिष्ठत्वेष ते पतिः ।
 धार्मिकश्चास्तु राजास्य वीरकेतुश्च तुष्यतु ॥51॥
 इत्युक्तवत्यनालक्ष्यमृतौ शर्वे नभःस्थिते ।
 उत्तस्थावक्षताङ्गोऽत्र चौरौ जीवंस्तदैव सः ॥52॥
 ततो विस्मितहृष्टः सन्तदत्तः सुतां वणिक् ।
 आदाय तां रत्नवतीं चौरं जामातरं च तम् ॥53॥
 प्रहृष्टैर्बान्धवैः साकं प्रविश्य निजमन्दिरम् ।
 लब्धपुत्रवरश्चक्रे स्वानन्दोचितमुत्सवम् ॥54॥

ज्ञातवृत्तान्ततुष्टश्च तदैवानाय्य तं नृपः ।
 एकवीरं वीरकेतुश्चौरं सेनापतिं व्यधात् ॥55॥
 चौर्यान्निवृत्तोऽथ स तां परिणीय वणिक्सुताम् ।
 एकवीरः सुखं तस्थौ मार्गस्थो राजसंमतः ॥56॥
 इति कथयित्वा स कथां वेतालो दत्तपूर्वशापभयम् ।
 अंसस्थितत्रिविक्रमसेनं पप्रच्छ तं क्षितिपम् ॥57॥
 राजन्ब्रूहि सपितृकामुपस्थितां तां वणिक्सुतां दृष्ट्वा ।
 चौरैण शूलपृष्ठे रुदितं हसितं च किं तेन ॥58॥
 अथ राजा प्रत्यवदद्दुदितं चौरैण दुःखतस्तेन ।
 नास्यानृण्यमकारणबन्धोर्यातोऽस्मि वणिज इति ॥59॥
 आश्चर्यतश्च हसितं किमियं कन्या नृपान्वरान्हित्वा ।
 मय्यस्मिन्नुरक्ता स्त्रीचित्तमहो विचित्रमिति ॥60॥
 इत्युक्तवाक्यस्य महीभृतोऽसान्मायी स्वशक्त्यैव तदा जगाम ।
 स्वं धाम वेतालवरः स राजप्येतं पुनः पूर्ववदन्वगच्छत् ॥61॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बक एकविंशस्तरङ्गः ।

द्वाविंशस्तरङ्गः

(पञ्चदशो वेतालः)

ततो गत्वा पुनः प्राप्य वेतालं शिंशपातरोः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तमादायोदचलत्पुनः ॥1॥
 आयान्तं तं च राजानं स वेतालोऽसपृष्ठगः ।
 जगाद भूयोऽप्येतां ते राजन्वच्मि कथां शृणु ॥2॥
 अभून्नेपालविषये नाम्ना शिवपुरं पुरम् ।
 यथार्थनामा तत्रासीद्यशःकेतुः पुरा नृपः ॥3॥
 स मन्त्रिणि न्यस्य भरं प्रज्ञासागरसंज्ञके ।
 चन्द्रप्रभाखयया देव्या सार्धं भोगानसेवत ॥4॥
 कालेन तस्यां देव्यां च तस्याजायत कन्यका ।
 राज्ञः शशिप्रभा नाम जगन्नेत्रशशिप्रभा ॥5॥

क्रमेण यौवनस्था सा मधुमासे कदाचन ।
 ययौ यात्रोत्सवं द्रष्टुमुद्यानं सपरिच्छदा ॥6॥
 तत्रैकदेशेऽपश्यत्तां कुसुमावचयोद्यताम् ।
 उत्क्षिप्तबाहुलतिकालक्षितैकपयोधराम् ॥7॥
 प्रसूनवृन्तविगलत्संदंशकरशोभिनीम् ।
 आढ्यपुत्रो मनःस्वामी नाम यात्रागतो द्विजः ॥8॥
 स तथा दृष्टया सद्यो हृतस्य मनसो युवा ।
 मनःस्वाम्यपि नैवाभूत्स्वामी मदनमोहितः ॥9॥
 मार्गणानां कृते किंस्विद्रतिरेषा मनोभुवः ।
 वसन्तसंभृतानीह पुष्पाण्युच्चिनुते स्वयम् ॥10॥
 किं वार्चयितुकामेयं माधवं वनदेवता ।
 इति संचिन्तयन्तं तं साप्यपश्यन्नुपात्मजा ॥11॥
 दृष्टमात्रे च सा तस्मिन्साङ्गे नव इव स्मरे ।
 न पुष्पाणि न चाङ्गानि सोत्का नात्मानमस्मरत् ॥12॥
 इत्यन्योन्यनवप्रेमसरसौ यावदत्र तौ ।
 तिष्ठतस्तावदुदभूद्बाहाहेति महारवः ॥13॥
 किमेतदिति चोत्क्षिप्तकंधरं पश्यतोस्तयोः ।
 आयादत्रोपलब्धान्यगजगन्धोत्थया रुषा ॥14॥
 भग्नालानो विनिर्गत्य मत्तो मार्गद्रुमान् रुजन् ।
 पतिताधोरणो धावँल्लम्बमानाङ्कुशः करी ॥15॥
 ततः परिजने त्रस्तविद्रुते तां ससंभ्रमम् ।
 राजपुत्रीं प्रधाव्यैव दोर्भ्यामुत्क्षिप्य चैककाम् ॥16॥
 अङ्गैः किंचित्कृताश्लेषां भयप्रेमत्रपाकुलाम् ।
 निनाय स मनःस्वामी सुदूरं गजगोचरात् ॥17॥
 अथागतैः परिजनैः स्तुवद्भिस्तं द्विजोत्तमम् ।
 मुहुर्विवृत्य पश्यन्ती सा निन्ये निजमन्दिरम् ॥18॥
 तत्र तस्थौ तमेवार्ता स्मरन्ती प्राणदायिनम् ।
 स्मराग्निपुटपाकेन पच्यमाना दिवानिशम् ॥19॥

सोऽप्युद्यानान्मनःस्वामी तदा तस्मादनुव्रजन् ।
 स्वान्तःपुरप्रविष्टां तां दृष्ट्वा सोत्को व्यचिन्तयत् ॥20॥
 नैतां विनाधुना स्थातुं जीवितुं वाहमुत्सहे ।
 तन्मे श्रीमूलदेवोऽत्र धूर्तः सिद्धो गुरुर्गतिः ॥21॥
 इति संचिन्त्य कथमप्यस्मिन्नवसिते दिने ।
 प्रातर्ययौ गुरोस्तस्य मूलदेवस्य सोऽन्तिकम् ॥22॥
 ददर्श तं च मित्रेण शशिना नित्यसंगतम् ।
 सिद्धमायाद्भुतपथं सशरीरमिवाम्बरम् ॥23॥
 न्यवेदयच्च तत्तस्यै प्रणम्य स्वमनीषितम् ।
 सोऽपि साधयितुं तस्य प्रतिपेदे विहस्य तत् ॥24॥
 ततः स योगगुलिकां क्षिप्त्वा धूर्तपतिर्मुखे ।
 मूलदेवो व्यधाद्वृद्धब्राह्मणाकृतिमात्मनः ॥25॥
 द्वितीयां गुलिकां दत्त्वा मुखक्षेप्यां चकार च ।
 सुकान्तकन्यकारूपं तं मनःस्वामिनं द्विजम् ॥26॥
 तद्रूपं तं समादाय गत्वा धूर्ताधिपोऽथ सः ।
 तत्प्रियाजनकं भूपमास्थाने तं व्यजिज्ञपत् ॥27॥
 राजत्रेकोऽस्ति मे पुत्रः कन्या दूराच्च तत्कृते ।
 मयैषा याचितानीता स च क्वापि गतोऽधुना ॥28॥
 तमन्वेष्टुमहं यामि तदेषा रक्षयतां त्वया ।
 आनयामि सुतं यावत्त्वं हि विश्वस्य रक्षिता ॥29॥
 तच्छ्रुत्वा शापमीत्या च प्रतिपद्य स भूपतिः ।
 सुतामानाययामास यशःकेतुः शशिप्रभाम् ॥30॥
 जगाद चैतां पुत्रीमां कन्यां रक्षेः स्वमन्दिरे ।
 स्वपार्श्वं एव चाहारं शय्यां चास्याः प्रकल्पयेः ॥31॥
 इति पित्रोक्तया निन्ये कन्यारूपस्तथेति सः ।
 अन्तःपुरं मनःस्वामी राजपुत्र्या तथा निजम् ॥32॥
 यथारुचि ततो याते मूलदेवे द्विजाकृतौ ।
 कन्यारूपः स तत्रासीन्मनःस्वामी प्रियान्तिके ॥33॥

दिनैश्च तां सखीप्रीतिविस्मभं सम्यगागताम् ।
 एकदा विरहक्षामां शयनीयलुठत्तनुम् ॥34॥
 रात्रौ रहो राजसुतामासन्नशयनस्थितः ।
 कन्यारूपप्रतिच्छन्नो मनःस्वामी स पृष्ठवान् ॥35॥
 सखि किं पाण्डुरच्छाया क्षीयमाणा दिने दिने ।
 कान्तपक्षवियुक्तेव दुःखितासि शशिप्रभे ॥36॥
 ब्रूहि मे को ह्यविश्वासः स्निग्धमुग्धे सखीजने ।
 इदानीं नैव भोक्ष्येऽहं न वदिष्यसि चेन्मम ॥37॥
 तच्छ्रुत्वा सा विनिःश्रस्य शनै राजसुताब्रवीत् ।
 किं मे त्वय्यप्यविश्वासः शृणु तत्सखि वच्मि ते ॥38॥
 एकदाहं मधूद्यानयात्रां द्रष्टुं गताभवम् ।
 तत्रापश्यं च सुभगं कंचिद्ब्राह्मणपुत्रकम् ॥39॥
 हिममुक्तेन्दुसश्रीकं दर्शनोद्दीपितस्मरम् ।
 मधुमासमिवालोकक्रीडालंकृतकाननम् ॥40॥
 चकोरायितुमेते च प्रवृत्ते यावदुन्मुखे ।
 तन्मुखेन्दुद्युतिसुधापायिनी मे विलोचने ॥41॥
 तावत्स्रवन्मदजलस्तत्राकस्मान्निर्गलः ।
 अकालकालमेघाभो गर्जन्नागान्महागजः ॥42॥
 तत्संभ्रमात्परिजने नष्टेऽहं भयविह्वला ।
 उत्क्षिप्य विप्रपुत्रेण नीता तेनैव दूरतः ॥43॥
 श्रीखण्डेनानुलिप्तेव सिक्तेव सुधया तथा ।
 अहं तदङ्गस्पर्शेन न जाने कां दशामगाम् ॥44॥
 क्षणाच्च परिवारेण मिलितेनावशा ततः ।
 इहानीतास्मि निक्षिप्ता स्वर्गादिव भुवस्तले ॥45॥
 तदाप्रभृति संकल्पैस्तैस्तैः कल्पितसंगमम् ।
 पश्यामि तं प्रबुद्धापि पार्श्वस्थं प्राणदं पतिम् ॥46॥
 सुप्ता स्वप्ने च कुर्वाणं चादून्यालोकयामि तम् ।
 त्याजयन्तं हठाल्लज्जां चुम्बनालिङ्गनादिभिः ॥47॥

न च प्राप्नोम्यभव्या तन्नामाद्यज्ञानमोहिता ।
 तदेवं मां दहत्येष प्राणेशविरहानलः ॥48॥
 इति वाक्सुधया तस्याः पूर्णस्वश्रवणोदरः ।
 सानन्दः स मनःस्वामी विप्रकन्यावपुर्धरः ॥49॥
 कृतार्थमानी मत्वा तं कालमात्मप्रकाशने ।
 स्वरूपं प्रकटीचक्रे निष्कृष्य गुलिकां मुखात् ॥50॥
 जगाद च विलोलाक्षि सोऽहमेवैष यस्त्वया ।
 उद्याने दर्शनक्रीतो नीतो निर्व्याजदासताम् ॥51॥
 त्वत्संस्तवक्षणभ्रंशात्क्लेशं तं चाप्तवानहम् ।
 यस्यैष परिणामो मे कन्यारूपग्रहोऽभवत् ॥52॥
 तस्मात्सफलयैतां मे विसोढां विरहव्यथाम् ।
 आत्मनश्च न तन्वङ्गि क्षमतेऽतःपरं स्मरः ॥53॥
 एवं वदन्तं सहसा प्राणेशं तं विलोक्य सा ।
 आसीद्राजसुता क्षिप्रं स्नेहाश्चर्यत्रपाकुला ॥54॥
 अथात्यौत्सुक्यनिर्वृत्तगान्धर्वोद्वाहयोस्तयोः ।
 प्रेम्णस्तस्य मतो यादृक्तादृशोऽभूद्रतोत्सवः ॥55॥
 ततः सोऽत्र मनःस्वामी कृती तस्थौ द्विरूपभृत् ।
 दिवा सगुलिकः कन्या रात्रावगुलिकः पुमान् ॥56॥
 गतेष्वथ दिनेष्वत्र यशःकेतोर्महीपतेः ।
 मृगाङ्क दत्तसंज्ञेन श्वशुर्येण निजा सुता ॥57॥
 दत्ता मृगाङ्कदत्ताख्या महार्हविभवोत्तरा ।
 द्विजातये महामन्त्रिप्रज्ञासागरसूनवे ॥58॥
 तस्मिन्मातुलपुत्र्याः सा राजपुत्री शशिप्रभा ।
 विवाहे मातुलगृहं तज्जगाम निमन्त्रिता ॥59॥
 तथा सह ययौ सोऽपि कन्तयकापरिवारया ।
 विप्रपुत्रो मनःस्वामी कान्तकन्यास्वरूपधृत् ॥60॥
 तत्र तं कन्यकारूपधरं मन्त्रिसुतोऽथ सः ।
 दृष्ट्वा किल स्मरव्याधगाढबाणाहतोऽभवत् ॥61॥

ततो मुषितचित्तः संस्तया कपटकन्यया ।
 ययौ मन्त्रिसुतः शून्यं स्वगृहं स्ववधूसखः ॥62॥
 तत्र तन्मुखलावण्यध्यानासक्तो जगाम सः ।
 तीव्ररागमहाव्यालदष्टो मोहमशङ्कितम् ॥63॥
 किमेतदिति संभ्रान्ते जने तत्रोत्सवोज्जिते ।
 तमुपागाद्भुतं बुद्ध्वा स प्रज्ञासागरः पिता ॥64॥
 तेन चाश्वास्यमानोऽपि पित्रा मोहात्प्रबुध्य सः ।
 प्रलपन्निव सोन्मादमुज्जगार मनोगतम् ॥65॥
 अस्वाधीनं च तन्मत्वा तत्पितर्यतिविह्वले ।
 तस्मिन्राजापि तद्बुद्ध्वा तत्रैव समुपाययौ ॥66॥
 स तं दृष्ट्वा झटित्येव गाढाभिष्वङ्गतो गतम् ।
 सप्तमीं मदनावस्थां जगाद प्रकृतीर्नुपः ॥67॥
 कथं ब्राह्मणनिक्षेपः कन्या सास्मै प्रदीयते ।
 तथा विना च नियतं पश्चिमामेत्यसौ दशाम् ॥68॥
 अस्मिन्नष्टे पितास्यैष मम मन्त्री विनङ्क्ष्यति ।
 एतन्नाशे राज्यनाशस्तदिह ब्रूत का गतिः ॥69॥
 इत्युक्तास्तेन राज्ञा ताः सर्वाः प्रकृतयोऽब्रुवन् ।
 राज्ञो धर्मं निजं प्राहुः प्रजानां धर्मरक्षणम् ॥70॥
 मूलं तस्य विदुर्मन्त्रं स च मन्त्रिष्ववस्थितः ।
 मन्त्रिनाशे मूलनाशाद्रक्षया धर्मक्षतिर्ध्रुवम् ॥72॥
 दातव्या मन्त्रिपुत्राय विप्रन्यस्ता कुमारिका ।
 कालान्तरागते विप्रे क्रुद्धे प्रतिविधास्यते ॥73॥
 एवमुक्तः प्रकृतिभिस्तथेति प्रत्यपद्यत ।
 स राजा मन्त्रिपुत्राय दातुं तां कूटकन्यकाम् ॥74॥
 आनीतश्च स निश्चित्य लग्नं राजसुतागृहात् ।
 कन्यारूपो मनःस्वामी तं जगाद महीपतिम् ॥75॥
 अन्येनान्यार्थमानीतामन्यस्मै मां ददासि चेत् ।
 कामं तदस्तु राजा त्वं धर्माधर्मौ तवाद्य तौ ॥76॥

अहं विवाहमिच्छामि समयेनेदृशेन तु ।
 एकशय्यां न नेतव्या पत्या तावदहं हठात् ॥77॥
 यावत्तीर्थानि षण्मासान्परिभ्रम्य स नागतः ।
 एवं न चेत्कृत्तजिह्वां दन्तैर्जानीहि मां मृताम् ॥78॥
 इत्युक्ते समये तेन यूना कन्यावपुर्भृता ।
 राज्ञा स बोधितः प्राप निर्वृतिं मन्त्रिपुत्रकः ॥79॥
 तथेति प्रतिपद्यैतत्कृत्वोद्वाहं किलाशु तम् ।
 एकस्मिन्स्थापयित्वा च वासके ते सुरक्षिते ॥80॥
 तां मृगाङ्गवतीमाद्यां वधूं कूटवधूं च ताम् ।
 जगाम तीर्थयात्रायै मूढः कान्ताप्रियेच्छया ॥81॥
 स चोवास मनःस्वामी स्त्रीरूपोऽत्र तथा सह ।
 मृगाङ्गवत्येकगृहे समानशयनासनः ॥82॥
 तथा स्थितं कदाचित्तं सा मृगाङ्गवती निशि ।
 शय्यागृहे राहेऽवादीद्बहिःसुप्ते परिच्छदे ॥83॥
 कथां कांचित्त्वमाख्याहि निद्रा नास्ति हि मे सखि ।
 तच्छ्रुत्वाकथयत्सोऽस्यै स्त्रीरूपस्तां कथां युवा ॥84॥
 यत्रेलाख्यस्य राजर्षेः सूर्यवंशभुवः पुरा ।
 प्राप्तस्य गौरीशापेन स्त्रीत्वं विश्वैकमोहनम् ॥85॥
 अन्योन्यदर्शनप्रीत्या देवोद्यानवनान्तरे ।
 अभूद्बुधेन संयोगः समभूच्च पुरुरवाः ॥86॥
 तां कथां कथयित्वा च धूर्तः पुनरुवाच सः ।
 तदेवं देवतादेशान्मन्त्रौषधवशेन वा ॥87॥
 पुरुषः स्त्री कदाचित्स्यात्स्त्री वा जातु पुमान्भवेत् ।
 भवन्ति चैवं संयोगाः कामजा महतामपि ॥88॥
 श्रुत्वैतत्तरुणी मुग्धा विवाहप्रोषितानुका ।
 सा मृगाङ्गवती स्माह विश्वस्ता सहवासतः ॥89॥
 श्रुत्वैतां मे कथामेतदङ्गं सिमिसिमायते ।
 हृदयं सीदतीवेदं तदेतत्सखि किं वद ॥90॥

तच्छ्रुत्वा सोऽङ्गनारूपो विप्रः पुनरुवाच ताम् ।
 एतानि कामचिह्नानि नन्वपूर्वाणि ते सखि ॥91॥
 मयैतान्यनुभूतानि निगूहे नह्यहं तव ।
 इति तेनोदितावादीत्सा मृगाङ्गवती शनैः ॥92॥
 सखि प्राणसमा त्वं मे तत्कालज्ञा न वच्मि किम् ।
 अपि पुंसः प्रवेशः स्यादुपायेन हि केनचित् ॥93॥
 एवमुक्तवतीमेतां स च लब्धाशयस्तदा ।
 प्राह धूर्तपतेः शिष्यो यद्येवं तद्वदामि ते ॥94॥
 वैष्णवोऽस्ति प्रसादो मे येनाहं स्वेच्छया निशि ।
 पुरुषः स्यां तदेषोऽद्य भवामि त्वत्कृते पुमान् ॥95॥
 इत्युक्त्वा स मनःस्वामी निष्कृष्य गुलिकां मुखात् ।
 यौवनोद्दाममात्मानं तस्यै कान्तमदर्शयत् ॥96॥
 ततः कथितविस्रम्भः सर्वस्वगतयन्त्रणः ।
 कालोचितरसः कोऽपि तयोरासीद्रतोत्सवः ॥97॥
 अथ तत्र तया साकं स मन्त्रिसुतभार्यया ।
 तस्थौ द्विजो दिवा नारी रात्रौ च पुरुषो भवन् ॥98॥
 आसन्नागमनं तं च बुद्ध्वा मन्त्रिसुतं दिनैः ।
 तामादाय निशि स्वैरं पलाय्य स ययौ ततः ॥99॥
 एतस्मिंश्च कथासंधौ मूलदेवः स तद्गुरुः ।
 बुद्ध्वा तदखिलं भूत्वा भूयो वृद्धद्विजाकृतिः ॥100॥
 शशिनानुगतः सख्या तरुणाद्विजरूपिणा ।
 आगत्य तं यशःकेतुं प्रह्वो राजानमब्रवीत् ॥101॥
 आनीतोऽयं मया पुत्रो देहि मे तां स्नुषामिति ।
 ततः संमन्त्र्य स नृपः शापभीतस्तमभ्यधात् ॥102॥
 ब्रह्मन्न जाने क्व गता सा स्नुषा ते क्षमस्व तत् ।
 अपराधात्सुतस्यार्थे ददामि स्वसुतां तव ॥103॥
 इत्युक्त्वा धूर्तराजं तं कृतकक्रोधनिष्ठुरम् ।
 विब्रुवाणं जरद्विप्ररूपं प्राथ्यं स भूपतिः ॥104॥

तत्सख्ये कृततत्पुत्रव्यपदेशाय तां ददौ ।
 तनयां शशिने तस्मै यथाविधि शशिप्रभाम् ॥105॥
 ततः स मूलदेवस्तौ यथाभूतौ वधूवरौ ।
 आदाय स्वास्पदं प्रायाद्राजार्थेष्वकृतस्पृहः ॥106॥
 तत्र तस्मिंश्च मिलिते मनःस्वामिन्यभूमहान् ।
 विवादो मूलदेवाग्रे शशिनस्तस्य चोभयोः ॥107॥
 मनःस्वाम्यब्रवीदेषा दीयतां मे शशिप्रभा ।
 कन्यैव हि मयोदूढा प्रागसौ गुर्वनुग्रहात् ॥108॥
 शशी जगाद कोऽस्यास्त्वं मूर्ख दारा इयं मम ।
 अग्निसाक्षिकमेषा हि पित्रा मे प्रतिपादिता ॥109॥
 एवं मायाबलप्राप्तराजपुत्रीनिमित्ततः ।
 विवादासक्तयोर्नासीत्परिच्छेदस्तयोर्द्वयोः ॥110॥
 तद्राजंस्त्वं मम ब्रूहि तावत्कस्योपपद्यते ।
 भार्या सा संशयं छिन्धि पूर्वोक्तः समयोऽस्ति ते ॥111॥
 इति वेतालतः श्रुत्वा तस्मात्स्कन्धाग्रवर्तिनः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तं नृपतिः प्रत्यभाषत ॥112॥
 मन्ये शशिन एवासौ भार्या न्याय्या नृपात्मजा ।
 यस्मै प्रदत्ता प्रकटं पित्रा धर्म्येण वर्त्मना ॥113॥
 मनःस्वामी तु तां भेजे चौर्याद्गान्धर्वधर्मतः ।
 चौरस्य तु परस्वेषु स्वत्वं न्याय्यं न जातुचित् ॥114॥
 इति तस्य वचो निशम्य राज्ञो वेतालः स ययौ पुनस्तदेव ।
 सहसैव तदंसतः स्वधाम क्षितिपः सोऽपि तमन्वियाय तूर्णम् ॥115॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्गवतीलम्बके द्वाविंशस्तरङ्गः।

त्रयोविंशस्तरङ्गः ।

(षोडशो वेतालः)

अथ गत्वा पुनः स्कन्धे वेतालं शिंशापाद्गुमात् ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तमादायोदचलत्ततः ॥1॥

आगच्छन्तं च तं भूपं स वेतालोऽब्रवीत्पुनः ।
 राजञ्शृणु कथामेकामुदारां कथयामि ते ॥2॥
 अस्तीह हिमवान्नाम नगेन्द्रः सर्वरत्नभूः ।
 यो गौरीगङ्गयोस्तुल्यः प्रभवो हरकान्तयोः ॥3॥
 शूरासंस्पृष्टपृष्ठश्च यो मध्ये कुलभूतात् ।
 अभिमानोन्नतः सत्यं गीयते भुवनत्रये ॥4॥
 तस्यास्ति सानुन्यन्वर्थं तत्काञ्चनपुरं पुरम् ।
 न्यासीकृतमिवाक्रेण रश्मिवृन्दं विभाति यत् ॥5॥
 जीमूतकेतुरित्यासीत्तस्मिन्पुरवरे पुरा ।
 विद्याधरेश्वरः श्रीमान्मेराविव शतक्रतुः ॥6॥
 तस्यासीत्स्वगृहोद्याने कल्पवृक्षोऽन्वयागतः ।
 यथार्थनामा प्रथितो यो मनोरथदायकः ॥7॥
 तं प्रार्थ्य देवतात्मानं स राजा तत्प्रसादतः ।
 प्राप जातिस्मरं पुत्रं बोधिसत्त्वांशसंभवम् ॥8॥
 दानवीरं महासत्त्वं सर्वभूतानुकम्पिनम् ।
 गुरुशुश्रूषणपरं नाम्ना जीमूतवाहनम् ॥9॥
 संप्राप्तयौवनं तं च यौवराज्येऽभिषिक्तवान् ।
 तनयं प्रेरितः सद्भिस्तद्गुणैः सचिवैश्च सः ॥10॥
 यौवराज्यस्थितश्रेष्ठं जातु जीमूतवाहनः ।
 हितैषिभिरुपागत्य जगदे पितृमन्त्रिभिः ॥11॥
 देव कल्पतरुर्योऽयमस्ति वः सर्वकामदः ।
 अधृष्यः सर्वभूतानां सैष सा पूज्यः सदा तव ॥12॥
 नास्मिन्सति हि शक्रोऽपि बाधेतास्मान्कुतोऽपरः ।
 एतच्छ्रुत्वा स जीमूतवाहनोऽन्तरचिन्तयत् ॥13॥
 अहो बतेदृशमिमं संप्राप्यामरपादपम् ।
 नासादितं किमप्यस्मात्पूर्वेनस्तादृशं फलम् ॥14॥
 केवलं कैश्चिदप्यर्थैरर्थितैः कृपणोचितैः ।
 आत्मा चैष महात्मा च नीतौ द्वावपि लाघवम् ॥15॥

तदहं साधयिष्यामि काममस्मान्मनोगतम् ।
 इति निश्चित्य स ययौ महासत्त्वोऽन्तिकं पितुः ॥16॥
 तत्र संविहिताशेषशुश्रूषापरितोषितम् ।
 सुखासीनं तमेकान्ते पितरं स व्यजिज्ञपत् ॥17॥
 तात त्वमेव जानासि यदेतस्मिन्भवाम्बुधौ ।
 आशरीरमिदं सर्वं वीचिविभ्रमचञ्चलम् ॥18॥
 विशेषेणाचिरस्थायिप्रकाशप्रविलायिनी ।
 संध्या विद्युच्च लक्ष्मीश्च दृष्टा कुत्र कदा स्थिरा ॥19॥
 एकः परोपकारस्तु संसारेऽस्मिन्ननश्वरः ।
 यो धर्मयशसी सूते युगान्तशतसाक्षिणी ॥20॥
 तत्तात क्षणिकेष्वेषु भोगेष्वस्माभिरीदृशः ।
 एष कल्पतरुः कस्य कृते मोघोऽभिरक्ष्यते ॥21॥
 यैर्वा मम ममेत्येवमाग्रहेणैष रक्षितः ।
 पूर्वेस्ते कुत्र कुत्रायं तेषां कश्चैष कोऽस्य वा ॥22॥
 तस्मात्परोपकारैकफलसिद्धयै त्वदाज्ञया ।
 तातैनं विनियुञ्जेऽहं कामदं कल्पपादपम् ॥23॥
 एवमस्त्विति पित्रा च दत्तानुज्ञोऽथ तेन सः ।
 जीमूतवाहनो गत्वा कल्पद्रुममुवाच तम् ॥24॥
 अभीष्टाः पूरिताः कामाः पूर्वेषां देव नस्त्वया ।
 तन्ममैकमिमं काममनन्यं परिपूरय ॥25॥
 अदरिद्रां यथा पृथ्वीमिमां द्रक्ष्ये तथा कुरु ।
 भद्रं ते ब्रज दत्तोऽसि लोकायार्थाधिने मया ॥26॥
 इत्युक्तवति जीमूतवाहने रचिताञ्जलौ ।
 त्यक्तस्त्वयैष जातोऽस्मीत्युदभूद्वाक्तरस्ततः ॥27॥
 क्षणाच्चोत्पत्य स दिवं कल्पवृक्षस्तथा वसु ।
 ववर्ष भुवि नैवासीत्कोऽप्यस्यां दुर्गतो यथा ॥28॥
 ततस्तस्य तथा तीव्रसर्वसत्त्वानुकम्पया ।
 जीमूतवाहनस्यात्र त्रैलोक्ये पप्रथे यशः ॥29॥

तेन तद्गोत्रजाः सर्वे मात्सर्यादसहिष्णवः ।
 तं लोकसात्कृतार्तिघ्नकल्पवृक्षविनाकृतम् ॥30॥
 जेयं सपितृकं मत्वा संभूय कृत्निश्चयाः ।
 युद्धाय समनह्यन्त तद्राज्यापजिहीर्षया ॥31॥
 तद्दृष्ट्वा प्राह पितरं स्वं स जीमूतवाहनः ।
 तात कस्यापरस्यास्ति शक्तिस्त्वयि धृतायुधे ॥32॥
 किं त्वस्य पापकस्यार्थे शरीरस्य विनाशिनः ।
 हत्वा बन्धूनकृपणो राज्यं को नाम वाञ्छति ॥33॥
 तत्किं राज्येन नः कार्यं गत्वान्यत्र क्वचिद्वयम् ।
 धर्ममेव चरिष्यामो लोकद्वयसुखावहम् ॥34॥
 मोदन्तां कृपणा एते दायादा राज्यलोलुपाः ।
 इत्युक्तवन्तं जीमूतकेतुस्तं स पिताब्रवीत् ॥35॥
 अहं त्वदर्थमिच्छामि राज्यं पुत्र त्वमेव चेत् ।
 तज्जहासि कृपाविष्टस्तन्मे वृद्धस्य तेन किम् ॥36॥
 एवं कृताभ्यनुज्ञेन पित्रा मात्रा च सोऽन्वितः ।
 मलयान्द्रिमगात्यक्तराज्यो जीमूतवाहनः ॥37॥
 तत्र चन्दनसंछन्नवहनिर्झरकन्दरे ।
 शुश्रूषमाणः पितरं स तस्थौ कल्पिताश्रमः ॥38॥
 मित्रं चास्यात्र संपेदे मित्रावसुरिति श्रुतः ।
 विश्वावसोः सुतः सिद्धराजस्यैतन्निवासिनः ॥39॥
 एकदा चात्र स भ्राम्यन्विवेशोपवनस्थितम् ।
 द्रष्टुमायतनं देव्या गौर्या जीमूतवाहनः ॥40॥
 तत्रोपवीणयन्तीं च ददर्श वरकन्यकाम् ।
 सखीजनान्वितां शैलतनयाराधनोद्यताम् ॥41॥
 आकर्ण्यमानसंगीतमञ्जुवीणारवां मृगैः ।
 दृष्टलोचनलावण्यलज्जितैरिव निश्चलैः ॥42॥
 दधता तारकं कृष्णमर्जुनेन स्वचक्षुषा ।
 पाण्डवीयामिव चमूं कर्णमूलं विविक्षतीम् ॥43॥

परस्परविमर्देन मुखेन्दोरिव दर्शनम् ।
 अतृप्ताविव वाञ्छन्तौ बिभ्रतीं संमुखौ स्तनौ ॥44॥
 धातुर्घटयतो मुष्टिग्रहेणोव निपीडिते ।
 वलीमग्नाङ्गुलीमुद्रे मध्ये क्षाममनोरमाम् ॥45॥
 दृष्टया च तया सद्यः सोऽभूज्जीमूतवाहनः ।
 तन्व्या मुषितचित्तोऽन्तर्दृष्टिमार्गप्रविष्टया ॥46॥
 सापि तं भूषितोद्यानं दृष्ट्वोत्कण्ठाविकारदम् ।
 कामाङ्गदाहवैराग्याद्वनं मधुमिवाश्रितम् ॥47॥
 तथानुरागविवशा भेजे कन्या विहस्तताम् ।
 यथा सखीव वीणास्या व्याकुलालापतां ययौ ॥48॥
 ततः स पप्रच्छ सखीं तस्या जीमूतवाहनः ।
 किं धन्यं नाम सख्यास्ते को वंशोऽलंकृतोऽनया ॥49॥
 तच्छ्रुत्वा सा सखी प्राह नाम्ना मलयवत्यसौ ।
 मित्रावसुस्वसा सिद्धराजविश्ववावसोः सुता ॥50॥
 एवमुक्त्वा सहदया सा तं जीमूतवाहनम् ।
 नामान्वयौ च पृष्ट्वास्य मुनिपुत्रं सहागतम् ॥51॥
 तां ब्रवीति स्म मलयवतीं स्मितमिताक्षरम् ।
 सखि विद्याधरेन्द्रस्य नास्यातिथ्यं करोषि किम् ॥52॥
 जगत्पूज्योऽतिथिर्होष प्राप्त इत्युदिते तया ।
 साभूद्विद्याधरसुता तूष्णीं लज्जानतानना ॥53॥
 लज्जावतीयं मत्तोऽर्चा गृह्यतामिति वादिनी ।
 एकाथ तत्सखी तस्मै साध्यां मालामुपानयत् ॥54॥
 स चादायैव जीमूतवाहनः प्रेमनिर्भरः ।
 कण्ठे मलयवत्यास्तां मालां तस्याः समर्पयत् ॥55॥
 सापि तिर्यक्प्रसृतया पश्यन्ती स्निग्धया दृशा ।
 नीलोत्पलमयीं मालामिव तस्मिन्ववेशयत् ॥56॥
 इत्यन्योन्यकृताशब्दस्वयंवरविशेषयोः ।
 तयोरेत्य जगादैका चेटी तां सिद्धकन्यकाम् ॥57॥

जननी राजपुत्रि त्वां स्मरत्यागच्छ माचिरम् ।
 तच्छ्रुत्वाकृष्य कामेषुकीलितामिव कृच्छृतः ॥58॥
 सोत्कां प्रियमुखाददृष्टिं कथंचित्सा ययौ गृहम् ।
 जीमूतवाहनोऽप्यागात्तद्गतात्मा स्वमाश्रमम् ॥59॥
 साथ स्वां जननीं दृष्ट्वा प्राणेशविरहातुरा ।
 गत्वा मलयवत्याशु पपात शयनीयके ॥60॥
 अथान्तर्गतकामाग्निधूमेनेवाविलेक्षणा ।
 अश्रुधारां प्रमुञ्चन्ती संतापक्वथिताङ्गका ॥61॥
 सखीभिश्चन्दनैर्लिप्ता वीजिता चाब्जिनीदलैः ।
 रतिं न भेजे शयने नाङ्गे संख्या न भूतले ॥62॥
 गतेऽथ वासरे क्वापि रक्तया सह संधयया ।
 हसत्प्राचीमुखं चन्द्रे समाक्रम्य च चुम्बति ॥63॥
 स्मरेण प्रेर्यमाणापि दूतीसंप्रेषणादि सा ।
 लज्जया नाशकत्कर्तुं जीवितस्पृहयोज्जिता ॥64॥
 निनाय च निशामिन्दुविषमामब्जिनीव ताम् ।
 बद्धमोहालिपटले हृदि संकोचमेत्य सा ॥65॥
 तावच्च तद्वियोगार्तः सोऽपि जीमूतवाहनः ।
 शयनस्थोऽपि पतितो हस्ते कुसुमधन्वनः ॥66॥
 नूतनोद्भिन्नरागोऽपि प्रोन्मिषत्पाण्डुरच्छविः ।
 हीमूकोऽपि वदन्पीडां कामजामनयन्निशाम् ॥67॥
 प्रातश्चात्युत्सुको भूयस्तद्रौर्यायतनं ययौ ।
 यत्र दृष्टाभवत्तेन सा सिद्धाधिपपुत्रिका ॥68॥
 तत्र तेन स मित्रेण मुनिपुत्रेण पृष्ठतः ।
 आगत्याश्चास्यते यावन्मदनानलविह्वलः ॥69॥
 तावत्तत्रैव साप्यागान्निर्गत्यैकैव निर्जने ।
 गुप्तं मलयवत्यात्मत्यागाय विरहासहा ॥70॥
 अलक्षयन्ती कान्तं स्वं पादपान्तरितं च सा ।
 उदश्रुलोचना बाला देवीं गौरीं व्यजिज्ञपत् ॥71॥

त्वद्भक्त्या देवि संवृत्तो नास्मिञ्जन्मनि चेन्मम ।
 जीमूतवाहनो भर्ता तद्भूयात्सोऽन्यजन्मनि ॥72॥
 इत्युक्त्वा रचयामास स्वोत्तरीयेण तत्क्षणम् ।
 अशोकतरुशाखायां पाशं सा गिरिजाग्रतः ॥73॥
 हा नाथ विश्वविख्यातकरुणेनापि न त्वया ।
 कथमस्मि परित्राता देव जीमूतवाहन ॥74॥
 एवमुक्त्वा गले यावत्सा तं पाशं नियच्छति ।
 उच्चचार दिवस्तावद्भारती देव्युदीरिता ॥75॥
 पुत्रि मा साहसं कार्षीश्चक्रवर्ती पतिस्तव ।
 विद्याधरेन्द्रो जीमूतवाहनो हि भविष्यति ॥76॥
 इत्युक्तवत्यां देव्यां स श्रुत्वैव सवयस्यकः ।
 जीमूतवाहनो हृष्टां प्रियामुपजगाम ताम् ॥77॥
 सैष देव्या वरः पश्य वितीर्णः सत्य एव ते ।
 इति जल्पति बालां तां तन्मित्रे मुनिपुत्रके ॥78॥
 जीमूतवाहनस्तत्तद्ब्रुवन्प्रणयपेशलम् ।
 स्वहस्तेनैव तं तस्याः कण्ठात्पाशमपानयत् ॥79॥
 ततोऽकस्मात्सुधावर्षमिव मन्वानयोस्तयोः ।
 भुवं मलयवत्यां च लिखन्त्यां हीतया दृशा ॥80॥
 चिन्वानागत्य सहसा सखी हृष्टा जगाद ताम् ।
 सखि कल्याणिनी दिष्ट्या वर्धसेऽभीष्टसिद्धितः ॥81॥
 अद्यैव हि महाराजस्तव विश्वावसुः पिता ।
 कुमारमित्रावसुना विज्ञप्तः संनिधौ मम ॥82॥
 इहागतो जगन्मान्यस्तात कल्पतरुप्रदः ।
 विद्याधरेन्द्रतनयो योऽयं जीमूतवाहनः ॥83॥
 अतिथित्वात्स नः पूज्यो वरश्चान्यो न तादृशः ।
 तस्मान्मलयवत्यासौ कन्यारत्नेन पूज्यताम् ॥84॥
 तथेति श्रद्धिते राज्ञा भ्राता मित्रावसुः स ते ।
 तादर्थ्येन महाभागस्यास्याश्रमपदं गतः ॥85॥

जाने सद्यश्च भावी ते विवाहस्तत्स्वमन्दिरम् ।
आयाहि यातु चैषोऽपि महाभागः स्वमास्पदम् ॥86॥
इत्युक्ता सा तथा सख्या राजपुत्री शनैस्ततः ।
ययुः सहर्षा सोत्का च मुहुर्वलितकंधरा ॥87॥
जीमूतवाहनोऽप्याशु गत्वा स्वाश्रममागतात् ।
मित्रावसोर्यथाभीष्टं कार्यं श्रुत्वाभिनन्द्य च ॥88॥
जातिस्मरः समाचख्यौ तस्मै स्वं पूर्वजन्म सः ।
यत्र मित्रं स तस्यासीत्सा च भार्यैव तत्स्वसा ॥89॥
ततो मित्रावसुः प्रीतस्तत्पित्रोः परितुष्यतोः ।
आवेद्य गत्वा पितरौ कृतार्थः स्वावनन्दयत् ॥90॥
निनाय च तदैव स्वान्नुहाञ्जीमूतवाहनम् ।
चक्रे चोत्सवसंभारं स्वसिद्धयुचितवैभवम् ॥91॥
तस्मिन्नेव च धन्येऽह्नि तस्य विद्याधरप्रभोः ।
स्वसुर्मलयवत्याश्च विवाहं समपादयन् ॥92॥
ततो नवोढया साकं तथा जीमूतवाहनः ।
तस्थौ मलयवत्या स तत्र सिद्धमनोरथः ॥93॥
एकदा कौतुकाच्चात्र स मित्रावसुना सह ।
मलयाद्रौ भ्रमन्नब्धेर्वैलावनमुपेयिवान् ॥94॥
तत्रास्थिराशीन्सुबहून्दृष्ट्वा मित्रावसुं स तम् ।
केषामेतेऽस्थिसंघाताः प्राणिनामिति पृष्टवान् ॥95॥
ततो मित्रावसुः श्यालस्तं कारुणिकमब्रवीत् ।
शृणु वृत्तान्तमत्रेभ्यं संक्षेपाद्दर्शयामि ते ॥96॥
नागमाता पुरा कद्रूर्विनतां ताक्षर्यमातरम् ।
निनाय किल दासत्वं सव्याजपणनिर्जिताम् ॥97॥
तेन वैरेण गरुडस्तामुन्मोच्यापि मातरम् ।
बली भक्षयितुं नागान्कद्रूपुत्रान्प्रचक्रमे ॥98॥
सदा प्रविश्य पातालं सोऽथ कांश्चिज्जघास तान् ।
कांश्चिन्ममर्द केचित्तु स्वयं त्रासाद्विपेदिरे ॥99॥

तद्दृष्ट्वैकपदे सर्वक्षयमाशङ्क्य नागराट् ।
वासुकिः प्रार्थनापूर्वं ताक्षर्यस्य समयं व्यधात् ॥100॥
एकमेकमहं नागमाहारार्थं खगेन्द्र ते ।
प्रत्यहं प्रेषयाम्यत्र पुलिने दक्षिणोदधेः ॥101॥
त्वया तु न प्रवेष्टव्यं पातालेऽस्मिन्कथंचन ।
को हि स्वार्थो विनष्टेषु नागेष्वेकपदे तव ॥102॥
इत्युक्ते नागराजेन समयं प्रत्यपद्यत ।
स्वार्थदर्शी तथेत्येव गरुडो गुरुविक्रमः ॥103॥
तदाप्रभृति चेकैकं नागं भुङ्क्ते दिने दिने ।
वासुकिप्रेषितं सोऽत्र खगेन्द्रः पुलिनेऽम्बुधेः ॥104॥
अतस्तद्भक्ष्यमाणानां नागानामस्थिसंचयाः ।
एतेऽत्र गिरिशृङ्गाभा वृद्धिं कालक्रमाद्गताः ॥105॥
इति मित्रावसोर्वक्त्रात्सान्तर्दुःखो निशम्य सः ।
निजगाद दयाधैर्यनिधिर्जीमूतवाहनः ॥106॥
शोच्यः स वासुकी यः स्वहस्तेन विद्विषे ।
उपहारीकरोति स्वाः प्रजाः क्लीबो दिने दिने ॥107॥
धृताननसहस्रः सन्नेकेनाप्याननेन सः ।
मामादौ भुङ्क्त्व ताक्षर्येति भाषितुं नाशकत्कथम् ॥108॥
कथं चाभ्यर्थयामास निःसत्त्वः स्वकुलक्षयम् ।
ताक्षर्यं नागाङ्गनाक्रन्दन्त्याकर्णननिर्घृणः ॥109॥
ताक्षर्योऽपि काश्यपिर्वीरः कृष्णाधिष्ठानपावनः ।
ईदृशं कुरुते पापमहो मोहस्य गाढता ॥110॥
इत्युक्त्वा स महासत्त्वो हृदि चक्रे मनोरथम् ।
अप्यसारेण देहेन सारमत्रापनुयामहम् ॥111॥
एकस्याप्यद्य नागस्य कुर्या जीवितरक्षणम् ।
अबान्धवस्य भीतस्य दत्त्वात्मानं गरुत्मते ॥112॥
इति संचिन्तयत्येव तस्मिञ्जीमूतवाहने ।
मित्रावसोः पितुः पार्श्वार्त्क्षत्ताह्वानार्थमाययौ ॥113॥

व्रज त्वमहमेष्यामि पश्चादिति ततश्च तम् ।
 मित्रावसुं स जीमूतवाहनो व्यसृजद्गृहम् ॥114॥
 गते तस्मिन्स चात्रैको वाञ्छितार्थोन्मुखो भ्रमन् ।
 कृपालुरशृणोद्दूरात्करुणं रुदितध्वनिम् ॥115॥
 गत्वा ददर्श चोत्तुङ्गशिलातलसमीपगम् ।
 युवानमेकं पुरुषं दुःखितं सुन्दराकृतिम् ॥116॥
 पुंसां राजभटेनेव त्यक्तमानीय तत्क्षणम् ।
 निवर्तयन्तं रुदतीं वृद्धां सानुनयं स्त्रियम् ॥117॥
 कोऽयं स्यादिति यावच्च जिज्ञासुः सोऽत्र तिष्ठति ।
 करुणाकुलितश्छन्नः शृण्वञ्जीमूतवाहनः ॥118॥
 तावत्सा तत्र वृद्धा स्त्री दुःखभारातिपीडिता ।
 प्रावर्तत युवानं तं दृष्ट्वा दृष्ट्वानुशोचितुम् ॥119॥
 हा शङ्खचूड हा दुःखशतसंप्राप्त हा गुणिन् ।
 कुलैकतन्तो हा पुत्र क्व त्वां द्रक्ष्याम्यहं पुनः ॥120॥
 वत्स त्वन्मुखचन्द्रेऽस्मिन्नातेऽस्तं हा गुणिन् ।
 शोकान्धकारपतितः कथं वृद्धो भविष्यति ॥121॥
 अथार्ककरसंस्पर्शादङ्गं दूयेत यत्तव ।
 कथं शक्यति तत्सोढुं ताक्षर्यभक्षणजां रुजम् ॥122॥
 विस्तीर्णो नागलोकेऽपि धात्रा नागाधिपेन च ।
 लब्धस्त्वं किमभव्याया विचित्यैकसुतो मम ॥123॥
 इति तां विलपन्तीं च स युवा तनयोऽब्रवीत् ।
 दुःखार्तमपि मामम्ब किं दुःखयसि हा भृशम् ॥124॥
 निवर्तस्व गृहानेष प्रणामः पश्चिमस्तव ।
 इहागमनवेला हि भवेज्जातु गरुत्मतः ॥125॥
 तच्छ्रुत्वा हा हतास्मीह को मे पास्यति पुत्रकम् ।
 इति चक्रन्द सा वृद्धा दिक्षु क्षिप्तार्तलोचना ॥126॥
 तावच्च बोधिसत्त्वांशः स तज्जीमूतवाहनः ।
 श्रुत्वा दृष्ट्वा च कृपया गाढाक्रान्तो व्यचिन्तयत् ॥127॥

हन्तायं शङ्खचूडाख्यो नागो वासुकिना बत ।
 आहारहेतोस्ताक्षर्यस्य तपस्वी प्रेषितोऽधुना ॥128॥
 इयं चैतस्य जननी स्नेहेनेहान्वगागता ।
 एतदेकसुता वृद्धा दुःखदीनप्रलापिनी ॥129॥
 तदेनमेकमार्तं चेद्देहेनैकान्तनाशिना ।
 रक्षामि नामुना नागं तन्मे धिग्जन्म निष्फलम् ॥130॥
 इत्यालोच्योपगम्यैव मुदा जीमूतवाहनः ।
 वृद्धामुवाच तां मातः पुत्रं रक्षाम्यहं तव ॥131॥
 तच्छ्रुत्वा भावितभया वृद्धा गरुडशङ्किनी ।
 संत्रस्ता ताक्षर्यं मां भुङ्क्व मां भुङ्क्वेति जगाद सा ॥132॥
 शङ्खचूडस्ततोऽवादीत्रैष ताक्षर्योऽम्ब मा त्रसीः ।
 क्वायं चन्द्र इवाह्लादी क्व स ताक्षर्यो भयंकरः ॥133॥
 इत्युक्ते शङ्खचूडेन प्राह जीमूतवाहनः ।
 विद्याधरोऽहमायातो रक्षितुं सुतमम्ब ते ॥134॥
 दास्यामि हि शरीर स्वं वस्त्रच्छन्नं गुरुत्मते ।
 क्षुधिताय प्रयाहि त्वमादायैनं सुतं गृहम् ॥135॥
 तच्छ्रुत्वा साब्रवीद्वृद्धा मैवं त्वं हाधिको मम ।
 पुत्रो यस्येदृशे काले कृपास्मास्वियमीदृशी ॥136॥
 एतच्छ्रुत्वा स जीमूतवाहनः पुनरब्रवीत् ।
 न मे मनोरथस्यास्य भङ्गं कर्तुमिहाहंथ ॥137॥
 ग्रहादेवं ब्रुवाणं ख शङ्खचूडो जगाद तम् ।
 दर्शितैव महासत्त्व त्वया सत्यं कृपालुता ॥138॥
 नत्वहं त्वच्छरीरेण रक्ष्यामि स्वशरीरकम् ।
 रत्नव्ययेन पाषाणं को हि रक्षितुमर्हति ॥139॥
 मादृशैस्तु जगत्पूर्णं स्वात्ममात्रानुकम्पिभिः ।
 अनुकम्प्यं जगद्येषां विरलास्ते भवादृशाः ॥140॥
 न चाहं मलिनीकर्तुं शङ्खपालकुलं शुचि ।
 कलङ्क इव तीक्ष्णांशुबिम्बं शक्यामि सन्मते ॥141॥

इति तं प्रतिषिध्यैव शङ्खचूडः स्वमातरम् ।
 जगादाम्ब निवर्तस्व कान्तारादुर्गमादितः ॥142॥
 न पश्यसि किमत्रैतन्नागासृक्कर्दमोक्षितम् ।
 कृतान्तलीलापर्यङ्करौद्रं वध्यशिलातलम् ॥143॥
 अहं चाब्धितटे गत्वा नत्वा गोकर्णमीश्वरम् ।
 आगच्छामि द्रुतं यावन्नायाति गरुडोऽत्र सः ॥144॥
 इत्युक्त्वा कृपणाक्रन्दां प्रणम्यापृच्छ्य मातरम् ।
 स गोकर्णप्रणामार्थं शङ्खचूडो ययौ ततः ॥145॥
 अस्मिंश्चेदन्तरे प्राप्तस्ताक्षर्यः सिद्धो ममेप्सितः ।
 परार्थं इति जीमूतवाहनोऽप्यकरोद्धृदि ॥146॥
 तावच्चासन्नपक्षीन्द्रपक्षानिलचलांस्तरून् ।
 विलोक्यात्र स मामेति निवारणपरानिव ॥147॥
 मत्वा गरुडवेलां च प्राप्तां जीमूतवाहनः ।
 परार्थप्राणदो वध्यशिलामध्यारुरोह ताम् ॥148॥
 पवनाघूर्णिते चाब्धौ स्फुरद्रत्नप्रभादृशा ।
 तं सत्त्वातिशयं तस्य पश्यतीव सविस्मयम् ॥149॥
 आगत्याच्छादितनभा निपत्यैतच्छिलातलात् ।
 चञ्च्वा गरुत्मानाहत्य महासत्त्वं जहार तम् ॥150॥
 सुतासृग्धारमुत्खातशिरोरत्नं च तं जवात् ।
 नीत्वा भक्षयितुं शृङ्गे मलयद्रेः प्रचक्रमे ॥151॥
 एवमेव परार्थाय देहः स्यात्प्रतिजन्म मे ।
 मा भूतां स्वर्गमोक्षौ तु परोपकृतिवर्जितौ ॥152॥
 इति ताक्षर्याद्यमानस्य तस्यानुध्यायतस्तदा ।
 विद्याधरेन्दोरपतत्पुष्पवृष्टिर्नभस्तलात् ॥153॥
 अत्रान्तरे स तद्रक्तधारास्रवशिरोमणिः ।
 तस्या मलयवत्याश्च तत्पल्याः प्रापतत्पुरः ॥154॥
 सा तद्दृष्ट्वा परिज्ञाय चूडारत्नं सुविह्वला ।
 अन्तिकस्था श्वशुरयोस्ताभ्यां साश्वरदर्शयत् ॥155॥

तौ च जायापती सूनोः शिरोरत्नं विलोक्य तम् ।
 किमेतदिति संभ्रान्तौ सहसैव बभूवतुः ॥156॥
 ततः स्वविद्यानुध्यानाद्यथावृत्तमवेत्य तत् ।
 राजा जीमूतकेतुः सा राज्ञी कनकवत्यपि ॥157॥
 वध्वा मलयवत्या तौ प्रावर्तेतां सह द्रुतम् ।
 गन्तुं तत्रैव तौ यत्र ताक्षर्यजीमूतवाहनौ ॥158॥
 तावत्स शङ्खचूडोऽत्र नत्वा गोकर्णमागतः ।
 ददर्श रुधिरार्द्रं तद्विग्नो मध्यशिलातलम् ॥159॥
 हा हतोऽस्मि महापापो ध्रुवं तेन महात्मना ।
 आत्मा गरुत्मते दत्तो मत्कृते सुकृपालुना ॥160॥
 तदन्विष्यामि नीतः स क्षणेऽस्मिन्क्वाहिवैरिणा ।
 मज्जेयं नायशःपङ्के जीवन्तं चेत्तमाप्नुयाम् ॥161॥
 इत्युदश्रुर्वदन्सोऽथ साधुर्दृष्ट्वा निरन्तराम् ।
 पतितां भुवि तद्रक्तधारामनुसरन्ययौ ॥162॥
 अत्रान्तरे भक्षयंस्तं दृष्ट्वा जीमूतवाहनम् ।
 हृष्टं विरम्य गरुडश्चिन्तयामास तत्क्षणम् ॥163॥
 अहो अपूर्वः कोऽप्येष भक्ष्यमाणोऽपि यो मया ।
 प्रहृष्यति महासत्त्वो न तु प्राणैर्वियुज्यते ॥164॥
 विभर्ति लुप्तशेषे च गात्रे रोमाञ्चकञ्चुकम् ।
 किं चोपकारिणीवास्य मयि दृष्टिः प्रसीदति ॥165॥
 तन्नैष नागः कोऽप्येष साधुः पृच्छामि नाद्म्यामुम् ।
 इति ताक्षर्यं विमृश्यन्तं प्राह जीमूतवाहनः ॥166॥
 पक्षीन्द्र किं निवृत्तोऽसि नहि मे मांसशोणितम् ।
 देहे नास्ति न चाद्यापि परितृप्तोऽसि भुङ्क्ष्व तत् ॥167॥
 एतच्छ्रुत्वातिसाश्चर्यंस्तं पप्रच्छ स पक्षिराट् ।
 नागो नैवासि तद्ब्रूहि महात्मन्को भवानिति ॥168॥
 नाग एवास्मि कोऽयं ते प्रश्नः प्रकृतमाचर ।
 प्रस्तुतार्थविरुद्धं हि कोऽभिदध्यादबालिशः ॥169॥

एवं प्रतिवदत्येव ताक्षर्यं जीमूतवाहने ।
 प्राप्तः स शङ्खचूडोऽत्र दूरादेवाभ्यभाषत ॥170॥
 मा मा कृथा महापापं साहसं विनतात्मज ।
 कोऽयं भ्रमस्ते नहोष नागो नागोऽहमेष ते ॥171॥
 इत्युक्त्वा द्रुतमागत्य मध्ये स्थित्वा तयोर्द्वयोः ।
 दृष्ट्वा च ताक्षर्यं विभ्रान्तं शङ्खचूडोऽब्रवीत्पुनः ॥172॥
 किं भ्राम्यसि फणाः किं मे जिह्वे द्वे च न पश्यसि ।
 विद्याधरस्य किं चास्य सौम्यां पश्यसि नाकृतिम् ॥173॥
 शङ्खचूडे वदत्येवं भार्या च पितरौ च तौ ।
 जीमूतवाहनस्यात्र सर्वे सत्वरमाययुः ॥174॥
 विलुप्ताङ्गं च तं दृष्ट्वा पितरौ तस्य तत्क्षणम् ।
 चक्रन्दतुस्तौ हा पुत्र हा हा जीमूतवाहन ॥175॥
 हा कारुणिक हा वत्स परार्थप्रत्नजीवित ।
 हा कथं वैनतेयेदमविमृश्य कृतं त्वया ॥176॥
 एतच्छ्रुत्वैव ताक्षर्योऽत्र सोऽनुतप्तो व्यचिन्तयत् ।
 हा कथं बोधिसत्त्वांशः संमोहाद्भक्षितो मया ॥177॥
 जीमूतवाहनः सोऽयं परार्थप्राणदायकः ।
 यस्य भ्रमति कृत्स्नेऽस्मिन्त्रैलोक्ये कीर्तिघोषणा ॥178॥
 तन्मे मृतेऽस्मिन्पापस्य प्राप्तमग्निप्रवेशनम् ।
 अधर्मविषवृक्षस्य पच्यते स्वादु किं फलम् ॥179॥
 इति चिन्ताकुले ताक्षर्ये दृष्ट्वा बन्धून्निपत्य सः ।
 ब्रणव्यथायां पञ्चत्वं प्राप जीमूतवाहनः ॥180॥
 ततो विलपतोस्तत्र तत्पित्रोः शोकदीनयोः ।
 उत्क्रुश्य मुहुरात्मानं शङ्खचूडे च निन्दति ॥181॥
 भार्या मलयवत्यस्य नभो दृष्ट्वाश्रुगद्गदम् ।
 पूर्वप्रसन्नां वरदामित्युपालभताम्बिकाम् ॥182॥
 विद्याधराधिपो भाविचक्रवर्ती पतिस्तव ।
 भवितेत्यहमादिष्टा देवि गौरि तदा त्वया ॥183॥

तन्मिथ्यावादिनी जाता त्वमप्यसि कथं मयि ।
 इत्युक्तवत्यां तस्यां सा गौरी प्रत्यक्षतामगात् ॥184॥
 न मे मिथ्या वचः पुत्रीत्युक्त्वा सा स्वकमण्डलोः ।
 अमृतेनाशु जीमूतवाहनं सिञ्चति स्म तम् ॥185॥
 तेन सोऽक्षतसर्वाङ्गः पूर्वाधिकेतरद्युतिः ।
 जीवन्सद्यः समुत्तस्थौ कृती जीमूतवाहनः ॥186॥
 उत्थितं प्रणतं तं च सर्वेषु प्रणमत्सु सा ।
 उवाच देवी तुष्टास्मि देहदानेन तेऽमुना ॥187॥
 तदेषा त्वाभिषिञ्चामि पुत्रात्मीयेन पाणिना ।
 विद्याधराणामाकल्पं चक्रवर्तिपदेऽधुना ॥188॥
 एवं वदन्ती जीमूतवाहनं कलशाम्बुधिः ।
 तमभ्यषिञ्चच्छर्वाणी पूजिता च तिरोदधे ॥189॥
 निपेतुश्चात्र तत्कालं दिव्याः कुसुमवृष्टयः ।
 नदन्ति स्म च सानन्दं देवदुन्दुभयो दिवि ॥190॥
 अथोवाच स तं प्रह्वस्ताक्षर्यो जीमूतवाहनम् ।
 चक्रवर्तिन्नहं प्रीतः पुरुषातिशये त्वयि ॥191॥
 अपूर्वोदारमतिना त्रिजगत्कौतुकावहम् ।
 ब्रह्माण्डभित्तिलिखितं येन चित्रमिदं कृतम् ॥192॥
 तन्मां प्रशाधि मत्तश्च वृणुष्वभाभीप्सितं वरम् ।
 इत्युक्तवन्तं गरुडं महासत्त्वो जगाद सः ॥193॥
 न भक्ष्याः सानुतापेन भूत्वा नागाः पुनस्त्वया ।
 तेऽप्यस्थिशेषा जीवन्तु ये त्वया पूर्वभक्षिताः ॥194॥
 एवमस्तु न भोक्ष्येऽहं नागाञ्शान्तमतः परम् ।
 प्राग्ये च भुक्तास्ते जीवन्त्विति ताक्षर्योऽप्युवाच सः ॥195॥
 ततोऽस्थिशेषा येऽप्यासन्नागास्तत्पूर्वभक्षिताः ।
 तेऽपि सर्वे समुत्तस्थुस्तद्वरामृतजीविताः ॥196॥
 सुरैर्नागैर्मुनिगणैः सानन्दैर्मिलितैरथ ।
 स लोकत्रितयाभिख्यामुवाह मलयाचलः ॥197॥

तत्कालं तं च जीमूतवाहनोदन्तमद्भुतम् ।
 गौर्याः प्रसादाद्विदुः सर्वे विद्याधरेश्वराः ॥198॥
 आगत्य ते च चरणावनता हिमाद्रिं निन्युः क्षणान्मुदितबन्धुसुहृत्समेतम् ।
 तं पार्वतीस्वकरक्लृप्तमहाभिषेकं सच्चक्रवर्तिनमथ प्रतिमुक्तताक्षर्यम् ॥199॥
 तत्र स पित्रा मात्रा मित्रावसुना च मलयवत्या च ।
 निजगृहगतागतेन च संयुक्तः शङ्खचूडेन ॥200॥
 लोकोत्तरचरिताद्भुतसिद्धां जीमूतवाहनः सुचिरम् ।
 अभजत रत्नोपचितां विद्याधरचक्रवर्तिधुरम् ॥201॥
 इत्यत्युदारसरसामाख्याय कथां तदा स वेतालः ।
 पुनरेव तं त्रिविक्रमसेनं पप्रच्छ राजानम् ॥202॥
 तद्ब्रूहि शङ्खचूडः किं वा जीमूतवाहनोऽभ्यधिकः ।
 सत्त्वेन तयोरुभयोः पूर्वोक्तश्चात्र समयस्ते ॥203॥
 इत्यस्माद्वेतालाच्छ्रुत्वा मौनं विहाय शापभयात् ।
 तमुवाच स त्रिविक्रमसेनो नृपतिर्निरुद्वेगः ॥204॥
 बहुजन्मसिद्धमेतच्चित्रं जीमूतवाहनस्य कियत् ।
 श्लाघ्यः स शङ्खचूडो मरणोत्तीर्णोऽपि यो रिपवे ॥205॥
 अन्यप्रत्तात्मानं प्राप्य सुदूरं गताय ताक्षर्याय ।
 पश्चाद्भावन्गत्वा स्वं देहमुपानयत्प्रसभम् ॥206॥
 एतन्निशम्यैव नृपस्य तस्य वाक्यं स वेतालवरो जगाम ।
 पुनः स्वधामैव तदंसपृष्टान्नृपोऽपि तं सोऽनुययौ तथैव ॥207॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके त्रयोविंशस्तरङ्गः ।

चतुर्विंशस्तरङ्गः

(सप्तदशो वेतालः)

ततो गत्वा पुनस्तस्मात्स राजा शिंशपातरोः ।
 तं त्रिविक्रमसेनोऽसे वीरो वेतालमग्रहीत् ॥1॥
 प्रस्थितं च ततस्तं स वेतालः स्कन्धतोऽब्रवीत् ।
 राजञ्श्रमविनोदाय शृण्वितां वच्मि ते कथाम् ॥2॥

अखण्डधर्ममर्यादं गङ्गाकूले कृतास्पदम् ।
 कलेरगम्यं कनकपुरं नाम्नाभवत्पुरम् ॥3॥
 तस्मिन्वशोधनाख्योऽभूदन्वर्थो वसुधाधिपः ।
 ररक्ष विप्लवाम्भोधेयो वेलाद्रिरिव क्षितिम् ॥4॥
 जगदाह्लादकश्चण्डप्रतापोऽखमण्डलः ।
 विधिना यश्च चन्द्रार्कावेकीकृत्येव निर्ममे ॥5॥
 मौर्ख्यं परपरीवादे न शास्त्रार्थं दरिद्रता ।
 दोषे न कोषदण्डाभ्यां यस्यासीच्च महीपतेः ॥6॥
 पापभीरुर्ग्रशोलुब्धः षण्ढः परपुरंध्रिषु ।
 यः शौर्यौदार्यशृङ्गारमयो जनतया जगे ॥7॥
 तस्य राज्ञः पुरे तस्मिन्नभूदेको महावणिक् ।
 उन्मादिनीति ख्याता च कन्या तस्याभवत्सुता ॥8॥
 यो यस्तां हि ददर्शात्र स स तद्रूपसंपदा ।
 उन्माद्यति स्म मदनस्यापि मोहनशक्त्या ॥9॥
 तस्यां च यौवनस्थायां स गत्वा तत्पिता वणिक् ।
 यशोधनं तं राजानं नीतिवेदी व्यजिज्ञपत् ॥10॥
 त्रैलोक्यरत्नभूता मे प्रदेयास्ति सुता प्रभो ।
 तामनावेद्य देवस्य नान्यस्मै दातुमुत्सहे ॥11॥
 देवोऽपि सर्वरत्नानां प्रभुः कृत्स्नेऽपि भूतले ।
 तत्स्वीकृत्यानुगृह्णातु देवस्तां प्रतिमुच्य वा ॥12॥
 इत्याकर्ण्य वणिग्वाक्यं स राजा ब्राह्मणात्रिजान् ।
 सादरं व्यसृजत्तस्याः सौलक्षण्यमवेक्षितुम् ॥13॥
 ते गत्वा ब्राह्मणा दृष्ट्वा तां त्रैलोक्यैकसुन्दरीम् ।
 सद्यः क्षोभं ययुः क्षिप्राल्लब्ध्वा धैर्यमचिन्तयन् ॥14॥
 इमां प्राप्नोति चेद्राजा तद्राष्ट्रमवसीदति ।
 एतन्मोहितचित्तो हि किं स राज्यमवेक्षते ॥15॥
 तस्मात्सुलक्षणेत्येषा नाख्येया क्षितिपाय नः ।
 इत्येव मंत्रं संमन्य राजस्ते जग्मुरन्तिकम् ॥16॥

कुलक्षणा सा देवेति तमूचुश्चात्र ते मृषा ।
 तेन राजा स नैवैतां स्वीचकार वणिक्सुताम् ॥17॥
 ततस्तदाज्ञया तां स कन्यामुन्मादिनीं पिता ।
 वणिग्बलधराख्याय तत्सेनापतये ददौ ॥18॥
 अथ सा तद्गृहे तस्थौ भर्त्रा तेन समं सुखम् ।
 कुलक्षणेत्यहं राज्ञा त्यक्तेत्यात्तविमानना ॥19॥
 याति काले च जात्वत्र हत्वा हेमन्तहस्तिनम् ।
 फुल्लकुन्दलतादन्तं मथिताम्बुजिनीवनम् ॥20॥
 आजगाम लसत्पुष्पमञ्जरीकेसरावलिः ।
 चूताङ्कुरनखः क्रीडन्कानने मधुकेसरी ॥21॥
 तत्कालं चात्र नगरे तं वसन्तमहोत्सवम् ।
 स राजा निर्ययौ द्रष्टुं गजारूढो यशोधनः ॥22॥
 तद्रूपालोकसंभाव्यविप्लवाः कुलयोषितः ।
 अपसारयितुं दत्तं तदा चोद्घोषडिण्डिमम् ॥23॥
 सा श्रुत्वोन्मादिनी तस्मै राज्ञे स्वगृहहर्म्यतः ।
 आत्मानं दर्शयामास परित्यागावमानतः ॥24॥
 स च तां चक्षुभे दृष्ट्वा राजा ज्वालामिवोद्गताम् ।
 संधुक्षितस्य कामाग्नेर्मधुना मलयानिलैः ॥25॥
 निर्वर्णयंश्च तद्रूपं जैत्रमस्त्रं मनोभुवः ।
 गाढं प्रविष्टं हृदये क्षणान्मोहमुपाययौ ॥26॥
 भृत्यैराश्रासितश्चात्र राजधानीं प्रविश्य सः ।
 पृष्टेभ्यो बुबुधे तेभ्यस्तां प्रागुपनतोऽज्झिताम् ॥27॥
 ततो निर्वास्य देशात्तांस्तत्कुलक्षणवादिनः ।
 विप्राननुदिनं दध्यौ तामेवोत्कः स भूपतिः ॥28॥
 अहो जडात्मा निर्लज्जश्चन्द्रो नित्यमुदेति यत् ।
 जगन्नेत्रोत्सवे तस्या निष्कलङ्के मुखे सति ॥29॥
 कठोरौ हेमकलशौ गजकुम्भौ च कर्कशौ ।
 लभेते नोपमामस्याः स्तनयोः पीनतुङ्गयोः ॥30॥

काशीनक्षत्रमालाङ्कं तत्तस्या जघनस्थलम् ।
 कं न कंदर्पमातङ्गमस्तकाभं विलोभयेत् ॥31॥
 इति तां चिन्तयन्नन्तः क्षीयते स्म दिने दिने ।
 कामाग्निपुटपाकेन पच्यमानः स भूपतिः ॥32॥
 ह्रिया निगूहमानश्च पृच्छद्भ्यो बाह्यलक्षणैः ।
 कृच्छ्राच्छशंस चाप्तेभ्यः स्वपीडाकारणं स तत् ॥33॥
 अलं संतप्य भजसे स्वाधीनां तर्हि किं न ताम् ।
 इत्युक्तस्तैश्च नैवैतदनुमेने स धार्मिकः ॥34॥
 ततो बलधरो बुद्ध्वा स सेनापतिरेत्य तम् ।
 प्रभुमभ्यर्थयामास सद्भक्तश्चरणानतः ॥35॥
 दासस्त्री तव दास्येव सा देव न पराङ्गना ।
 स्वयं चाहं प्रयच्छामि तद्भार्यां स्वीकुरुष्व मे ॥36॥
 अथवा तां त्यजामीह देव देवकुले ततः ।
 न दोषो ग्रहणे तस्यास्तव देवकुलस्त्रियः ॥37॥
 इति स्वसेनापतिना निर्बन्धेन स पार्थिवः ।
 तेनानुनाथ्यमानोऽपि सान्तःकोपमुवाच तम् ॥38॥
 राजा भूत्वा कथं कुर्यामधर्ममहमीदृशम् ।
 मय्युल्लङ्घितमर्यादे को हि तिष्ठेत्स्ववर्त्मनि ॥39॥
 भक्तोऽपि च भवान्पापे नियोजयति मां कथम् ।
 परलोकमहादुःखहेतौ क्षणसुखावहे ॥40॥
 न क्षमिष्ये च ते धर्म्यान्दारान्यदि विहास्यसि ।
 सहते मादृशः को हि तादृशं धर्मविप्लवम् ॥41॥
 तद्वरं मृत्युरित्युक्त्वा स राजा निषिषेध तम् ।
 त्यजन्त्युत्तमसत्त्वा हि प्राणानपि न सत्यथम् ॥42॥
 तथैवार्थयमानांश्च पौरजानपदानपि ।
 मिलितान्स निराचक्रे राजा सुदृढनिश्चयः ॥43॥
 ततः क्रमेण तेनैव स्मरज्वरभरोष्मणा ।
 प्रक्षीणदेहः प्रययौ स यशःशेषतां नृपः ॥44॥

सेनापतिश्चासहिष्णुस्तं तथा प्रमथं प्रभोः ।
 सोऽग्निं विवेश भक्तानामनिर्वाच्यं हि चेष्टितम् ॥45॥
 इत्याख्यातकथाश्चर्यो वेतालोऽसस्थितस्तदा ।
 स त्रिविक्रमसेनं तं भूयः पप्रच्छ पार्थिवम् ॥46॥
 तदेतयोः को नृपते सेनापतिमहीभृतोः ।
 सत्त्वेनाभ्यधिको ब्रूहि पूर्वोक्तः समयश्च ते ॥47॥
 इति वेतालतः श्रुत्वा मुक्तमौनः स तं नृपः ।
 प्रत्युवाच द्वयो राजा सत्त्ववानधिकस्तयोः ॥48॥
 तदाकर्ण्यैव वेतालः साक्षेपस्तमभाषत ।
 सेनापतिः कथं नात्र राजन्नभ्यधिको वद ॥49॥
 यस्तथा स्वामिने भक्त्या स्वभार्या तां तथाविधाम् ।
 सुचिरज्ञाततद्भोगसुखास्वादोऽप्युपानयत् ॥50॥
 आत्मानं चाग्निसाच्चक्रे तस्मिन्पञ्चत्वमागते ।
 अनास्वादिततद्भोगस्तत्कान्तां तु जहौ नृपः ॥51॥
 वेतालेनैवमुक्तस्तु विहस्य स नृपोऽब्रवीत् ।
 यद्यप्येवं तथाप्येतत्किं चित्रं कुलपुत्रकः ॥52॥
 सेनापतिः स भक्त्या यत्स्वाम्यर्थे तत्तथाकरोत् ।
 प्राणैरपि हि भृत्यानां स्वामिसंरक्षणं व्रतम् ॥53॥
 राजानस्तु मदाध्माता गजा इव निरङ्कुशाः ।
 छिन्दन्ति धर्ममर्यादाशृङ्खलां विषयोन्मुखाः ॥54॥
 तेषां द्युद्रिक्तचित्तानामभिषेकाम्बुभिः समम् ।
 विवेको विगलत्योद्येनोदयमान इवाखिलः ॥55॥
 क्षिप्यन्त इव चोद्धूय चलच्चामरमारुतैः ।
 वृद्धोपदिष्टशास्त्रार्थरजोमशकमक्षिकाः ॥56॥
 आतपत्रेण सत्यं च सूर्यालोको निवार्यते ।
 विभूतिवात्योपहता दृष्टिमार्गं च नेक्षते ॥57॥
 ते ते च विपदं प्राप्ता मारमोहितचेतसः ।
 जगद्विजयिनोऽपीह राजानो नहुषादयः ॥58॥

एष राजा पुनः पृथ्व्यामेकच्छत्रोऽपि यत्तया ।
 उन्मादिन्या चपलया लक्ष्म्येव न विमोहितः ॥59॥
 प्राणानपि स धर्मात्मा तत्याज न पुनः पदम् ।
 अमार्गे निदधे धीरस्तेनासौ मेऽधिको मतः ॥60॥
 इत्याकर्ण्य नृपस्य तस्य वचनं भूयस्तदंसस्थला-
 द्वेतालः सहसा स्वमेव स पदं मायाप्रभावाद्यौ ।
 राजाप्यन्वसरत्तथैव स पुनः संप्राप्तुमेतं जवा
 दारब्धे हि सुदुष्करेऽपि महतां मध्ये विरामः कुतः ॥61॥
 इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके चतुर्विंशस्तरङ्गः ।

पञ्चविंशस्तरङ्गः

(अष्टादशो वेतालः)

ततः पितृवने तस्मिन्क्रव्यभक्षिभिरावृते ।
 ज्वालाविलोलरसनैर्भूतैरिव चिताग्निभिः ॥1॥
 गत्वैव तस्यामक्षोभ्यः क्षपायां शिंशापातरुम् ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तमाससाद पुनर्नृपः ॥2॥
 तत्रापश्यच्च वेतालविकृतान्सदृशाकृतीन् ।
 उल्लम्बमानान्सुबहून्प्रेतकायानशाङ्कितम् ॥3॥
 अहो किमेतत्किंवान्यन्मायी कालं क्षिपत्ययम् ।
 वेतलो मे न वेदुम्येषां ग्राह्यं येनेह भूयसाम् ॥4॥
 असिद्धार्थस्य चेद्रात्रिरियं मम गमिष्यति ।
 ततो वार्ह्णं प्रवेक्ष्यामि न सहिष्ये तु हास्यताम् ॥5॥
 इति चिन्तयतस्तस्य राज्ञो विज्ञाय निश्चयम् ।
 सत्त्वतुष्टः स वेतालः स्वमायां संजहार ताम् ॥6॥
 ततो दृष्टैकमेवात्र वेतालं नृकलेवरे ।
 अवतीर्य गृहीत्वांसे स प्रतस्थे पुनर्नृपः ॥7॥
 प्रक्रामन्तं च तं भूयः स वेतालोऽभ्यभाषत ।
 राजन्नोद्विजसे चित्रं तदिमां मे कथां शृणु ॥8॥

अस्ति गौरीतपःक्लेशवृत्तेन त्रिपुरारिणा ।
 असामान्यगुणोत्कर्षलुब्धेनेव स्वयं वृता ॥9॥
 भोगवत्यमरावत्योस्तृतीयोज्जयिनी पुरी ।
 उदारसुकृतप्राप्यनानाभोगोपबृंहिता ॥10॥
 यस्यां स्तब्धत्वकार्कश्ये कुचेषु वरयोषिताम् ।
 तासामेव भ्रुवोर्भङ्गो लोचनेषु चापलम् ॥11॥
 तमो निशासु वक्रत्वं यस्यां कविवरोक्तिषु ।
 मदो दन्तिषु जाड्यं च मुक्तामलयजेन्दुषु ॥12॥
 तस्यां चन्द्रप्रभाख्यस्य राज्ञोऽमात्यो बहुश्रुतः ।
 देवस्वामीत्यभूद्विप्रो भूरियज्ञो महाधनः ॥13॥
 तस्य कालेन तनयश्चन्द्रस्वामीत्यजायत ।
 सोऽधीतविद्योऽपि युवा द्यूतैकव्यसनोऽभवत् ॥14॥
 एकदा च द्विजसुतश्चन्द्रस्वामी स कांचन ।
 द्यूतकारमहाठिण्ठां द्यूतेन क्रीडितुं ययौ ॥15॥
 आश्लिष्यामः कमत्रेति विपद्भिरिव वीक्षितुम् ।
 विक्षिप्तैः कृष्णशाराभैर्नेत्रैरक्षैर्निरन्तराम् ॥16॥
 कः सोऽस्ति न श्रियं यस्य हराम्यप्यलकापतेः ।
 इतीव तन्वतीं नादान्द्यूतकृत्कलहस्वनैः ॥17॥
 तां प्रविश्य क्रमाद्दीव्यन्नक्षैः स कितवैः सह ।
 वस्त्रादि हारयित्वापि धनमन्यदहारयत् ॥18॥
 मृग्यमाणं ख यत्रादात्स तद्धनमसंभवि ।
 तदवष्टभ्य सभ्येन लगुडैः पर्यताड्यत ॥19॥
 लगुडाहतसर्वाङ्गः पाषाणमिव निश्चलम् ।
 कृत्वा मृतमिवात्मानं तस्थौ विप्रसुतोऽथ सः ॥20॥
 तथैव दिवसान्द्वित्रांस्तत्र तस्मिन्नवस्थिते ।
 क्रुद्धः स सभ्यष्टिण्ठायां कितवान्स्वानभाषत ॥21॥
 श्रितानेनाश्मता तावत्तदेतं क्षिपत क्वचित् ।
 नीत्वान्धकूपे निःसत्वं धनं दास्याम्यहं तु वः ॥22॥

इत्युक्तास्तेन कितवास्तं चन्द्रस्वामिनं ततः ।
 अरण्यं निन्युरुत्क्षिप्य दूरं कूपगवेषिणः ॥23॥
 तत्रैको वृद्धकितवस्तानन्यानेवमभ्यधात् ।
 मृतोऽयं प्रायशस्तत्किं कूपे क्षिप्तेन नोऽमुना ॥24॥
 तदिहैवैनमुज्झित्वा वक्ष्यामः कूप उज्झितम् ।
 इति ते तद्वचः सर्वे तथेति प्रतिपेदिरे ॥25॥
 ततस्त्यक्त्वा गतेष्वेषु कितवेषु स उत्थितः ।
 चन्द्रस्वामी विवेशात्र शून्यमेकं शिवालयम् ॥26॥
 तत्र किञ्चित्समाश्रयस्य चिन्तयामास दुःखितः ।
 विश्रस्तो मायया कष्टं मुषितः कितवैरहम् ॥27॥
 तदीदृशः क्व गच्छामि नाग्नोपहतपांसुलः ।
 पिता बन्धुः सुहृद्वापि दृष्ट्वा किं हि वदेन्मम ॥28॥
 तत्संप्रति स्थितोऽस्मीह नक्तं च क्षुत्प्रशान्तये ।
 पश्यामि निर्गत्य कथं यतिष्ये भोजनं प्रति ॥29॥
 इत्यालोचयतस्तस्य क्लान्तस्यानम्बरस्य च ।
 मन्दीकृतातपोऽस्ताद्रिं रविस्त्यक्ताम्बरो ययौ ॥30॥
 तावच्च भूतिदिग्धाङ्गस्तत्रायाति स्म तापसः ।
 महाव्रती जटाशूलधरो हर इवापरः ॥31॥
 स चन्द्रस्वामिनं दृष्ट्वा कोऽसीति परिपृच्छ्य च ।
 श्रुत्वा तस्माच्च वृत्तान्तं प्रह्वं तं तापसोऽब्रवीत् ॥32॥
 त्वं ममेहाश्रमं प्राप्तः क्षुत्क्लान्तोऽचिन्तितोऽतिथिः ।
 तदुत्तिष्ठ कृतस्नानो भिक्षाभागं ममाहर ॥33॥
 इत्युक्तो व्रतिना सोऽथ चन्द्रस्वामी जगाद तम् ।
 विप्रोऽहं भगवन्भोक्ष्ये भिक्षाभागं कथं तव ॥34॥
 तच्छ्रुत्वा स व्रती सिद्धः प्रविश्य मठिकां निजाम् ।
 इष्टसंपादिनीं विद्यां सस्मारातिथिवल्लभः ॥35॥
 संस्मृतोपस्थितां तां च किं करोमीति वादिनीम् ।
 अमुष्यातिथ्यमतिथेः कुरुष्वेति शशास ताम् ॥36॥

तथेत्युक्ते तथा तत्र सोद्यानं साङ्गनाजनम् ।
 पुरं सौवर्णमुत्पन्नं चन्द्रस्वामी ददर्श सः ॥37॥
 विस्मितं च तमभ्येत्य तस्माद्द्वाराङ्गनाः पुरात् ।
 ऊचुरुत्तिष्ठ भद्रैहि स्नाहि भुङ्क्ष्व त्यज श्रमम् ॥38॥
 इत्युक्त्वाभ्यन्तरं नीत्वा स्नापयित्वानुलिप्य च ।
 ताभिः स दत्तसद्वस्त्रो निन्देऽन्यद्वासकोत्तमम् ॥39॥
 तत्रान्तः स ददर्शकां प्रधानयुवतिं युवा ।
 सर्वाङ्गसुन्दरीं धात्रा कौतुकादिव निर्मिताम् ॥40॥
 तथा स सोत्कयोत्थाय स्वासनार्धोपवेशितः ।
 बुभुजे दिव्यमाहारं तयैवात्र समं ततः ॥41॥
 भुक्तपक्कफलस्वादुताम्बूलः स्वरसेन च ।
 पर्यङ्कशयने भेजे तत्संभोगसुखं निशि ॥42॥
 प्रातः प्रबुद्धश्चापश्यत्तदेवात्र शिवायलम् ।
 नापि दिव्याङ्गनां नापि पुरं तन्न परिच्छदम् ॥43॥
 ततः स विग्नो निर्यातं मठिकातः स्मिताननम् ।
 पृष्टरात्रिसुखं प्रातस्तापसं तं व्यजिज्ञपत् ॥44॥
 त्वत्प्रसादादहं रात्रावुषितो भगवन्सुखम् ।
 किं तु यास्यन्ति मे प्राणास्तथा दिव्यस्त्रिया विना ॥45॥
 तच्छ्रुत्वा स तपस्वी तं हसन्कारुणिकोऽब्रवीत् ।
 इहैवास्व पुनर्नक्तं भविष्यति तथैव ते ॥46॥
 इत्युक्ते व्रतिना तेन तद्युक्त्यैव प्रतिक्षपम् ।
 चन्द्रस्वाम्यत्र सोऽभुङ्क्त भोगांस्तांस्तत्प्रसादतः ॥47॥
 बुद्ध्वा च तं शनैर्विद्याप्रभावं विधिचोदितः ।
 एकदा तापसेन्द्रं तं स प्रसाद्यान्वयाचत ॥48॥
 सत्यं कृपा चेद्भगवन्मयि ते शरणागते ।
 तदेतां देहि मे विद्यां यत्प्रभावोऽयमीदृशः ॥49॥
 इति ब्रुवाणं निर्बन्धात्तं प्रत्याह स तापसः ।
 असाध्या तव विद्येयं साध्यतेऽन्तर्जले ह्यसौ ॥50॥

तत्र चैषा सृजत्याशु जपतः साधकस्य तत् ।
 मायाजालं विमोहाय येन सिद्धिं न सोऽश्नुते ॥51॥
 स हि तत्र पुनर्जातं बालमात्मानमीक्षते ।
 ततो युवानमुद्भूयूढदारं जातात्मजं तथा ॥52॥
 सुहृन्मेऽयमयं शत्रुरिति मिथ्या स मुह्यति ।
 न च स्मरति जन्मेदं न विद्यासाधने क्रियाम् ॥53॥
 यस्तु त्रिरष्टवर्षः सन्गुरुविद्याप्रबोधितः ।
 जन्म स्मृत्वा विदित्वा तद्धीरो मायाविजृम्भितम् ॥54॥
 तद्वशोऽप्यत्र कुरुते तथैवाग्निप्रवेशनम् ।
 परमार्थं जलोत्तीर्णः सिद्धविद्यः स पश्यति ॥55॥
 अन्यस्य न परं विद्या शिष्यस्यैषा हि सिद्ध्यति ।
 अस्थानार्पणतो यावद्गुरोरपि विनश्यति ॥56॥
 मत्सिद्धयैव फले सिद्धे किं ग्रहेणामुना तव ।
 मत्सिद्धिहान्या मा जातु तवैतदपि नङ्क्ष्यति ॥57॥
 एवं तपस्विनोक्तेऽपि चन्द्रस्वामी ग्रहेण सः ।
 शिक्षयामि सर्वं मा भूद्विश्रिन्तात्रेति तमब्रवीत् ॥58॥
 ततोऽस्मै प्रतिपेदे तां विद्यां दातुं स तापसः ।
 बताश्रितानुरोधेन किं न कुर्वन्ति साधवः ॥59॥
 ततो नीत्वा नदीतीरं स तं स्माह महाव्रती ।
 वत्स विद्यां जपन्मायां यदा द्रक्ष्यसि तां तदा ॥60॥
 मायाग्निमेव प्रविशेर्विद्यया बोधितो मया ।
 अहं च तावत्स्थास्यामि तवेहैव नदीतटे ॥61॥
 इत्युक्त्वाध्यापयामास तमाचान्तं शुचिं शुचिः ।
 स चन्द्रस्वामिनं विद्यां सम्यक्तां व्रतिनां वरः ॥62॥
 ततस्तीरे स्थिते तस्मिन्गुरौ मूर्ध्ना प्रणम्य तम् ।
 चन्द्रस्वामी स रभसान्नदीमवततार ताम् ॥63॥
 तस्यामन्तर्जले विद्यां तां जपन्सहसैव सः ।
 तन्मायामोहितो मिथ्या सर्वं विस्मृत्य जन्म तत् ॥64॥

वीक्षते यावदन्यस्यामुत्पन्नः स्वात्मना पुरि ।
 पुत्रो विप्रस्य कस्यापि बुद्धिं स शनकैर्गतः ॥65॥
 कृतोपनयनोऽधीतविद्यो दारानवाप्य च ।
 तद्दुःखसुखसंमूढः संपूर्णोऽपत्यवान्क्रमात् ॥66॥
 ततश्चात्र सुतस्नेहस्वीकृतस्तत्तदाचरत् ।
 स्थितो बद्धरतिः सार्धं पितृभ्यां बन्धुभिस्तथा ॥67॥
 एवं जन्मातरं मिथ्या तस्यानुभवतोऽत्र सः ।
 काले प्रबोधिनीं विद्यां गुरुः प्रायुङ्क्त तापसः ॥68॥
 स तद्विद्याप्रयोगेण सद्यस्तेन प्रबोधितः ।
 स्मृत्वात्मानं गुरुं तं च मायाजालमवेत्य तत् ॥69॥
 उद्यतोऽग्निप्रवेशाय दिव्यासाध्यफलाप्तये ।
 पर्यवारि निषेधद्विर्वृद्धाप्तगुरुबन्धुभिः ॥70॥
 बहुधा बोध्यमानोऽपि तैर्दिव्यसुखलोलुपः ।
 स सज्जितचित्तं प्रायान्नदीतीरं सबान्धवः ॥71॥
 दृष्ट्वात्र वृद्धौ पितरौ भार्या च मरणोद्यताम् ।
 क्रन्दन्ति बालापत्यानि सोऽथ मोहादचिन्तयत् ॥72॥
 कष्टं म्रियन्ते स्वजनाः सर्वे मे विशतोऽनलम् ।
 न च जानामि किं सत्यं गुरोस्तद्वचनं न वा ॥73॥
 तत्किं नु प्रविशाम्यग्निमुत न प्रविशामि किम् ।
 अथवा तत्कथं मिथ्या स्यात्संवादि गुरोर्वचः ॥74॥
 तद्विशाम्यनलं काममित्यन्तः प्रविमृश्य सः ।
 अग्निप्रवेशं विदधे चन्द्रस्वामी किल द्विजः ॥75॥
 अनुभूतहिमस्पर्शो वह्नेश्च स सविस्मयः ।
 शान्तमायो नदीतीरादुत्थायोपययौ तटम् ॥76॥
 तत्र स्थितं च दृष्ट्वा तं गुरुं नत्वा च पादयोः ।
 पृच्छन्तं चाग्निशैत्यान्तं स्वमुदन्तमबोधयत् ॥77॥
 ततस्तं स गुरुः प्राह वत्स शङ्के कृतस्त्वया ।
 अपचारोऽत्र शीतस्ते कथं जातोऽग्निरन्यथा ॥78॥

अदृष्टमेतदेतस्या विद्यायाः साधने यतः ।
 एतद्गुरोर्वचः श्रुत्वा चन्द्रस्वामी जगाद सः ॥79॥
 नापचारो मया कश्चिद्विहितो भगवन्निति ।
 ततः स तद्गुरुर्विद्यां जिज्ञासुस्तां समस्मरत् ॥80॥
 न च साविरभूत्तस्य न तच्छिष्यस्य तस्य वा ।
 नष्टविद्यावथोभौ तौ विषण्णौ जग्मतुस्ततः ॥81॥
 इत्याख्याय कथामथ वेतालः पृष्टवान्स तं भूयः ।
 पृथ्वीपतिं त्रिविक्रमसेनं समयं निगद्य पूर्वोक्तम् ॥82॥
 राजन्संशयमेतं छिन्धि मम ब्रूहि हेतुना केन ।
 विहितेऽपि यथोद्दिष्टे कर्मणि विद्योभयोस्तयोर्नष्टा ॥83॥
 एतत्स वेतालवचो निशम्य तं प्रत्यवोचन्मनुजेन्द्रवीरः ।
 जाने भवान्मे क्षिपतीह कालं योगेश्वरैवं तदपि ब्रवीमि ॥84॥
 न दुष्करेणापि हि कर्मणैव शुद्धेन सिद्धिः पुरुषस्य लभ्या ।
 यावन्न निष्क्रम्य विकल्पशुद्धं धीरं मनो निर्मलसत्त्ववृत्ति ॥85॥
 तस्यात्र मन्दस्य तु विप्रयूनश्चित्तं प्रबुध्यापि विकल्पते स्म ।
 विद्या न सा तेन गतास्य सिद्धिरस्थानदानाच्च गुरोर्विनष्टा ॥86॥
 इति तस्य नृपस्य सृष्टवाचो बत वेतालवरोऽसतः स भूयः ।
 निजमेव पदं ययावलक्ष्यो नृपतिस्तं च तथैव सोऽन्वयासीत् ॥87॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके पञ्चविंशस्तरङ्गः ।

षड्विंशस्तरङ्गः ।

(एकोनविंशो वेतालः)

अथ गत्वा पुनः स्कन्धे वेतालं शिंशपाद्भुमात् ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तं गृहीत्वोदचलन्नृपः ॥1॥
 आगच्छन्तं च तं भूयो वेतालः सोऽभ्यभाषत ।
 राजञ्शृणु कथामेकां हृद्यां ते कथयाम्यहम् ॥2॥
 अस्ति वक्रोलकं नाम पुरं सुरपुरोपमम् ।
 तस्मिन्सूर्यप्रभाख्योऽभूद्राजा जम्भारिसंनिभः ॥3॥

सौकर्योद्यतया मूर्त्या दत्तानन्दो वसुंधराम् ।
 इमां हरिरिवोद्धृत्य यो बभार चिरं भुजे ॥4॥
 धूमासङ्गेऽश्रुसंपातः शृङ्गारे मारसंकथाः ।
 द्वाःस्थेषु हेमदण्डाश्च राष्ट्रे यस्याभवन्प्रभोः ॥5॥
 सर्वसंपत्समृद्धस्य तस्यैकाभूदनिर्वृतिः ।
 नोदपद्यत यत्पुत्रो बहुष्वन्तःपुरेष्वपि ॥6॥
 एतस्मिंश्च कथासंधौ ताम्रलिप्त्यां महापुरि ।
 बभूव धनपालाख्यो धुर्यो धनवतां वणिक् ॥7॥
 तस्य चाजायतैकैव नाम्ना धनवती सुता ।
 विद्याधरी च्युता शापात्सौन्दर्येणैव सूचिता ॥8॥
 तस्यां च यौवनस्थायां स वणिक्पञ्चतां ययौ ।
 तद्धनं राजसानाध्यादाक्रान्तमथ गोत्रजैः ॥9॥
 ततो हिरण्यवत्याख्या वणिजस्तस्य गेहिनी ।
 आदाय रत्नाभरणं निजमप्रकटस्थितम् ॥10॥
 धनवत्या तथा साकं स्वदुहित्रा निशामुखे ।
 पलाय्य दायादभयाद्गृहाद्गुप्तं विनिर्ययौ ॥11॥
 ध्वान्तेन बहिरन्तश्च सा दुःखेनान्धकारिता ।
 कृच्छ्राद्बहिःपुरं प्रायात्सुताहस्तावलम्बिनी ॥12॥
 तत्र संतमसे यान्ती विधियोगादलक्षितम् ।
 अंसेनाताडयच्चौरं शूलाग्रारोपितस्थितम् ॥13॥
 स सजीवस्तदंसाग्रघट्टनाधिकपीडितः ।
 आः क्षते क्षारमेतन्मे क्षिप्तं केनेत्यभाषत ॥14॥
 ततस्तत्रैव सा कोऽसीत्यपृच्छत्तं वणिग्वधुः ।
 प्रत्युवाच ततश्चौरश्चौरोऽहमिह सूचितः ॥15॥
 शूले पापस्य चाद्यापि नोत्क्रामन्ति ममासवः ।
 तदार्यं त्वं मम ब्रूहि कासि क्वैवं प्रयासि च ॥16॥
 तच्छ्रुत्वा तं वणिग्भार्या यावत्स्वोदन्तमाह सा ।
 तावत्तिलकितं प्राच्या मुखमुद्भासितेन्दुना ॥17॥

ततो दिक्षु प्रकाशासु स चौरस्तां वणिक्सुताम् ।
 दृष्ट्वा धनवतीं कन्यां तन्मातरमुवाच ताम् ॥18॥
 शृणु मे प्रार्थनामेकां सहस्रं काश्चनस्य ते ।
 ददामि तदिमां मह्यं स्वसुतां देहि कन्यकाम् ॥19॥
 किमेतया तवेत्युक्तो हसन्त्याथ तयात्र सः ।
 पुनश्चौरोऽब्रवीन्नास्ति पुत्रो मम गतायुषः ॥20॥
 न चापुत्रोऽश्रुते लोकांस्तदेषा यं मदाज्ञया ।
 कुत्रचिज्जनयेत्पुत्रं क्षेत्रजः स भवेन्मम ॥21॥
 इत्येतां प्रार्थये त्वं तु तद्विधत्स्व ममेप्सितम् ।
 तच्छ्रुत्वा सा वणिग्योषिल्लोभात्तत्प्रत्यपद्यत ॥22॥
 आनीय च कुतोऽप्यम्बु पाणौ चौरस्य तस्य सा ।
 एषा सुता मया तुभ्यं कन्या दत्तेत्यपातयत् ॥23॥
 सोऽपि तद्दुहितुर्दत्तयथोक्ताज्ञो जगाद ताम् ।
 गच्छामुष्य वटस्याधः खात्वा स्वर्णं गृहाण तत् ॥24॥
 गतासोर्दाहयित्वा मे देहं युक्त्या विसृज्य च ।
 अस्थीनि तीर्थे ससुता गच्छेर्वक्रोलकं पुरम् ॥25॥
 तत्र सूर्यप्रभे राज्ञि सौराज्यसुखिते जने ।
 निरुपद्रवनिश्चिन्ता स्थास्यसि त्वं यथेच्छसि ॥26॥
 इत्युक्त्वा तृषितः पीत्वा तयैवोपहतं जलम् ।
 शूलव्यधव्यथोत्क्रान्तजीवश्चौरो बभूव सः ॥27॥
 ततो गत्वा वणिक्स्त्री सा स्वर्णं वटतरोस्तलात् ।
 गृहीत्वा ससुता गुप्तमगाद्भर्तुसुहृद्गृहम् ॥28॥
 तत्र स्थित्वा च युक्त्या तद्दाहयित्वा कलेवरम् ।
 चौरस्य तस्य तीर्थेऽस्थिक्षेपादिकमकारयत् ॥29॥
 अन्येद्युश्चात्तगुप्तार्थां ततो निर्गत्य सात्मजा ।
 प्रयान्ती क्रमशः प्राप सा तद्वक्रोलकं पुरम् ॥30॥
 तत्रैकं वसुदत्ताख्याद्गृहं क्रीत्वा वणिग्वरात् ।
 तस्मिन्नुवास सुतया धनवत्या तथा सह ॥31॥

तदा च तत्रोपाध्यायो विष्णुस्वामीत्यभूत्पुरे ।
 मनःस्वामीति तस्यासीच्छिष्यो विप्रोऽतिरूपवान् ॥32॥
 विद्याभिजनयुक्तोऽपि स यौवनवशीकृतः ।
 तत्र हंसावली नाम वाञ्छति स्म विलासिनीम् ॥33॥
 सा च सौवर्णदीनारशतपञ्चकमग्रहीत् ।
 भाटिं तस्य च तन्नाभूद्वयषीदत्तेन सोऽन्वहम् ॥34॥
 एकदा च तमद्राक्षीत्तादृशं सा वणिक्सुता ।
 क्षामाभिरामवपुषं धनवत्यत्र हर्म्यतः ॥35॥
 तद्रूपहतचित्ता च भर्तुश्चौरस्य तस्य सा ।
 स्मृत्वानुज्ञां समीपस्थां युक्त्यावोचत्स्वमातरम् ॥36॥
 अम्ब विप्रसुतस्यास्य पश्यैते रूपयौवने ।
 कीदृशे बत विश्वस्य नयनामृतवर्षिणी ॥37॥
 एतच्छ्रुत्वैव तस्मिंस्तां बद्धभावामवेत्य च ।
 तन्माता स वणिग्भार्या मनस्येवमचिन्तयत् ॥38॥
 मद्दुहित्रानया तावद्वरणीयः सुताप्तये ।
 कश्चिद्भर्त्राज्ञया तस्मादेष एवार्थ्यते न किम् ॥39॥
 इत्याकलय्य व्यसृजत्तत्संदिश्य मनीषितम् ।
 रहस्यधारिणीं चेटीं तमानेतुं सुताकृते ॥40॥
 सा गत्वा विजने नीत्वा चेटी तस्मै शशंस तत् ।
 स च श्रुत्वा द्विजयुवा व्यसनी तामभाषत ॥41॥
 यदि हंसावलीहेतोर्दीनारशतपञ्चकम् ।
 सौवर्णं दीयते मष्ट्यं तदेकामेमि यामिनीम् ॥42॥
 इति तेनोक्तया चेट्या तया गत्वा तथैव सा ।
 उक्ता वणिक्स्त्री तस्मै तत्तद्धस्ते प्राहिणोद्धनम् ॥43॥
 तद्गृहीत्वा मनःस्वामी तत्पुत्र्या वासकं ययौ ।
 तस्याः स तन्निसृष्ट्याया धनवत्याः सचेटिकः ॥44॥
 तत्र तां विततोत्कण्ठां कान्तां भूषितभूतलाम् ।
 स चकोर इव ज्योत्स्नां ददर्श च जहर्ष च ॥45॥

तथा समं च नीत्वा तां रात्रिं संभोगलीलया ।
 निर्गत्य स ततो गुप्तं ययौ प्रातर्यथागतम् ॥46॥
 सापि तस्माद्धनवती सगर्भाभूद्वृणिक्सुता ।
 काले च सुषुवे पुत्रं लक्षणानुमितायतिम् ॥47॥
 परितुष्टां तदा तां च सुतोत्पत्या समातृकाम् ।
 आदिदेश हरः स्वप्ने दर्शितस्ववपुर्निशि ॥48॥
 युक्तं हेमसहस्रेण नीत्वा बालमुषस्यमुम् ।
 सूर्यप्रभनृपस्येह मञ्चस्थं द्वारि मुञ्चतम् ॥49॥
 एवं स्यात्क्षेममित्युक्ता शूलिना सा वणिक्सुता ।
 तन्माता च प्रबुद्धयैतं स्वप्नमन्योन्यमूचतुः ॥50॥
 नीत्वा च तं तत्यजतुर्भगवत्प्रत्ययाच्छिशुम् ।
 राज्ञः सूर्यप्रभस्यास्य सिंहद्वारे सहेमकम् ॥51॥
 तावच्च तमपि स्वप्ने सुतचिन्तातुरं सदा ।
 तत्र सूर्यप्रभं भूपमादिदेश वृषध्वजः ॥52॥
 उत्तिष्ठ राजन्बालस्ते सिंहद्वारे सकाञ्चनः ।
 केनापि स्थापितो भव्यो मञ्चकस्थं गृहाण तम् ॥53॥
 इत्युक्तः शंभुना प्रातः प्रबुद्धोऽपि तथैव सः ।
 द्वाःस्थैः प्रविश्य निर्ययौ नृपतिः स्वयम् ॥54॥
 दृष्ट्वा च सिंहद्वारे तं बालं सकनकोत्करम् ।
 रेखाच्छत्रध्वजाद्यङ्कपाणिपादं शुभाकृतिम् ॥55॥
 दत्तो ममोचितः पुत्रः शंभुनायमिति ब्रुवन् ।
 स्वयं गृहीत्वा बाहुभ्या राजधानीं विवेशः सः ॥56॥
 चकार चोत्सवं तावदसंख्यातं ददद्ब्रसु ।
 दरिद्रशब्दस्यैकस्य यावदासीन्निरर्थता ॥57॥
 नृत्तवाद्यादिभिर्नीत्वा द्वादशाहं ततः स तम् ।
 पुत्रं चन्द्रप्रभं नाम्ना चक्रे सूर्यप्रभो नृपः ॥58॥
 ववृधे राजपुत्रोऽत्र सोऽथ चन्द्रप्रभः क्रमात् ।
 वपुषेव गुणौघेनाप्याश्रितानन्ददायिना ॥59॥

शनैर्युवा च संजज्ञे शौर्यौदार्यश्रुतादिभिः ।
 आवर्जितप्रकृतिकः क्षमाभारोद्वहनक्षमः ॥60॥
 तादृशं च ततो दृष्ट्वा तं स सूर्यप्रभः पिता ।
 राज्येऽभिषिच्यैव कृती वृद्धो वाराणसीं ययौ ॥61॥
 पृथ्वीं शासति तस्मिंश्च तनये नयशालिनी ।
 स राजा तत्र तत्याज चरंस्तीव्रतपस्तनुम् ॥62॥
 बुद्ध्वा पितृविपत्तिं तामनुशोच्य कृतक्रियः ।
 सोऽथ चन्द्रप्रभो राजा सचिवान्धार्मिकोऽब्रवीत् ॥63॥
 तातस्य तावत्केनाहमनृणो भवितुं क्षमः ।
 तथाप्येकां स्वहस्तेन ददाम्येतस्य निष्कृतिम् ॥64॥
 नीत्वा क्षिपामि गङ्गायामस्थीन्यस्य यथाविधि ।
 गत्वा सर्वपितृभ्यश्च गयां पिण्डं ददाम्यहम् ॥65॥
 प्रसङ्गात्तीर्थयात्रां च करोम्यापूर्वसागरम् ।
 इत्युक्तवन्तं राजानं मन्त्रिणस्तं व्यजिज्ञपन् ॥66॥
 न देव युज्यते कर्तुमेतद्राजः कथंचन ।
 नहि राज्यं बहुच्छिद्रं क्षणं तिष्ठत्यरक्षितम् ॥67॥
 तदेषा परहस्तेन कार्या ते पित्रुपक्रिया ।
 स्वधर्मपालनादन्या तीर्थयात्रा च का तव ॥68॥
 बह्वपायं क्व पान्थत्वं नित्यगुप्ताः क्व पार्थिवाः ।
 इति मन्त्रिवचः श्रुत्वा राजा चन्द्रप्रभोऽब्रवीत् ॥69॥
 अलं विकल्पैः पित्रर्थे गन्तव्यं निश्चितं मया ।
 द्रष्टव्यानि च तीर्थानि यावन्मे क्षमते वयः ॥70॥
 पश्चात्को वेत्ति किं भावि शरीरे क्षणनश्वरे ।
 राज्यं चागमनं यावद्रक्ष्यं युष्माभिरेव मे ॥71॥
 श्रुत्वैतं निश्चयं राजस्तृष्णीमासत मन्त्रिणः ।
 ततः प्रयाणसंभारं सज्जीचक्रे स भूपतिः ॥72॥
 अथाह्नि स शुभे स्नातो हुताग्निः पूजितद्विजः ।
 सुयुक्तं रथमास्थाय प्रयतः शान्तवेषभृत् ॥73॥

सामन्तान् राजपुत्रांश्च पौराञ्जनपदानपि ।
 निवर्त्यानिच्छतः कृच्छ्रादासीमान्तानुयायिनः ॥74॥
 ब्राह्मणैर्वाहनारूढैः समं स सपुरोहितः ।
 प्रतस्थे सचिवन्यस्तराज्यश्चन्द्रप्रभो नृपः ॥75॥
 विचित्रवेषभाषादिविलोकनविनोदितः ।
 पश्यन्नानाविधान्देशान्क्रमात्प्राप च जाह्नवीम् ॥76॥
 ददर्श तां च जन्तूनां जलकल्लोलपङ्क्तिभिः ।
 त्रिदिवारोहसोपानपङ्क्तिं सृजतीमिव ॥77॥
 हिमवत्प्रभवां शंभोः कृतक्रीडाकचग्रहाम् ।
 बिभ्रतीं चाम्बिकालीलां देवर्षिगणवन्दिताम् ॥78॥
 रथावतीर्णस्तस्यां च कृतस्नानो यथाविधि ।
 चिक्षेपास्थीनि भूपस्य तस्य सूर्यप्रभस्य सः ॥79॥
 दत्तदानः कृतश्राद्धो रथारूढस्ततोऽपि च ।
 प्रस्थितः क्रमशः प्राप प्रयागमृषिसंस्तुतम् ॥80॥
 यत्रार्चिराद्यधूमादिमार्गाविव समागतौ ।
 गङ्गायमुनयोर्वाहौ भातः सुगतये नृणाम् ॥81॥
 तत्रोपोष्य कृतस्नानदानश्राद्धादिसत्क्रियः ।
 वाराणसीं जगामाथ स चन्द्रप्रभभूपतिः ॥82॥
 एत मोक्षं प्रयातेति वदन्त्यामिव दूरतः ।
 वाताक्षिप्तसमुत्क्षिप्तैः सुरसद्मध्वजांशुकैः ॥83॥
 तस्यां दिनान्युपोष्य त्रीण्यभ्यर्च्यार्था वृषध्वजम् ।
 भोगैर्निजोचितैस्तैस्तैः प्रययौ स गयां प्रति ॥84॥
 ततः फलौघनमितैर्मञ्जुगुञ्जद्विहङ्गमैः ।
 पदे पदे सप्रणामं स्तूयमान इवाङ्घ्रिपैः ॥85॥
 विक्षिप्तवन्यकुसुमैरर्च्यमान इवानिलैः ।
 नानारण्यान्यतिक्रम्य पुण्यं प्राप गयाशिरः ॥86॥
 विधाय तत्र च श्राद्धं विधिवद्भूरिदक्षिणम् ।
 चन्द्रप्रभः स राजात्र धर्मारण्यमुपेयिवान् ॥87॥

गयाकूपेऽस्य ददतः पितुः पिण्डं तदन्तरात् ।
 समुत्तस्थुस्तमादातुं त्रयो मानुषपाणयः ॥88॥
 तद्दृष्ट्वैव स विभ्रान्तः किमेतदिति पार्थिवः ।
 कस्मिन्हस्ते क्षिपे पिण्डमित्यपृच्छत्रिजान्द्विजान् ॥89॥
 ते तमूचुरथं तावदेकशौरस्य निश्चितम् ।
 हस्तो लोहमयः शुङ्कुर्यस्मिन्देवैष दृश्यते ॥90॥
 द्वितीयो ब्राह्मणस्यायं करो धृतपवित्रकः ।
 राज्ञः पाणिस्तृतीयोऽयं साङ्गुलीयः सुलक्षणः ॥91॥
 तन्न विद्मः क्व पिण्डोऽयं निक्षेप्यः किमिदं भवेत् ।
 इत्युक्तस्तैर्द्विजैः सोऽत्र राजा लेभे न निश्चयम् ॥92॥
 इत्याख्याय कथाश्चर्यं वेतालोऽसस्थितस्तदा ।
 स त्रिविक्रमसेनं तं जगाद नृपतिं पुनः ॥93॥
 तत्कस्य हस्ते देयः स्यात्स पिण्ड इति वक्तु मे ।
 भवांस्तावत्स एवात्र प्राक्तनः समयश्च ते ॥94॥
 इति वेतालतः श्रुत्वा मुक्तमौनः स भूपतिः ।
 तं त्रिविक्रमसेनोऽत्र धर्मज्ञः प्रत्यभाषत ॥95॥
 चौरस्य हस्ते दातव्यः स पिण्डः क्षेत्रजो यतः ।
 चन्द्रप्रभः स नृपतिः पुत्रस्तस्यैव नान्ययोः ॥96॥
 विप्रस्य जनकस्यापि स हि पुत्रो न बुध्यते ।
 विक्रीतो हि धनेनात्मा तामेकां तेन यामिनीम् ॥97॥
 राज्ञः सूर्यप्रभस्यापि संस्कारादानवर्धनैः ।
 भवेत्स पुत्रो न स्याच्चेत्स्वधनं तस्य तत्कृते ॥98॥
 शिशोस्तस्य हि शीर्षान्ते मञ्चस्थस्यैव हेम यत् ।
 न्यस्तमासीत्तदेवास्य मूल्यं संवर्धनादिके ॥99॥
 तस्माद्धस्तोदकप्राप्ता तन्माता यस्य येन सा ।
 आज्ञा तज्जनने दत्ता यस्य तन्निखिलं धनम् ॥100॥
 तस्य स क्षेत्रजः पुत्रश्चौरस्यैव महीपतिः ।
 पिण्डस्तस्यैव हस्ते च देयस्तेनेति मे मतिः ॥101॥

इत्युक्तवतो नृपतेस्तस्यांसात्स्वपदमेव वेतालः ।
 प्रययौ स च त्रिविक्रमसेनो राजा तमन्वयाद्भूयः ॥102॥
 इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके षड्विंशस्तरङ्गः ।

सप्तविंशस्तरङ्गः ।

(विंशो वेतालः)

ततो गत्वा गृहीत्वांसे वेतालं शिंशपातरोः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तमुच्चचाल पुनर्नृपः ॥1॥
 मौने प्रस्थितं तं च वेतालोऽसादुवाच सः ।
 राजन्कस्तेऽनुबन्धोऽयं गच्छ रात्रिसुखं भज ॥2॥
 न युक्तं तव नेतुं मां कुभिक्षोस्तस्य गोचरम् ।
 ग्रहो वा तत्र चेदस्तु कथामेकामिमां शृणु ॥3॥
 अस्ति स्वरेखानुत्क्रान्तवर्णभेदव्यवस्थिति ।
 नगरं चित्रकूटाख्यं विभ्रणं सत्यनामताम् ॥4॥
 तत्रामृतरसासारवर्षीं प्रणयिचक्षुषाम् ।
 चन्द्रावलोक इत्यासीद्राजा राजशिखामणिः ॥5॥
 आलानं शौर्यकरिणस्त्यागस्योत्पत्तिकेतनम् ।
 विलासवेश्म रूपस्य शशंसुर्यं विचक्षणाः ॥6॥
 सतीषु सर्वसंपत्सु यत्र प्राप निजोचिताम् ।
 भार्या सैका परं चिन्ता यूनस्तस्याभवद्बुद्धि ॥7॥
 एकदा च तदुद्वेगविनोदाय महाटवीम् ।
 जगामाश्रीयसहितो मृगयायै स भूपतिः ॥8॥
 तत्र सूकरवृन्दानि भिन्दन्बाणैर्निरन्तरैः ।
 श्यामलाम्बररोचिष्णुस्तमांसीव रविः करैः ॥9॥
 शाययञ्शरशय्यासु सिंहान्समरदुर्मदान् ।
 मूर्धजैर्धवलैर्भीष्मानर्जुनाधिकविक्रमः ॥10॥
 विपक्षीकृत्य शरभान्पातयन्पर्वतोपमान् ।
 दम्भोलिकर्कशप्रासपातैर्जम्भारिविक्रमः ॥11॥

रसाद्विविधुः स नृपो वनाभ्यन्तरमेककः ।
 तीव्रपाष्णिप्रहारेण प्रेरयामास वाजिनम् ॥12॥
 स वाजी तेन च कशाघातेनोत्तेजितो भृशम् ।
 पाष्णिघातेन विषमं समं चागणयन्क्षणात् ॥13॥
 वनान्तरं ततोऽनैषीद्घाताधिकजवो नृपम् ।
 मोहितेन्द्रियवृत्तिं तं व्यतीत्य दशयोजनीम् ॥14॥
 तत्र तस्मिन्स्थिते वाहे राजा दिङ्मोहमेत्य सः ।
 भ्रमञ्श्रान्तो ददर्शकमारात्सुविपुलं सरः ॥15॥
 मारुतेनाभिमुख्येन नमितोत्रमितैर्मुहः ।
 इत एहीति हस्ताभैः संज्ञां कुर्वदिवाम्बुजैः ॥16॥
 तत्र गत्वा च तुरगं विपर्याणोपवर्तितम् ।
 स्नातपीतं तरुच्छायबद्धं दत्ततृणोत्करम् ॥17॥
 कृत्वा स्वयं कृतस्नानः पीताम्बुर्गलितश्रमः ।
 रम्येषु तत्प्रदेशेषु ददौ दृष्टिमितस्ततः ॥18॥
 एकत्र चाशोकतरोरधस्तान्मुनिकन्यकाम् ।
 आमुक्तपुष्पाभरणां वल्कलांशुकशोभिनीम् ॥19॥
 मुग्धबद्धजटाजूटसविशेषमनोरमाम् ।
 सखीद्वितीयामाश्चर्यरूपां राजा ददर्श सः ॥20॥
 अचिन्तयच्च पुष्पेषोः पतितः शरगोचरे ।
 केयं स्यात्सरसि स्नातुं सावित्री किंस्विदागता ॥21॥
 किं हरस्याङ्गविभ्रष्टा गौरी भूयः श्रिता तपः ।
 अहन्यस्तंगतस्येन्दोः कान्तिः किं वा धृतव्रता ॥22॥
 तदेतामुपसृत्येह शनैरुपलभे वरम् ।
 इत्यालोच्य ययौ तस्याः कन्यायाः सोऽन्तिकं नृपः ॥23॥
 सापि दृष्ट्वा तमायान्तं तद्रूपाकुलितेक्षणा ।
 पूर्वप्रारब्धपुष्पस्रक्सन्नहस्ता व्यचिन्तयत् ॥24॥
 कोऽयमीदृगरण्येऽस्मिन्सिद्धो विद्याधरो नु किम् ।
 बतास्य रूपं विश्वस्य कृतार्थीकरणं दृशोः ॥25॥

एवं वितर्क्य पश्यन्ती तिर्यक्तं त्रपया ततः ।
 उत्थाय सोरुस्तम्भापि गन्तुं प्रावर्ततैव सा ॥26॥
 अथोपेत्य स राजा तामेवं नागरिकोऽब्रवीत् ।
 आस्तां प्रथमदृष्टस्य दर्शनैकफलार्थिनः ॥27॥
 जनस्य दूरायातस्य सुन्दरि स्वागतादिकम् ।
 कोऽयं न्वाश्रमिणां धर्मो यदेतस्मात्पलाय्यते ॥28॥
 इत्युक्ते भूभुजा तस्याः सखी तद्वद्विचक्षणा ।
 तत्रोपवेश्य नृपतेश्कारातिथ्यसत्क्रियाम् ॥29॥
 अथ सप्रणयं राजा तां स पप्रच्छ सोत्सुकः ।
 भद्रे कः पुण्यवान्शस्त्वत्स्ख्यालंकृतोऽनया ॥30॥
 कानि श्रोत्रामृतस्यन्दीन्यस्या नामाक्षराणि च ।
 किं चैवमनया पुष्पसुकुमारमिदं वपुः ॥31॥
 तापसोचितया वृत्त्या विजनेऽस्मिन्कदर्थ्यते ।
 इति राज्ञो वचः श्रुत्वा तत्सखी प्रत्युवाच सा ॥32॥
 एषा महर्षेः कण्वस्य दुहिता वर्धिताश्रमे ।
 मेनकासंभवा कन्या नाम्ना चेन्दीवरप्रभा ॥33॥
 इहास्मिन्सरसि स्नातुमागतानुज्ञया पितुः ।
 इतोऽत्र नातिदूरेऽस्ति तस्यैतत्पितुराश्रमः ॥34॥
 इत्युक्तः स तया हृष्टो राजारुह्य तुरङ्गमम् ।
 याचितुं तां सुतां तस्य कण्वर्षेराश्रमं ययौ ॥35॥
 विवेश च विनीतस्तं बहिः स्थापितवाहनः ।
 जटावल्कलिभिः पूर्णं पादपैरिव तापसैः ॥36॥
 तन्मध्ये च तमद्राक्षीदृषिभिः परिवारितम् ।
 तेजसाह्लादनं कण्वमुनिं चन्द्रमिव ग्रहैः ॥37॥
 उपेत्य पादयोस्तं च ववन्दे साऽपि तं मुनिः ।
 कल्पितातिथ्यविश्रान्तं ज्ञानी क्षिप्रादभाषत ॥38॥
 वत्स चन्द्रावलोकेतच्छृणु यद्वच्चि ते हितम् ।
 जानासि यादृक्संसारे प्राणिनां मृत्युतो भयम् ॥39॥

तन्निष्कारणमेवैतान्वराकान्हंसि किं मृगान् ।
 शस्त्रं हि भीतरक्षार्थं धात्रा क्षत्रस्य निर्मितम् ॥40॥
 तत्प्रजा रक्ष धर्मेण समुन्मूलय कण्टकान् ।
 हस्त्यश्वास्त्रादियोग्याभिश्चललक्ष्यादि साधय ॥41॥
 भुङ्क्ष्वराज्यसुखं देहि धनं दिक्षु यशः किर ।
 कृतान्तक्रीडितं हिंस्रं मृगयाव्यसनं त्यज ॥42॥
 हन्तुर्वध्यस्य चान्यस्य यत्र तुल्या प्रमादिता ।
 किं तेन बह्वनर्थेन पाण्डोर्वृत्तं न किं श्रुतम् ॥43॥
 एतत्कण्वमुनेर्वाक्यं श्रुत्वा समभिनन्द्य च ।
 राजा चन्द्रावलोकस्तमर्थज्ञः प्रत्यभाषत ॥44॥
 अनुशिष्टोऽस्मि भगवन्कृतो मेऽनुग्रहः परः ।
 मृगयाया निवृत्तोऽहं प्राणिनः सन्तु निर्भयाः ॥45॥
 तच्छ्रुत्वोवाच स मुनिस्तुष्टोऽहममुना तव ।
 प्राणिष्वभयदानेन तद्भृणीष्वेप्सितं वरम् ॥46॥
 इत्युक्तस्तेन मुनिना कालज्ञः स नृपोऽभ्यधात् ।
 तुष्टोऽसि चेत्सुतां देहि मह्यमिन्दीवरप्रभाम् ॥47॥
 इत्यर्थितवते सोऽस्मै राज्ञे स्नानगतां मुनिः ।
 अप्सरःसंभवां कन्यां तां ददावनुरूपिकाम् ॥48॥
 ततः कृतविवाहस्तां मुनिभार्याप्रसाधिताम् ।
 कृतानुयात्रामुद्वाष्पैस्तापसैरा निजाश्रमात् ॥49॥
 इन्दीवरप्रभां भार्यामादायारुह्य वाजिनम् ।
 चन्द्रावलोकस्तरसा प्रतस्थे स ततो नृपः ॥50॥
 गच्छतश्चास्य विततं दृष्ट्वा तद्दिनचेष्टितम् ।
 रविः खिन्न इवास्ताद्रिमस्तके समुपाविशत् ॥51॥
 ददृशे मृगनेत्रा च क्रमादुद्रिक्तमन्मथा ।
 ध्वान्तनीलपटच्छन्नरूपा रात्र्यभिसारिका ॥52॥
 तस्मिन्काले पथि प्राप स राजाश्चत्थपादपम् ।
 सज्जनाशयसुस्वच्छवापीजलतटस्थितम् ॥53॥

शाखापत्रौघसंछन्नशाद्वलश्यामलस्थलम् ।
 दृष्ट्वा च तं वसामीह रात्रिमित्यकरोद्धृदि ॥54॥
 ततोऽवतीर्य तुरगाद्दत्त्वा तस्मै तृणोदकम् ।
 विस्रंस्य पुलिने वाप्या उपयुक्ताम्बुमारुतः ॥55॥
 मुनिपुत्रिकया सार्धं तथा तस्य तरोस्तले ।
 प्रियया पुष्पशय्यायां संविवेश स भूपतिः ॥56॥
 तत्क्षणं च समाक्रम्य तिमिरांशुकहारिणा ।
 सरागमाननं प्राच्याश्चुचुम्बे शशलक्ष्मणा ॥57॥
 विरेजुश्चन्द्रकिरणैः समाश्लिष्य प्रसारिताः ।
 वीतमानावकाशाश्चाशेषा वितमसो दिशः ॥58॥
 अत्रान्तरे लतागुल्मविवरप्रसृतैः करैः ।
 ऐन्दवै रत्नदीपाभैस्तरुमूले विभासिते ॥59॥
 सोऽपि राजा सिषेवे तामाश्लिष्येन्दीवरप्रभाम् ।
 नवसंगमसोत्कण्ठसरसं सुरतोत्सवम् ॥60॥
 विस्रंसयामास शनैर्नीवीं तस्यास्त्रपामिव ।
 अखण्डयच्च दशनैर्मुग्धभावमिवाधरम् ॥61॥
 रचयामास कुचयोर्वीवनद्विपकुम्भयोः ।
 करजक्षतसद्रत्नवनक्षत्रमालिकाम् ॥62॥
 मुखं कपोलौ नयने मुहुः परिचुचुम्ब च ।
 लावण्यामृतनिःष्यन्दमापिबन्निव सर्वतः ॥63॥
 इत्थं निधुवनक्रीडासुखेन स तथा सह ।
 निनाय कान्तया तत्र राजा क्षणमिव क्षपाम् ॥64॥
 प्रातश्च मुक्तशयनः सांध्यस्यानन्तरं विधेः ।
 स्वसैन्यावाप्तये यातुमुन्मुखोऽभूद्भूधूसखः ॥65॥
 तावच्च नक्तं लुप्ताब्जखण्डशोभं निशापतिम् ।
 भियेवास्ताद्रिकुहरप्रलीनं ध्वस्ततेजसम् ॥66॥
 हन्तुकाम इव क्रोधादाताप्रतररोचिषि ।
 प्रसारितकरोत्क्षिप्तमण्डलाग्रे विवस्वति ॥67॥

अकस्मादाजगामात्र विद्युत्पिङ्गशिरोरुहः ।
 कज्जलश्यामलः कालमेघाभो ब्रह्मराक्षसः ॥68॥
 अन्त्रमालाकृतोत्तंसः केशयज्ञोपवीतभृत् ।
 खादन्नरशिरोमांसं कपालेन पिबन्नसृक् ॥69॥
 सोऽट्टहासं विमुच्योग्रं मुखेनाग्निं वमन्क्रुधा ।
 दंष्ट्राकरालो राजानं भर्त्सयन्निजगाद तम् ॥70॥
 पाप ज्वालामुखं नाम विद्धि मां ब्रह्मराक्षसम् ।
 निवासश्रौष मेऽश्वत्थो वेदैरपि न लङ्घ्यते ॥71॥
 सोऽयं त्वया समाक्रम्य परिभुक्तः स्त्रिया सह ।
 रात्रिचर्यागतस्याद्य तद्भुङ्क्वाविनयात्फलम् ॥72॥
 एषोऽहं ते दुराचार कामोपहतचेतसः ।
 उत्पाद्य हृदयं भोक्ष्ये पास्याम्येव च शोणितम् ॥73॥
 तच्छ्रुत्वैव तथा घोरं तमवध्यमवेक्ष्य च ।
 त्रस्ताङ्गनः सविनयं भयात्प्रत्यब्रवीन्नृपः ॥74॥
 अजानतापराद्धं यन्मया ते तत्क्षमस्व मे ।
 तवाहमाश्रमे ह्यस्मिन्नतिथिः शरणाश्रितः ॥75॥
 दास्यामि चेप्सितं तुभ्यमानीय पुरुषं पशुम् ।
 येन ते भविता तृप्तिस्तत्प्रसीद क्रुधं त्यज ॥76॥
 इति राज्ञो वचः श्रुत्वा शान्तः स ब्रह्मराक्षसः ।
 अस्तु को दोष इत्यन्तर्विचिन्त्यैवमभाषत ॥77॥
 यः सप्तवर्षदेश्योऽपि महासत्त्वो विवेकवान् ।
 त्वदर्थे स्वेच्छयात्मानं दद्याद्ब्राह्मणपुत्रकः ॥78॥
 हन्यमानं च यं माता हस्तयोः पादयोः पिता ।
 अवष्टभ्यात्सुदृढं संनिवेश्य महीतले ॥79॥
 तादृशं पुरुषं मह्यमुपहारीकरोषि चेत् ।
 स्वयं खड्गप्रहारेण हत्वा सप्तदिनान्तरे ॥80॥
 तत्ते क्षमिष्ये न्यक्कारमन्यथा तु महीपते ।
 सद्यो विनाशयिष्यामि त्वामहं सपरिच्छदम् ॥81॥

श्रुत्वैतत्स भयाद्राजा प्रतिपेदे तथेति तत् ।
 तिरोबभूव च ब्रह्मराक्षसः सोऽपि तत्क्षणम् ॥82॥
 अथ चन्द्रावलोकोऽसौ राजा सेन्दीवरप्रभः ।
 हयारूढस्ततः प्रायात्सैन्यं चिन्वन्सुदुर्मनाः ॥83॥
 अहो अहं मृगयया मदनेन च मोहितः ।
 गतः पाण्डुरिवाकाण्डे विनाशं बत बालिशः ॥84॥
 प्राप्यते ह्युपहारोऽस्य राक्षसस्तादृशः कुतः ।
 तन्नजं नगरं तावद्यामि पश्यामि भावि किम् ॥85॥
 इति ध्यायन्स च प्राप स्वसैन्यं चिन्वदागतम् ।
 तद्युक्तश्च सदारः स्वं चित्रकूटमगात्पुरम् ॥86॥
 तत्र तस्योचितां भार्याप्राप्तिं वीक्ष्य कृतोत्सवे ।
 राष्ट्रेऽन्तर्गतदुःखस्य दिनशेषो जगाम सः ॥87॥
 द्वितीयेऽह्नि रहः सर्वं स्ववृत्तान्तं शशंस सः ।
 मन्त्रिभ्यस्तेषु चैकस्तं मन्त्री सुमतिरब्रवीत् ॥88॥
 विषादो देव ते मा भूदुपहारं हि तादृशम् ।
 आनेष्याम्यहमन्विष्य बह्वाश्चर्या हि मेदिनी ॥89॥
 एवमाश्वास्य राजानं स सौवर्णीमकारयत् ।
 मंत्री सप्ताब्ददेशीयबालकप्रतिमां द्रुतम् ॥90॥
 रत्नैरलंकृतां तां च कृत्वा कर्णैरथार्पिताम् ।
 भ्रामयामास नगरग्रामघोषेष्वितस्ततः ॥91॥
 यः सप्तवर्षदेशीयः स्वंच्छया विप्रपुत्रकः ।
 ददाति सर्वसत्त्वार्थमात्मानं ब्रह्मरक्षसे ॥92॥
 उपहाराय सन्वस्थो मातापित्रोरनुज्ञया ।
 हन्यमानश्च यस्ताभ्यां हस्तपादे प्रगृह्यते ॥93॥
 तस्मै ग्रामशतोपेतां हेमरत्नमयीमिमाम् ।
 ददाति प्रतिमां राजा पित्रोरुपचिकीर्षवे ॥94॥
 इति च भ्राम्यमाणायास्तस्याः प्रतिकृतेः शिशोः ।
 पटहोद्घोषणां मन्त्री सोऽग्रेऽजस्रमदापयत् ॥95॥

तावच्छ्रुत्वा तदेकस्मिन्नग्रहारे द्विजार्भकः ।
 कोऽपि सप्ताब्ददेशीयोऽप्यतिधीरोऽद्भुताकृतिः ॥96॥
 पूर्वाभ्यासेन बाल्येऽपि सदा परहिते रतः ।
 प्रजापुण्यपरीपाक इव साकारतां गतः ॥97॥
 उवाचोद्घोषकानेत्य युष्मदर्थे ददाम्यहम् ।
 आत्मानं पितरौ गत्वा बोधयित्वाभ्युपैमि च ॥98॥
 इत्युचिवांस्तान्मुदितान्स बालोऽनुमतश्च तैः ।
 गत्वा गृहं जगाद स्वौ पितरौ रचिताञ्जलिः ॥99॥
 ददामि सर्वसत्त्वार्थं देहमेतं विनश्वरम् ।
 तन्मामभ्यनुजानीतं हतां चापदमात्मनः ॥100॥
 आत्मप्रतिकृतिं ह्येतां गृहीत्वा वितरामि वाम् ।
 हेमरत्नमयीं राज्ञा दत्तां ग्रामशतान्विताम् ॥101॥
 एवं मे युष्मदानुग्रहं परार्थश्चैव सिद्धयति ।
 युवां च ध्वस्तदारिद्र्यौ बहून्पुत्रानवाप्स्यथः ॥102॥
 इत्युक्तवन्तं सहसा पितरौ तौ तमूचतुः ।
 किमेतद्भाषसे पुत्र वातेन क्षुभितोऽसि किम् ॥103॥
 किं वा ग्रहगृहीतोऽसि प्रलपस्यन्त्यथा कथम् ।
 को ह्यर्थेर्घातयेत्पुत्रं देहं दद्याच्च कः शिशुः ॥104॥
 एतत्पित्रोर्वचः श्रुत्वा बालः पुनरुवाच सः ।
 न बुद्धिमोहाज्जल्पामि शृणुतं मेऽर्थवद्वचः ॥105॥
 अवाच्याशुचिसंपूर्णमुत्पत्त्यैव सुगुप्सितम् ।
 दुःखक्षेत्रं विनाश्येव शरीरमचिरादिदम् ॥106॥
 तदेतेनात्यसारेण सुकृतं यदुपाज्यते ।
 तदेव सारं संसारे कृतबुद्धिभिरुच्यते ॥107॥
 सर्वभूतोपकारच्च किमन्यत्सुकृतं परम् ।
 तत्रापि पित्रोर्भक्तिश्रेत्किं देहाद्दृश्यते फलम् ॥108॥
 इत्यादिवाक्यैः स शिशुः शोचन्तौ दृढनिश्चयः ।
 तावङ्गीकारयामास पितरौ स्वमनीषितम् ॥109॥

गत्वा च राजभृत्येभ्यः प्रतिमां तां हिरण्मयीम् ।
 आनीय प्रददौ ताभ्यां सग्रामशतशासनाम् ॥110॥
 ततः कृत्वाग्रतो राजभृत्यांस्तानेव स द्रुतम् ।
 पितृभ्यामन्वितः प्रायाच्चित्रकूटं नृपान्तिकम् ॥111॥
 तत्र चन्द्रावलोकस्तं वीक्ष्याखण्डिततेजसम् ।
 रक्षारत्नमिव प्राप्तं बालं राजा ननन्द सः ॥112॥
 आरोप्य गजपृष्ठं च रचितस्रग्विलेपनम् ।
 निनाय तं सपितृकं केतनं ब्रह्मरक्षसः ॥113॥
 तत्र मण्डलमालिख्य तस्याश्चत्थस्य पार्श्वतः ।
 विहितोचितपूजेन हुते वह्नौ पुरोधसा ॥114॥
 आविर्बभूव मुक्ताट्टहासः सोऽध्ययनं पठन् ।
 घूर्णन्क्तासवक्षीबो जृम्भमाणो मुहुः श्वसन् ॥115॥
 ज्वलन्नेत्रो दिशः कुर्वन्देहच्छायान्धकारिताः ।
 ज्वालामुखो महारौद्रदर्शनो ब्रह्मराक्षसः ॥116॥
 ततश्चन्द्रावलोकस्तं दृष्ट्वा प्रह्वोऽब्रवीन्नृपः ।
 नरोपहारो भगवन्नानीतः स मया तव ॥117॥
 सप्तमो दिवसश्चाद्य प्रतिज्ञातस्य सोऽस्य ते ।
 तत्प्रसीद गृहाणैतमुपहारं यथाविधि ॥118॥
 इति राज्ञार्थितो विप्रकुमारं ब्रह्मराक्षसः ।
 स तमालोकयामास जिह्वाया सृक्किणी लिहन् ॥119॥
 तत्क्षणं स महासत्त्वो बालो हृष्यन्नचिन्तयत् ।
 स्वदेहदानेनानेन सुकृतं यन्मयार्जितम् ॥120॥
 तेन मा भून्मम स्वर्गो मोक्षो वा निरुपक्रियः ।
 भूयान्तु मे परार्थाय देहो जन्मनि जन्मनि ॥121॥
 इति संकल्पयत्येव तस्मिन्नापूर्यत क्षणात् ।
 विमानैः सुरसंघानां पुष्पवृष्टिमुचां नभः ॥122॥
 अथाग्रे प्रापितं तस्य बालं तं ब्रह्मरक्षसः ।
 माता जग्राह करयोः पिता चरणयोस्तथा ॥123॥

ततो यावत्तमाकृष्टखड्गो राजा जिघांसति ।
 तावज्जहास स शिशुस्तथा सर्वेऽत्र ते यथा ॥124॥
 सब्रह्मराक्षसास्त्यक्त्वा स्वं स्वं कर्म सविस्मयाः ।
 रचिताञ्जलयः प्रह्वास्तन्मुखप्रेक्षिणोऽभवन् ॥125॥
 इति व्याख्याय वेतालो विचित्रसरसां कथाम् ।
 तं त्रिविक्रमसेनं स निजगाद नृपं पुनः ॥126॥
 तद्ब्रूहि राजन्को हेतुर्यत्तेन हसितं तदा ।
 बालेनैतादृशोऽप्यस्मिन्प्राणान्तसमयेऽप्यहो ॥127॥
 कौतुकं च महन्मेऽत्र तदेतच्चेन्न वक्ष्यसि ।
 जानानोऽपि ततो मूर्धा शतधा ते स्फुटिष्यति ॥128॥
 इति वेतालतः श्रुत्वा स राजा प्रत्युवाच तम् ।
 शृणु योऽभूदभिप्रायो हासे तस्य शिशोस्तदा ॥129॥
 यो नाम दुर्बलो जन्तुः स भये प्रत्युपस्थिते ।
 क्रन्दति प्राणहेतोः स्वं पितरं मातरं तथा ॥130॥
 तद्व्यपाये च राजानमार्तत्राणाय निर्मितम् ।
 तदलाभेऽपि यद्यत्र यथासंभवि दैवतम् ॥131॥
 तस्य त्वेकस्थमप्येतत्सर्वं संजातमन्यथा ।
 पितृभ्यां हस्तपादं हि रुद्धं तस्यार्थतृष्णया ॥132॥
 राजा च त्रातुमात्मानं स्वयं तं हन्तुमुद्यतः ।
 दैवतं तत्र यद्ब्रह्मरक्षस्तत्तस्य भक्षकम् ॥133॥
 अध्रुवस्यान्तविरसस्याधिव्याधिक्षतस्य च ।
 देहस्यार्थे विमूढानां तेषामीदृग्विडम्बना ॥134॥
 ब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्राद्या यत्रावश्यं विनाशिनः ।
 तत्रैषामीदृशी कापि शरीरस्थैर्यवासना ॥135॥
 एतत्तन्मोहवैचित्र्यं दृष्ट्वा मत्वा च वाञ्छितम् ।
 सिद्धमाश्चर्यहर्षाभ्यां स जहास द्विजार्भकः ॥136॥
 इत्युक्त्वा विरतस्य तस्य नृपतेरंसात्स भूयोऽपि त-
 द्वेतालो झगिति स्वकं पदमगादन्तर्हितो मायया ।

राजा सोऽप्यविकल्पमेव पुनरप्यन्वग्ययौ तं जवा -
 दक्षोभ्यं हृदयं बतेह महतामम्भोनिधीनामिव ॥137॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके सप्तविंशस्तरङ्गः ।

अष्टाविंशस्तरङ्गः ।

(एकविंशो वेतालः)

अथ गत्वा पुनः प्राप्य शिंशपातस्ततोऽग्रहीत् ।
 स त्रिविक्रमसेनोऽसे वेतालं तं नराधिपः ॥1॥
 आगच्छन्तं च तं भूयः स वेतालोऽब्रवीन्नृपम् ।
 राजन्नुद्गाढकंदर्पां शृण्वेकां वच्मि ते कथाम् ॥2॥
 अस्ति शक्रपुरीवान्या धात्रा सुकृतिनां कृते ।
 दिवश्च्युतानां विहिता विशालाख्या पुरी भुवि ॥3॥
 तस्यां बभूव नृपतिः पद्मनाभ इति श्रुतः ।
 सच्चक्रनन्दकः श्रीमानाक्रान्तबलिराजकः ॥4॥
 तस्मिन्पृथ्वीपतौ तस्यां नगर्यां सुमहावणिक् ।
 अर्थदत्ताभिधानोऽभूद्धनैर्विजितवित्तपः ॥5॥
 तस्यैका च सुतानङ्गमञ्जरीत्युदपद्यत ।
 स्वःसुन्दरीप्रतिकृतिर्भुवि धात्रेव दर्शिता ॥6॥
 दत्ता च तेन वणिजा वणिग्वरसुताय सा ।
 मणिवर्माभिधानाय ताम्रलिप्तीनिवासिने ॥7॥
 एकापत्यतया चातिवत्सलः स न तां वणिक् ।
 भर्तृयुक्तां सुतां गेहात्तत्याजानङ्गमञ्जरीम् ॥8॥
 तस्याश्चानङ्गमञ्जर्याः पतिर्द्वेष्यो बभूव सः ।
 मणिवर्मा सरोगस्य कटुतिक्तमिवौषधम् ॥9॥
 पत्युस्तु सास्य सुमुखी जीवितादप्यभूत्प्रिया ।
 धनर्द्धिः कृपणस्येव कृच्छ्रात्सुचिरसंचिता ॥10॥
 एकदा चान्तिकं पित्रोस्ताम्रलिप्तीं निजं गृहम् ।
 उत्कण्ठादिनिमित्तेन मणिवर्मा जगाम सः ॥11॥

ततो दिनेषु यातेषु तीक्ष्णसूर्याशुसायकैः ।
 प्रोषितानां निरुद्धाध्वा धर्मकाल इहाभ्यगात् ॥12॥
 वसन्तविरहादुष्णा निःश्रासाः ककुभामिव ।
 मल्लिकापाटलामोदमेदुरा मरुतो ववुः ॥13॥
 उत्पेतुः पवनोद्धृता गगने रेणुराजयः ।
 दूत्यो घनागमायेव प्रहितास्तप्तया भुवा ॥14॥
 आकाङ्क्षिततरुच्छायाः कठोरातपतापिताः ।
 पथिका इव यान्ति स्म चिरेण दिवसा अपि ॥15॥
 चन्द्रांशुपाण्डुरुचयो गाढाश्लेषसुखप्रदम् ।
 विना हेमन्तमगमन्नतिदुर्बलतां निशाः ॥16॥
 तत्कालं चन्दनालेपधवला सा वणिक्सुता ।
 संवीततनुकौशेयशोभितानङ्गमञ्जरी ॥17॥
 ददर्श स्वगृहोत्तुङ्गवातायनगतैकदा ।
 आप्तसख्या युता भव्यं युवानं विप्रपुत्रकम् ॥18॥
 संचरन्तं रतिप्राप्त्यै नवोत्पन्नमिव स्मरम् ।
 कमलाकरनामानं पुत्रं राजपुरोधसः ॥19॥
 सोऽपीन्दोरिव मूर्तिं तां कान्तां दृष्ट्वोपरि स्थिताम् ।
 कुमुदाकरतां भेजे सानन्दः कमलाकरः ॥20॥
 तयोरभूदमूल्यं तन्मनःसंवननं तदा ।
 स्मरगुर्वाज्ञया यूनोरन्योन्यस्यावलोकनम् ॥21॥
 उन्मूलितह्रियौ तौ च दूरविक्षिप्तचेतसा ।
 रजोभिभूतौ जहाते मन्मथावेगवात्यया ॥22॥
 दृष्ट्वा च मदनाविष्टः सख्या स कमलाकरः ।
 सहस्थितेन नीतोऽभूत्कथंचिद्भवनं निजम् ॥23॥
 सापि तं नामतोऽन्विष्य विवशानङ्गमञ्जरी ।
 तथा स्वया समं सख्या प्राविशद्वासकं शनैः ॥24॥
 तत्र संचिन्तयन्ती च कान्तं कामज्वरातुरा ।
 नापश्यन्नाश्रुणोत्किंचिल्लुठन्ती शयनीयके ॥25॥

गतेष्वहःसु द्वित्रेषु सत्रपा सभया च सा ।
 असहा विरहोन्मादं विसोढुं कृशपाण्डुरा ॥26॥
 दुष्प्रापप्रियसंयोगनिरास्था नक्तमेकदा ।
 गवाक्षप्रेरितकरेणाकृष्टेव हिमांशुना ॥27॥
 सुप्ते परिजने स्वैरं निर्गत्य मरणोन्मुखी ।
 जगाम स्वगृहोद्यानवापीं तरुलतावृताम् ॥28॥
 तत्र पित्रा कृतोदारप्रतिष्ठां कुलदेवताम् ।
 उपेत्य चण्डिकां देवीं नत्वा स्तुत्वा व्यजिज्ञपत् ॥29॥
 अस्मिञ्जन्मनि चेद्भर्ता न मया कमलाकरः ।
 प्राप्तस्तद्देवि भूयान्मे सोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि ॥30॥
 इत्युक्त्वा पुरतस्तस्या देव्याः साशोकपादपे ।
 पाशं विरचयामास स्वोत्तरीयेण रागिणी ॥31॥
 तावदाप्ता सखी तस्याः सा प्रबुध्यात्र वासके ।
 तामदृष्ट्वा तदुद्यानं दैवादागाद्विचिन्वती ॥32॥
 तत्र दृष्ट्वा च तां पाशमर्पयन्तीं तथा गले ।
 मामेत्युक्त्वा प्रधाव्यैव पाशं तस्यास्तमच्छिनत् ॥33॥
 सापि तां वीक्ष्य संप्राप्तां कृत्तपाशां निजां सखीम् ।
 अनङ्गमञ्जरी भूमौ पपाताधिकदुःखिता ॥34॥
 आश्रासिता स्वसख्या च तथा पृष्टा च सा क्षणात् ।
 दुःखहेतुं समाख्याय पुनरेनामभाषत ॥35॥
 सखि मालतिके तन्मे दुर्लभे प्रियसंगमे ।
 गुर्वादिपरतन्त्राया न सुखं मरणात्परम् ॥36॥
 इति ब्रुवाणैवानङ्गशराग्निज्वलिता भृशम् ।
 सानङ्गमञ्जरी मोहं ययौ नैराश्यनिःसहा ॥37॥
 कष्टं स्मराज्ञा दुर्लङ्घ्या यया नीता दशामिमाम् ।
 अन्याविनीतवनिताहासिनीयं सखी मम ॥38॥
 इत्यादि विलपन्ती च तां सा मालतिका सखी ।
 शनैराश्रासयामास शीताम्बुपवनादिभिः ॥39॥

तापोपशान्तये चास्याश्चकार नलिनीदलैः ।
 शय्यां ददौ च हृदये हारं तुहिनशीतलम् ॥40॥
 ततः साश्रुवाचैतां सखीं सानङ्गमञ्जरी ।
 सखि हारादिभिर्नायं दाहोऽन्तर्मम शाम्यति ॥41॥
 येन प्रशाम्यति पुनः स्वबुद्धयैव विधत्स्व तत् ।
 मां संयोजय कान्तेन जीवितं मे यदीच्छसि ॥42॥
 एवमुक्तवतीं तां सा स्नेहान्मालतिकाब्रवीत् ।
 सखि भूयिष्ठयाताद्य रात्रिः प्रातरहं पुनः ॥43॥
 इहैव कृतसंकेतमानेष्यामि प्रियं तव ।
 तदालम्ब्य धृतिं तावत्रिजं प्रविश मन्दिरम् ॥44॥
 इत्युक्तवत्यै संतुष्य तस्यै सानङ्गमञ्जरी ।
 हारं स्वकण्ठादाकृष्य प्रददौ पारितोषिकम् ॥45॥
 गच्छाधुनैव स्वगृहं प्रातः सिद्धयै ततो ब्रज ।
 इति चैतां सखीं प्रेष्य सा विवेश स्ववासकम् ॥46॥
 प्रातश्च सा मालतिका केनाप्यनुपलक्षिता ।
 तत्सखी तस्य कमलाकरस्य भवनं ययौ ॥47॥
 चिन्वती तत्र चोद्याने तरुमूले ददर्श तम् ।
 चन्दनार्द्राम्बुरुहिणीपत्रशय्याविवर्तिनम् ॥48॥
 रहस्यधारिणैकेन कदलीदलमारुतैः ।
 आश्रास्यमानं सुहृदा दह्यमानं स्मराग्निना ॥49॥
 तस्या विनेयमस्य स्यात्कामावस्थेदृशीति सा ।
 विचिन्त्य तस्थौ प्रच्छन्ना ज्ञातुं तत्र विनिश्चयम् ॥50॥
 तावश्च सुहृदा तेन स ऊचे कमलाकरः ।
 क्षणमेकमिहोद्याने दत्त्वा दृष्टिं मनोरमे ॥51॥
 विनोदय मनो मित्र मात्र विक्लवतामगाः ।
 तच्छ्रुत्वा तं स्वसुहृदं विप्रपुत्रो जगाद सः ॥52॥
 यन्ममानङ्गमञ्जर्या वणिक्पुत्र्या तथा हृतम् ।
 विनोदयामि तदिदं कुतः शून्याशयो मनः ॥53॥

स्मरेण शून्यहृदयो बाणतूणीकृतो ह्यहम् ।
 तत्प्राप्स्यामि मनश्चौरीं तां यथा कुरु मे तथा ॥54॥
 इत्युक्ते विप्रपुत्रेण तेनात्मानं प्रदर्श्य सा ।
 हृष्टा मालतिकाभ्येत्य तमुवाचास्तसंशया ॥55॥
 तवास्म्यनङ्गमञ्जर्या सुभग प्रहितान्तिकम् ।
 संदेशं चाहमेवैषा विस्पष्टार्थं ब्रवीमि ते ॥56॥
 एष कः शिष्टधर्मो यत्प्रविश्य हृदयं हठात् ।
 मनो मुषित्वा मुग्धाया गम्यते स्थगितात्मना ॥57॥
 चित्रं च यद्दामदृशा तुभ्यमेव तयाधुना ।
 मनोहराय देहोऽपि दातुं प्राणैः सहेष्यते ॥58॥
 निःश्वासान्सा हि संतप्तान्विमुञ्चति दिवानिशम् ।
 ज्वलतो हृदि कंदर्पवह्नेर्धूमोद्गमानिव ॥59॥
 संपतन्ति मुहुश्चास्याः साञ्जना वाष्पबिन्दवः ।
 वदनाम्भोजसौगन्ध्यलुब्धा मधुकरा इव ॥60॥
 तद्यदीच्छसि तद्वच्चि शिवं वामुभयोरहम् ।
 इत्युक्तो मालतिकया सोऽब्रवीत्कमलाकरः ॥61॥
 भद्रे भयं करोत्येषा वाक्तवाक्षासयत्यपि ।
 वदन्ती विधुरावस्थां बद्धभावां च मे प्रियाम् ॥62॥
 तदेका गतिरत्र त्वं यथा वेत्सि तथा कुरु ।
 इत्युक्तवाक्ये कमलाकरे मालतिकाब्रवीत् ॥63॥
 अनङ्गमञ्जरीमद्य गुप्तं तां प्रापयाम्यहम् ।
 नक्तं स्वभवनोद्यानं त्वं तिष्ठेस्तत्र बाह्यतः ॥64॥
 ततः प्रवेशयिष्यामि त्वामत्रान्तः स्वयुक्तितः ।
 एवं यथेष्टो युवयोर्भविष्यति समागमः ॥65॥
 इत्युक्त्वानन्द्य तं विप्रपुत्रं मालतिका ततः ।
 गत्वा कृतार्था सानङ्गमञ्जरीमप्यनन्दयत् ॥66॥
 अथाह्ना सह यातेऽर्के क्वापि संध्यानुरागिणि ।
 ऐन्द्या दिशेन्दुतिलकेनानने सुप्रसाधिते ॥67॥

त्यक्तपद्माकरा प्राप्ता श्रीर्मयेतीव हर्षतः ।
 हसत्युत्फुल्लवदने विशदे कुमुदाकरे ॥68॥
 कृतप्रसाधनः सोत्कः स्वैरं स कमलाकरः ।
 कामी कान्तागृहोद्यानद्वारबाह्यमुपागमत् ॥69॥
 तावच्च सा मालतिका तां युक्त्यानङ्गमञ्जरीम् ।
 आनिनाथ तदुद्यानं कृच्छ्राद्गमितवासराम् ॥70॥
 उपवेश्य च तां मध्ये गुल्मके चूतशाखिनाम् ।
 प्रावेशयत्तं निर्गत्य तत्रैव कमलाकरम् ॥71॥
 स च प्रविश्य पत्रौघघनपादपमध्यगाम् ।
 तामध्वग इव च्छायां ददर्शानङ्गमञ्जरीम् ॥72॥
 उपैति यावच्च स तां तावद्दृष्ट्वा प्रधाव्य सा ।
 कामवेगहतव्रीडा कण्ठे तं सहसाग्रहीत् ॥73॥
 क्व यासि लब्धोऽसि ममेत्यालपन्ती च तत्क्षणम् ।
 सातिहर्षभरस्तब्धनिःश्वासा पञ्चतामगात् ॥74॥
 पपात च महीपृष्ठे वातरुग्णा लतेव सा ।
 विचित्रो बत कामस्य विपाकविषमः क्रमः ॥75॥
 तद्दृष्ट्वाशनिपातोग्रं सद्यः स कमलाकरः ।
 हा हा किमेतदित्युक्त्वा मूर्च्छितो न्यपतद्भुवि ॥76॥
 लब्धसंज्ञः क्षणेनाथ तामङ्कारोपितां प्रियाम् ।
 आलिङ्गन्परिचुम्बंश्च तत्तच्च विलपन्बहु ॥77॥
 तथा दुःखातिभारेण स प्रसह्य निपीडितः ।
 यथा तस्य टसत्कृत्य क्षणाद्भुदयमस्फुटत् ॥78॥
 अथ तौ मालतिकया शोच्यमानावुभावपि ।
 दृष्ट्वा प्राप्तक्षयौ शोकादिव क्षीणाभवत्क्षपा ॥79॥
 प्रातरुद्यानपालेभ्यो ज्ञात्वा बन्धुजनस्तयोः ।
 तत्राययौ त्रपाश्चर्यदुःखमोहाकुलीकृतः ॥80॥

आसीत्कर्तव्यतामूढशिरं खेदादवाङ्मुखः ।
 कष्टाः कुलखलीकारहेतवो बत कुस्त्रियः ॥81॥
 तावच्च ताम्रलिप्तीतः स तस्याः पतिरागमत् ।
 सोत्कण्ठोऽनङ्गमञ्जर्या मणिवर्मा पितुर्गृहात् ॥82॥
 स श्वाशुरं गृहं प्राप्य यथातत्त्वमवेत्य तत् ।
 वाष्पान्धलोचनो ध्यायंस्तदेवोद्यानमाययौ ॥83॥
 तत्र भार्या गतासुं तां दृष्ट्वान्यसहितामपि ।
 शोकाग्निज्वलितो रागी सद्यः सोऽपि जहावसून् ॥84॥
 ततः क्रन्दति तत्रस्थे जने कोलाहलाकुलाः ।
 आययुर्जातवृत्तान्ताः पौराः सर्वेऽत्र विस्मिताः ॥85॥
 अथात्रानङ्गमञ्जर्याः पित्रा पूर्वावतारिता ।
 देवी संनिहिता चण्डी विज्ञप्ताभून्निर्जैर्गणैः ॥86॥
 त्वदाकारप्रतिष्ठाकृदर्थदत्तः सदैव ते ।
 भक्तो वणिक्तदस्यास्मिन्दुःखे देवि दयां कुरु ॥87॥
 एतद्गणेभ्यः श्रुत्वा सा शरण्या शंकरप्रिया ।
 शान्तानङ्गास्त्रयोऽप्येते जीवन्त्विति समादिशत् ॥88॥
 अथ सर्वेऽपि ते सुप्तप्रतिबुद्धा इव क्षणात् ।
 तत्प्रसादात्समुत्तस्थुर्जीवन्तो वीतमन्मथाः ॥89॥
 ततो दृष्ट्वा तदाश्चर्यं सानन्दे सकले जने ।
 लज्जानतमुखः प्रायात्स्वगृहं कमलाकरः ॥90॥
 अर्थदत्तोऽपि तां हीतामादायानङ्गमञ्जरीम् ।
 सुतां स्वभर्तृसहितां ययौ बद्धोत्सवो गृहान् ॥91॥
 इति कथयित्वा तस्यां रात्रौ मार्गं कथां स वेतालः ।
 निजगाद तं त्रिविक्रमसेनं क्षोणीपतिं भूयः ॥92॥
 राजन्कस्य वदैतेष्वधिको मोहोऽनुरागमूढेषु ।
 सोऽत्र च पूर्वोक्तस्ते शापो जानन्न चेद्वदसि ॥93॥

इत्येतद्वेतालाच्छ्रुत्वा स प्रत्युवाच तं नृपतिः ।
 एतेषु रागमूढः प्रतिभाति ममाधिकः स मणिवर्मा ॥94॥
 इतरौ हि तावुभावपि कालक्रमपक्वमन्मथावस्थौ ।
 अन्योन्यसानुरागौ यदि जीवितमुज्जतः स्म तद्भवतु ॥95॥
 मणिवर्मा त्वतिमूढो यो भार्यामन्यपुरुषसक्तमृताम् ।
 दृष्ट्वैव कोपकाले प्रत्युत रक्तः शुचामुचत्प्राणान् ॥96॥
 इति गदितवतः स तस्य राज्ञो बत वेतालपतिः पुनर्जगाम ।
 निजमेव पदं तदंसपीठादथ राजापि तमन्वगात्स भूयः ॥97॥
 इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बकेऽष्टाविंशस्तरङ्गः ।

एकोनत्रिंशस्तरङ्गः ।

(द्वाविंशो वेतालः)

ततो राजा पुनर्गत्वा वेतालं शिंशपाग्रतः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तं प्राप्यांसारोपितं व्यधात् ॥1॥
 आयान्तं तं च राजानं स वेतालोऽब्रवीत्पथि ।
 राजन्साधुः सुसत्त्वस्त्वं तदपूर्वा कथां शृणु ॥2॥
 बभूव पूर्वं कुसुमपुराख्यनगरेश्वरः ।
 पृथ्वीतलेऽस्मिन्धरणीवराहो नाम भूपतिः ॥3॥
 तस्य ब्राह्मणभूयिष्ठे राष्ट्रे ब्रह्मस्थलाभिधः ।
 अग्रहारोऽभवत्तत्र विष्णुस्वामीत्यभूद्विद्वजः ॥4॥
 तस्यानुरूपा भार्याभूद्यथा स्वाहा हविर्भुजः ।
 तस्यां च तस्य चत्वारः क्रमादुत्पेदिरे सुताः ॥5॥
 अधीतवेदेषूत्क्रान्तशैशवेषु च तेषु सः ।
 विष्णुस्वामी दिवं प्रायाद्भार्ययानुगतस्तथा ॥6॥
 ततस्ते तत्र तत्पुत्राः सर्वेऽप्यानाय्य दुःस्थिताः ।
 गोत्रजैर्हृतसर्वस्वा मन्त्रयांचक्रिरे मिथः ॥7॥

नास्तीह गतिरस्माकं तद्व्रजामो वयं न किम् ।
 इतो मातामहगृहं ग्रामं यज्ञस्थलाभिधम् ॥8॥
 एतदेव विनिश्चित्य प्रस्थिता भैक्ष्यभोजनाः ।
 मातामहगृहं प्रापुस्तेऽथ तद्बहुभिर्दिनैः ॥9॥
 तत्र मातामहाभावान्मातुलैर्दत्तसंश्रयाः ।
 भुञ्जानास्तद्गृहे तस्थुः स्वाध्यायाभ्यासतत्पराः ॥10॥
 कालक्रमाच्च तेषां ते मातुलानामकिंचनाः ।
 अवज्ञापात्रतां जग्मुर्भोजनाच्छादनादिषु ॥11॥
 ततः स्वजनसंस्फूर्जदवमानहतात्मनाम् ।
 तेषां रहः सचिन्तानां ज्येष्ठो भ्राताब्रवीदिदम् ॥12॥
 भो भ्रातरः किं क्रियते सर्वमाचेष्टते विधिः ।
 न शक्यं पुरुषस्येह क्वचित्किंचित्कदाचन ॥13॥
 अहं ह्युद्वेगतो भ्राम्यन्प्राप्तोऽद्य पितृकानने ।
 विनन्नस्थितमद्राक्षं त्रस्ताङ्गं पुरुषं भुवि ॥14॥
 अचिन्तयं च दृष्ट्वा तमहं तां स्पृहयन्गतिम् ।
 धन्योऽयमेवं विश्रान्तो दुःखभारं विमुच्य यः ॥15॥
 इति संचिन्त्य तत्कालं कृत्वा मरणनिश्चयम् ।
 वृक्षाग्रसङ्गिना पाशेनात्मानमुदलम्बयम् ॥16॥
 यावच्च मे विसंज्ञस्य तदा नियान्ति नासवः ।
 तावत्तुटितपाशोऽत्र पतितोऽस्मि महीतले ॥17॥
 लब्धसंज्ञश्च केनापि पुंसा क्षिप्रात्कृपालुना ।
 आश्वास्यमानमात्मानभपश्यं पटमारुतैः ॥18॥
 सखे कथय विद्वानप्येवं कं प्रति खिद्यसे ।
 सुखं हि सुकृताद्दुःखं दुष्कृतादेति नान्यतः ॥19॥
 दुःखाद्यदि तवोद्वेगः सुकृतं तत्समाचर ।
 कथं तु नारकं दुःखमात्मत्यागेन वाञ्छसि ॥20॥

इत्युक्त्वा मां समाश्वास्य स च क्वापि गतः पुमान् ।
 अहं चेहागतस्त्यक्त्वा तादृशं मरणोद्यमम् ॥21॥
 तदेवं नेच्छति विधौ न मर्तुमपि लभ्यते ।
 इदानीं च तनुं तीर्थे तपसा दाहयाम्यहम् ॥22॥
 येन निर्धनतादुःखभागी न स्यामहं पुनः ।
 इत्युक्तवन्तं ज्येष्ठं तं कनिष्ठा भ्रातरोऽब्रुवन् ॥23॥
 अर्थैर्विना कथं प्राज्ञोऽप्यार्य दुःखेन बाध्यसे ।
 किं न वेत्सि यदर्थानां शरदभ्रचला गतिः ॥24॥
 आहृत्य रक्ष्यमाणापि यत्नेनान्तविरागिणी ।
 असन्मैत्री च वेश्या च श्रीश्च कस्य कदा स्थिरा ॥25॥
 तदुद्योगेन स गुणः कोऽप्युपाज्यो मनस्विना ।
 आनीयन्ते हटाद्बद्ध्वा येनार्थहरिणा मुहुः ॥26॥
 इत्युक्तो भ्रातृभिर्धैर्यं क्षणाज्ज्येष्ठोऽऽवलम्ब्य सः ।
 उवाच को गुणस्तादृगर्जनीयो भवेदिति ॥27॥
 ततो विचिन्त्य सर्वे ते वदन्ति स्म परस्परम् ।
 विचित्य पृथ्वीं विज्ञानं किञ्चिच्छिक्षामहे वयम् ॥28॥
 निश्चित्यैतच्च संकेतस्थानमुक्त्वा समागमे ।
 एकैकशस्ते चत्वारश्चतस्रः प्रययुर्दिशः ॥29॥
 याति काले च मिलितास्ते संकेतनिकेतने ।
 किं केन शिक्षितमिति भ्रातरोऽन्योन्यमब्रुवन् ॥30॥
 अथात्रैकोऽब्रवीदीदृग्विज्ञानं शिक्षितं मया ।
 येनास्थिशकलं प्राप्य प्राणिनो यस्य कस्यचित् ॥31॥
 उत्पादयाम्यहं तस्मिन्मांसं तदुचितं क्षणात् ।
 एतत्तस्य वचः श्रुत्वा द्वितीयस्तेष्वभाषत ॥32॥
 अहं तत्रैव संजातमांसेऽस्थिशकले किल ।
 जाने जनयितुं लोमत्वचं तत्प्राणिसंभवि ॥33॥

ततस्तृतीयोऽप्यवदज्जाने तत्रैव चास्म्यहम् ।
 तत्प्राण्यवयवान्म्रष्टुं जातत्वड्मांसलोमनि ॥34॥
 चतुर्थश्च ततोऽवादीदुत्पन्नावयवाकृतिम् ।
 तमेव प्राणिनं प्राणैर्युक्तं कर्तुमवैम्यहम् ॥35॥
 एवमुक्त्वा मिथः स्वस्वविज्ञानप्रथनाय ते ।
 चत्वारोऽप्यस्थिखण्डाय प्रययुर्भ्रातरोऽटवीम् ॥36॥
 तत्र सिंहस्य ते प्रापुरस्थिखण्डं विधेर्वशात् ।
 अविज्ञातविशेषाश्च गृह्णन्ति सा तथैव तत् ॥37॥
 एकश्च तत्समुचितैस्तो मांसैरयोजयत् ।
 द्वितीयोऽजनयत्तस्य तद्वत्त्वग्लोमसंहतीः ॥38॥
 तृतीयश्चाखिलैरङ्गैस्तद्योग्यैस्तदपूरयत् ।
 चतुर्थश्च ददौ तस्य सिंहीभूतस्य जीवितम् ॥39॥
 उदतिष्ठदथोद्धूतसटाभारोऽतिभैरवः ।
 स दंष्ट्रासंकटमुखः सिंहः खरनखाङ्कुशः ॥40॥
 धावित्वा च स्वनिर्मातृस्तानेव चतुरोऽपि सः ।
 अवधीत्केसरी तृप्तो विवेश च वनं ततः ॥41॥
 एवं ते सिंहनिर्माणदोषात्रष्टा द्विजातयः ।
 दुष्टं हि जन्तुमुत्थाप्य कस्यात्मनि सुखं भवेत् ॥42॥
 इत्थं चोपार्जितो यत्नाद्गुणोऽपि विधुरे विधौ ।
 संपत्तये न न परं जायते तु विपत्तये ॥43॥
 मूले ह्यविकृते दैवे सिक्ते प्रज्ञानवारिणा ।
 नयालवालः फलति प्रायः पौरुषपादपः ॥44॥
 इति तस्यां निशि मार्गे वेतालानांसतः कथां तेन ।
 आख्याय स त्रिविक्रमसेनो राजा पुनर्जगदे ॥45॥
 राजस्तेष्वपराध्यति चतुर्षु कस्तत्र सिंहनिर्माणे ।
 यन्नयवधीत्तत्कलुप्तो वद समयः सोऽत्र पूर्वस्ते ॥46॥

इति वेतालाच्छ्रुत्वा राजा सोऽचिन्तयद्विमौनस्य ।
 इच्छति गन्तुमयं मे यात्वानेष्याम्यमुं भूयः ॥47॥
 इति हृदि निश्चित्य स तं महीपतिः प्रत्युवाच वेतालम् ।
 यस्तस्य जीवदायी सिंहस्य स पापभाक्तेषु ॥48॥
 प्राणिविशेषमबुद्ध्या मांसत्वग्लोमगात्रनिर्माणम् ।
 युक्तिबलात्तु कृतं यैस्तेषां दोषोऽस्ति नाज्ञानात् ॥49॥
 येन तु सिंहाकारं दृष्ट्वा विद्याप्रकाशनोत्केन ।
 प्राणास्तस्य वितीर्णास्तेन कृता ब्रह्महत्यास्ताः ॥50॥
 एतत्स राज्ञो वचनं निशम्य स्वधाम वेतालवरो जगाम ।
 तस्यांसतस्तत्पुनरेव मायी राजापि तं सोऽनुससार भूयः ॥51॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बक एकोनत्रिंशस्तरङ्गः ।

त्रिंशस्तरङ्गः ।

(त्रयोविंशो वेतालः)

ततो गत्वा पुनः प्राप शिंशपापादपात्ततः ।
 स त्रिविक्रमसेनस्तं वेतालं राजसत्तमः ॥1॥
 स्कन्धे कृत्वा च तं मौनी दर्शितानेकवैकृतम् ।
 यावत्प्रतिष्ठते तावत्स वेतालस्तमब्रवीत् ॥2॥
 राजन्नकार्येऽप्येतस्मिन्दुर्वारोऽयं ग्रहस्तव ।
 तत्ते श्रमविनोदाय कथयामि कथां शृणु ॥3॥
 आसीत्कलिङ्गविषये नाम्ना शोभावती पुरी ।
 दिवीव शक्रनगरी वसतिः शुभकर्मणाम् ॥4॥
 यां प्रद्युम्न इवैश्वर्यवीर्यातिशयविश्रुतः ।
 प्रद्युम्ननामा नृपतिः शशासोर्जितशासनः ॥5॥
 गुणापकर्षश्रापेषु मुरजेषु कराहतिः ।
 युगेष्वश्रूयत कलिर्यस्यां प्रज्ञासु तीक्ष्णता ॥6॥

एकदेशे पुरस्तस्या नृपेण प्रतिपादितः ।
 यज्ञस्थलाभिधानोऽभूद्ग्रहारो बहुद्विजः ॥7॥
 तत्रासीद्यज्ञसोमाख्यो ब्राह्मणो वेदपारगः ।
 महाधनोऽग्निहोत्री च पूजितातिथिदेवतः ॥8॥
 तस्य व्यतीते तारुण्ये मनोरथशतैः सुतः ।
 भार्यायामनुरूपायामेक एवोदपद्यत ॥9॥
 ववृधे च पितुः सोऽस्य गृहे बालः सुलक्षणः ।
 कृताभिधानो विधिवद्देवसोम इति द्विजैः ॥10॥
 प्राप्तषोडशवर्षश्च स विद्याविनयादिभिः ।
 आवर्जितजनोऽकस्माज्ज्वरेण प्राप पञ्चताम् ॥11॥
 ततः परासुं स्नेहात्तमाश्लिष्य सह भार्यया ।
 यज्ञसेनः पिता शोचन्न दाहाय जहौ चिरम् ॥12॥
 ब्रह्मन्संसारगन्धर्वनगरस्य न वेत्सि किम् ।
 परावरज्ञोऽपि गतिं वारिबुद्बुदभङ्गुराम् ॥13॥
 ये सैन्यैः पूरितधरा हर्म्यपृष्ठेषु हारिषु ।
 लसत्संगीतनादेषु रत्नपर्यङ्कवर्तिनः ॥14॥
 श्रीखण्डद्रवलिप्ताङ्गा वरस्त्रीपरिवारिताः ।
 व्यलसन्नमरंमन्या भूलोकेऽस्मिन्नराधिपाः ॥15॥
 तेऽप्येककाः श्मशानेषु रुदत्प्रेतानुयायिषु ।
 चिताधिशयिनो यत्र जग्धाः क्रव्यात्कृशानुभिः ॥16॥
 शिवाभिर्वलितोपान्ताः कालेन कवलीकृताः ।
 न रोद्धुं शकिताः कैश्चित्तत्रान्येषां कथैव का ॥17॥
 तदेतं प्रेतमाश्लिष्य विद्वन्वद करोषि किम् ।
 इत्याद्यबोधयन्बुद्ध्या मिलितास्तं द्विजं ततः ॥18॥
 ततस्तेन कथंचित्तं मुक्तमारोप्य तत्सुतम् ।
 शिबिकायां गतप्राणं कृतप्रेतप्रसाधनम् ॥19॥
 बान्धवा वैशसोदश्रुमिलद्बन्धुजनान्विताः ।
 श्मशानं प्रापयामासुः कोलाहलसमाकुलाः ॥20॥

अत्रान्तरे च तत्रासीच्छमशाने कोऽपि तापसः ।
 वृद्धः पाशुपतो योगी मठिकायां कृतस्थितिः ॥21॥
 वयसा तपसा चातिभूयसा सुकृशां तनुम् ।
 विभ्राणो भङ्गभीत्येव सिराभिः परिवेष्टितम् ॥22॥
 नाम्ना वामशिवो भस्मपाण्डुरोमावृताकृतिः ।
 विद्युत्पिङ्गजटाजूटो महेश्वर इवापरः ॥23॥
 स तापसोऽत्र तत्कालं दत्तोपालम्भखेदितम् ।
 मूर्खं शठं ध्यानयोगाद्यवलिप्तमहंकृतम् ॥24॥
 भिक्षाफलव्रतधरं शिष्यमन्तिकवासिनम् ।
 जगाद दूराच्छ्रुत्वा तं जनकोलाहलं बहिः ॥25॥
 उत्तिष्ठ गत्वात्र बहिर्विज्ञायागच्छ सत्वरम् ।
 कुतोऽत्राश्रुतपूर्वोऽयं श्मशाने तुमुलारवः ॥26॥
 इत्युक्ते गुरुणा तेन स शिष्यः प्रत्युवाच तम् ।
 नाहं यामि स्वयं याहि भिक्षावेला ह्यपैति मे ॥27॥
 तच्छ्रुत्वोवाच स गुरुर्धिङ् मूर्खोदरतत्पर ।
 अह्नोऽर्धप्रहरे याते भिक्षावेलात्र का तव ॥28॥
 श्रुत्वैवैतत्स तं क्रुद्धः कुशिष्यः प्राह तापसम् ।
 धिग्जराजीर्णं नाहं ते शिष्यो न त्वं गुरुर्मम ॥29॥
 अहमन्यत्र यास्यामि वह पात्रीमिमां स्वयम् ।
 इत्युक्त्वोत्थाय स प्रायात्त्यक्त्वाग्रे दण्डकुण्डिकाम् ॥30॥
 विहसन्नथ निर्गत्य मठिकायाः स तापसः ।
 तत्रागाद्यत्र दाहार्थमानीतः स द्विजार्भकः ॥31॥
 दृष्ट्वा च तं जनतया शोच्यमानाग्र-ययौवनम् ।
 योगी प्रवेष्टुं तद्देहं मतिं चक्रे जरादितः ॥32॥
 गत्वा च द्रुतमेकान्ते मुक्तकण्ठं प्ररुद्य च ।
 ननर्त स ततः क्षिप्रमङ्गहारैर्यथोचितैः ॥33॥
 ततो विवेश योगात्तद्विद्वज्जपुत्रकलेवरम् ।
 क्षणात्स स्वतनुं त्यक्त्वा तपस्वी यौवनेच्छया ॥34॥

तत्क्षणं रचितायां च चितायां सहसैव सः ।
 लब्धजीवो द्विजयुवा प्रोत्तस्थौ कृतजृम्भिकः ॥35॥
 तद्दृष्ट्वा बन्धुवर्गस्य दिष्ट्या जीवति जीवति ।
 इत्युद्बभूव नादोऽत्र निखिलस्य जनस्य च ॥36॥
 अथामोक्षयन्व्रतं सर्वान्मृषा योगेश्वरः स तान् ।
 विप्रपुत्रशरीरान्तः प्रविष्टस्तापसोऽब्रवीत् ॥37॥
 लोकान्तरगतस्याद्य महापाशुपतव्रतम् ।
 ग्राह्यं साक्षान्ममाभाष्य दत्तं शर्वेण जीवितम् ॥38॥
 अधुनैव च धार्यं तद्गत्वैकान्ते व्रतं मया ।
 जीवितं मेऽन्यथा नास्ति तद्युयं यात याम्यहम् ॥39॥
 इति सर्वान्स तत्रस्थान्संबोध्य दृढनिश्चयः ।
 स्वगृहान्प्रेषयामास हर्षशोकाकुलान्ब्रवीत् ॥40॥
 स्वयं च गत्वा श्रुत्वा तत्क्षिप्तवा पूर्वकलेवरम् ।
 आत्तव्रतो महायोगी युवीभूतोऽन्यतो ययौ ॥41॥
 इति व्याख्याय वेतालः कथां निशि तदा पथि ।
 तं त्रिविक्रमसेनं स राजानं पुनरब्रवीत् ॥42॥
 राजन्ब्रूहि स योगीन्द्रः कस्मात्परपुरे वसन् ।
 प्ररुद ननर्तार्थ कौतुकं महदत्र मे ॥43॥
 इति वेतालतः श्रुत्वा शापशङ्की स भूपतिः ।
 विमुच्य मौनमेवं तमवादीद्धीमतां वरः ॥44॥
 शृणु तत्र बभूवास्य योऽभिप्रायस्तपस्विनः ।
 सह वृद्धं चिरायेदं शरीरं सिद्धिसाधनम् ॥45॥
 पितृभ्यां लालितं बाल्ये त्यजाम्यद्येति दुःखितः ।
 स जरत्तापसोऽरोदीद्देहस्नेहो हि दुस्त्यजः ॥46॥
 नवं देहं प्रवेक्ष्यामि साधयिष्याम्यतोऽधिकम् ।
 इति हर्षानृत्यच्च कस्य नेष्टं हि यौवनम् ॥47॥
 एतत्तस्य वचो निशम्य नृपतेरंसात्स भूयोऽप्यगा-
 द्वेतालो मृतपूरुषान्तरगतस्तं शिंशापापादपम् ।

राजा सोऽपि तमन्वधावदधिकोत्साहः पुनः प्रेप्सया
कल्पान्तेऽप्यचलं कुलाद्रिविजयि स्थैर्यं हि धीरात्मनाम् ॥48॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके त्रिंशस्तरङ्गः ।

एकत्रिंशस्तरङ्गः ।

(चतुर्विंशो वेतालः ।)

ततस्तां तिमिरश्यामां चिताग्निज्वलितेक्षणाम् ।
श्मशाने भीषणे तस्मिन्वीरो रजनिराक्षसीम् ॥1॥
घोरामगणयन्राजा गत्वा तां शिंशपां पुनः ।
स त्रिविक्रमसेनस्तं तस्या वेतालमाददे ॥2॥
स्कन्धे कृत्वा च तं यावत्प्रक्रामति स पूर्ववत् ।
तावद्भूयः स वेतालो नरदेवमुवाच तम् ॥3॥
भो राजन्नहमुद्विग्नो न पुनस्त्वं गतागतैः ।
तदेकं मे महाप्रश्नमिमं कथयतः शृणु ॥4॥
आसीन्माण्डलिकः कोऽपि नृपतिर्दक्षिणापथे ।
धर्माभिधानो धौरेयः साधूनां बहुगोत्रजः ॥5॥
तस्य चन्द्रवतीनाम भार्या मालवदेशजा ।
अभून्महाकुलोत्पन्ना वरस्त्रीमौलिमालिका ॥6॥
तस्यां च तस्य भार्यायां भूपतेरुदपद्यत ।
एकैव लावण्यवती नामान्वर्थाभिधा सुता ॥7॥
प्रदेयायां च तस्यां स सुतायां धर्मभूपतिः ।
उन्मूलितोऽभून्मिलितैर्दायादै राष्ट्रभेदिभिः ॥8॥
ततः पलाय्य निरगात्स देशाद्भार्यया सह ।
दुहित्रा च तया रात्रावात्सद्रत्नसंचयः ॥9॥
मालवं प्रति च स्वैरं प्रस्थितः श्वशुरास्पदम् ।
विन्ध्याटवीं तया राज्यं प्राप भार्यासुतायुतः ॥10॥
तस्यां प्रविष्टस्योदश्रुरिवावश्यायशीकरैः ।
निशानुयात्रां दत्त्वेव ययौ तस्य महीक्षितः ॥11॥

आरुरोहाथ पूर्वान्द्रिमुत्क्षिप्ताग्रकरो रविः ।
मा गाश्रौराटवीमेतामिति तं वारयन्निव ॥12॥
ततोऽत्र समुताजानिः क्षताङ्घ्रिः कुशकण्ठकैः ।
पदातिः स नृपो गच्छन्भिल्लानां प्राप पल्लिकाम् ॥13॥
परेषां प्राणसर्वस्वहारिभिः पुंभिरावृताम् ।
वर्जितां धार्मिकैर्दुर्गा कृतान्तनगरीमिव ॥14॥
तत्र दृष्ट्वैव तं दूरात्सवस्त्राभरणं नृपम् ।
मोषितुं बहवोऽधावञ्शबरा विविधायुधाः ॥15॥
तान्विलोक्य सुताभार्ये राजा धर्मो जगाद सः ।
पुरा स्पृशन्ति वां म्लेच्छास्तदितो विशतं वनम् ॥16॥
इति राज्ञोदिता राज्ञी वनमध्यं विवेश सा ।
लावण्यवत्या सुतया सार्धं चन्द्रवती भयात् ॥17॥
राजाप्यभिमुखायातान्खड्गचर्मधरोऽत्र सः ।
अवधीत्तान्बहूञ्शूरः शबराञ्शरवर्षिणः ॥18॥
ततस्तेनाखिला पल्ली पत्याज्ञप्ता निपत्य तम् ।
प्रहारक्षतचर्माणमवधीनृपमेककम् ॥19॥
गृहीताभरणे याते दस्युसैन्ये विलोक्य तम् ।
भर्तारं निहतं दूराद्वनगुल्मान्तरस्थिता ॥20॥
राज्ञी चन्द्रवती सात्र दुहित्रा सह विह्वला ।
पलायमाना गहनं दूरमन्वगगाद्वनम् ॥21॥
तत्र मध्याह्नतापार्तास्विव मूलानि शाखिनाम् ।
छायास्वपि प्रविष्टासु शिशिराणि सहाध्वगैः ॥22॥
एकदेशेऽब्जसरसस्तीरेऽशोकतरोस्तले ।
शोकार्ता रुदती श्रान्ता समुता समुपाविशत् ॥23॥
तावत्तद्वनमभ्यर्णनिवासी मृगयाकृते ।
महामनुष्यः कोऽप्यागादश्चारूढः सपुत्रकः ॥24॥
स चण्डसिंहनामा तं पुत्रं सिंहपराक्रमम् ।
उवाच दृष्ट्वात्र तयोः पांसूत्ये पदपद्धती ॥25॥

एते सुरेखे सुभगे अनुसुत्याप्नुवो यदि ।
 स्त्रीयौ ते तत्तयोरेकां स्वीकुरुष्व यथारुचि ॥26॥
 इत्युक्तवन्तं तं स्माह पुत्रः सिंहपराक्रमः ।
 यस्याः सूक्ष्माविमौ पादौ सा भार्या प्रतिभाति मे ॥27॥
 सा हि स्वल्पवया नूनं जाते समुचिता मम ।
 बृहत्पादा तु योग्येयमेतज्ज्येष्ठवयास्तव ॥28॥
 इति सूनोर्वचः श्रुत्वा चण्डसिंहो जगाद तम् ।
 कैषा कथा भवन्माता प्रत्यग्रं हि गता दिवम् ॥29॥
 तादृशे सुकलत्रे च गते कान्यत्र वासना ।
 तच्छ्रुत्वा सोऽपि पुत्रस्तं चण्डसिंहमभाषत ॥30॥
 तात मैवमभार्यं हि शून्यं गृहपतेर्गृहम् ।
 अन्यच्च मूलदेवोक्ता गाथा किं न श्रुता त्वया ॥31॥
 यत्र धनस्तनजघना नास्ते मार्गावलोकिनी कान्ता ।
 अजडः कस्तदनिगडं प्रविशति गृहसंज्ञकं दुर्गम् ॥32॥
 तज्जीवितेन मे तात शापितोऽसि न तां यदि ।
 द्वितीयां मदभीष्टायां भार्यार्थं स्वीकरिष्यसि ॥33॥
 एतत्पुत्रवचः श्रुत्वा प्रतिपद्य च तत्सखः ।
 स चण्डसिंहोऽनुसरन्पदपिङ्गं क्त शनैर्ययौ ॥34॥
 प्राप्य तच्च सरःस्थानं मुक्तातारौघमण्डिताम् ।
 श्यामां चन्द्रवतीं राज्ञीं तां ददर्शावभासिताम् ॥35॥
 लावण्यवत्या सुतया ज्योत्स्नयेवावदातया ।
 नैर्शां द्यामिव मध्याह्ने तरुच्छायामुपाश्रिताम् ॥36॥
 उपाययौ च पुत्रेण साकं तां स सकौतुकः ।
 सापि दृष्ट्वा तमुत्तस्थौ वित्रस्ता चौरशङ्किनी ॥37॥
 अलं त्रासेन नाम्बैतो चौरौ सौम्याकृती इमौ ।
 सुवेषौ कौचिदाखेटकृते नूनमिहागतौ ॥38॥
 इत्युक्ता सुतया राज्ञी यावद्दोलायतेऽत्र सा ।
 तावदश्वावतीर्णस्ते चण्डसिंहोब्रवीदुभे ॥39॥

किं संभ्रमेण वामावां प्रणयाद्द्रष्टुमागतौ ।
 तद्विश्वस्य निरातङ्गे वदतं के युवामिति ॥40॥
 हरनेत्रानलज्वालादग्धमन्मथदुःस्थिते ।
 रतिप्रीती इवारण्यमिदमेवमुपागते ॥41॥
 प्रविष्टे स्थः कथंचेह बत निर्मानुषे वने ।
 रत्नप्रासादवासार्हमिदं हि युवयोर्वपुः ॥42॥
 कथं वराङ्गनोत्सङ्गयोग्यौ कण्टकिनीमिमाम् ।
 भुवं वां चरणौ भ्रान्ताविति नौ मनसि व्यथा ॥43॥
 एषा च चित्रं युवयोः पतन्ती धूलिरानने ।
 वातोद्धृता हतच्छायमावयोः कुरुते मुखम् ॥44॥
 भवत्योरेष चाङ्गोऽस्मिन्निपतन्पुष्पपेशले ।
 किरणोष्मा दहत्यस्मानुच्चण्डशण्डदीधितेः ॥45॥
 तद्ब्रूतमात्मवृत्तान्तं दूयते हृदयं हि नः ।
 द्रष्टुं न शक्नुमोऽरण्ये स्थितिं वां श्वापदावृते ॥46॥
 इत्युक्ते चण्डसिंहेन राज्ञी निःश्वस्य सा शनैः ।
 लज्जाशोकाकुला तस्मै स्वं वृत्तान्तमवर्णयत् ॥47॥
 ततो निःस्वामिका मत्वा तामाश्रास्य च सात्मजाम् ।
 स्वीचक्रे मधुरैर्वाक्यैश्चण्डसिंहोऽनुरञ्जयन् ॥48॥
 आरोप्य चाश्वयोः पृष्ठं सपुत्रस्तां सपुत्रिकाम् ।
 निनाय बित्तपपुरीसमुद्धां वसतिं निजाम् ॥49॥
 सापि जन्मान्तरगतेवावशाङ्गीचकार तम् ।
 अनाथा कृच्छ्रपतिता विदेशे स्त्री करोति किम् ॥50॥
 ततस्तां सूक्ष्मपादत्वाद्राज्ञीं सिंहपराक्रमः ।
 चण्डसिंहसुतस्तत्र भार्या चन्द्रवतीं व्यधात् ॥51॥
 तत्सुतां तां च लावण्यवतीं नृपतिकन्यकाम् ।
 बृहत्त्वात्पादयोर्भार्यां चण्डसिंहश्चकार सः ॥52॥
 प्राग्धि सूक्ष्मबृहत्पादमुद्रापङ्क्तिद्वयेक्षणात् ।
 प्रतिपन्नं तथा ताभ्यां सत्यं कश्चातिवर्तते ॥53॥
 एवं पादविपर्यासान्ते पितापुत्रयोस्तयोः ।
 दुहितामातरौ भार्ये जाते श्वश्रूस्नुषे तदा ॥54॥

कालेन च तयोस्ताभ्यां भर्तृभ्यां जज्ञिरे द्वयोः ।
 पुत्रा दुहितरश्चैव तेषामन्येऽप्यथ क्रमात् ॥55॥
 इत्थं संप्राप्य तौ चण्डसिंहसिंहपराक्रमौ ।
 तस्थतुस्त्र लावण्यवतीं चन्द्रवतीं च ते ॥56॥
 इति व्यावर्ण्य वेतालस्तदा पथि कथां निशि ।
 स त्रिविक्रमसेनं तं पप्रच्छ नृपतिं पुनः ॥57॥
 तयोर्मातादुहित्रोर्ये पुत्रपित्रोस्तयोनृप ।
 सकाशाज्जन्तवो जाताः क्रमादुभयपक्षयोः ॥58॥
 ज्ञात्वेदं ब्रूहि मे तेषामन्योन्यं के भवन्ति ते ।
 पूर्वोक्तः सोऽत्र शापस्ते जानानश्चेन्न वक्ष्यसि ॥59॥
 एतद्वेतालतः श्रुत्वा विमृशन्बहुधापि सः ।
 नाज्ञासीत्तद्यदा राजा तूष्णीकः प्रययौ तदा ॥60॥
 ततस्तदंसकूटस्थो वेतालो विहसन्हृदि ।
 मृतपूरुषदेहान्तर्निविष्टः समचिन्तयत् ॥61॥
 नायं राजा महाप्रश्ने वेत्यस्मिन्दातुमुत्तरम् ।
 तेन तूष्णीं ब्रजत्येष हृष्टोऽतिचतुरैः पदैः ॥62॥
 न च वञ्चयितुं शक्यः सत्त्वराशिरयं परम् ।
 क्रीडन्भिक्षुः स चास्माभिरियतैव न शाम्यति ॥63॥
 तदद्य वञ्चयित्वा तं दुरात्मानमुपायतः ।
 तत्सिद्धिं भाविकल्याणे राजन्यस्मिन्निवेशये ॥64॥
 इत्यालोच्य स वेतालो नृपं तमवदत्तदा ।
 राजन्कृष्णनिशाघोरे श्मशानेऽस्मिन्गतागतैः ॥65॥
 एतैः क्लिष्ट सुखार्हस्त्वं न विकल्पश्च कोऽपि ते ।
 तदाश्चर्येण धैर्येण तद्योऽहममुना तव ॥66॥
 शवमेतं नयेदानीं निर्गच्छाम्यमुतो ह्यहम् ।
 इदं तु शृणु यद्वच्मि हितं तव कुरुष्व च ॥67॥
 आनीतमेतद्भवता यस्यार्थं नृकलेवरम् ।
 कुभिक्षुः सोऽद्य मामस्मिन्समाहूयार्चयिष्यति ॥68॥
 उपहारीचिकीर्षुश्च त्वामेव स शठस्ततः ।
 भूमौ प्रणाममष्टाभिरङ्गैः कुर्विति वक्ष्यति ॥69॥

त्वं प्राग्दर्शय तावन्मे करिष्येऽहं तथैव तत् ।
 इति सोऽपि महाराज वक्तव्यः श्रमणस्त्वया ॥70॥
 ततो निपत्य भूतौ स प्रणामं यावदेव ते ।
 दर्शयिष्यति तावत्त्वं छिन्द्यास्तस्यासिना शिरः ॥71॥
 ततो विद्याधरैश्चर्यसिद्धिर्या तस्य वाञ्छिता ।
 तां त्वं प्राप्स्यसि भुङ्क्ष्वेमां भुवं तदुपहारतः ॥72॥
 अन्यथा तु स भिक्षुस्त्वामुपहारीकरिष्यति ।
 एतदर्थं कृतो विघ्नस्तवात्रेयच्चिरं मया ॥73॥
 तत्सिद्धिरस्तु ते गच्छेत्युक्त्वा तस्यांसपृष्ठगात् ।
 निर्गत्य स ययौ तस्माद्वेतालः प्रेतकायतः ॥74॥
 अथ स नरपतिस्तं प्रीतवेतालवाक्याच्छ्रमणमहितमेव क्षान्तिशीलं विचिन्त्य ।
 वटवटपितलं तत्तस्य पार्श्वं प्रतस्थे मृतपुरुषशरीरं तद्गृहीत्वा प्रहृष्टः ॥ 75॥
 इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बक एकत्रिंशस्तरङ्गः ।

द्वात्रिंशस्तरङ्गः ।

(पञ्चविंशो वेतालः)

ततस्तस्यान्तिकं भिक्षोः क्षान्तिशीलस्य भूपतिः ।
 स त्रिविक्रमसेनोऽत्र प्राप स्कन्धे शवं वहन् ॥1॥
 ददर्श तं च श्रमणं मार्गाभिमुखमेककम् ।
 कृष्णपक्षक्षपारौद्रे श्मशाने तरुमूलगाम् ॥2॥
 असृग्लिप्तस्तले गौरेणास्थिचूर्णेन निर्मिते ।
 मण्डले दिक्षु विन्यस्तपूर्णशोणितकुम्भके ॥3॥
 महातैलप्रदीपाद्ये हुतपार्श्वस्थवह्निन ।
 संभृतोचितसंभारे स्वेष्टदैवतपूजने ॥4॥
 उपागाच्च स तं राजा सोऽपि भिक्षुर्विलोक्य तम् ।
 आनीतमटकं हर्षादुत्थायोवाच संस्तुवन् ॥5॥
 दुष्करो मे महाराज विहितोऽनुग्रहस्त्वया ।
 त्वादृशाः क्व क्व चेष्टेयं देशकालौ क्व चेदृशौ ॥6॥

निष्कम्पं सत्यमेवाहुर्मुख्यं त्वां कुलभूभृताम् ।
 एवमात्मानपेक्षेण परार्थो येन साध्यते ॥7॥
 एतदेव महत्त्वं च महतामुच्यते बुधैः ।
 प्रतिपन्नादचलनं प्राणानामत्ययेऽपि यत् ॥8॥
 इति ब्रुवन्स सिद्धार्थमानी भिक्षुर्महीपतेः ।
 तस्यावतारयामास स्कन्धात्तं मटकं तदा ॥9॥
 स्नपयित्वा समालभ्य बद्धमाल्यं विधाय च ।
 मटकं मण्डलस्यान्तः स्थापयामास तस्य तत् ॥10॥
 भस्मोद्भूलितगात्रश्च केशयज्ञोपवीतभृत् ।
 प्रावृतप्रेतवसनो भूत्वा ध्यानस्थितः क्षणम् ॥11॥
 तस्मिन्मन्त्रबलाहृतं प्रवेश्य नृकलेवरे ।
 तं वेतालवरं भिक्षुः पूजयामास स क्रमात् ॥12॥
 ददौ तस्मै कपालार्घपात्रेणार्घ्यं सुनिर्मलैः ।
 नरदन्तैः (रक्तैः)स्ततः पुष्पं सुगन्धिं च विलेपनम् ॥13॥
 दत्त्वा मानुषनेत्रैश्च धूपं मांसैर्बलिं तथा ।
 समाप्य पूजां राजानं तमुवाच स पार्श्वगम् ॥14॥
 राजन्निहास्य मन्त्राधिराजस्य कृतसंनिधेः ।
 प्रणाममङ्गैरष्टाभिर्निपत्य कुरु भूतले ॥15॥
 येनाभिप्रेतसिद्धिं ते दास्यत्येष वरप्रदः ।
 श्रुत्वैतत्स्मृतवेतालवचा राजाब्रवीत्स तम् ॥16॥
 नाहं जानामि तत्पूर्वं प्रदर्शयतु मे भवान् ।
 ततस्तथैव तदहं करिष्ये भगवन्निति ॥17॥
 ततो दर्शयितुं यावत्स भिक्षुः पतितो भुवि ।
 तावत्खड्गप्रहारेण स राजास्य शिरोऽच्छिनत् ॥18॥
 आचकर्ष च हृत्पद्ममुदरादस्य पाटितम् ।
 वेतालाय च तस्मै तच्छिरोहृत्कमलं ददौ ॥19॥
 साधुवादे ततो दत्ते प्रीतैर्भूतगणैस्ततः ।
 तुष्टोऽब्रवीत्स वेतालो नृपं तं नृकलेवरात् ॥20॥

राजन्विद्याधरेन्द्रत्वं भिक्षोरासीद्यदीप्सितम् ।
 तत्तावद्भूमिसाम्राज्यभोगान्ते ते भविष्यति ॥21॥
 क्लेशितोऽसि मया यत्त्वं तदभीष्टं वरं वृणु ।
 इत्युक्तवन्तं वेतालं स राजा तमभाषत ॥22॥
 त्वं चेत्प्रसन्नः को नाम न सिद्धोऽभिमतो वरः ।
 तथाप्यमोघवचनादिदं त्वत्तोऽहमर्थये ॥23॥
 आद्याः प्रश्नकथा एता नानाख्यानमनोरमाः ।
 चतुर्विंशतिरेषा च पञ्चविंशी समाप्तिगा ॥24॥
 सर्वाः ख्याता भवन्त्वेताः पूजनीयाश्च भूतले ।
 इति तेनार्थितो राजा वेतालो निजगाद सः ॥25॥
 एवमस्तु विशेषं च शृणु वच्यत्र भूतले ।
 याश्चतुर्विंशतिः पूर्वा यैषा चैका समापिनी ॥26॥
 कथावलीयं वेतालपञ्चविंशतिकाख्यया ।
 ख्याता जगति पूज्या च शिवा चैव भविष्यति ॥27॥
 यः श्लोकमात्रमप्यस्याः कथयिष्यति सादरः ।
 यो वा श्रोष्यति तौ सद्यो मुक्तपापौ भविष्यतः ॥28॥
 यक्षवेतालकूष्माण्डडाकिनीराक्षसादयः ।
 न तत्र प्रभविष्यन्ति यत्रैषा कीर्तयिष्यते ॥29॥
 इत्युक्त्वा स ययौ तस्मान्निर्गत्य नृकलेवरात् ।
 यथाभिरुचितं धाम वेतालो योगमायया ॥30॥
 ततस्तत्र सुरैः सार्धं राजस्तस्य महेश्वरः ।
 साक्षादाविरभूत्तुष्टः प्रणतं चादिदेश तम् ॥31॥
 साधु वत्स हतोऽद्यायं यत्त्वया कूटतापसः ।
 विद्याधरमहाचक्रवर्तिताहठकामुकः ॥32॥
 त्वमादौ विक्रमादित्यः सृष्टोऽभूः स्वांशतो मया ।
 म्लेच्छरूपावतीर्णानामसुराणां प्रशान्तये ॥33॥
 अद्य चोद्दामदुर्वृत्तदमनाय मया पुनः ।
 त्वं त्रिविक्रमसेनाख्यो हीरः सृष्टोऽत्र भूपतिः ॥34॥
 अतः सद्गीपपातालां स्थापयित्वा महीं वशे ।
 विद्याधराणामचिरादधिराजो भविष्यसि ॥35॥

भुक्त्वा दिव्यांश्चिरं भोगानुद्विग्नः स्वेच्छयैव तान् ।
त्यक्त्वा ममैव सायुज्यमन्ते यास्यस्यसंशयम् ॥36॥
अपराजितनामानं खड्गं चैतं गृहाण मे ।
यस्य प्रसादात्सर्वं त्वं प्राप्स्यस्येतद्यथोदितम् ॥37॥
इत्युक्त्वा खड्गरत्नं तद्दत्त्वा तस्मै महीभृते ।
वाक्पुष्पाभ्यर्चितस्तेन देवः शंभुस्तिरोदधे ॥38॥
अथ दृष्ट्वैव समाप्तं कार्यमशेषं निशि प्रभातायाम् ।
प्रविवेश स त्रिविक्रमसेनः स्वपुरं नृपः प्रतिष्ठानम् ॥39॥
तत्र क्रमावगतरात्रिविचेष्टिताभिरभ्यर्चितः प्रकृतिभिर्विततोत्सवाभिः ।
स्नानप्रदानगिरिशार्चननृत्तगीतवाद्यादिभिस्तदखिलं स दिनं निनाय ॥40॥
अल्पैरेव च वासरैः स नृपतिः शार्वस्य वीर्यादसेः
सद्वीपां सरसातलां च बुभुजे निष्कण्टकां मेदिनीम् ।
संप्राप्याथ हराज्ञया सुमहतीं विद्याधराधीशतां
भुक्त्वा तां सुचिरं जगाम भगवत्सायुज्यमन्ते कृती ॥41॥

(इति वेतालपञ्चविंशतिका ।)

इति विक्रमकेसरी स मंत्री चिरमिलितः पथि शापविप्रयोगात् ।
अभिधाय पुनर्मृगाङ्कदत्तं प्रकृतार्थं निजगाद राजपुत्रम् ॥42॥
एवं देव स वृद्धो विप्रो वेतालपञ्चविंशतिकाम् ।
एतामाख्याय कथां ग्रामे तस्मिन्नुवाच मां भूयः ॥43॥
तत्पुत्र स त्रिविक्रमसेनो राजा किलैवमक्लीबः ।
वेतालानुग्रहतः किमिव न यत्प्राप्तवानिष्टम् ॥44॥
तस्मादिह त्वमपि मन्त्रमिमं गृहीत्वा मत्तः प्रसादय विमुक्तविषादवृत्तिः ।
वेतालमुख्यममुना प्रभुणा मृगाङ्कदत्तेन संगममवाप्स्यसि वीर येन ॥45॥

क्षेमेन्द्र कृत बृहत्कथामञ्जर्यां वेतालपञ्चविंशतिका

श्रीत्रिविक्रमसेनोऽभूत्प्रतिष्ठानपुरे नृपः ।
रत्नाकरः प्रसूतिर्यो लक्ष्म्याः सत्त्ववतां वरः ॥19॥
यद्यशोदर्पणतले तारहारविभूषितैः ।
बिम्बितेव विभाति द्यौरिन्दुमार्तण्डकुण्डला ॥20॥
रामाभिरामं तं द्रष्टुं श्रमणो नित्यमाययौ ।
इव सीताग्रहच्छद्मच्छत्रो लङ्कापतिः पुनः ॥21॥
क्षान्तिशीलाभिधानोऽसौ तस्यास्थाने ददौ सदा ।
फलं नरपतिस्तच्च कोशाध्यक्षकरेऽक्षिपत् ॥22॥
इति संसेवमानस्य ययुर्भिक्षोः समा दश ।
कदाचित्तत्फलं राज्ञः प्राप केलिकपिः करात् ॥23॥
तद्वन्तदलितान्तस्माद्दिव्यं रत्नं विनिर्ययौ ।
तत्कान्त्या छुरितः सर्वो बभूव स्थानमण्डपः ॥24॥
नृपः कोशेशमाहूय फलान्यन्यान्ययाचत ।
सोऽप्यदात्तद्रत्नचयं राज्ञे फलविनिर्गतम् ॥25॥
दत्त्वा कोशेश्वरायैव रत्नानि त्यागसागरः ।
पुनः श्रमणमायातं तं पप्रच्छ महीपतिः ॥26॥
क्षान्तिशीलव्यवसितं चित्रं ते प्रतिभाति मे ।
किं रत्नः पृथिवीमूल्यैः प्राप्नुमिच्छस्यतः परम् ॥27॥
इति पृष्टो नृपतिना श्रमणः प्राह तं नरः ।
बद्धप्रतिज्ञमाधाय निजवाञ्छितसिद्धये ॥28॥
अनुल्लङ्घितमर्यादाः परायासासहिष्णवः ।
सेव्या न कस्य नृपते त्वादृशाः शौर्यसागराः ॥29॥
परार्थायोच्चवपुषः सर्वाशापोषशालिनः ।
राजन्दुर्गतिमित्रस्य त्वादृशः को न याचकः ॥30॥
अस्यां कृष्णचतुर्दश्यां श्मशाने मन्त्रसाधना ।
ममास्ति काचित्त्र त्वं द्वितीयो भव साधकः ॥31॥

महावटतरोर्मूले स्थिते मयि निशि त्वया ।
 आगन्तव्यं महावीर करवालविभूषिणा ॥32॥
 इत्याभाष्य तथेत्युक्त्वा क्षमापालेन प्रतिश्रुते ।
 श्रमणः प्रययौ हृष्टः प्रवेष्टुं मन्त्रसाधनम् ॥33॥
 ततस्तस्यां निशि नृपः खड्गी रुचिरकुण्डलः ।
 तं ययौ भूतलशशी यशोविशदचन्द्रिकः ॥34॥
 चलद्रज्रांशुकटकच्छायाशबलिताम्बरः ।
 किरीटमणिसच्छायो रत्नाद्रिरिव जङ्गमः ॥36॥
 तमालकलितोत्तंसकालागरुविलेपनः ।
 नीलांशुको गजच्छायाव्यासाकार इवेश्वरः ॥36॥
 रराज ब्रजतस्तस्य तारहारकरो निशि ।
 तत्कालोल्लासिवपुषा सत्त्वेनेव प्रकाशितम् ॥37॥
 कस्तूरीक्षोदतां गात्रे जयकुञ्जरतां पुरः ।
 मायूरच्छत्रतां मूर्ध्नि मुहुस्तस्य ययौ तमः ॥38॥
 मौलिमालापरिमलव्यालीनालिकुलैर्बभौ ।
 तद्यात्रामङ्गले लक्ष्म्याः स्वस्तिवादाक्षरैरिव ॥39॥
 ततः श्मशानं स प्राप निःशङ्को भूतसंकुलम् ।
 सर्वापायमयं कायमिवायासशताश्रयम् ॥40॥
 मस्तिष्कलिप्तशुभ्रास्थिप्रकरं लोहितासवम् ।
 आक्रीडमिव कालस्य कपालचषकाकुलम् ॥41॥
 धूमान्धकारमलिनं वीरेन्द्रारावगर्जितम् ।
 चञ्चिताश्रितडितं कालमेघमिवोत्थितम् ॥42॥
 गृध्रकृष्टान्त्रमालाभिः कृतं प्रारम्भविभ्रमम् ।
 काल्या इवोत्सवोन्मत्तकृत्तिकामृतकम्पतिम् ॥43॥
 जीर्णास्थिनलकच्छिद्रक्षिप्रविज्ञानमारुतम् ।
 संचरद्योगिनीवृन्दनूपुरैरिव रावितम् ॥44॥
 दिक्षु प्रतिफलदघोषस्फारहुंकारहुंकृतम् ।
 त्रिजगत्प्रलयारम्भकृतोङ्कारमिवान्तकम् ॥45॥

मण्डितं मुण्डखण्डेन दुष्टकङ्कालमालिनम् ।
 ज्वलिताङ्गारनयनं द्वितीयमिव भैरवम् ॥46॥
 प्रत्यग्ररुधिरापूरसंपूरितवृकोदरम् ।
 कर्णशल्योद्धृतारावं दुःशासनवधाकुलम् ॥47॥
 संचरद्भीमपुरुषं द्वितीयमिव भारतम् ॥
 बहुच्छलं द्यूतमिव स्त्रीचित्तमिव दारुणम् ॥48॥
 अविवेकमिवानेकशङ्कातङ्कनिकेतनम् ।
 खरोत्कटजनस्थानं घोरसर्पनखावृतम् ॥49॥
 दण्डकारण्यसदृशं मारीचरुचितान्तरम् ।
 भ्राताकम्पनधूम्राक्षमेघनादविभूषणम् ॥50॥
 लङ्कादाहमिवोद्धृतं जीवद्रवणविप्लवम् ।
 समग्रदुःखनिलयं भूतसंघप्रहर्षणम् ॥51॥
 बहुच्छिद्रं घनाश्लिष्टप्रेतराशिनिरन्तरम् ।
 पलाशशतसंबाधं चितानिःशेषितद्रुमम् ॥52॥
 शिवाभिव्याप्तमशिवं भ्रान्तान्तकमनन्तकम् ।
 निकुम्भकुचकुम्भाभिर्विपुलश्रोणिभिर्मुहुः ॥53॥
 दिगम्बराभिर्नारीभिः कल्पिताकाण्डताण्डवम् ।
 गृध्रगोमायुगहनं काककङ्कुलाकुलम् ॥54॥
 प्रमत्तभूतवेतालं मालामेलकमालितम् ।
 पिशाचशाकिनीयुक्तं लडडुमरुमण्डलम् ॥55॥
 स्पष्टाट्टहासमकटं क्रीडच्चक्रेश्वरीचयम् ।
 भयंकरं भयस्यापि विमोहस्यापि मोहनम् ॥56॥
 तमसोऽप्यन्धतमसं कृतान्तस्यापि कम्पनम् ।
 दृष्ट्वा पितृवनं घोरं डाकिनीगणसेवितम् ॥57॥
 क्षान्तिशीलं वटतले सोऽपश्यत्कृतमण्डलम् ।
 दृष्ट्वा प्रणम्य तं प्राह प्राप्तोऽहं करवाणि किम् ॥58॥
 इति श्रुत्वावदद्भिर्क्षुर्हर्षव्याकोशलोचनः ।
 राजन्सत्त्ववतां धुर्य धैर्येणानेन तेऽधुना ॥59॥

मन्ये समस्तधीराणां यशसां केतुराहितः ।
क्रोशमात्रमतिक्रम्य दक्षिणाशामुखः प्रभो ॥60॥
इतो गच्छ तमानेतुं शिंशिपोल्लम्बितं नरम् ।
इति तस्य गिरा राजा घोरे तमसि सोल्मुकः ॥61॥
गत्वा ददर्श तं शुष्कं वृक्षं नीचमिवोद्धतम् ।
दरिद्रमिव विच्छायं पिशाचमिव भीषणम् ॥62॥
कुकाव्यमिव विश्लिष्टं विशालं शिंशिपातरुम् ।
भुग्नाननं चावनतं सरलस्रस्तदोर्युगम् ॥63॥
दीर्घाग्रपादं तस्याग्रे स चापश्यन्तपः शवम् ।
भुवि पुण्यं मया नोत्तं हस्तेनाप्तं न किंचन ॥64॥
विमुक्तहस्तं संतापादितीवाधोमुखं स्थितम् ।
तरुमारुह्य तं मुक्त्वा कण्ठपाशमपातयत् ॥65॥
पतितः सोऽथ चुक्रोश हा हतोऽस्मीति सव्यथम् ।
करुणाकूणितमना भूपालोऽप्यनुरुह्य तम् ॥66॥
मुहुर्मुहुः परामृश्य निनिन्द निजसाहसम् ।
स च क्षणादट्टहासं मठको विकटं व्यधात् ॥67॥
भूतानां समभूद्येन स्पष्टं कण्टकिता तनुः ।
ततस्तूर्णमदृश्योऽसौ तस्मिन्नेव लतान्तरे ॥68॥
तेनैव कण्ठपाशेन तथैवोल्लम्बितः स्थितः ।
वेतालमायां विज्ञाय पुनरारुह्य पादपम् ॥69॥
तमादाय नृपः स्कन्धे जवेन महता ययौ ।
स्कन्धस्थितस्तमवदद्वेतालः शृणु भूपते ॥70॥
कथयामि कथां तुभ्यं दूरेऽध्वनि सुनन्दिनीम् ।
अस्ति वाराणसी नाम श्रीकण्ठदयिता पुरी ॥71॥
गौरीकृताहिमगिरिस्फारैः स्फटिकमन्दिरे ।
प्रतापमुकुटो नाम तस्यामासीन् महीपतिः ॥72॥
द्वौर्धत्प्रतापमुकुटा ससंध्येवानिशं बभौ ।
तस्य भूमिपतेः प्राणप्रिया सोमप्रभाभवत् ॥73॥

शक्तिः पुष्पशरस्येव त्रैलोक्यविजयोद्यमे ।
द्युतिमान्वज्रमुकुटस्तस्यां तेन सुतोऽजनि ॥74॥
स्मरेन्दुमाधवा यस्य लज्जन्ते रूपसंपदा ।
तस्य बुद्धिशरीराख्यो मन्त्रिपुत्रः सखाभवत् ॥75॥
अद्वितीयः सदा प्रेमलीलाविश्रम्भसंपदाम् ।
कदाचित्तेन सहितः स ययौ मृगयारसात् ॥76॥
वनं कुरङ्गमातङ्गशार्दूलशरभाकुलम् ।
स तत्र चापक्रेङ्कारकूरकोपान्मृगेश्वरान् ॥77॥
हत्वा विवेश व्याकोशकुल्लवल्लीयुतं वनम् ।
तस्याविदूरे फुल्लाब्जं ददर्श विमलं सरः ॥78॥
स्फाटिकं वनदेवीनामिव विभ्रमदर्पणम् ।
तत्सरः स्नातुमायातां कन्यां दासीशतैर्वृताम् ॥79॥
आलुलोके नृपसुतः शशिलेखामिवोद्रताम् ।
तस्याः कुवलयच्छायैः कटाक्षैश्चटुलांशुभिः ॥80॥
नृत्यच्छिखण्डिमालेव चकासे काननस्थली ।
अधरांशुभिराकाशे निबिडैर्बिम्बबन्धुभिः ॥81॥
या बभारेव लावण्यजलधौ विद्रुमावलीम् ।
जातौ यस्याः कुचौ कान्तिवापीकमलकोरकौ ॥82॥
ययोर्दोर्युगलं धत्ते विसकाण्डकुटुम्बताम् ।
उवाह या तनुलता भृङ्गालीं रोमवल्लरीम् ॥83॥
पश्चाद्विषक्तां वैमल्याद्विम्बितामिव वेणिकाम् ।
या हंसगामिनी रेजे निःक्रणन्मणिनूपुरा ॥84॥
श्रीरिवाम्बुजसंचारलम्बा सिञ्जानषट्पदी ।
तां विलोक्येन्दुवदनां नयनानन्दकौमुदीम् ॥85॥
सहसा राजपुत्रोऽभूत्किमप्युल्लासिमानसः ।
सापि तं वीक्ष्य कामस्य प्रतिमानं धनुर्धरम् ॥86॥
बभौ बालानिलालालवल्लीव ललिताकृतिः ।
लीलावती समादाय सा निजं शेखरोत्पलम् ॥87॥

कर्णे चकार लोलाक्षी सचिवं लोचनश्रियः ।
 अपनीय ततः कर्णान्मुहुर्दन्तैरवादयत् ॥88॥
 सविभ्रमं च चिक्षेप खण्डितं पादयोस्तले ।
 ततोऽप्याहृत्य सा कन्या निदधे तत्कुचस्थले ॥89॥
 इति स्मराकुला चक्रे किमप्यात्योपसूचकम् ।
 ततो महत्तराहूता सा ययौ वलितानना ॥90॥
 विसृज्य राजपुत्राय दूर्ती नेत्रप्रभामिव ।
 ध्यायन्ती राजतनयं सा प्राप्य निजमन्दिरम् ॥91॥
 बभूव विरहक्षामा प्राचीव शशिनः कला ।
 राजपुत्रोऽपि नगरीं प्रविश्य स्मरतापितः ॥92॥
 दिनैरेवाभवद्बालप्रवालशयनाश्रयः ।
 ततो बुद्धिशरीरस्तं स्वैरं मन्त्रिसुतोऽब्रवीत् ॥93॥
 कोऽयं देव तवापायो धैर्यस्य धृतिसागरः ।
 कासौ क्वास्ते सुता कस्य क्वेति चिन्ताज्वरं सखे ॥94॥
 त्यज जानाम्यहं सर्वं तथैव प्राङ्निवेदितम् ।
 कर्णे यदुत्पलं चक्रे तत्कर्णोत्पलभूपतेः ॥95॥
 पुरःस्थिता सा कालिङ्गः स प्रसिद्धो हि पार्थिवः ।
 संग्रामवर्धनो नाम सचिवो दन्तघाटकः ॥96॥
 विश्रुतो दिक्षु तस्यास्ति तत्पुत्री सा ध्रुवं सखे ।
 अत एवोत्पलं तत्र दन्तेन खण्डितं तथा ॥97॥
 सा च पद्मावती नाम पादपद्माहितोत्पला ।
 यद्व्यधात्तच्च हृदये तत्तस्या वल्लभो भवान् ॥98॥
 तदेहि तावद्रच्छावो मृगयाच्छद्यना पुनः ।
 इति श्रुत्वा नृपसुतस्तत्सखः प्रययौ क्षणात् ॥99॥
 कलिङ्गविषयं पृथ्वी विप्रसंध्या हि रागिणाम् ।
 तत्र प्रविष्टौ वृद्धायाः प्रतिश्रयधिया गृहम् ॥100॥
 पप्रच्छतुस्तावत्र त्वं जानीषे दन्तघाटकम् ।
 इति ताभ्यां रहः पृष्ठा सावदज्जर्जराकृतिः ॥101॥

संग्रामवर्धनो मन्त्री राज्ञोऽसौ दन्तघाटकः ।
 तस्य पद्मावती नाम तनयास्ति सुलोचना ॥102॥
 तद्गृहे गर्भदास्यस्मि सर्वं जानामि तत्कुले ।
 इति वृद्धावचः श्रुत्वा निजवृत्तं निवेद्य ता ॥103॥
 चक्राते दत्तसंकेतौ तस्यास्तामेव दूतिकाम् ।
 सा तदन्तःपुरं गत्वा तस्यै सर्वं निवेद्य यत् ॥104॥
 पद्मावती च तच्छ्रुत्वा मिथ्याकोपाकुलाभवत् ।
 आ वृद्धदासि दुःशीले बालां मामवमन्यसे ॥105॥
 उक्त्वेति कर्पूरकरात्तां जघान कपोलयोः ।
 ततो भग्नमुखी वृद्धा समभ्येत्य निजं गृहम् ॥106॥
 ताभ्यां सर्वं यथावृत्तं साश्रुनेत्रा न्यवेदयत् ।
 राजपुत्रस्ततः प्राह निःश्वासग्लपिताधरः ॥107॥
 अहो मे पुण्यहीनस्य वृथा जातोऽयमुद्यमः ।
 स्वस्ति तुभ्यं मम प्राणाः क्वापि गन्तुं समुद्यताः ॥108॥
 न सहे विरहं सद्यस्तया छिन्नो मनोरथः ।
 इति मन्त्री वचः श्रुत्वा राजपुत्रेण भाषितम् ॥109॥
 रहस्तमवदद्धैर्यं भज सिद्धं समीहितम् ।
 दशास्या गण्डयोः पश्य सकर्पूराः कराङ्गुलीः ॥110॥
 तयोक्तं शुक्लपक्षस्य दश शेषा निशा इति ।
 अलक्षितः कृष्णपक्षे ध्रुवं तां समुपैष्यसि ॥111॥
 इति तेन कृताश्वासो राजपुत्रो व्यलम्बत ।
 ततो दशसु यातेषु वासरेषु यदृच्छया ॥ 112॥
 कन्यकान्तःपुरं गत्वा वृद्धा पुनरुपाययौ ।
 अलक्तकाङ्कमालोक्य हृदि तस्यास्त्रिचन्द्रकम् ॥113॥
 रहो मन्त्रिसुतः प्राह सोत्कण्ठं भूमिपात्मजम् ।
 सखेऽस्या रजसा रात्रित्रयमावर्तते तनुः ॥114॥
 पश्यास्या हृदये न्यस्तं तथा शोणाङ्गुलित्रयम् ।
 इति श्रुत्वा पुनर्ध्यायन्स तामायतलोचनाम् ॥115॥

सहस्रयामतां यातमनयद्यामिनीत्रयम् ।
 ततो वृद्धा चतुर्थेऽह्नि गत्वा पुनरुपागता ॥116॥
 तावुवाचाद्य याताहं तथा संपूजिता भृशम् ।
 तत्कालं स्फोटितालाने निर्गते मत्कुञ्जरे ॥117॥
 हर्म्येण रज्जुमालम्ब्य सा भीता विससर्ज माम् ।
 इति वृद्धागिरं श्रुत्वा विसृष्टो मन्त्रिसूनुना ॥118॥
 तेनैव रज्जुपात्रेण स प्रापान्तःपुरं निशि ।
 चेटिकाभिः समुत्क्षिप्तः प्रासादेन प्रविश्य सः ॥119॥
 न्यस्तस्फटिकपर्यन्तं विवेश मणिमन्दिरम् ।
 दीपरत्नांशुकपिशे सुप्तकञ्चुकिमण्डले ॥120॥
 पाताल इव तत्रासौ तां भुजङ्गीं व्यलोकयत् ।
 प्रत्युद्रतां ह्रिया नम्रां तां राजतनयोऽवदत् ॥121॥
 सोत्कम्पकुचविन्यस्तहस्तमत्रस्तविभ्रमाम् ।
 अयि मानसदुग्धाब्धिचन्द्रिके लज्जया नताम् ॥122 ॥
 उत्तानय दृशं सन्तु दिशः कुवलयकुला : ।
 इत्युक्त्वा रत्नपात्रेण मालतीस्मितसुन्दरी ॥123॥
 अपाययतां माध्वीकं पपौ च घनसौरभम् ।
 हठात्कण्ठग्रहानन्दमीलितार्धविलोचनाम् ॥124॥
 मदारुणकपोलां तां चुचुम्ब सरसं ततः ।
 सा तेन कुञ्जरेणैव समाक्रान्ता सरोजिनी ॥125॥
 चकाशे निष्कवणत्काञ्चीकलहंसकुलावली ।
 अकृत्रिमविलासाङ्गमशिक्षितकलाक्रमम् ॥126॥
 अविभागाङ्गसुभगं बभूव सुरतं तयोः ।
 एवं प्रतिनिशं श्यामा गूढं तेन समागता ॥127॥
 अभृदुद्भिन्नसंभोगकुसुमस्मेरमञ्जरी ।
 ततः कदाचित्सस्मार राजपुत्रो बहिः स्थितम् ॥128॥
 मन्त्रिपुत्रोऽपि देशेऽस्मिन्कथमेकश्चरेदिति ।
 ज्ञात्वान्यमनसं कान्तं पृष्ट्वा च श्रुततत्कथा ॥129॥

उवाच किं त्वया नासौ सुहन्मे प्रकटीकृतः ।
 पूज्यः स धीमतां धुर्योऽज्ञासीत्तन्मदिङ्गितम् ॥130॥
 तत्कृते प्राहिणोम्यद्य विचित्रं त्विष्टभोजनम् ।
 उक्त्वेति विससर्जांशु राजपुत्री तदन्तिकम् ॥131॥
 विचित्रमाल्यताम्बूलं भोजनं च स्वयं कृतम् ।
 मन्त्रिपुत्रस्तदादाय राजपुत्रमभाषत ॥132॥
 अहो त्वया कृतं जाड्यं यदहं प्रकटीकृतः ।
 (विषदिग्धमिदं सर्वं तथा मे प्रहितं सखे) ॥133॥
 न सहन्ते हि रागिण्यो भर्तुः प्रेमपदं जनम् ।
 इत्युक्त्वा तच्छुने प्रादात्सोऽपि तेनाभवद्व्यसुः ॥134॥
 ततस्तौ कोपकलुषौ तदालोक्य बभूवतुः ।
 कर्णोत्पलस्य नृपतेरस्मिन्नवसरे प्रिये ॥135॥
 पुत्रे दैवाद्विवं याते राजपुत्रं सखावदत् ।
 अद्य तस्यास्त्वया गत्वा मत्ताया भूषणावलीम् ॥136॥
 समादाय नखैः कार्यं त्रिशिखं लक्ष्म विग्रहे ।
 इति तद्वचसा सर्वं कृत्वा राजसुतो निशि ॥137॥
 गृहीताभरणः क्षिप्रं ततः प्राप्तस्तदन्तिकम् ॥
 व्रतिवेषोऽटवीं गत्वा मन्त्रिपुत्रस्तमब्रवीत् ॥138॥
 अधुना मौक्तिकलतां नयैतां विक्रयावनिम् ।
 प्रदर्शनीया सर्वत्र दातव्या न तु कस्यचित् ॥139॥
 कस्येयमिति पृष्टेन निर्देश्याऽहं त्वया सखे ।
 इति तेन विसृष्टोऽसौ विपणे समदर्शयत् ॥140॥
 राजपुत्रोऽपि तत्कालं छन्नवेषादलक्षितः ।
 तां दृष्ट्वा राजपुरुषैः पृष्टः कस्येयमित्यथ ॥141॥
 तं कूटव्रतमभ्येत्य गुरोरस्येत्युवाच तान् ।
 सोऽपि पृष्टोऽवदद्राजा स्वयमेत्य शृणोतु मे ॥142॥
 इति तद्वचसा तूर्णं नृपं प्राप्तमुवाच सः ।
 राजंस्तव पुरे छन्ना दन्तघाटकपुत्रिका ॥143॥

डाकिनी भ्राम्यति सदा रजनीषु दिगम्बरा ।
 इहाकृष्य विसृष्टोऽसावेकदा त्वत्सुतोऽनया ॥144॥
 तत्कोपाच्च त्रिशूलेन मया गात्रे समाहता ।
 इदं चाभरणं तस्या मया सुबहुमौक्तिकम् ॥145॥
 (प्राप्तं भीता पलाय्यासौ पितुर्वेश्म पुनर्गता) ।
 निर्वास्यतां पुरात्पापा सा स्त्री न वधमर्हति ॥146॥
 इति कर्णोत्पलो राजा श्रुत्वा कोपानलाकुलः ।
 स्त्रीभिर्विज्ञाय तद्गात्रे प्रत्यग्रां त्रिशिखाहतिम् ॥147॥
 पद्मावतीं स्वनगरान्निःसार्योद्भ्रान्तमानसाम् ।
 विवासितां च तां पश्चात्तौ स्ववेषौ प्रजग्मतुः ॥148॥
 सप्रलापा प्रतीपोधैः कुर्वाणा क्रन्दितैर्दिशः ।
 आद्यराजस्य पुत्रस्तां सहितो मन्त्रिसुनुना ॥149॥
 ततो वाराणसीं गत्वा विललास तया चिरम् ।
 संग्रामवर्धनोऽप्यस्याः पिता तदुःखवह्निना ॥150॥
 स्फुटितात्मा व्यसुरभूहयितानुगतः क्षणात् ।
 कथयित्वेति वेतालः पप्रच्छ वसुधाधिपम् ॥151॥
 सुताशोकविपन्नौ तौ कस्य पापाय भूपते ।
 ज्ञात्वाप्यब्रुवतो मूर्धा शतधा ते भविष्यति ॥152॥
 इति तेन नृपः पृष्टो बभाषे गतसंभ्रमः ।
 राजपुत्रः प्रिया चास्य न वाच्यौ मन्मथाकुलौ ॥153॥
 प्रभुभक्तिव्रतो धीमान्मन्त्रिपुत्रोऽप्यकल्मषः ।
 कर्णोत्पलस्य नृपतेः पातकं तत्प्रमादिनः ॥154॥
 यो न पश्यति चारेण राजवृत्तान्तमन्धवत् ।
 इति मौने परित्यक्ते राज्ञा तूर्णमलक्षितः ।
 स वेतालस्तरोग्रे तथैवोल्लम्बितः स्थितः ॥155॥
 इति प्रथमो वेतालः ॥1॥
 भूयो वृक्षमथारुहा तमादाय ययौ नृपः ।
 स च स्कन्धगतः प्राह नरेन्द्र श्रूयतामिति ॥156 ॥

ब्रह्मसेनाग्रहारेऽभूत्कालिन्दीकूलसंश्रये ।
 अग्निस्वामीति विप्रेन्द्रो दाता श्रुतिविदां वरः ॥157॥
 तस्य मन्दारवत्याख्या पुत्री दिव्योचिताभवत् ।
 कान्ता मन्दारमालेव नेत्रषट्पदहारिणी ॥158॥
 रूपेण विश्रुतां दिक्षु तामायतविलोचनाम् ।
 अयाचन्त द्विजवरा बहवः सत्कुलोचिताः ॥169॥
 ततः कदाचित्तरुणाः कान्तिमन्तो द्विजास्त्रयः ।
 मिथो दर्पेण संक्रान्ता इव तुल्याकृतिश्रियः ॥160॥
 कन्याजनकमभ्येत्य सुन्दरीं तां ययाचिरे ।
 ममैवासौ ममैवासाविति स्पर्धानुबन्धिनः ॥161॥
 एकस्मै चेद्ददास्येनां द्वौ मृतावेव विद्धि नौ ।
 इति तेषां समाकर्ण्य पिता तां न ददौ भयात् ॥162॥
 तोषितां नयनानन्दसौन्दर्यामृतवाहिनीम् ।
 सदा विलोक्य प्रययुस्तत्रैव विहिताश्रयाः ॥163॥
 ततः कालेन सा धातुर्नैर्घृण्यात्पेशलाकृतिः ।
 जगाम पञ्चतां बाला लोचनाब्जोत्सवैः सह ॥164॥
 चित्तसंवर्धनं यच्च यच्च नेत्ररसायनम् ।
 चिराय निरनुक्रोशः सहते तद्विधिः कथम् ॥165॥
 निर्यातजीवितां बालां पतितां कदलीमिव ।
 तत्कान्तिचन्द्रिकाचन्द्रचकोरा शुशुचुर्द्विजाः ॥166॥
 एकस्ततो ययौ दुःखी जटाभस्मविलेपनः ।
 अन्यस्तदस्थीन्यादाय तीर्थाय प्रययौ कृती ॥167॥
 श्मशाने चापरस्तस्थौ तद्भस्मशयनाश्रयः ।
 रागिणां किमकार्यं हि स्त्रिया संहृतचेतसाम् ॥168॥
 प्रथमः पृथिवीं भ्रान्त्वा भस्मस्मेशरीरकः ।
 रुद्रशर्माभिधानस्य गृहं प्राप्तो द्विजन्मनः ॥169॥
 तत्रोपमन्त्रितस्तेन प्रस्तुतो भोक्तुमैक्षत ।
 क्षिप्तं तज्जायया वह्नौ पुत्रं रोदनकोपतः ॥170॥

तस्मिन्निःशेषनिर्दग्धे भोजनाद्विरतो व्रती ।
 उवाच चण्डालगृहं प्राप्तोऽहमशनाशया ॥171॥
 इत्याकर्ण्य गृहस्थोऽपि जग्राह निजपुस्तकम् ।
 सिद्धमंत्रं समुद्धृत्य ततः पुत्रमजीवयत् ॥172॥
 दृष्ट्वेति विस्मितः क्षिप्रं ध्यात्वा रात्रौ जटाधरः ।
 तं मन्त्रमनयत्कान्ताजीवनायाशु पुस्तकात् ॥173॥
 सोऽथ संप्राप्य तरसा तत्स्मशानमभोजनः ।
 ददर्श तीर्थादायातमेकं तत्र निवासिनम् ॥174॥
 तावपास्य प्रियाभस्मकूटोपान्तात्स मन्त्रवित् ।
 रजश्चिक्षेप येनासौ समुत्तस्थौ द्विजात्मजा ॥175॥
 लावण्यललिताकारां मन्मथानलदीपिकाम् ।
 पीयूषकालकूटाङ्कां दुग्धाब्धिलहरीमिव ॥176॥
 वदनप्रतिमा चन्द्रो रणनूपुरमेखलाम् ।
 नलिनीमिव कामस्य विलोलनयनोत्पलाम् ॥177॥
 ते दृष्ट्वा विस्मयानन्दस्मरसंघर्षशालिनः ।
 ममैवेयं ममैवेयमित्यूचुस्ते ससंभ्रमाः ॥178॥
 मन्मन्त्रेणोत्थिता तन्वी मयाप्ता तीर्थसेवया ।
 मयास्या रक्षितं भस्म तेषामित्यभवत्कलिः ॥178॥
 कथयित्वेति वेतालः पप्रच्छ पृथिवीपतिम् ।
 राजन्धर्मेण सा कस्य दयिता सत्यमुच्यताम् ॥180॥
 इति पृष्टो नृपस्तेन बभाषे शापकम्पितः ।
 तस्यास्तं जनकं मन्ये यस्तां मन्त्रैरजीवयत् ॥181॥
 पुत्रकार्येण परेणास्याः शङ्के तीर्थेषु यत्कृतम् ।
 वेताल तस्य धर्मेण तद्भस्मशयनः पतिः ॥182॥
 श्रुत्वेत्यलक्षितो गत्वा क्षिप्रं स्कन्धान्महीपतेः ।
 स शिंशिपातरुप्रान्ते तथैवल्लम्बितः स्थितः ॥183॥
 इति द्वितीयो वेतालः ॥2॥

राजा पुनस्तमादाय ययौ तूर्णं महाजवः ।
 स च स्कन्धस्थितः प्राह नृपते श्रूयतामिति ॥184॥
 श्रीमान्पाटलिपुत्रेऽभून्नृपो विक्रमकेसरी ।
 तस्योचितोऽभवत्पुत्रः श्रीपराक्रमकेसरी ॥185॥
 प्रियः क्रीडाशुकस्तस्य बभूव भुवि विश्रुतः ।
 सर्वशास्त्रेषु कुशलः कलासु च विचक्षणः ॥186॥
 कान्ताप्रसादनोपायप्रगल्भो नर्मकोविदः ।
 अतीतानागतज्ञानपरिनिष्ठितमानसः ॥187॥
 तं राजपुत्रः पप्रच्छ भार्या मे का भविष्यति ।
 इति पृष्टः शुकः प्राह निजपक्षाद्भिर्मुहुः ॥188॥
 कुर्वन्मरकताबद्धमिव काञ्चनपञ्जरम् ।
 राज्ञश्चन्द्रावलोकस्य मगधाधिपतेः सुता ॥189॥
 चन्द्रप्रभा नाम विभो भाविनी ते वधूरिति ।
 तच्छ्रुत्वा राजतनयो वशगोऽभून्मनोभुवः ॥190॥
 कामः संकल्पवसतिरिति सत्या जनस्थितिः ।
 तस्या मगधपुत्र्याश्च सोभिका नाम सारिका ॥191॥
 बभूव विभ्रमसखी शुकस्य सदृशी गुणैः ।
 तथापि तस्याः कथितो राजपुत्रः कथान्तरे ॥192॥
 श्रुत्वैव राजतनया येनाभूत्स्मरतापिता ।
 कालेन मगधाधीशो याचितस्तां सुतां ददौ ॥193॥
 तस्मै नरेन्द्रपुत्राय महार्हविहितोत्सवः ।
 स तथा संगतः श्रीमान्रोहिण्येव निशाकरः ॥194॥
 विजहार मनोहारिकेसरोद्यानभूमिषु ।
 अथैकपञ्जरासक्तः शुकः सारिकया सह ॥195॥
 तामुवाच प्रिये प्रेमभाजनं भज मामिति ।
 सारिका प्राह पुरुषाः कृतघ्नाः क्रूरकारिणः ॥196॥
 न मह्यं रोचते तस्मात्त्वया प्रणयसंगमः ।
 श्रुत्वेति सारिकावाचं शुकः प्रोवाच सर्वथा ॥197॥

पापस्यायतनं नार्यो विपरीतं प्रभाषसे ।
 इत्युत्पन्नविवादे ते समभ्येत्य नृपात्मजम् ॥198॥
 पप्रच्छतुः पणं दास्ये कृतस्त्रीपुरुषान्तरम् ।
 ताभ्यां पृष्टः स्मितमुखो राजपुत्रोऽभ्यभाषत ॥199॥
 श्रुत्वा स्त्रीपुंसयोर्दोषांस्ततो न्यायं प्रचक्ष्महे ।
 इति तद्वचसा पूर्वं श्यामाङ्गी सारिकाब्रवीत् ॥200॥
 चम्पकस्येव कलिकां विभ्राणां चञ्चुकन्दलीम् ।
 अवन्तीवासिनः सूनुरर्थदत्तस्य संमतः ॥201॥
 बभूव धनदत्ताख्यो वणिजो धनदश्रियः ।
 कालेन याते पितरि त्रिदिवं दयितासखे ॥202॥
 सोऽभवहुर्जनासक्तः किञ्चिदुन्मत्तशैशवः ।
 स तैर्नित्यमकार्योऽपि साधु साध्विति वादिभिः ॥203॥
 मित्रैर्निःशेषविभवः कृतः स्त्रीद्यूतपानकैः ।
 एक एव ततः प्रायाद्विजितहीनो दिगन्तरम् ॥204॥
 जडास्त्यजन्ति पर्यन्ते धूर्ता भोगाब्जषट्पदाः ।
 स प्राप चन्दनपुरं भ्रान्त्वा पृथ्वीं निराश्रयः ॥205॥
 संतापार्त इव व्यालः शीतं चन्दनकाननम् ।
 तत्र तस्यै परिज्ञाय पुत्रीं रत्नवतीं ददौ ॥206॥
 हिरण्यगुप्तो निष्पुत्रः प्रवरो धनिनां वणिक् ।
 सुखं स पूजितस्तेन स्थित्वा तत्र तया चिरम् ॥207॥
 श्वशुरं प्राह गच्छामि स्वदेशं मातुरन्तिकम् ।
 इति श्रुत्वा भृशं तेन वारितोऽपि वधूसखः ॥208॥
 अचिरात्पुनरेष्यामीत्युक्त्वा प्राप्तधनो ययौ ।
 स गच्छन्नार्यया सार्धं दास्या चानुगतः शनैः ॥209॥
 निर्जनामटवीं प्राप्य श्वभ्रोपान्ते व्यचिन्तयत् ।
 करण्डकविनिक्षिप्तमादायास्या विभूषणम् ॥210॥
 कुहरे प्रक्षिपाम्येनां बध्वा रज्ज्वा किमेतया ।
 ध्यात्वेति हृत्वालंकारं सदासीकां निपात्य ताम् ॥211॥

ययौ कुतः कृतघ्नानां हृदये करुणाकराः ।
 सापि बाला लताजालधृता नैव व्यपद्यत ॥212॥
 पञ्चतां त्वगमद्द्विषी भिन्नकर्मा हि संसृतिः ।
 ततः समुद्धृताभ्येत्य पान्थैः करुणकूजिनी ॥213॥
 नीता पौरैः परिज्ञाता पितुरेव निवेशनम् ।
 सत्रासकम्पतरला पृष्टा पित्रा जगाद सा ॥214॥
 हतो मे भूषणैः सार्धं भर्ता दस्युजनैरिति ।
 श्रुत्वेत्याश्वासिता तेन दत्वान्यां भूषणावलीम् ॥215॥
 तस्थौ तमेव ध्यायन्ती स्निग्धमुग्धाशया पतिम् ।
 सोऽपि कालेन तत्सर्वं भक्षयित्वा विभूषणम् ॥216॥
 कितवः पुनरभ्यायान्निःशङ्कः श्वशुरालयम् ।
 मृतासौ नैव विज्ञाता दुहिता भवतो ध्रुवम् ॥217॥
 याचे धनं तत्कृतेऽहं स ध्यात्वेति समाविशत् ।
 प्रविश्य दृष्ट्वा तां तत्र स्वभार्या भयकम्पितः ॥218॥
 हा हतोऽस्मीति संचिन्त्य शिलाहत इवाभवत् ।
 सापि व्यालोक्य दुहिता सहसैवोपसृज्य तम् ॥219॥
 कर्णेऽवदन्न तातेन तज्जातं यत्त्वया कृतम् ।
 विश्रब्धो भव मा भैषीस्तयेत्याश्वासितो रहः ॥220॥
 उवास पूजितो हृष्टः श्वशुरावसथे चिरम् ।
 ततः कदाचित्स द्यूतव्यसनादर्थलोलुपः ॥221॥
 विश्वासमगमत्सापि दृष्टवेषान्यसुन्दरीम् ।
 तां हत्वा तदलंकारमादाय प्रययौ निशि ॥222॥
 इत्येवं पापचरिताः पुरुषा निर्घृणाशयः ।
 को नु दुष्टभुजङ्गानां तद्विधानां हि विश्वसेत् ॥223॥
 इति पुरुषदुष्टाख्यायिका ॥3॥

श्रुत्वेति सारिकावाक्यं राजपुत्रः सविस्मयः ।
 चूडामणिं विदग्धानामपृच्छत्सस्मितः शुकम् ॥224॥

पृष्टः शोणमणिच्छायचक्षुर्मरकतप्रभः ।
 रत्नाद्रिकुञ्जसिञ्जान इव क्रीडाशुकोऽवदत् ॥225॥
 हर्षवत्यभिधानायां धर्मस्य नृपतेः पुरि ।
 बभूव धनदत्ताख्यः कुबेरसदृशो वणिक् ॥226॥
 सुतां वसुमतीं नाम स ददौ वसुमान्मथम् ।
 कान्तां समुद्रदत्ताय तारुण्यतरुमञ्जरीम् ॥227॥
 दत्त्वा पुत्रीं प्रियां तस्मै ताम्रलिप्तनिवासिने ।
 अपुत्रो नात्यजद्रेहात्पुत्रत्वे परिकल्पिताम् ॥228॥
 कदाचित्सा शशिमुखी तुङ्गवातायनस्थिता ।
 ददर्श पथि सुस्नातं युवानं द्विजपुत्रकम् ॥229॥
 तं दृष्ट्वा कामवातेन नदीवाकुलतां गता ।
 कुलकूलनिपाताय कृतारम्भावदत्सखीम् ॥230॥
 सखि पूर्णेन्दुवदनो द्विजोऽयं प्रतिभाति मे ।
 भुजङ्गो येन जातेयं विषव्यामेव मे तनुः ॥231॥
 वृथा मे यौवनमिदं याति नेयं स्तनस्थली ।
 यदैतद्वक्षसि क्षिप्रं गाढालिङ्गनखर्वताम् ॥232॥
 उक्त्वेति मन्मथहता तया चानाय्य तं रहः ।
 भेजे रतिं को हि शक्तो धर्तुं रागवतीमनः ॥233॥
 सुचिरं रममाणायां तस्यां तेन विलासिना ।
 कौमारस्तत्पतिस्तूर्णमाययौ सोत्सुकश्चिरात् ॥234॥
 पूजितः श्वशुरेणासौ निशि शय्यानिकेतनम् ।
 विवेश माल्यधवलं मधुपानारुणेक्षणः ॥235॥
 साप्यन्यसक्ता तं प्राप्य शीतार्तेवार्तिपीडिता ।
 भुजोरुस्वस्तिकाक्रान्तकुचश्रोणीतटास्वपत् ॥236॥
 अवाङ्मुखी निःश्वसन्ती स्पर्शसंकुचिता मुहुः ।
 स तां प्रसादयामास मुग्धो मौनावलम्बिनीम् ॥237॥
 अन्यत्र बद्धसौहार्दाः सावलेपाः सदा क्रुधः ।
 अधिकं क्लीबमूर्खाणां यान्ति वल्लभतां स्त्रियः ॥238॥

इति दुःखाकुला तन्वी पत्युः पार्श्वे बभूव सा ।
 कटुकौषधतुल्यं तं वेपमाना पितुर्भयात् ॥239॥
 (सिषेवे कम्पयन्ती खं शिरः कथमपि क्रुधा)।
 अत्रान्तरे स्वसंकेतं शून्योद्याने विधाय सा ।
 रागिणी तं द्विजसुतं प्रसुप्ता भर्तुरन्तिके ॥240॥
 मधुमत्तं समालोक्य सुप्तं काष्ठमिवाचलम् ।
 उत्थाय लघुसंचारा गन्तुमुद्यानमुद्यता ॥241॥
 अथ प्रविष्टस्तद्वेश्म चौरः स्वैरं ददर्श ताम् ।
 निर्यान्तीमन्तिकात्पत्युः सर्वाभरणभूषिताम् ॥242॥
 छन्नेनानुगता तेन शून्योद्यानमवाप सा ।
 तं चौरशङ्कितैः कैश्चिद्दशोर्ललम्बितं द्विजम् ॥243॥
 तं दृष्ट्वा संविरुग्णोव पतिता विललाप सा ।
 हा प्रिय श्रमपीयूष प्रणयामृतदीधिते ॥244॥
 कासि मे प्रियसर्वस्वं देहि कर्णामृतं वचः ।
 इत्युक्त्वा पाशमुन्मुच्य कण्ठे जग्राह तं शवम् ॥245॥
 कृत्वा सकुसुमोत्तंसं तन्मुखं प्रचुचुम्ब च ।
 ताम्बूलगर्भमादाय वेपमानकराधरा ॥246॥
 ततः सपदि वेतालः कृतावेशः सुनासिकाम् ।
 तस्याश्चिच्छेद दशनैः सतीशिक्षां दिशन्निव ॥247॥
 छिन्ननासाथ शनकैः शय्यां भर्तुरुपेत्य सा ।
 चुक्रोश हा हता तेन पापेनास्मीति सव्यथा ॥248॥
 प्रतिबुद्धः स सहसा किमेतदिति संभ्रमात् ।
 बुवाणः श्वशुरेणैत्य श्रुत्वा च परिभर्त्सितः ॥249॥
 नासिकां दुहितुश्छिन्नं दृष्ट्वा कोपात्स भूपतेः ।
 प्रातर्नीत्वा तमास्थानं तनयां तामदर्शयत् ॥250॥
 न मयास्याः कृतं किंचिदिति वादिनमेव तम् ।
 अहो धार्ष्ट्यमिति प्राहुः सभ्याः कोपपराङ्मुखाः ॥251॥

ततो राजाज्ञया तूर्णं प्रस्तुते तस्य निग्रहे ।
 स चौरोऽभ्येत्य तत्सर्वं नरनाथं व्यजिज्ञपत् ॥252॥
 राज्ञा दत्ताभयो रात्रिवृत्तान्तं विनिवेद्य सः ।
 शवदन्तस्थितां नासां प्रत्ययार्थमदर्शयत् ॥253॥
 तामेव क्षिप्रमाधाय छिन्नकर्णां ततो नृपः ।
 दण्डपालं स नगरे चौरं चक्रे सदोत्थितम् ॥254॥
 इति स्त्रियः किल्बिषस्य द्रोहस्य च निकेतनम् ।
 कस्तासामपशुर्नाम प्रेमपाशवशं ब्रजेत् ॥255॥
 इति स्त्रीदुष्टाख्यायिका ॥4॥

इत्युक्त्वा राजपुत्राग्रे जातिं स्मृत्वाभवच्छुकः ।
 गन्धर्वश्चित्रसेनाख्यः सारिका च तिलोत्तमा ॥256॥
 कथयित्वेति वेतालः पप्रच्छ क्षमापतिं पुनः ।
 पापस्यायतनं नार्यः पुमांसो वेति कथ्यताम् ॥257॥
 श्रुत्वेत्यभाषत नृपः पापिनो विरला नराः ।
 नार्यस्तु वेधसा यत्नात्किल्बिषैरेव निर्मिताः ॥258॥
 इत्याकर्ण्यैव वेतालः सहसादर्शनं गतः ।
 राज्ञा चित्तोल्मुकेनाथ पुनर्दृष्टस्तरुस्थितः ॥259॥
 इति तृतीयो वेतालः ॥5॥

मुक्ताट्टहासमादाय ततस्तं गतसंभ्रमः ।
 ययौ जवेन नृपतिस्कन्धस्थः सोऽप्यभाषत ॥260॥
 मोहः पृथ्वीपते कोऽयं तवापि हृदि जृम्भते ।
 दुष्टश्रमणसंपर्काद्यत्प्राप्तोऽसि महीमिमाम् ॥261॥
 दूरेऽध्वनि विनोदाय शृणु राजन्कथामिमाम् ।
 अनायासं हि पाथेयं यथेष्टं कथनं पथि ॥262॥
 अस्ति शोभावती नाम नगरी संपदां निधिः ।
 भुवो भूषणमालेव भूरिरत्नविराजिनी ॥263॥

बभूव शूद्रकस्तस्यां यशस्वी पृथिवीपतिः ।
 भार्गवादिकथाः काश्यं यद्वीरचरितैर्ययुः ॥264॥
 नेत्राम्बु शत्रुनारीणां पातयन्ती निरन्तरम् ।
 धूमावली प्रतापाग्नेर्बभौ यस्यासिवल्लरी ॥265॥
 यस्योरुरत्नवलये दोष्णि कर्पूरपाण्डुरे ।
 निषसादेव पृथिवी निःशेषाशेषसंख्यया ॥266॥
 चतुर्गुणगुणोपेतपृथुसत्त्वसखं मनः ।
 यस्य संभागिवैश्वर्यमद्वितीयस्तु विक्रमः ॥267॥
 तस्य सोमप्रभा नाम लावण्यामृतशालिनी ।
 बभूव वल्लभा चित्तकैरवस्थलशालिनी ॥268॥
 तं कदाचिन्महास्थाने स्थितं शक्रमिवापरम् ।
 व्यजिज्ञपत्प्रतीहारो मौलिपल्लविताञ्जलिः ॥269॥
 मालवीयो महासत्त्वः करवालसखो द्विजः ।
 देव वीरवरो नाम सेवार्थं द्रष्टुमिच्छति ॥270॥
 इत्युक्त्वा प्राप स नृपभ्रूसमुल्लासशासनम् ।
 अवेशयद्वीरवरं राजसिंहगुहां सभाम् ॥271॥
 स प्रविश्य महीपालं ददर्श धवलांशुकम् ।
 लग्नदुग्धाब्धिकल्लोलं विश्रान्तमिव मन्दरम् ॥272॥
 विभ्राणं धवलोष्णीषमट्टहासं जयश्रियः ।
 आवर्तमानं व्योम्नीव हेलाकुटिलितं यशः ॥273॥
 मौलिनीलमणिच्छायावलयेर्दूरसर्पिभिः ।
 (दिशन्तं दिक्षु भूपानां मुखेषु श्यामिकामिव ॥274॥
 विलोककुन्तलोद्योतैर्विराजद्गण्डमण्डलम्) ।
 रणलीलासमुद्भूतैः पुलकैरिव नोज्झितम् ॥275॥
 हेमसिंहासनासीनं तारहारविराजितम् ।
 मार्तण्डमिव मेरुस्थं दर्शावष्टेन्दुमण्डलम् ॥276॥
 इन्द्रनीलमहानीलशिलान्यस्ताङ्घ्रिपङ्कजम् ।
 करालकालीयशिरोन्यस्तपादमिवाच्युतम् ॥277॥

तं वीक्ष्य सूचिताभिख्यः स प्रणम्यावदद्विभो ।
 खड्गद्वितीयः सेवान्ते करोमीत्युन्नताशयः ॥278॥
 सदा पञ्च प्रदीयन्तां रूपकानां शतानि मे ।
 पुत्रः कुमारी भार्या चेत्येतावान्मत्परिग्रहः ॥279॥
 इति तद्विरमाकर्ण्य तद्वितीर्य नरेश्वरः ।
 इयता किं करोतीति चारैः शुश्राव तत्कथाम् ॥280॥
 शतद्वयेन संपूज्य स्नातौ हरिमहेश्वरौ ।
 शतद्वयं ब्राह्मणेभ्यो दीनेभ्यश्च प्रदाय सः ॥281॥
 गृहे विधत्ते निःशेषं शतेनैकेन तु व्ययम् ।
 कृत्वैतदास्ते त्वद्द्वारि दिवारात्रिमतन्द्रितः ॥282॥
 श्रुत्वेति कथितं चारैः प्रदध्यौ विस्मितो नृपः ।
 सत्यं यत्पृथिवीमूल्यमेकस्यापि मणेरिति ॥283॥
 ततः कदाचिद्रम्भीरधनग्रस्त इवाखिले ।
 करालकालमहिषश्यामले दुर्विनागमे ॥284॥
 बलाकामण्डलस्मेरकपालशकलाकुले ।
 विद्युच्चितानलालोले श्मशान इव भीषणे ॥285॥
 मिथो मेघपिशाचानां विनिष्पेषैः सगर्जितैः ।
 पतन्तीष्वम्बुधारासु दन्तमालास्विवानिशम् ॥286॥
 नीहारजालच्छिन्नासु दिक्षु संघट्टितास्विव ।
 निवृत्तजनसंचारे कल्पापाय इवागते ॥287॥
 निषण्णो निशि भूपालो धवलाशयशेखरे ।
 सिंहद्वारे स्थितः कोसावित्युच्चैरभ्यभाषतः ॥288॥
 देव स्थितोऽहं किं कार्यमिति वीरवरोऽब्रवीत् ।
 अर्धरात्रे पुनः पृष्टस्तदेव प्राह निर्व्यथः ॥289॥
 ततः शुश्राव नृपतिस्तारामाक्रन्दितं मुहुः ।
 रजन्या इव पर्जन्यराक्षसात्ते क्षपाकरे ॥290॥
 हा नाथ कमलाकेलिकमलायतलोचन ।
 हा हा प्रचण्डदोर्दण्डखण्डितारातिमण्डल ॥291॥

हा हा दिक्कामिनीकर्णकपूर्वापूरसद्यशः ।
 इत्याकर्ण्यब्रवीत्कोऽत्र स्थित इत्यवनीश्वरः ॥292॥
 ततो वीरवरं दूरात्स्थितोऽहमिति वादिनम् ।
 कः क्रन्दतीति कृपयादिदेश वसुधाधिपः ॥293॥
 तस्मिन्नाते तदन्वेष्टुं वारिधारावृताम्बरे ।
 नृपोऽप्यलक्षितः पश्चात्स्वयं खड्गसखो ययौ ॥294॥
 तस्याः स्फारानिलावर्तननिर्तासीत्करावली ।
 मुखं चुचुम्ब नक्षत्रमालेव शशिशङ्कया ॥295॥
 कण्ठे हारानुकाराभिर्धाराभिर्धरणीभृतः ।
 खड्गोऽपि लेभे भिन्नेभसक्तमुक्तावलीश्रियम् ॥296॥
 आक्रन्दितानुसारेण गत्वा वीरवरः स्त्रियम् ।
 मत्वा तां मधुरालापां शुचः पप्रच्छ कारणम् ॥297॥
 कमलाकरमध्यस्था सा प्राह तमलक्षिता ।
 शिक्षयन्तीव माधुर्यं कलहंसकुलं गिरा ॥297॥
 अहं देवी महीभर्तुः शूद्रकस्याग्रवल्लभा ।
 स च देवस्तृतीयेऽह्नि पूर्णायुर्दिवमेष्यति ॥299॥
 तेन रोदिमि न त्वेषा प्राप्ताहं तद्भुजे चिरम् ।
 वराहशय्यापर्यङ्का विलाससुभगां स्थितिम् ॥300॥
 इति वीरवरः श्रुत्वा तामपृच्छत्कृताञ्जलिः ।
 अप्यस्त्युपायः क्षमापालरक्षणो देवि कथ्यताम् ॥301॥
 पृष्टेति पृथ्वी प्राहैनमस्त्येव यदि शक्यते ।
 पुत्रं शक्तिवरं बालं चण्डिकायै ददासि चेत् ॥302॥
 स्वयमुत्कृत्य खड्गेन ततो जीवति पार्थिवः ।
 इति श्रुत्वा निजं गेहं ययौ वीरवरो निशि ॥303॥
 अलक्षितेनानुयातो राज्ञा विस्मयशालिना ।
 गृहे विबोध्य दयितां शिशुं शक्तिवरं वरम् ॥304॥
 पृथिवीभाषितं सर्वमुवाचाविचलाशयः ।
 तच्छ्रुत्वा बालकः प्राह धन्योऽहं प्रभुरक्षणात् ॥305॥

उत्सवो निधनं नाम भर्तृपिण्डोपजीविनाम् ।
 भृत्यैरेव स्वयं मूल्ये क्रियते कायविक्रयः ॥306॥
 इति वादिनमाधाय स्कन्धे शक्तिवरं सुतम् ।
 स्वपुत्र्या भार्यया सार्धं स ययौ चण्डिकालयम् ॥307॥
 तत्र दीपांशुकपिशसंचरद्योगिनीगणम् ।
 राज्ञः श्रेयोऽस्त्विति प्राह छित्वा पुत्रस्य मस्तकम् ॥308॥
 अथोच्चचार चतुरं चण्डिका वचनं दिवि ।
 तुष्टा च भूभुजा प्राप्तमायुर्वर्षशतं पुनः ॥309॥
 इति भूमिपतिश्छन्नो निशम्याचिन्तयत्स्मयात् ।
 अहो धैर्यममर्यादमहो सत्त्वं द्विजन्मनः ॥310॥
 इति ध्यायति भूपाले भ्रातरं वीक्ष्य कन्यका ।
 हतं वीरवती नाम पञ्चतां प्रययौ क्षणात् ॥311॥
 भार्या वीरवरस्यापि तेनैव रचितेऽनले ।
 शोकासहा धर्मवती प्रियं तत्याज जीवितम् ॥312॥
 कृतार्थोऽस्मीति संचिन्त्य हृष्टो वीरवरस्ततः ।
 आत्मोपहारं दुर्गायै दातुमभ्युद्यतोऽवदत् ॥313॥
 जय देवि जगज्जन्मजरामरणकारिणि ।
 जय संरब्धदैत्येन्द्रहृदयाम्भोजदारिणि ॥314॥
 जय पातालकुहराकारविस्फारितानने ।
 उरुरावस्फुरत्खण्डब्रह्माण्डभयदीक्षिते ॥315॥
 जय ताण्डवितोद्दण्डचण्डवातहताचले ।
 लडत्कङ्कालमालोग्रव्यावल्गुद्व्यालकुण्डले ॥316॥
 जय दानवहृत्पद्ममालामुक्प्लावशालिके ।
 अकाण्डसंध्यासंमत्तभूतवेतालमालिके ॥317॥
 जय व्याकोशखड्गांशुश्यामीकृतदिगन्तरे ।
 महिषासुरनिष्कृष्टचर्मणैवावृताखिले ॥318॥
 इति स्तुत्वा भगवतीं शिरश्छित्वासिना निजम् ।
 देव्यै निवेद्य सत्त्वाब्धिः स पपात महीतले ॥319॥

गणयित्वा क्षितिपतिस्तस्य तत्सर्वमूर्जितम् ।
 बभूव विस्मयोत्साहैः स्पष्टरोमाश्चकथुकः ॥320॥
 एवंविधं विना भृत्यं किं श्रिया जीवितेन वा ।
 (ध्यात्वेति निजमूर्धानं सोऽपि च्छेतुं समुद्ययौ) ॥321॥
 जीवितेन मदीयेन जीवत्वेषः सपुत्रकः ।
 देवि वीरवरो वीरः प्रोवाचेत्यथ शूद्रकः ॥322॥
 सहसा खड्गधाराग्रसंगते तस्य मस्तके ।
 देवी साक्षादुवाचेदं मा कृथाः पुत्र साहसम् ॥323॥
 सत्वेनानेन ते राजंस्तूर्णं वीरवरो द्विजः ।
 सुपुत्रपुत्रीदयितः समुत्तिष्ठतु मद्दरात् ॥324॥
 इति चण्डीगिरा तस्मिन्सानुगे सहसोत्थिते ।
 अलक्षितः क्षणात्प्रायान्निजमन्तःपुरं नृपः ॥325॥
 ततो वीरवरो गत्वा विस्मयाकुलितो गृहे ।
 धृत्वा सदारिकां भार्यां राजद्वारं समाययौ ॥326॥
 राजा महिष्यै हर्षाय वृत्तान्तं विनिवेद्य तम् ।
 पुनः पप्रच्छ कोऽप्यत्र स्थित इत्यनभिज्ञवत् ॥327॥
 अहं वीरवरो देव स्थितः सा स्त्री मयेक्षिता ।
 न दृष्ट्वा राक्षसी नूनं रुरोद निशि मायया ॥328॥
 इति वीरवरेणोक्तमाकर्ण्य जगतीपतिः ।
 प्रशंसास्य तद्धैर्यमविकथनतां च ताम् ॥329॥
 ततः प्रभाते भूपालः सभास्थानमुपागतः ।
 निवेद्य रात्रिवृत्तान्तं मन्त्रिभ्यो निश्चलस्ततः ॥330॥
 ददौ वीरवरायाशु लाटराज्यं ससागरम् ।
 नर्मदाकूलसहितं सगौडं दक्षिणापथम् ॥331॥
 तं च शक्तिवरं दत्वा राजानं दक्षिणापथे ।
 मेने तदुपकारस्य शतांशस्य प्रतिक्रियाम् ॥332॥
 कथयित्वेति वेतालो भूपालं पृष्ठवान्पुनः ।
 शंस कोऽभ्यधिकस्तेभ्यो राजन्सत्ववतां वर ॥333॥

(श्रुत्वेत्याह महीपालः सर्वे वीराः किमुच्यते)।
किं तु वीरव्रतस्यैषा धैर्यलक्ष्मीः कुलव्रतम् ।
भृत्योऽसौ तत्किमाश्चर्यं सेवा हि प्राणविक्रयः ॥334॥
तस्य पुत्रस्य तत्तुल्यो यदि तत्किमिवाद्भुतम् ।
नहि सौवर्णशैलाग्रात्काचखण्डः प्रजायते ॥335॥
किं चित्रं यदि सत्त्वाद्या भार्या तस्य कुलोचिता ।
नहि श्रिता कल्पतरुं वल्ली काचिदकाञ्चनी ॥336॥
अत्र सत्त्ववतां धुर्यः श्रीमानेको नरेश्वरः ।
विक्रीतजीविते भृत्ये यस्य प्राणैः प्रतिक्रिया ॥337॥
श्रुत्वेत्यदर्शनं यातो वेतालः शिंशिपातरौ ।
अधोमुखो निरुच्छ्वासस्तथैवालम्बितः स्थितः ॥338॥

इति चतुर्थो वेतालः ॥6॥

ततस्तमादाय नृपः प्रययौ विपुलाशयः ।
स च स्कन्धस्थितः प्राह शृणु चित्रं महीपते ॥339॥
द्विजोऽभूदङ्गविषये विष्णुस्वामी महाधनः ।
बभूवुस्तस्य तनयास्तरुणाः सुखशालिनः ॥340॥
कदाचिद्याजिना तेन ते विसृष्टा महोदधिम् ।
यज्ञाय कूर्ममाहर्तुं ययुरादेशकारिणः ॥341॥
ते समुद्रं समासाद्य प्राप्य कूर्मं महाकृतिम् ।
दुरामोदं न जगृहुः पिच्छिलाङ्गं जुगुप्सया ॥342॥
संप्राप्तेऽप्यगृहीतेऽस्मिन्कच्छपे वेशधारणात् ।
ध्रुवं नो याति जनको दीक्षाभङ्गादधोगतिम् ॥343॥
गृहाण त्वं न शक्तोऽहं क्षमस्त्वं न त्वहं विभो ।
इति तेषामभूत्तत्र जल्पश्चिरमनल्पकः ॥344॥
नारीचङ्गोऽहमुचितो बीभत्सेऽस्मिन्नकर्मणि ।
भ्रातर्भोजनचङ्गोऽहं शय्याचङ्गोऽधिकोऽप्यहम् ॥245॥
इति ते जातकलहा विटङ्कनगरेश्वरम् ।
प्रसेनजितमभ्येत्य पप्रच्छुर्निजगौरवम् ॥346॥

इति विश्रम्यतामद्य प्रातर्दातास्मि चोत्तरम् ।
इति राज्ञा समादिष्टास्तस्थुस्तत्रैव ते द्विजाः ॥347॥
अथैकः प्रस्तुतो भोक्तुं नवकपूरसौरभम् ।
शालिभोजनमम्लानं नाभ्यनन्दद्विकूणितः ॥348॥
ततस्तन्दुलमज्ञासीदुष्टमन्विष्य भूपतिः ।
श्मशाननिकटक्षेत्रजातधान्यसमुद्भवम् ॥349॥
सत्यं भोजनचङ्गोऽयमित्युक्त्वा विस्मितो नृपः ।
दिदेश नारीचङ्गाय दासीं कुवलयेक्षणाम् ॥350॥
समाल्यसौरभाहूतभृङ्गव्याकुलमालिनीम् ।
तस्य शय्यान्तिकं प्राप्य तस्थौ हासविलासिनी ॥351॥
नारीचङ्गोऽप्यथोत्थाय करस्थगितनासिकः ।
ष्ठीवनव्याकुलस्तत्र निर्ययौ सहसा बहिः ॥352॥
हतशृङ्गागलगन्धेन बताहं दुष्टयोषिता ।
इति क्रन्दन्तमाकर्ण्य तं ददर्श महीपतिः ॥353॥
अजादुग्धैरियं बाला मात्रा हीना विवर्धिता ।
इति पृष्ट्वा नृपेणाहं दासी लज्जानतानना ॥354॥
स्त्रीचङ्गोऽयं भवत्येव निगद्येति नरेश्वरः ।
सप्ततूलीकृतां शय्यां शय्याचङ्गाय दत्तवान् ॥255॥
सप्ततूलीजुषस्तस्य पर्यङ्कतलवर्तिना ।
वालेन वलायाकारं गात्रेऽभूल्लक्ष्म लोहितम् ॥356॥
सव्यथं निःश्वसन्तं तं दृष्ट्वा वालं च भूपतिः ।
सत्यं शयनचङ्गोऽयमित्युवाच सविस्मयः ॥357॥
ततस्तेषां नृपतिना दत्तैर्द्रविणसंचयैः ।
संभोगसक्तास्तत्रैव तस्थुस्ते द्विजपुत्रकाः ॥358॥
तत्पिता क्रतुभङ्गाच्च विधायानशनव्रतम् ।
सभार्यः प्रययौ स्वर्गं जपयज्ञपवित्रितः ॥359॥
इत्यभ्युदीर्य वेतालो मोहयन्निव मायया ।
मातापित्रोस्तेषु हत्या पतिता कस्य भूपते ॥360॥

एतेभ्यः कोऽधिकश्चङ्ग इत्यपृच्छन्महीपतिम् ।
 पृष्टो नरेश्वरः प्राह द्वावप्रत्ययवीक्षकौ ॥361॥
 शय्याचङ्गोऽधिकस्तेभ्यो यो वालेनाङ्कितस्तनौ ।
 तन्न्यूनयोः पातकं तत्पितृप्रलयसंभवम् ॥362॥
 इति मौनपरित्यागात्स राज्ञः सहसा गतः ।
 पुनः पुनर्दृष्टनष्टस्तथैवोल्लम्बितः स्थितः ॥363॥

इति पञ्चमो वेतालः ॥7॥

(पुनस्तमादाय यथावखिन्नो वसुधाधिपः ।
 स च स्कन्धस्थितः प्राह शृणु राजन्कथामिमाम् ॥364॥
 अस्ति धर्मस्य वसुधा लक्ष्म्याः क्षेत्रं स्थितिः स्थितेः।
 संपदां सदनं स्वर्गं जयत्युज्जयिनी पुरी ॥365॥
 पुण्यसेनाभिधानस्य तस्यामासीन्महीपतेः ।
 ब्राह्मणः सेवको धीमान्हरिस्वामीति विश्रुतः ॥366॥
 देवस्वामी सुतस्तस्य बभूव श्रुतिपारगः ।
 सोमप्रभा च तनया मूर्तेव श्रीर्मनोभुवः ॥367॥
 विज्ञानिने ज्ञानिने वा देया शूराय वा त्वया ।
 अहमित्याप्तनियमा पितरं सा व्यजिज्ञपत् ॥ 368॥
 अत्रान्तरे दाक्षिणात्ये नृपे जेतुं समागते ।
 पुण्यसेनो नरपतिः सहामात्यैरचिन्तयत् ॥369॥
 सर्वथा सामसाध्योऽसौ रक्तामात्यो महाधनः ।
 शूरश्च राजा तेनास्मै दूतो धीमान्विसृज्यताम् ॥370॥
 इति मन्त्रिगिरा राजा वर्चस्वी गुणवान्द्विजः ।
 हरिस्वामी विसृष्टस्तत्कटकं सहसाभ्यधात् ॥371॥
 तत्र राज्ञा समाधाय संधिं तस्मिन्स्थिते क्षणम् ।
 विप्रः कश्चित्तमभ्येत्य यथाचे रुचिरः सुताम् ॥372॥
 सोऽब्रवीज्ज्ञानिविज्ञानिशूरेभ्यो नापरः सखे ।
 योग्यः पुत्री मयोद्वोढुमिति नः समयो दृढः ॥373॥

तत्सुता ब्राह्मणयुवा विज्ञानं स्वमदर्शयत् ।
 क्षणेन दृष्टवान्येन हरिस्वामी जगत्त्रयम् ॥374॥
 हृष्टस्ततः स्वतनयां विस्मितो वचसा ददौ ।
 शुभे दिने सप्तमेऽस्तु विवाह इति संविदा ॥375॥
 अत्रान्तरेऽपरो विप्रः शूरो धीमान्कृतश्रमः ।
 देवस्वामिनमभ्येत्य तत्स्वसारमयाचत ॥276॥
 ज्ञानिविज्ञानिशूराणां मध्यादेको लभेत ताम् ।
 इत्यसौ तद्वचः श्रुत्वा धनुर्विद्यामदर्शयत् ॥377॥
 अनेकमल्लसंचार्यं दृष्ट्वा तस्यानतं धनुः ।
 देवस्वामी ददौ तस्मै विस्मितो भगिनीं गिरा ॥378॥
 मात्रापि द्विजपुत्राय कस्मैचिज्ज्ञानशालिने ।
 पुत्री वाक्येन दत्तासौ तत्प्रभावोदितस्मयात् ॥379॥
 सप्तमेऽह्नि वृतस्तेषां लग्ने प्राप्ते गृहाधिपः ।
 हरिस्वामी स्वतनयां ददर्शोऽज्वलभूषणाम् ॥380॥
 ज्ञानिविज्ञानिशूरेषु तुल्यं प्राप्तेष्वथोत्सवे ।
 अन्विष्टापि प्रयत्नेन कन्या नैव व्यदृश्यते ॥381॥
 ततस्तज्जनकः प्राह दुःखितः साश्रुलोचनः ।
 ज्ञानिन्वद क्व यातासौ निकषेयं तवागता ॥382॥
 इति पृष्टः स चोवाच धूम्राक्षेणाद्य रक्षसा ।
 सा नीता रूपलुब्धेन घोरां विन्ध्याटवीमितः ॥383॥
 विज्ञानिना कल्पितेऽथ समारुह्य रथोत्तमे ।
 शूरस्तं राक्षसं हत्वा कन्यकामानिनाय ताम् ॥384॥
 ततो लग्नक्षणे प्राप्ते तत्पिता श्रान्तमानसः ।
 सर्वे कृतोपकाराश्च तुल्याश्चेति व्यचिन्तयत् ॥385॥
 कथयित्वेति वेतालः पप्रच्छ धरणीपतिम् ।
 कस्तेभ्यः कन्यकालाभयोग्य इत्युच्यतां विभो ॥386॥
 पृष्टोऽब्रवीन्नरपतिः स पात्रं येन निर्जिता ।
 सा कन्यान्यौ तु विधिना दिष्टौ तौ सिद्धिकारणम् ॥387॥

इति श्रुत्वेति वेतालो गत्वा क्षिप्रमलक्षितः ।
तस्मिन्विटपिपर्यन्ते तथैवोल्लम्बितः स्थितः ॥388॥
इति षष्ठो वेतालः ॥8॥

राजा पुनस्तमादाय प्रययौ वीतसंभ्रमः ।
स च स्कन्धस्थितः प्राह वेतालः शृणु भूपते ॥389॥
शोभावत्यां पुरि श्रीमान्यज्ञकेतुः क्षितीश्वरः ।
गौर्या भक्तिपरश्चक्रे तीर्थयात्रामहोत्सवम् ॥390॥
स्नातुं स्निग्धा समायाते जने गौरीसरस्तदा ।
चेरुः सरोजनयना नूपुराहृतसारसा ॥391॥
तां नीतां वक्त्रपद्मैश्च दोर्मृणालीवनैस्तथा ।
तासां भूवीचिजालैश्च पुनरुक्तमभूत्सरः ॥392॥
वराङ्गनानां कुचयोः ससंप्लुतनखव्रणा ।
स्वच्छफेनावली चीरैः प्रीत्येवाबन्धि वारिणा ॥393॥
स्नानधौताञ्जनसिता तासां दृष्टिर्व्यरोचत ।
निष्कृष्टकालकूटाशा चटुलैवामुतच्छटा ॥394॥
स्नातोत्थिता वारिधाराहारिभिस्ताः स्तनैर्बभुः ।
दृष्टाग्रविससूत्रास्यैश्चक्रवाकैरिवाङ्किताः ॥395॥
धवलो नाम तत्राथ रजकः स्नातुमागतः ।
युवा ददर्श रजकीं कन्यां मदनसुन्दरीम् ॥396॥
स्नात्वा बाहुलताक्षेपतरलोत्क्षेपितैर्मुहुः ।
यस्या लावण्यसलिलैः प्रक्षालितमिवाम्बरम् ॥397॥
कटाक्षशफरोत्फाला या विभ्रमतरङ्गिता ।
रजकानामिव गृहे जाता मूर्तिमती नदी ॥398॥
मुहुर्लीलास्मितस्मेरच्छायाव्याजैर्दिदेश या ।
यात्रोत्सवे जनस्येव धौतपीतपटावली ॥399॥
तां चन्द्रबिम्बवदनां विलोक्य स्तबकस्तनीम् ।
स्वगृहं रजको गत्वा बभूव स्मरतापितः ॥400॥

पिता विदितवृत्तान्तस्तस्य दृष्ट्वा स्मरव्यथाम् ।
कन्यां यथाचे रजकं गत्वा शूद्रपटाभिधम् ॥401॥
आदरेण ततः पित्रा दत्तां मदनसुन्दरीम् ।
अवाप्य धवलो लेभे जीवितं विततोत्सवः ॥402॥
दत्तां कदाचित्तां पुत्रीं भर्तृगेहे चिरस्थिताम् ।
आनेतुं ग्राहिणोत्पुत्रं स्वीयं शुद्धपटस्ततः ॥403॥
भ्रात्रा निमिन्त्रिता साथ भर्त्रा सह समागता ।
पथि गौर्याश्रमं प्राप्य निषण्णा तत्सरस्तटे ॥404॥
द्रष्टुं ततो भगवतीं प्रविष्टो धवलः स्वयम् ।
उपहारं निजशिरः प्रददौ दैवनोदितः ॥405॥
भगिनीपतिमन्वेष्टुं प्रविष्टो वीक्ष्य तं पुरः ।
तथैव निजमूर्धानं चिच्छेदाकुलिताशयः ॥406॥
अथैका तावपश्यन्ती देवीं रजकसुन्दरी ।
द्रष्टुं प्रविष्टा तौ दृष्ट्वा पतितौ मर्तुमुद्यता ॥407॥
अशोकशाखिनः प्रान्ते पाशं सञ्जीचकार सा ।
ज्वलितास्तस्य तदुःखवह्निना कुसुमश्रियः ॥408॥
मुहुः स्तनाग्रविन्यस्तसाञ्जनाश्रुकणावली ।
लतेव स्तबकासक्तभुङ्गाली सास्तवीत्सतीम् ॥409॥
श्रीकण्ठकण्ठनीलाञ्जनवषट्पदमालिका ।
दृष्टिर्जयति ते देवि दैत्यसंहारयामिनी ॥410॥
त्रिलोचनमनःसिन्धुहर्षवीचिर्विलासिनी ।
कान्तिर्जयति ते गौरि शुम्भकैरवकौमुदी ॥411॥
व्याजुम्भि वाहशार्दूलदंष्ट्रांशुविशमण्डलम् ।
अम्बिके जयति स्मेरं पादाम्बुजयुगे तव ॥412॥
श्रुत्वेति पार्वती तुष्टा शिरःसंघट्टने तयोः ।
द्राग्जीवितुं व्यादिदेश भक्तिः कल्पलतेव यत् ॥413॥
भर्तुर्भ्रातुश्च सा शीर्षयोजने संभ्रमाकुला ।
दैवाद्विनिमयं चक्रे मुग्धा तत्र शरीरयोः ॥414॥

भ्रातरं भर्तृवदनं भर्तारं चाग्रजाननम् ।
ततस्तावुत्थितौ दृष्ट्वा सा संदेहाकुलाभवत् ॥415॥
कथयित्वेति वेतालः पृष्टवानुर्वरापतिम् ।
भर्तारं सेव्यतां बाला कं ताभ्यां सा सुलोचना ॥416॥
श्रुत्वेति राजा प्रोवाच यस्या भर्तृमुखः पतिः ।
शिरः सर्वेन्द्रियाधारं सकलं हि कलेवरम् ॥417॥
इति मौनपरित्यागाद्राज्ञः क्षणमलक्षितः ।
वेतालो वृक्षमध्येत्य तथैवोल्लम्बितः स्थितः ॥418॥
इति सप्तमो वेतालः ॥9॥

ततः पुनस्तमादाय जगाम जगतीपतिः ।
तत्स्कन्धस्थोऽपि वेतालः प्राह तं श्रूयतामिति ॥419॥
बभूव चन्द्रसिंहाख्यस्ताम्रलिप्यधिपो नृपः ।
दिक्षु यद्विक्रमोत्साहश्लथा वीरकथाभवत् ॥420॥
तस्य सेवाव्रतः सत्वशीलाख्यो राजवंशजः ।
आसीत्कार्पटिको द्वारि शीतातपसहश्चिरम् ॥421॥
ततः कदाचिन्मृगयारसाकृष्टः स भूपतिः ।
पाष्णिंसंस्पर्शरोषेण हतोऽश्वेनातियायिना ॥422॥
निर्मानुषं वनं प्राप्य स दूराध्वश्रमातुरः ।
नापश्यदनुगं कंचिदेकं कार्पटिकं विना ॥423॥
तत्र संदृश्य पानीयं वितीर्यामलकद्वयम् ।
नृपं साश्वं समाश्वस्य मार्गं कार्पटिकोऽदिशत् ॥424॥
पुनः स्वनगरं प्राप्तो मन्त्रिभिर्विहितोत्सवः ।
तुष्टः कार्पटिकं श्रीमांश्चकारात्मसमं नृपः ॥425॥
ततः कदाचिद्वर्षेण स सिंहलपतेः सुताम् ।
मृगाङ्गलेखामुचितां विसृष्टो याचितुं ययौ ॥426॥
स प्रापाम्भोनिधिं तुङ्गतरङ्गालिङ्गिताम्बरम् ।
कैलासमिव चार्चकंशिखरोल्लिखिताखिलम् ॥427॥

तत्रारुह्य प्रवहणप्रस्थिते सिंहलोन्मुखे ।
तस्मिन्महिषसंकाशः समुत्तस्थौ महाधनः ॥428॥
तदुद्भूतमहावात्या चण्डताण्डवितेऽम्बुधौ ।
प्रलयावर्तवित्रस्ताः क्वापीव ककुभो ययुः ॥429॥
ततः प्रवहणारूढा वणिजो ब्राह्मणास्तथा ।
चन्द्रसिंहमहीपालं चुक्रुशुर्भयकातराः ॥430॥
तं स्वामिशरणाक्रन्दं श्रुत्वा कार्पटिकोऽम्बुधौ ।
अमृष्यमाणः सहसा ममजाकोशखड्गभृत् ॥431॥
ततो भग्ने प्रवहणे सर्वे ते जलचारिभिः ।
भक्षिताः सत्वशीलस्तु निजोत्साहेन रक्षितः ॥ 432॥
ध्वजयष्टिं जले दृष्ट्वा तत्पाश्वेन प्रविश्य सः ।
अपश्यत्काञ्चनपुरं पाताले रत्नतोरणम् ॥433॥
मणिप्रासादमध्यस्थां तत्र तुष्टाव पार्वतीम् ।
भुजङ्गदैत्यकन्याभिः कृतपूजामहोत्सवाम् ॥434॥
जय गौरि गलद्रवर्गीर्वाणगणवन्दिते ।
जय काललघुग्रासहेलाहुंकृतिशालिनि ॥435॥
जय सोत्सुकचण्डीशनेत्रषट्पदपद्मिनि ।
जय दैत्येन्द्रहृत्पद्मसंकोचघनकौमुदि ॥436॥
जय मायागुणप्रोतजगद्यन्त्रविनोदिनि ।
जय स्फोटसमुन्मेषव्याप्तविश्वसरस्वति ॥437॥
इति स्तुत्वा भववधूं तत्पुरागे ददर्श सः ।
दासीसहस्रानुगतां कन्यां दिव्यविभूषणाम् ॥438॥
हरिणीहारिनयनां मत्तमातङ्गगामिनीम् ।
विलासलीलालसितां स्मरोपवनमञ्जरीम् ॥439॥
लावण्यवारिपरिखां मेखलायन्त्रमालिकाम् ।
रुद्धनेत्रानलध्वस्तस्मररक्षापुरीमिव ॥440॥
तां दृष्ट्वा स स्वलद्वीर्यो मुद्रितः पुष्पधन्वना ।
चित्रन्यस्त इव क्षिप्रमभूद्विस्मयनिश्चलः ॥441॥

स पूजयित्वा शर्वाणीं प्रविष्टां मणिमन्दिरे ।
 अनुप्रविश्य तत्कान्तिं पपौ नयनचन्द्रिकाम् ॥442॥
 तस्यां स्फाटिकपर्यङ्कनिषण्णायां स सादरम् ।
 नीतः कार्पाटिकः स्नातुं दासीभिर्विमलं सरः ॥443॥
 स्नानार्थं नोदितस्तत्र ताम्रलीप्तान्तरस्थितात् ।
 उत्तस्थौ भूमिपोद्यानक्रीडाकमलिनीतटात् ॥444॥
 ततो नवमधुक्षीब इवानन्दितमानसः ।
 कन्दर्पसर्पदष्टोऽभूत्स तत्रात्यन्तमूर्च्छितः ॥445॥
 क्षिप्रमुद्यानपालेन विज्ञप्तोऽहं तदागमम् ।
 चण्डसेननृपोऽभ्येत्य तं ददर्श तथास्थितम् ॥446॥
 स कथंचित्परिज्ञाय नृपमुन्मील्य लोचने ।
 मन्दमन्देन वचसा निजवृत्तान्तमभ्यधात् ॥447॥
 तच्छ्रुत्वा विस्मितो राजा तमुवाच स्मरातुरम् ।
 समाश्वसिहि पातालं गच्छावः पुनरब्धिना ॥448॥
 इत्युक्त्वा सचिवन्यस्तराज्यः प्रणयिवत्सलः ।
 सह कार्पाटिकेनैव चण्डसेनोऽम्बुधिं ययौ ॥449॥
 तत्र प्रवहणारूढः सलिले तत्प्रदर्शिते ।
 निमज्ज्य तेन सहितः क्षिप्रं पातालमाप्तवान् ॥450॥
 ततो गौर्याश्रमे कन्यां तामपश्यत्सुलोचनाम् ।
 नवां स्मरमयूरस्य निवासकदलीमिव ॥451॥
 सैंहिकेयपरित्रासाल्लक्ष्मी हरिणलक्ष्मणः ।
 चक्रिचक्रसमाक्रान्तामिव पातालमाश्रिताम् ॥452॥
 तां दृष्ट्वा भूमिपालोऽभूद्ग्राहप्रमदविस्मयः ।
 अहो स्थानेऽनुरक्तोऽयमिति लोलितशेखरः ॥453॥
 सापि संपूज्य वरदां प्राप्तोद्वाहवरा सती ।
 दृष्ट्वा राजानमवदन्निजदासीं सविस्मया ॥454॥
 ब्रूहि सत्वोचिताकारं गत्वैनं पुरुषोत्तमम् ।
 देव पूजां गृहाणेति तमादिष्टेत्यभाषत ॥455॥

इह स्थितेनैव मया गृहीता सुभ्रु सत्कृतिः ।
 इति भूमिभुजाप्युक्ता कन्यकामेत्य सावदत् ॥456॥
 निर्विकारेण सत्त्वेन तस्यावष्टम्भशालिना ।
 सा भुजङ्गी ततः कृष्टा मन्त्रेणैवान्तिकं ययौ ॥457॥
 सुवर्णवल्लरीरम्ये रत्नपादपकानने ।
 सर्वर्तुफलपुष्पाढ्ये विश्रान्तं सा तमब्रवीत् ॥458॥
 पूजां देव गृहायातो गृहाण मम सादरम् ।
 इत्यार्थितस्तथा राजा जगाद सहितोऽमुना ॥459॥
 द्रष्टुं गौरीमहं प्राप्तस्त्वां ज्ञात्वा त्वर्थिवत्सलाम् ।
 इति श्रुत्वा परिज्ञाय तं कार्पाटिकमानतम् ॥460॥
 मुहूर्तं लज्जया तस्थौ स्मृत्वा तां तस्य वञ्चनाम् ।
 ततोऽब्रवीत्सा राजेन्द्र सुताहमसुरप्रभोः ॥461॥
 कालनेमेः पुरयुगं ममेदं भोगमोक्षदम् ।
 सर्वसिद्धिप्रदं दीप्तं रत्नहाटकनिर्मितम् ॥462॥
 जन्ममृत्युजराव्याधिवर्जितं दिव्यसौरभम् ।
 अहं पुरद्वयोपेता त्वदधीना नरेश्वर ॥463॥
 इत्याकर्ण्य नृपः प्राह स्पृशन्कार्पाटिकं दृशा ।
 प्रेमविश्रम्भभूरेको मम मानसदर्पणः ॥464॥
 सुहृत्पिता सुतो बन्धुः स्वामी सर्वमयं मम ।
 कुलोन्नतः सत्त्वशीलस्तदस्मै त्वं मयार्पिता ॥465॥
 (पुत्रीव सुभ्रु गुणिने भव्यस्ते प्रणयो यदि ।
 निशम्य तां नरपतेर्गिरिमौचित्यमन्थराम् ॥466॥
 तथेति लज्जिता प्राह सा लिखन्ती दृशा भुवम् ।
 कन्यामसुरराज्यं च दत्त्वा तस्मै नृपोऽब्रवीत्) ॥467॥
 एकस्यामलकस्यैतत्फलमन्यद्रुणं मम ।
 तावापृच्छत्तस्तस्मिन्स निमज्ज्य सरोवरे ॥468॥
 उन्ममज्ज निजोद्यानलीलापुष्करिणीतटात् ।
 कथां राज्ञे निवेद्येति वेतालः पुनरभ्यधात् ॥469॥

वद कः सत्त्ववानत्र नृपः कार्पटिको नु वा ।
 इति पृष्टोऽब्रवीद्राजा किं चित्रं यदि भूपतिः ॥470॥
 कृते प्रतिक्रियां कर्तुं निमग्नो दृष्टवर्त्मना ।
 श्लाघ्यः कार्पटिको येन भीताक्रन्दासहिष्णुना ॥471॥
 अदेशिके निरालम्बे निमग्नो मकरालये ।
 श्रुत्वेत्यलक्षितो यातो वेतालो विपुलच्छलः ।
 शिंशिपाप्रान्तमागत्य पुनरुल्लम्बितः स्थितः ॥472॥

इत्यष्टमो वेतालः ॥10॥

राजा ततस्तमादाय निरुद्वेगो ययौ जावत् ।
 स च तत्स्कन्धगः प्राह धिक्ते निर्वेद्यमीदृशम् ॥473॥
 क्व राज्यं क्व सुधागर्भपूर्णन्दुवदनाश्च ताः ।
 क्व चेदं मत्तवेतालं श्मशानमतिभीषणम् ॥474॥
 क्षान्तिशीलेन पापेन जगच्चूडामणिर्भवान् ।
 पातितः संशये घोरे शृणु तावत्कथामिमाम् ॥475॥
 वीरदेवोऽभवच्छ्रीमानुज्जयिन्यां महीपतिः ।
 तस्य पद्मारतिर्नाम भार्याभूच्चित्तचन्द्रिका ॥476॥
 तपसा देवमासाद्य भवानीवल्लभं विभुम् ।
 लेभे सभार्यस्तनयं कन्यां चायतलोचनाम् ॥477॥
 शूरदेवाभिधे तस्मिन्दारके मुक्तशैशवे ।
 अनङ्गरतिनाम्नी सा कन्यापि प्राप यौवनम् ॥478॥
 तस्या बभूव संकल्पो यः शूरो विपुलाकृतिः ।
 लोके विस्तीर्णविद्यश्च स मे प्रणयभूरिति ॥479॥
 नानादिगन्तभूपाला याचमाना नृपात्मजाम् ।
 प्रत्याख्याता ययुर्लोके कुतः सर्वगुणो जनः ॥480॥
 ततः कदाचिदाजगमुश्चत्वारः सदृशा नराः ।
 विक्रान्ता विपुलाकारा विद्यासु च विचक्षणाः ॥481॥
 ते समभ्येत्य राजानमयाचन्त प्रियां सुताम् ।
 प्रतीहारेण पृष्टाश्च निजाभिजनमूचिरे ॥482॥

एकोऽवदच्चित्रवस्त्रनिर्माणकुशलो धनी ।
 शूद्रोऽहं शौर्यसंपन्नो वपुः प्रत्यक्षमीक्ष्यताम् ॥483॥
 द्वितीयः प्राह वैश्योऽहं भाषाज्ञः सर्वदेहिनाम् ।
 तृतीयः प्राह राजन्यः खड्गी नान्योऽस्ति मत्समः ॥484॥
 चतुर्थश्चाब्रवीद्विप्रो जानेऽहं मृतजीवनम् ।
 शौर्यरूपगुणैर्विद्धि तुल्यानस्मान्महीपते ॥485॥
 इति श्रुत्वा वीरदेवः संदेहाकुलितोऽभवत् ।
 मन्त्रिभिः सहितो दृष्ट्वा मिथो विम्बागतानिव ॥486॥
 उक्त्वेति पप्रच्छ नृपं वेतालो विपुलाशयः ।
 कस्मै नरपते ब्रूहि सा कन्या दीयतामिति ॥487॥
 राजावदद्वैश्यशूद्रौ नार्हावत्र न संशयः ।
 अन्यवृत्तिर्द्विजः पापः क्षत्रियः क्षत्रियापतिः ॥488॥
 इति श्रुत्वाथ वेतालो गत्वा पुनरलम्बत ।
 नृपो भूयस्तमादाय ययौ स्कन्धाच्च सोऽब्रवीत् ॥489॥
 इति नवमो वेतालः ॥11॥

वीरबाहोर्नरपतेर्नगरं पुरमण्डले ।
 निदर्शनं धनवतामर्थदत्तोऽभवद्वणिक् ॥490॥
 धनदत्ताभिधस्तस्य पुत्रो भूतलनन्दनः ।
 सुता मदनसेना च मदनस्येव देवता ॥491॥
 धनदत्तवयस्योऽथ धर्मदत्तो युवा वणिक् ।
 तस्यानुजां कदाचित्तामपश्यत्तद्गृहागतः ॥492॥
 दृष्टिर्युवनिरानन्दस्मयगुर्वी तरङ्गिते ।
 यत्कान्तिसलिले मग्नान्समुद्भूतं न पार्यते ॥493॥
 भ्रूलास्यवीचितरले हारहंससितोर्मिणि ।
 लावण्यमानसे यस्याः कटाक्षैः शफरायितम् ॥494॥
 उन्निद्रचन्द्रवदनां तां विलोक्य निजालयम् ।
 गतो न लेभे स धृतिं सार्थभ्रष्ट इवाध्वगः ॥495॥

स वै निःश्वाससंतापगलपिताधरपल्लवः ।
 अशान्तसर्वशिखिना कामेनेवान्तराश्रितः ॥496॥
 अत्रान्तरे जलनिधिं संध्यारक्ते दिवाकरे ।
 तापादिव क्लान्ततनौ प्रविष्टे पद्मिनीप्रिये ॥497॥
 दिक्षु कालागरुस्यन्दनीलैस्तिमिरसंचयैः ।
 अभिसारोचितं वेषमाश्रितास्विव तत्क्षणात् ॥498॥
 उदिते पूर्वदिक्कान्तासीमन्तमणिमौक्तिके ।
 शशाङ्के शंकरक्लृप्तकामसंजीवनौषधम् ॥499॥
 ज्योत्स्ना विलासविलसत्प्रभाशुभ्रे नभस्तले ।
 दुग्धाब्धिशायिनः शौरैः सुधालिप्त इवोरसि ॥500॥
 वणिक्पुत्रः स्मराक्रान्तः सुहृदाश्वासितो मुहुः ।
 क्षणार्धनिद्रितोऽपश्यत्स्वप्ने तामेव कामिनीम् ॥501॥
 ततः प्रभाते विजने स्थितां तामेव कन्यकाम् ।
 ययाचे संगमं तस्य लज्जा रागेण सहाते ॥502॥
 तेन प्रणयिभृङ्गेन वल्लरीवाकुलीकृता ।
 स्तनाग्रलग्नवदना बभाषे सा नता ह्रिया ॥503॥
 अहमद्यैव तातेन वचसा प्रतिपादिता ।
 सखे समुद्रदत्ताय वणिजे गुणशालिने ॥504॥
 पूर्वमेव त्वयाभ्येत्य पिता मे किं न याचितः ।
 अधुनाहं परवधूरगम्या विदुषस्तव ॥505॥
 इति श्रुत्वा बलवता मन्मथेन समाहतः ।
 सोऽवदद्वीक्ष्यमाणस्तां हठात्कण्ठग्रहोत्सुकः ॥506॥
 मम प्राणैः पणः सुभ्रु त्वां विना समुपस्थितः ।
 कार्याकार्यविचारो हि कस्य जीवितसंशये ॥507॥
 त्यजते प्राप्तममृतं यदेतद्बुद्धिलाघवम् ।
 को जानीते परे लोके कस्य किं नु भविष्यति ॥508॥
 भज मामनवद्याङ्गि न चेत्त्वद्वदनामृतम् ।
 स्वयं पिबामि किं प्राप्ते विधौ नक्षत्रचिन्तया ॥509॥

श्रुत्वेति चकिता तन्वी प्रोवाचानन्तवीक्षितैः ।
 लज्जयेव वितन्वाना ततो मायूरकञ्चुकम् ॥510॥
 भ्रष्टायां मयि तातस्य विनष्टे कन्यकाफले ।
 कुलं पतति नः सर्वं तत्र मा कारणं भव ॥511॥
 प्राग्जन्मविहितः कोऽपि निबन्धो यदि मे प्रभो ।
 तत्पित्रे स्वफलं दत्त्वा कृतोद्वाहास्मि ते वशे ॥512॥
 वणिग्युवा निशम्येति प्राह सर्वं न मे वरम् ।
 नवां मालां परित्यज्य निर्माल्ये रमते नु कः ॥513॥
 अनम्यस्प्रष्टुमुचितं त्यक्तुं नेशोऽस्मि ते वपुः ।
 को हि हस्तात्परित्यज्य कुर्यादन्वेषणश्रमम् ॥514॥
 इत्याग्रहेण तेनोक्ता निर्जने भयविह्वला ।
 अबला बलिना लब्धा निःश्वसन्ती जगाद सा ॥515॥
 सत्यं वृत्तविवाहाहं त्वदन्तिकमदूषिता ।
 समेष्यामि क्षपामेकामिति ते सुकृतैः शपे ॥516॥
 श्रुत्वेति स ययौ तुष्टः प्रीतये हि मृगीदृशाम् ।
 प्रणयादस्त्युपगमो यथा नैव तथा हठात् ॥517॥
 अथ लग्नदिने प्राप्ते प्रवृत्ते विपुलोत्सवे ।
 समुद्रदत्तस्तरुणीं परिणीय निनाय ताम् ॥518॥
 ततो भुक्तोत्तरं स्मेरकुसुमोत्तंसमन्दिरे ।
 भेजाते दम्पती शय्यां तनुस्वच्छोत्तरच्छदाम् ॥519॥
 लज्जानतमुखी तेन चाटुकारेण कामिना ।
 करेण रुद्धां नो नीवीं याचितापि मुमोच सा ॥520॥
 ततः सा तस्य वणिजः स्मृत्वा प्राग्विहितं वचः ।
 यत्नाद्विहाय सहजां लज्जां भर्तारमब्रवीत् ॥521॥
 प्रौढा समुचितं बाला वैदग्ध्यं सहते कथम् ।
 अफुल्लां चूतकलिकां नहि चुम्बति षट्पदः ॥522॥
 इति नीवीहठाकृष्टप्रगल्भं विनिमय्य तम् ।
 सा प्राह पूर्ववरणद्रोहकाङ्गीकृतेप्सितम् ॥523॥

वणिजो धर्मदत्तस्य हठसङ्गभयान्मया ।
 अश्रुष्टाहं समेष्यामि त्वामिति प्राक्प्रतिश्रुतम् ॥525॥
 असत्यं नोत्सहे कर्तुं तदनुज्ञातुमर्हसि ।
 इत्याकर्ण्य स तत्याज तामाशां च तदागमे ॥525॥
 ततः सा तेन विजने संत्यक्ता प्रययौ निशि ।
 तारहारांशुधवला कमलेनेव कौमुदी ॥526॥
 प्रायन्तीं धर्मदत्तस्य भाण्डशालां सुलोचनाम् ।
 सर्वस्वहारी चौरस्तां ददर्शोच्चलभूषणाम् ॥527॥
 विस्तीर्णवक्षःप्राकारो मेघश्यामो महाभुजः ।
 तमः शबरसंघातसेनापतिरिवाग्रतः ॥528॥
 स्कन्धावलम्बिभिर्भृङ्गनीलैः कुटिलकुन्तलैः ।
 सदा संचरणप्रीत्या रात्रिचक्रैरिवाश्रितः ॥529॥
 उद्भिन्नश्मश्रुलेखाग्रकेशमण्डलमण्डितः ।
 दिग्दन्तिमुक्ताचौर्येषु मदाम्बुभिरिवाङ्कितः ॥530॥
 विकोशासिप्रभाजालैर्दीपैरालम्बिताम्बरः ।
 तारा रत्नप्रहारार्थमिवारोहणरज्जुभिः ॥531॥
 स दृष्ट्वा तां सुवदनां कूजद्भूषणमौक्तिकाम् ।
 दिवः सचन्द्रनक्षत्रां श्रियं संचारिणीमिव ॥532॥
 नेत्रयोः कज्जलेनेव नीलाब्जेनेव कर्णयोः ।
 तनौ कृष्णांशुकेनेव तमसापि विभूषिताम् ॥533॥
 करेणुं कुञ्जराकारस्तां राजकदलीमिव ।
 समालम्ब्यावदद्भन्यः कोऽसौ यो मृग्यते त्वया ॥534॥
 सर्वस्वहारी चौरोऽहं क्रु नु गच्छसि निर्भया ।
 (अथवा मण्डलोदण्डकोदण्डस्ते स्मरोऽनुगः ॥535॥
 इत्युक्ता तेन सा प्राह चौरोऽसि यदि गृह्यताम्) ।
 रत्नभूषणमामुक्तमौक्तिकं किं तु मुञ्च माम् ॥536॥
 श्रुत्वेत्याह विहस्यैनां नाहं ग्राम्यः शुचिस्मिते ।
 यस्त्वां स्मरालंकरणां त्वक्त्वा यास्याम्यचेतनः ॥537॥

इत्युक्ता तेन संरुद्धा सा जगौ वल्गुवादिनी ।
 वचसा येन निर्बद्धा तस्मादेष्यामि ते वशे ॥538॥
 स श्रुत्वेत्याह चित्रं ते सरलः कोऽप्ययं क्रमः ।
 क्षिप्त्वा दिक्षु क्षिपेत्को नु कण्ठस्थां रत्नमालिकाम् ॥539॥
 गच्छामि पुनरेष्यामीत्येवं धूर्तो न वञ्चते ।
 योषितां च नदीनां च पुनरागमनं कुतः ॥540॥
 यस्तु हस्तगतं रत्नं मोहात्त्यजति बालवत् ।
 स मन्दपुण्यः सुभगे पुनस्तस्य न भाजनम् ॥541॥
 इति वादिनमत्युग्रसाहसं तं चकार सा ।
 निवेद्य निजवृत्तान्तं किञ्चिद्धि कलितग्रहम् ॥542॥
 सोऽब्रवीद्धर्मदत्तस्य तथा तथ्यं वचः कृतम् ।
 तथैव मे त्वया कार्यं गत्वा सत्यवती ह्यसि ॥543॥
 इति चौरैण मुक्तासौ भाण्डशालान्तरस्थितम् ।
 धर्मदत्तमवाप्याहं प्राप्तास्मीति सविस्मयम् ॥544॥
 सोऽवदत्परभार्या मे न गम्या त्वं सुलोचने ।
 शमितोऽनङ्गदावाग्निधूम्राभ्रमलिनः क्षणः ॥545॥
 प्रतिमुक्तापि सा तेन चोरमेत्य तदाभ्यधात् ।
 सत्यत्वात्सोऽपि तच्छ्रुत्वा तां तत्याज सभूषणाम् ॥546॥
 ततः समुद्रदत्तं सा पुनरभ्येत्य वल्लभम् ।
 यथा वृत्तं निवेद्यास्मै भेजे तेन स्मरोत्सवम् ॥547॥
 नृपमुक्त्वेति पप्रच्छ वेतालो वञ्चनोन्मुखः ।
 ब्रूहि कोऽत्र महासत्त्वः श्रुत्वेत्याह च भूपतिः ॥548॥
 तत्याज धर्मदत्तस्तां बहुकर्णगतां प्रियाम् ।
 राजभीत्या सुखे नित्यं धनिनो हि पराङ्मुखाः ॥549॥
 धत्तां समुद्रदत्तोऽपि कथं तामन्यमानसाम् ।
 किं न कुर्युर्गृहे रुद्धा विरक्तहृदयाः स्त्रियः ॥550॥
 सत्त्ववानेक एवात्र चौरोऽसौ तां मुमोच यः ।
 प्राणान्नि पणमाधाय धने धावन्ति दस्यवः ॥551॥

इति श्रुत्वैव वेतालस्तरो पुनरलम्बत ।

भूयोऽप्यादाय तं राजा ययौ मारुतरंहसा ॥552॥

इति दशमो वेतालः ॥12॥

ततः स्कन्धस्थितः प्राह वेतालः प्रहसन्मुहुः ।

अहो राजन्निरुद्वेगो व्यवसायस्तवायतः ॥553॥

राजा धर्मध्वजो नाम बभूवोज्जयिनीपतिः ।

तिस्रस्तस्याभवनभार्यास्तरुण्यः कान्तिभूषणाः ॥554॥

इन्दुलेखाभिधानैका कान्ता तारावली परा ।

अन्या मृगाङ्कवत्याख्या चेत्युन्नतकुचोद्धताः ॥555॥

कदाचिदक्षिणमरुत्तरङ्गितलतावने ।

वसन्ते संततोत्फुल्लचूतचम्पककेसरे ॥556॥

काले केसरिणि स्मेरसिन्दुवारसटोद्भटे ।

मानिनीमानमातङ्गदारणे कलिकानखे ॥557॥

शर्वरीकबरीपाशत्विषि षट्पदमण्डले ।

दिक्षु कालागरुस्यन्दपत्रभङ्गतुलास्थिते ॥558॥

सेव्यतां ललनाभोगः पीयतां पातलं मधु ।

न ह्यनन्तो वसन्तोऽयं वदतीवेति कोकिले ॥559॥

राजा चूतरजःपुञ्जपिञ्जरे वल्लभासखः ।

विजहार निजोद्याने विराजितमधूत्सवः ॥560॥

(अथ तत्रेन्दुलेखायाः केलिलोलदिशा दिशः ।

इन्दीवरदलोदारा बभूवुर्नन्दनोत्सवे) ॥561॥

अत्रान्तरे मृगदृशस्तस्या भ्रमणविभ्रमात् ।

कर्णोत्पलेन पतता क्षिप्रमूरुभञ्ज्यत ॥562॥

निजमन्तःपुरं नीत्वा दासीभिः कथमप्यसौ ।

तस्थौ स्फटिकपर्यङ्के मूर्च्छामोहनिमीलिता ॥563॥

ततस्तिमिरमायूरतालवृन्तसमाहते ।

जगद्गृहे गृहपतौ गते दीप इवाखिले ॥564॥

सीत्काराचार्यतां याते निशीथे हरिणीदृशाम् ।

संकुचत्पद्मकोशाग्रबद्धभृङ्गरवैरिव ॥565॥

उदिते व्योमनलिनीराजहंसे सितत्विषि ।

कान्तास्मितामृतासक्त इवालोके विलासिनि ॥566॥

रजनीराजतनयाकन्दुकेनेन्दुना मुहुः ।

यामिनीकामिनीहारैः करैरापूरितेऽम्बरे ॥567॥

उत्सवेन विलासस्य विभ्रमेण मदश्रियः ।

जीवितेन मनोजस्य शशिना भूषिते मधौ ॥568॥

आखण्डलद्विपाखण्डदन्तदण्डोरुडम्बरैः ।

रश्मिखण्डैः शशाङ्कस्य मण्डिते क्षितिमण्डले ॥569॥

तारावलीसखो राजा सौधे लीलारतालसः ।

कर्पूरशुभ्रः सुष्वाप द्वितीय इव चन्द्रमाः ॥570॥

मधुमत्ता रतिक्लान्ततनुवल्ली श्रमाम्बुभिः ।

संमृष्टतिलका क्षिप्रं देवी निद्रां समाययौ ॥571॥

तस्याः शीताभिलाषिण्यास्तत्र गात्रे निरम्बरे ।

पतितैश्चन्द्रकिरणैरुत्तस्थौ स्फोटकावली ॥572॥

ततो भुजगदष्टेव प्लुष्टेव शिखिनोत्थिता ।

ययावाश्वासिता राज्ञा कदलीशयनं शनैः ॥573॥

मृगाङ्कवत्यथाहूता रतये भूभुजा निशि ।

समाययौ विभ्रमभूः क्रणन्नूपुरमेखला ॥574॥

निःशब्दजनसंचारे कुतोऽपि मुसलध्वनिम् ।

श्रुत्वा तदा जातकिणौ धुन्वाना करपल्लवौ ॥575॥

दष्टा इवैत्य मधुपैरुत्फुल्लकमलाशया ।

हा हतास्मीति चुक्रोश तारसीत्कारशालिनी ॥576॥

श्रीखण्डरससंसिक्तकरामाशु स भूपतिः ।

परिसान्त्व्य क्षपां क्षिप्रं क्षीणां वीक्ष्य समुत्थितः ॥577॥

कथयित्वेति वेतालः प्रपच्छ वसुधाधिपम् ।

सुकुमारतरा राजन्का तासां कथ्यतामिति ॥578॥

नृपोऽवदन्मुदुतनुः सुकुमारतरैव सा ।
 यस्या मुसलशब्देन जातौ पाणी किणाङ्कितौ ॥579॥
 इति श्रुत्वैव वेतालः सहसादर्शनं गतः ।
 वृक्षाग्रात्पुनरादाय ययौ राजा महाजवः ॥580॥
 इत्येकादशो वेतालः ॥13॥

सोऽथ स्कन्धगतः प्राह कथां शृणु विशांपते ।
 अशेषसंशयच्छेत्ता देवदेवो मतोऽसि मे ॥581॥
 नृपोऽभूद्भूदङ्गविषये यशःकेतुरिति श्रुतः ।
 यद्यशःपुण्डरीकस्य मृणालं फणिनायकः ॥582॥
 पृथुवेपथुसिञ्जानैर्यतिं संधाय भूषणैः ।
 यस्य किन्नरकान्ताभिर्गीयते चरितावली ॥583॥
 यत्पराक्रममाकर्ण्य लङ्कालोडनसाक्षिणः ।
 स्मरन्ति रामचरितं ते जीर्णा रजनीचराः ॥584॥
 अमात्यो दीर्घदर्शीति तस्याभूदुचिताभिधः ।
 यन्मन्त्रैः शत्रुसर्पाणां नाभवन्कचिदुद्भवाः ॥585॥
 तस्मिन्विन्ध्यस्य पृथिवीभारं स वसुधाधिपः
 सिषेवे चन्द्रवदनां श्यामां श्यामामिवोडुपः ॥586॥
 तस्मिन्स्मररसासक्ते स श्रीमान्मन्त्रिपुंगवः
 कोशदुर्गबलाधानव्यग्रोऽभूत्सततोत्थितः ॥587॥
 दीर्घदर्शी श्रियं भुङ्क्ते नाममात्रं नृपो नृपः
 जनप्रवादं श्रुत्वेति सोऽभूच्चिन्ताकुलस्ततः ॥588॥
 मेधाविन्ध्याथ संचिन्त्य भार्यया सह तां कथाम् ।
 तीर्थयात्रापदेशेन यथावेको निशामुखे ॥589॥
 (ब्रजन्क्रमेण संप्राप्य तीरोपान्तं महोदधेः ।
 निधिदत्ताभिधानेन सार्थवाहेन संगतः ॥590॥
 तेन संजातसौहार्दः सौवर्णद्वीपगामिना)।
 आरुह्य तत्प्रवहणं मध्यं प्राप महोदधेः ॥591॥

ततस्तत्र निवातेऽपि ददर्श सहसोत्थितम् ।
 स्फटिकाचलशृङ्गाभं सलिलस्तम्भमुन्नतम् ॥592॥
 पृथुं ददर्श तन्मध्ये कान्तं कनकपादपम् ।
 पारिजातमिवोत्सृष्टं मन्थभीत्याब्धिना पुनः ॥593॥
 विद्रुमस्तम्भसुभगे चित्ररत्नलतोज्वले ।
 (तस्मिन्माणिक्यपर्यङ्के स्थितां कन्यां ददर्श सः) ॥594॥
 पद्मरागाधरां नीललोलाकविभूषिताम् ।
 मूर्तां रत्नाकरस्येव देवतां मौक्तिकस्मिताम् ॥595॥
 तां दृष्ट्वा विस्मयोत्फुल्लस्तस्या गीतमथाशृणोत् ।
 तन्मुखाम्भोजलुब्धानां भृङ्गाणामिव गुञ्जितम् ॥596॥
 येन यदा यद्विहितं प्रामुससौ तत्तदा स्वयं याति ।
 आक्रम्य नीयते वा कर्मगुणैरायतैस्तत्र ॥597॥
 देहभृतां किल सततं सर्वत्र शुभाशुभं याति ।
 आमोदः कुसुमानां कीटमणीनामिवालोकाः ॥598॥
 अस्मिन्कर्मक्षेत्रे येन यदुप्तं स एव तद्भुङ्क्ते ।
 लभते नान्धेन धृतं चक्षुष्मानप्युपायेन ॥599॥
 इति वीणास्वनजुषा गीतेन श्रवणामृतम् ।
 विकीर्य तरुपर्यङ्कसहिता सा तिरोदधे ॥600॥
 ततस्तद्दर्शनाश्चर्यनिश्चलं दीर्घदर्शिनम् ।
 कर्णधारो विहस्याह सहेलं बर्बराभिधः ॥601॥
 किं विस्मितोऽसि कन्यैषा सदैवात्र प्रदृश्यते ।
 ज्ञायते नाम शीलं वा कुलं वास्या न केनचित् ॥602॥
 इति ब्रुवाणे शनकैः कर्णधारे महाद्भुतम् ।
 पवनस्यानुकूल्येन द्वीपं प्राप स सार्थपः ॥603॥
 कृतकृत्ये गृहं प्राप्ते तस्मिन्त्नवति क्षणात् ।
 तद्वेश्मनि चिरं स्थित्वा मन्त्री स्वनगरं ययौ ॥604॥
 अत्रान्तरे यशःकेतुस्तद्वियोगाग्नितापितः ।
 आगतो दीर्घदर्शीति विज्ञप्तो द्वाररक्षिणा ॥605॥

ततो नरपतिः क्षिप्रं हृष्टस्तेन समागतः ।
 मेने वराकं त्रैलोक्यराज्यं विस्तारिलोचनः ॥606॥
 तमपृच्छत्परिष्वज्य परित्यज्य गतोऽसि किम् ।
 गृहं बन्धुजनं भार्यां श्रियं मां च निरादरः ॥607॥
 इति राजवचः श्रुत्वा पुण्यतीर्थार्थितां वदन् ।
 समुद्रदृष्टमाश्चर्यं दिव्यकन्यामवर्णयत् ॥608॥
 तां निशाम्य नवोत्कण्ठानिर्भरोऽभून्महीपतिः ।
 श्रुतो ह्येव विशत्यन्तः प्राग्जन्मदयितो जनः ॥609॥
 स दीर्घदर्शिने राज्यं न्यासीकृत्य स्मरातुरः ।
 द्रष्टुं शशाङ्कवदनां भिक्षुवेषोऽम्बुधिं ययौ ॥610॥
 सरिपुराकरारण्यग्रामशैलान्समुत्तरन् ।
 क्रमाच्छ्रीपर्वतं प्राप्य नत्वा देवीं हरिप्रियाम् ॥611॥
 कुशनाभेन मुनिना दयितां प्राप्स्यसीत्यथ ।
 कृताश्वासस्तदादिष्टं सार्थवाहं समभ्ययात् ॥612॥
 लक्ष्मीदत्ताभिधानस्य तूर्णं प्रवहणं ततः ।
 स समारुह्य जलधर्मध्यं प्राप्य प्रियाशया ॥613॥
 तत्र वैदूर्यशिखराकारकल्लोलमालिते ।
 समुत्थिते जलस्तम्भे ददर्श मणिपादपम् ॥614॥
 धात्रा वैचित्र्यनिर्माणरम्योपकरणश्रियम् ।
 निधानमिव रक्षायै हस्ते न्यस्तं महोदधेः ॥615॥
 तस्य कल्पतरोः स्कन्धे गायन्तीं दिव्यकन्यकाम् ।
 निषण्णां रत्नपर्यङ्के ददर्शानङ्गमङ्गलाम् ॥616॥
 लावण्यपुण्यनिर्मज्जद्रात्रलेखां महोदधेः ।
 सुधाकल्लोलकलितां पुनर्लक्ष्मीमिवोद्गताम् ॥617॥
 वीक्ष्य तां सोऽभवद्भूरिकम्पप्रमदविस्मयः ।
 अहो रूपमहो कान्तिरित्यालोलितकन्धरः ॥618॥
 लयं तालानुगं चित्रपदमालास्थितस्वरम् ।
 संगीयतां निमज्जन्तीं सवृक्षां वीक्ष्य सोऽब्रवीत् ॥619॥

जय भगवञ्शशिकौस्तुभकमलापीयूषवारुणीसूते ।
 रत्नाकर मम कान्तां लोचनपात्रामृतं वितर ॥620॥
 उक्त्वेति चिक्षेप नृपः सहसा सलिले तनुम् ।
 (स्मरदावाग्निनिर्वाणधियेवाहितसाहसः ॥621॥
 सार्थवाहोऽपि तं वीक्ष्य निमग्नं मकराकरे ।
 ममज्ज दुःखसलिले तद्वियोगोरुसागरे ॥622॥
 पूर्वभार्यां समन्वेष्टुं यशःकेतुरसौ नृपः ।
 प्रविष्टोऽब्धिमिति क्षिप्रमुच्चचार वचस्ततः ॥623॥
 तदाकर्ण्य समाश्वास्य कृतकार्यो वणिक्पतिः ।
 प्रययावानुकूल्येन मरुतां स्वपुरं शनैः ॥624॥
 नृपोऽप्यम्भोधिमविश्य काञ्चनोदरमन्दिरे ।
 (ददर्श निर्जनं रत्नप्राकारप्रवरं पुरम्) ॥625॥
 शून्यामन्वेष्ट्य यत्नेन माणिक्यभवनावलीम् ।
 हेमवेश्मन्यपश्यत्तां मणिपर्यङ्कशायिनीम् ॥626॥
 ददर्शाशुकमुद्घाट्य ततोऽस्याः संमुखाम्बुजम् ।
 नलिन्या इव नीहारं विनिवार्य दिवाकरः ॥627॥
 सा प्रबुद्धा नरपतिं वीक्ष्य विस्मितमानसा ।
 प्रदध्यौ छन्नवेषोऽयं चक्रवर्तिपदोचितः ॥628॥
 ध्रुवं राजा यशःकेतुः श्रीमान्कमललोचनः ।
 विचिन्त्येत्यभवत्कम्पतरला स्मरवल्लरी ॥629॥
 संबभार समुद्धूतसंभूतपुलकाङ्कुरा ।
 अङ्गैरनङ्गसुभगैः कदम्बमुकुलश्रियम् ॥630॥
 ततो विदितसत्कारस्तथा लज्जाविलोलया ।
 पृष्टो निजकथामुक्त्वा पर्यङ्के निषसाद सः ॥631॥
 नामाभिजनमाकर्ण्य यशःकेतुरिति स्फुटम् ।
 सस्वेदकम्पा लोलाम्बुबिम्बितेव विधोः कला ॥632॥
 तेनाथ राजभृङ्गेण तैस्तैः किमपि वर्णनैः ।
 बालिका कलिकेवासौ कृता हर्षविकासिनी ॥633॥

ततस्तयोरभूत्स्पष्टं संभोगाभिमुखं मनः ।
 यूनोः प्रथमसङ्गेऽपि लज्जां न क्षमते स्मरः ॥634॥
 अहं नाथ त्वदायत्ता विना कृष्णचतुर्दशीम् ।
 अष्टमीं चेति विदधे सा तेन सह संविदम् ॥635॥
 पेशला सह तेनैषा प्रौढा समुचितं रतम् ।
 इतीवाराविणीं राजा चकर्ष रशनां ततः ॥636॥
 हते तेन स्मररसात्सहसा जघनांशुके ।
 आलोकनभयात्तस्य सा गाढालिङ्गनं व्यधात् ॥637॥
 अविभागममर्यादमपास्तविनयक्रमम् ।
 ततस्तयोः किमप्यासीद्विकल्पविरतं रतम् ॥638॥
 विस्रस्तमाल्यधम्मिल्लं स्वेदमज्जद्विशेषकम् ।
 व्यामीलितार्धनयनं तस्याः कान्तमभूद्रूपुः ॥639॥
 एवं प्रतिनिशं तेन रममाणा सुमध्यमा ।
 ज्ञात्वा चतुर्दशीं प्राप्तां प्रययौ तदनुज्ञया ॥640॥
 नलिनीमण्डपे नास्मिन्प्रवेष्टव्यं त्वया विभो ।
 उक्त्वेति तस्यां यातायामन्वगात्सोऽप्यलक्षितः ॥641॥
 गत्वाथ खड्गी दूरस्थो ददर्श जलदत्विषा ।
 राक्षसेन निगीर्णां तां राहुणोव विधोः कलाम् ॥642॥
 दृष्ट्वा वृत्तान्तसंत्रासन्नाम्नातीतेन रक्षसा ।
 ग्रस्तां दुःखाच्च कोपाच्च खड्गेनाथ जघान तम् ॥643॥
 तत्कृपाणाग्रनिकृतं शिरस्तस्यापतद्भुवि ।
 शृङ्गं नीलाचलस्येव पिङ्गकेशदवानलम् ॥644॥
 ततस्तस्योदरदरीदेहगर्ताद्विनिर्गता ।
 क्षीणशापा निजकथां स्मृत्वा कान्तमुवाच सा ॥645॥
 अहं मृगाङ्कवत्याख्या विद्याधरमहीपतेः ।
 ज्येष्ठा मृगाङ्कसेनस्य पुत्री पुत्रसहस्रिणः ॥646॥
 न भुङ्क्ते मां विना नित्यं स दिव्यरसभोजनम् ।
 अप्यात्मसदृशैः पुत्रैर्बहुभिः परिवारितः ॥647॥

गौरीव्रते कदाचित्तु चतुर्दश्यामुपोषिता ।
 अहं तेनाभवत्तातो दिनमेकमभोजनः ॥648॥
 तत्कोपान्मां शशापासौ चतुर्दश्यां निशाचरः ।
 अष्टम्यां च सदैव त्वां भुक्त्वा त्यक्ष्यत्यवीक्षिताम् ॥649॥
 शून्ये च स्थास्यसि चिरं भ्रष्टविद्या रसातले ।
 अङ्गराजेन भर्त्रा ते हतो यावन्न राक्षसः ॥650॥
 इत्यहं गुरुणा शप्ता तच्च रक्षस्त्वया हतम् ।
 नष्टशापा सविद्या च स्वस्ति गच्छाम्यहं विभो ॥651॥
 इति श्रुत्वाङ्गनृपतिर्वियोगचकितोऽवदत् ।
 गमिष्यसि मया सुभ्रु विहृत्य दिनसप्तकम् ॥652॥
 इति तेनार्थिता मुग्धा प्रेम्णा सा हरिणेक्षणा ।
 सिषेवे रुचिरोद्याने तं हेमकदलीवने ॥653॥
 ततस्तया सह नृपस्तस्मिन्पुष्करिणीजले ।
 निमज्ज्य केलिरभसादुन्ममज्ज निजात्पुरात् ॥654॥
 दीर्घदर्शिनमासाद्य निवेद्यास्मै निजां कथाम् ।
 भेजे राज्यं प्रियाप्राप्तिविस्तारितमहोत्सवः ॥655॥
 अत्रान्तरे नभो गन्तुमुद्यता दिनसप्तके ।
 प्रयाते सा न सस्मार विद्यां मानुषसंगमात् ॥656॥
 विद्याविहीनां तां ज्ञात्वा ननर्त जगतीपतिः ।
 तां सेवमानः सुचिरं विललास सुलोचनाम् ॥657॥
 तस्मिन्नेवोत्सवदिने दीर्घदर्शी व्यपद्यत ।
 अज्ञातकारणः सर्वैर्निशीथे स्फुटिताशयः ॥658॥
 कथयित्वेति वेतालः पृष्टवान्पृथिवीश्वरम् ।
 मन्त्रिणः प्रलये तस्य हेतुं ब्रूहि महीपते ॥659॥
 किं वा दृष्ट्वा नृपतिना तामानीतां मृगेक्षणाम् ।
 प्राप्ता मयैव किं नेयमित्यभूत्तस्य चेतसि ॥660॥
 उत प्राप्तं मया राज्यं राजा तस्मिन्महार्णवे ।
 मग्नोऽपि नष्टः किमिति किं तु दुःखार्दितोऽभवत् ॥661॥

राजन्कथय मे तत्त्वमिति पृष्टोऽब्रवीन्नृपः ।
स मन्त्री प्रलयं यातो येन तच्छूयतां सखे ॥662॥
स्वभावरागिणा प्राप्ता राज्ञा दिव्येयमङ्गना ।
कष्टमुत्सन्नकार्योऽयमित्यभूत्तस्य हृद्रतम् ॥663॥
इति श्रुत्वेति वेतालं क्षिप्रमन्तर्हितं पुनः ।
आदाय वृक्षशाखाग्राज्जगाम जगतीपतिः ॥664॥

इति द्वादशो वेतालः ॥14॥

ततोऽवदत्स्कन्धगतो धरेशं भीषणाकृतिः ।
शृणु राजन्कथामेकां यस्यां ते कोऽपि संशयः ॥665॥
वाराणस्यां शिवस्वामी द्विजन्माभून्महाजनः ।
ऐश्वर्यलालितस्तस्य हरिस्वामी सुतोऽभवत् ॥666॥
तस्य लावण्यवत्याख्या मनस्तारुण्यशालिनी ।
प्रिया बभूव त्रैलोक्यललामललिताकृतिः ॥667॥
स कदाचित्तया कान्तिसरिता सौधशेखरे ।
सुष्वाप केलिशयने संभोगसुभगोत्सवे ॥668॥
अत्रान्तरे रतश्रान्तां तां ददर्श नभश्चरः ।
सुप्तां मदनवेगाख्यः प्रियां जायां द्विजन्मनः ॥669॥
तस्या विवसनं दृष्ट्वा करिणीदन्तनिर्मलम् ।
स्तनोरुजघनाभोगं बभूव स मनोभुवः ॥670॥
अलक्षितो जहाराशु ततस्तामायतेक्षणाम् ।
अदृष्टपूर्वसंरम्भकम्पमानां मनोजवः ॥671॥
प्राप्तः प्रबुद्धो दयितामपश्यन्नथ दुःखितः ।
अभवद्ब्राह्मणयुवा वियोगविषमूर्च्छितः ॥672॥
हा सुन्दरि सुधास्यन्दमन्दिरं कृधि सुस्मितम् ।
पुनरिन्दुमिवानन्दबन्धु द्रक्ष्यामि ते मुखम् ॥673॥
इति प्रलापमुखरः सुहृत्स्वजनशोकदः ।
उन्मत्त इव बभ्राम तत्र तत्र स्मरातुरः ॥674॥

संप्राप्य कृष्णपक्षेन्दुतानवैकोपमागताम् ।
त्यक्त्वा स्वनगरं प्रायाद्देहं देहीश्वरो यथा ॥675॥
भोगो रोगो विषं वेश्म सर्पबन्धश्च बान्धवाः ।
दग्धारण्यं जगच्चेदं वियोगव्याप्तचेतसाम् ॥676॥
स सूर्यकिरणप्लुष्टः कृष्यमाण इवानिशम् ।
भ्रान्त्वा सर्वाणि तीर्थानि क्षुत्क्षामः पांसुधूसरः ॥677॥
श्रीमतः पद्मनाभस्य सत्रशालां द्विजन्मनः ।
प्रविश्य दत्तं पत्न्या वै परमान्नमवाप सः ॥678॥
प्रस्तुते नलिनीतीरे न्यग्रोधस्य तरोरधः ।
भोक्तुं तत्र दिवानक्तं न दिशोऽप्यैक्षत क्षुधा ॥679॥
अत्रान्तरे श्येनहतः पन्नगोऽगादमूर्च्छितः ।
विषौघश्यामलां लालां तस्य तत्याज भोजने ॥680॥
तदनालोकितं भुक्त्वा पञ्चतां स ययौ द्विजः ।
विधौ हि वामतां याते सर्वमेति विपर्ययम् ॥681॥
तं त्यक्तजीवितं ज्ञात्वा सत्रदोऽन्नाधिपो निजाम् ।
साध्वीं विवासयामास वधूं तद्भोजनक्रुधा ॥682॥
कथयित्वेति वेतालः प्रच्छन्नृपतिं पुनः ।
ब्रह्महत्या नरपते कस्य सा कथ्यतामिति ॥683॥
राजा जगाद सर्पोऽसौ श्येनेनात्यन्तपीडितः ।
परतन्त्रो विषोत्सर्गे कथं नामापराध्यति ॥684॥
श्येनोऽपि दैवनिर्दिष्टं भोक्तुमामिषमुद्यतः ।
बुभुक्षितो निर्विवेकी केन पापीति कथ्यते ॥685॥
अन्नदानपतिः सत्यं सभार्यः सोऽप्यकिल्बिषः ।
किं च जानन्वदेहः स सत्यं तत्पापभाजनम् ॥686॥
इति तावदहं मन्ये कथं वेताल मन्यसे ।
श्रुत्वेत्यन्तर्हितः सोऽथ तरौ पुनरलम्बत ॥687॥

इति त्रयोदशो वेतालः ॥15॥

ततस्तमादाय ययौ तथैव वसुधाधिपः ।
 (स च स्कन्धस्थितः प्राह कथां भूमिपते शृणु) ॥688॥
 वीरकेतुरभूच्छ्रीमानयोध्यायां महीपतिः ।
 यत्प्रतापानलः कोऽपि राज्ञां जज्वाल मानसे ॥689॥
 बभूव यस्य नगरे रत्नदत्ताभिधो वणिक् ।
 तस्य रत्नवती नाम तनयाभून्मनोरमा ॥690॥
 रूपलावण्यललिता नवयौवनशालिनी ।
 प्रत्याख्यातविवाहा सा बभूव द्वेषिणी नृषु ॥691॥
 अत्रान्तरे नरपतिश्चौरविप्रकृते जने ।
 वीरो वै निर्ययौ रात्रौ द्रष्टुं नगरचेष्टितम् ॥692॥
 ततस्तमपि सोऽपश्याचौरं तालमिवोन्नतम् ।
 निःशब्दजनसंचारं क्रचित्पार्श्वविलोकिनम् ॥693॥
 क्रचिन्निभृतनिःश्वासं क्रचिद्वक्रीकृताकृतिम् ।
 यक्षमाणमिव तृष्णाढ्यं दावाग्निमिव दुःसहम् ॥694॥
 वियोगमिव सोच्छ्वासं कल्पान्तमिव दाहिनम् ।
 सर्वस्वापहरं घोरं कल्पान्तमिव विप्लुतम् ॥695॥
 संधिच्छेदेषु कुशलं प्रच्छन्नमिव दुर्जनम् ।
 विलोक्य तं नृपोऽवादीत्स्वैरं विश्वासघातकम् ॥696॥
 कस्त्वमस्मिन्निरालोके सखे चरसि निःसखः ।
 श्रुत्वेत्युवाच स व्याजादेवीपुत्रोऽहमीदृशः ॥697॥
 कस्त्वमित्यपि तेनोक्तस्तदेव क्षितिपोऽभ्यधात् ।
 एहि तुभ्यं प्रयच्छामि द्रविणं गर्तसंचितम् ॥698॥
 इत्युक्त्वा स्वगृहं चौरस्तं निनाय वधोद्यतः ।
 बहिर्निधाय तं वेश्म प्रविष्टे धनहारिणि ॥699॥
 अभ्येत्य वत्सला प्राह नृपं तद्गृहचेटिका ।
 केन त्वं मृत्युवदने प्रेषितो भद्र गम्यताम् ॥700॥
 विश्वासघातकश्चौरस्त्वामयं हन्तुमुद्यतः ।
 इति श्रुत्वा ययौ राजा राजधानीमलक्षितः ॥701॥

प्रभाते तूर्णमुत्थाय सजीकृतबलाधिपः ।
 चौरं सुदुर्जयं युद्धे स्वयं जग्राह तं नृपः ॥702॥
 ततोऽपरक्तसंसिक्तो नीतो राजाज्ञया क्षणात् ।
 निग्रहाय तया पृष्टो वणिक्पुत्र्या ससंभ्रमम् ॥703॥
 तद्दृष्ट्वा सहसा जातरागा जनकमभ्यधात् ।
 अयं वृतो मया तात वीरो मान्योऽधिको मम ॥704॥
 इति तद्वचनं श्रुत्वा सनिर्वन्धं पुनः पुनः ।
 कथंचित्स नृपं गत्वा तन्मोक्षयावदद्धनम् ॥705॥
 ततो राजा विहस्याह यश्चौरस्यास्य रक्षिता ।
 सोऽपि वध्यो मम व्यक्तं पापी पापसमाश्रयात् ॥706॥
 इति क्षमापतिना तस्मिन्निषिद्धे तत्सुता ययौ ।
 चौरमेवानुमरणे निर्बन्धे निहितेक्षणा ॥707॥
 सा श्मशानमथासाद्य धृतं शूले ददर्श तम् ।
 ऊर्ध्वाननाक्षमचिरादाप्तैश्वर्यमिवाधनम् ॥708॥
 स किंचिच्छेषजीवोऽथ तां दृष्ट्वा श्रुततत्कथः ।
 मुक्ताश्रुबिन्दुनिकरो विहस्यात्मानमत्यजत् ॥709॥
 ततस्तेन समारूढां चितां तां वीक्ष्य शंकरः ।
 केलिप्रियो वरं तस्यै श्मशाननिलये ददौ ॥710॥
 शंभोर्वरात्पुत्रशतं पित्रे योग्यमयाचत ।
 अजीवयच्च भर्तारं श्रिया धर्मेण चावृतम् ॥711॥
 ततः स सहसावाप्तजीवितः प्राप्य तां प्रियाम् ।
 सेनापतिः कृतो राज्ञा ननन्द सुभटाग्रणीः ॥712॥
 कथयित्वेति वेतालः पप्रच्छ छलसंमुखः ।
 राजन्रोद किमसौ जहास च ततोऽनु किम् ॥713॥
 इति पृष्टो नृपः प्राह श्रुत्वा वणिजमुद्यतम् ।
 प्रत्याख्यातुं विधिवशाद्राज्ञोऽकारणबान्धवम् ॥714॥
 सर्वथा दैवलिखितं प्रमार्ष्टुं कस्य कः क्षमः ।
 इति ध्यात्वा रुरोदासौ तत्स्त्रीवृत्तं जहास च ॥715॥

इत्याकर्ण्यैव वेतालो गत्वा पुनरलम्बत ।

राजापि तं समालम्ब्य प्रययावचलाशयः ॥716॥

इति चतुर्दशो वेतालः ॥16॥

सोऽथ स्कन्धस्थितः प्राह शृणु विश्वंभराप्रभो ।

त्वां विना संशयानेतान्को हि नश्छेत्तुमीश्वरः ॥717॥

नेपालविषये श्रीमान्यशःकेतुरभून्नृपः ।

पुत्री शशिप्रभा नाम तस्याभूद्द्रूषणं रतेः ॥718॥

तां वसन्तोत्सवे कान्तां कदाचिद्विद्वजपुत्रकः ।

कुसुमावचयेऽपश्यन्मनःस्वामी सुलोचनाम् ॥719॥

यस्या लावण्यसलिलैरुह्यमान इवानिशम् ।

आलम्बते रोमलतां त्रिवलीकूलजां स्मरः ॥720॥

तां वीक्ष्य कान्तिसर्वस्वकोशं कुसुमधन्वनः ।

बिम्बाधररुचिस्फारसिन्दूरेणैव मुद्रिताम् ॥721॥

सोऽभवन्मन्मथाक्रान्तः संक्रान्तः खेदवारिणि ।

संभ्रान्तो मोहगहने विश्रान्तः पुलकोत्तरे ॥722॥

अत्रान्तरे मदक्रोधात्रिहताधोरणो गजः ।

आययौ मण्डलाकारकरकृष्टमहाद्रुमः ॥723॥

प्रेर्यमाणः स पवनैरिव प्रलयवारिदः ।

जगर्जोग्रं गलगुहागर्भगम्भीरविभ्रमम् ॥724॥

ततस्तद्भयवित्रस्तां कम्पासिञ्जानमेखलाम् ।

दैवेन दत्तावसरः स युवा तामसादयत् ॥725॥

रक्षिता द्विजपुत्रेण तत्र सा तरलेक्षणा ।

स्थित्वा क्षणं विभ्रमभूर्जगामान्तःपुरं निजम् ॥726॥

सोऽपि स्मरशरासारपक्षाग्रपवनैरिव ।

कम्पमानः प्रचलितं बभार विरहानलम् ॥727॥

क्षीणेन्दुरिव बिभ्राणः शरकाण्डविपाण्डुरम् ।

सकान्तिं प्रययौ मित्रसदनं जीविताशयः ॥ ॥728॥

अवाप्य मूलदेवाख्यं शशिना सह संस्थितम् ।

बहुधूर्तशतावासं प्रणनाम स निःश्वसन् ॥729॥

विभ्रष्टवदनच्छायं मूलदेवोऽपि वीक्ष्य तम् ।

हसन्कंदर्पसर्पेण दष्टोऽसीति तमब्रवीत् ॥730॥

तद्वृत्तान्तमथाकर्ण्य स योगघटिकां ददौ ।

स्त्रीरूपकारिणीं तस्मै स्वयं वृद्धो बभूव ह ॥731॥

तं कान्तकन्यकारूपं समादाय द्विजात्मजम् ।

वृद्धर्षिरूपः प्रययौ मूलदेवो महीपतिम् ॥732॥

यथोचितामसत्कारो यशःकेतु मुवाच सः ।

राजस्वपुत्रकायेयमानीता कन्यका मया ॥733॥

तरुणः क्वापि यातोऽसौ तमन्वेष्टुं ब्रजाम्यहम् ।

न्यासभूतामिमां कन्यां जगद्रक्षाक्षम प्रभो ।

रक्षेत्युक्त्वा क्षणं दम्भादभवन्मीलितेक्षणः ॥734॥

शशिप्रभामथाहूय नरनाथो निजात्मजाम् ।

आदिदेश द्विजसुता रक्षयेयमिति संभ्रमात् ॥735॥

मुनिवेषे प्रयातेऽथ तस्मिन्नन्तःपुरे स्थितः ।

स कूटकन्यकारूपो मनःस्वामी व्यचिन्तयत् ॥736॥

अहो नु धूर्तधुर्येण किमप्युपकृतं मम ।

यन्मयेयं सुवदना दृष्टा तैरेव लोचनैः ॥737॥

इति ध्यात्वा सविस्रम्भं तां कदाचिदुवाच सः ।

सखि त्वं सततोच्छ्वासा किमुद्विग्रेव लक्ष्यसे ॥738॥

ब्रूहीति कन्यारूपेण पृष्टा तेन सुमध्यमा ।

प्राह स्तनतटे हारं कुर्वाणा वाष्पनिर्झरैः ॥739॥

सखि दृष्टो मयोद्याने कुञ्जरत्रस्तया युवा ।

यदाकृतिसमुल्लेखे संकल्पोऽपि न पण्डितः ॥740॥

तस्य लोचनसंचारचतुरेण किमप्यहम् ।

विषेणैव भुजङ्गस्य मूर्च्छिता न लभे धृतिम् ॥741॥

स्वप्रेऽद्य तेन विहितो निर्वाच्यो मे रतोत्सवः ।

सखि सस्वेदपुलकैर्योऽङ्गैः किमपि सूच्यते ॥742॥
 इत्याकर्ण्य मनःस्वामी धन्योऽस्मीति व्यचिन्तयत् ।
 अपास्य योगगुटिकां बभूव पुरुषाकृतिः ॥743॥
 प्रत्यभिज्ञाय तं सद्यः सुधासिक्तेव लज्जिता ।
 तदालिङ्गनसंजातकम्पा साभूदनङ्गभूः ॥744॥
 मनोरथैर्यदभ्यस्तं हृदयेन यदार्थितम् ।
 मन्मथेन यदादिष्टं तयोस्तदभवद्रतम् ॥745॥
 तद्राढसुरताश्लेषग्लपिताप्यथ सात्यजत् ।
 संतापशान्तिं सहसा निर्वहन्हि मनःसुधाम् ॥746॥
 सततं सेवमानस्तां स दिवा कन्यकाभवत् ।
 राजपुत्री च कालेन गर्भमाधत्त पुष्पिता ॥747॥
 अत्रान्तरे मातुलेयी स्वसा तस्याः सुमध्यमा ।
 पित्रा मृगाङ्गवत्याख्या वितीर्णं मन्त्रिसूनवे ॥748॥
 तदुत्सवे मातुलेन राजपुत्री निमन्त्रिता ।
 कूटसख्या तया सार्धं प्रययौ जनकाज्ञया ॥749॥
 तत्र मन्त्रिसुतो दृष्ट्वा कान्तां तां कूटकन्यकाम् ।
 बभूव मन्मथोन्मादविधुरो नष्टचेतनः ॥750॥
 तं तु मूर्खनृपो ज्ञात्वा वल्लभं मन्त्रिणः सुतम् ।
 विप्रनिःक्षेपितां कन्यां तस्मै सभ्यगिरा ददौ ॥751॥
 वितीर्यमाणा सा प्राह क्रमः कोऽयं महीपते ।
 न्यासीकृताहं विप्रेण यदन्यस्मै समर्पिता ॥752॥
 अथवा बलिनो राज्ञः स्वाधीनैवास्मि किं त्वयम् ।
 तीर्थयात्रां मन्त्रिसुतः कृत्वा स्पृशतु मामिति ॥753॥
 ततस्तां प्राप्य तीर्थानि ययौ मन्त्रिसुतः क्षणात् ।
 स्त्रीरूपः स तु तद्रेहे तस्थौ तद्भार्यया सह ॥754॥
 तथापि जातविश्वासो दर्शयित्वा निजाकृतिम् ।
 लेभे तत्सुरतं हृष्टो मनःस्वामी दिवानिशम् ॥755॥
 मूलदेवोऽथ राजानं ययाचे निजकन्यकाम् ।

शापभीतस्ततो राजा कम्पमानो निरुत्तरः ।
 विविच्य मन्त्रिभिस्तस्मै पुत्रार्थं स्वसुतां ददौ ॥756॥
 ततः कपटपुत्राय शशिने तां नृपात्मजाम् ।
 दापयित्वा प्रतिययौ मूलदेवो महामतिः ॥757॥
 स ब्रजञ्जशिना सार्धं राजपुत्र्या च वर्त्मनि ।
 मनःस्वामिनमासाद्य तद्दृत्तान्तमथाशृणोत् ॥758॥
 मनःस्वामी ततः प्राह धूर्तेश त्वदनुग्रहात् ।
 अभीष्टं मम संपन्नं दीयतां मे नृपात्मजा ॥759॥
 गान्धर्वेण विवाहेन प्राप्तैषा सुन्दरी मया ।
 अन्तर्वल्नी च संजाता मत्त एव सुमध्यमा ॥760॥
 इति श्रुत्वा शशी प्राह सेयं राज्ञा ममार्पिता ।
 कन्यका जनकाधीना इति किं न श्रुतं मया ॥761॥
 इत्थं तयोस्तद्विवादे मूलदेवोऽपि संशयम् ।
 अवाप्य निर्णयस्थाने नो चेत्किंचिदधोमुखः ॥762॥
 कथयित्वेति वेतालः पप्रच्छ वसुधाधिपम् ।
 सा भार्या कस्य धर्मेण संशयो वार्यतां मम ॥763॥
 इति पृष्टो नृपः प्राह शशी धर्मेण तत्पतिः ।
 छन्नकामी मनःस्वामी पित्रा तस्मै न सार्पिता ॥764॥
 श्रुत्वेत्यन्तर्हितः सोऽथ तरौ पुनरलम्बत ।
 सोऽपि स्कन्धस्थितः प्राह कथां शृणु महीपते ॥765॥
 इति पञ्चदशो वेतालः ॥17॥

अस्ति श्रीकाञ्चनपुरी मूर्ध्नि गौरीगुरोर्गिरिः ।
 रत्नप्राकारकिरणैरश्रान्तोल्लिखिताम्बरा ॥766॥
 जीमूतकेतुस्तस्याभूद्विद्याधरपतिः पतिः ।
 यस्याभूच्छेषयशसः प्रख्याता काप्यनन्तता ॥767॥
 विद्याधरेन्द्रदुहिता भार्याभूत्तस्य संमता ।
 कान्ता कनकवत्याख्या ख्यातिक्षेत्रं मनोभुवः ॥768॥

तेनाजनि सुतस्तस्यां कल्पवृक्षवराद्वरः ।
 जीमूतवाहनो नाम समूहो गुणसंपदाम् ॥769॥
 सोत्कण्ठं काञ्चनलताकुञ्जेष्वमरभूभृतः ।
 गायन्ति त्यागसुभगं यस्य स्वर्गाङ्गणे यशः ॥770॥
 तं सर्वगुणसंपन्नमभिषिच्य्यात्मजं पिता ।
 कल्पवृक्षं ददावस्मै नानासिद्धिसुधाफलम् ॥771॥
 कान्ताकटाक्षचपलं चपलं यौवनं धनम् ।
 जीवितं चेति स ध्यात्वा तमर्थिभ्यस्तरुं ददौ ॥772॥
 तेन दारिद्र्यनाशाय जगति प्रतिपादितः ।
 हेम्ना संपूर्य निखिलं क्षणात्सोऽन्तर्दधे द्रुमः ॥773॥
 कुलक्रमागते तस्मिन्कल्पवृक्षे व्ययीकृते ।
 अपूर्वत्यागिना तेन त्रिलोकी विस्मय ययौ ॥774॥
 (ज्ञात्वा तं प्रतिसामन्ता रहितं सुरशाखिना ।
 तद्राज्यहरणोद्योगे बभूवुः संहता मिथः ॥775॥
 जीमूतवाहनो ज्ञात्वा विद्यया तद्विचेष्टितम् ।
 तद्वेधाकूणितमना राज्यं तत्याज निस्पृहः ॥776॥
 स पित्रा सह मात्रा च तपसे सिद्धसेवितम् ।
 मलयं खेचरवधूविलासनिलयं ययौ ॥777॥
 खेल्लद्भुजङ्गकटकं सिद्धमण्डलसेवितम् ।
 चण्डीपतिमिवोत्सर्पत्रीलकण्ठप्रभावनम् ॥778॥
 संचरत्सिद्धललनाचरणाभोजकान्तिभिः ।
 विभ्राणामिव पर्यङ्कसक्ताब्धेर्विद्रुमावलीम् ॥779॥
 निर्भरस्मेरहाराङ्कमकरन्दोज्ज्वलांशुकम् ।
 स त्वाद्यं भूभृतां धुर्यं चन्दनागरुभूषितम् ॥780॥
 स प्राप्य सर्वसिद्धीनामाश्रयं विषयं श्रियः ।
 पित्रोः सपर्यानिरतस्तस्थौ जीमूतवाहनः ॥781॥
 कदाचिदथ विश्रम्भसारिणा सुहृदा सह ।
 स्वैरं मधुकराख्येन चचारोपवनेषु सः ॥782॥

स तत्र कान्तं कुसुमकरन्दं नाम काननम् ।
 प्रविश्यापश्यदुच्छ्वासिसौरभाः पुष्पवल्लरीः ॥783॥
 यत्र खेचरनारीणां तारानूपुरराविभिः ।
 अशोकाश्चरणाघातैरुत्फुल्ला भान्ति रागिणः ॥784॥
 यत्र विद्याधरवधूमधुगण्डूषनिर्भरैः ।
 जृम्भेवारम्भि बकुलैः पुष्पाननविकाशिभिः ॥785॥
 यत्र दिव्याङ्गनातुङ्गस्तनोत्सङ्गतरङ्गिणः ।
 मन्दारमकरन्दाढ्याः सुन्दरा वान्ति वायवः ॥786॥
 यत्रोद्भूतालिपटलं विलोक्य घनविभ्रमम् ।
 नृत्यन्ति हेमकदलीकुञ्जेषु शिखियोषितः ।
 शृण्वन्ति निश्चलाः साश्रुनयना हरिणाङ्गनाः ॥788॥
 ददर्श तत्र कैलासशिखरस्फारविभ्रमम् ।
 गङ्गायितपताकाङ्कं गौर्याः प्रासादमुन्नतम् ॥789॥
 स्वयमेत्य सितच्छायास्पष्टीकृतदिगन्तरम् ।
 (स्थितं दुहितुवात्सल्यादिव तत्र हिमाचलम्) ॥790॥
 देवीगर्भगृहे तस्मिन्गीतं वीणास्वनाश्रितम् ।
 शुश्राव श्रोत्रपीयूषं हृदयानन्दनिर्झरम् ॥791॥
 तच्छ्रुत्वा कौतुकाकृष्टः प्रविश्य गिरिजालयम् ।
 कन्यामपश्यत्संसारसारं सरसिजेक्षणाम् ॥792॥
 प्रवालपल्लवच्छायपादाम्बुजयुगं बभौ ।
 रागसागरसंचारादिव लग्नारुणद्रवम् ॥793॥
 लावण्यनलिनीबालमृणालयुगलोपमे ।
 जङ्घाकाण्डद्वये तस्याः कान्तिहंसी व्यरोचत ॥794॥
 विलासबर्हिकदलीदण्डावूरू बभार सा ।
 पुष्पायुधपुरीकान्तदन्तोरणविभ्रमे ॥795॥
 पुलिने कान्तिसरितः पर्यङ्कशयने रतेः ।
 मेखलापरिखं यस्या जघनं मान्मथं पुरम् ॥796॥

मग्नो नाभीहृदावर्ते हरकोपानलाकुलः ।
 कामोऽनुमीयते यस्या रोमालीधूम्रलेखया ॥797॥
 तारहारांशुमुकुलैर्जातौ यस्याः पयोधरौ ।
 चक्रवाकाविव मुखासक्तबालबिसाङ्करौ ॥798॥
 यस्या वलयकेयूरनीलरत्नांशुभोगिभिः ।
 तारुण्यचन्दनलताललिते बभतुर्भुजे ॥799॥
 स्मरबालवसन्तेन कृतेवाधरकान्तिभिः ।
 श्यामा बभौ वनस्थाया यस्याः किशलयवलिः ॥800॥
 सुस्पष्टनासावंशोच्चललाटच्छत्रमाश्रिताः ।
 यत्कटाक्षच्छटाः प्रापुरुत्पलोद्दामदायताम् ॥801॥
 वदनाम्भोजभृङ्गालीं या बभारालकावलीम् ।
 प्रशस्तिमिव कामेन न्यस्तां सौभाग्यभूपतेः ॥802॥
 तां दृष्ट्वा विस्मयोत्फुल्ललोचनस्तन्मयोऽभवत् ।
 क्षिप्रं नवावतारेण स्मरेण तरलीकृतः ॥803॥
 विस्तीर्णं सुकृतिप्राप्यं तारुण्यस्तनपादपम् ।
 प्रशान्तविग्रह कथं न्यस्तचापमिव स्मरम् ॥804॥
 लक्ष्मीविलासभवनं भुजस्तम्भविभूषितम् ।
 सापि लावण्यनलिनी राजहंसं विलोक्य तम् ॥805॥
 लज्जामज्जत्तनुलता कम्पसंपत्तरङ्गिता ।
 असूत्रमौक्तिकलता बभूव स्वेदबिन्दुभिः ॥806॥
 क्षिप्रं पुलकिता तस्या विरराज कुचस्थली ।
 विशद्विरिव पुष्पेषु शरैराकीर्णकेसरा ॥807॥
 ततः सहेलं तामेत्य प्राह जीमूतवाहनः ।
 प्रागुपायनकर्पूरमिव दन्तांशुभिर्दिशन् ॥808॥
 आचाररुचिरः कोऽयं क्रमस्तव सुलोचने ।
 संभाष्य तेन यत्पूर्वस्वागतं प्रणयी जनः ॥809॥
 उक्त्वेति तन्मुखांभोजन्यस्तलोचनषट्पदः ।
 अपृच्छत्तत्सखीं लोलकुण्डलोद्ध्योतिताननः ॥810॥

रसाधारे गुणाधारः कुरुते कस्य नो मनः ।
 कौतुकोत्कलिकालोलस्वभावसुभगो जनः ॥811॥
 विधेरवधिनिर्माणत्रैलोक्यनयनोत्सवः ।
 कुलालंकरणं कन्या कस्येयं ललिताकृतिः ॥812॥
 इत्युक्ता तेन सा प्राह सखी प्रणयमन्थरम् ।
 गम्भीरोदारमधुरं कलयन्ती तदाशयम् ॥813॥
 सत्यमुन्नतसत्त्वानां दर्शनेन भवादृशाम् ।
 मनो नृत्यति किं त्वस्याः क्षणं वाङ्मन प्रवर्तते ॥814॥
 लज्जानिकेतनं कन्या कथं नाथ तवाग्रतः ।
 संभाषणे सुप्रतिभा ललनेव प्रगल्भते ॥816॥
 विश्वावसोः सिद्धपतेर्वशमुक्तालता सुता ।
 इयं मलयवत्याख्या नित्यं गौरीस्तुतिव्रता ॥816॥
 निवेद्येति सखी क्षिप्रं तद्वयस्यादथाशृणोत् ।
 जीमूतवाहनकथां प्राज्याभिनयशालिनीम् ॥817॥
 ततो नवसमुन्मेषकुसुमेषुतरङ्गिताम् ।
 कान्तां पिबन्निव दृशा प्राह जीमूतवाहनः ॥818॥
 सहजेनाभिलाषेण गुणैः कान्त्या च भूषिता ।
 इयमालोक्यते क्षिप्रं यदेतज्जन्मनः फलम् ॥819॥
 आनन्दमधुरा दृष्टिर्मनः प्रीतितरङ्गितम् ।
 सतामेतावदौचित्यं बाह्यस्वाचारडम्बरः ॥820॥
 समागमं सुधावृष्टिं दृष्टिपातमनुग्रहम् ।
 एवंविधस्य वपुषः को हि नाम न मन्यते ॥821॥
 इति ब्रुवाणे सानन्दं तस्मिन्विद्याधराधिपे ।
 आहूता सा प्रतीहार्या प्रतस्थे मातुरन्तिकम् ॥822॥
 न्यस्तं मयि मनः पाल्यमेतदत्यन्तपेशलम् ।
 इतीव कान्तं सा प्राह ब्रजन्ती नूपुरारवैः ॥823॥
 ददौ त्रिकपरावृत्तिलक्षितैकस्तनी मुहुः ।
 तस्मै दृशं सा धम्मिल्लमधुपासारणच्छलात् ॥824॥

वेपथुस्तम्भसंरुद्धा तन्वी कृच्छ्रेण सा ययौ ।
 सुकुमारेण मनसा सा वहन्ती महाभुजम् ॥825॥
 निजमन्तःपुरं प्राप्य निःश्वसन्ती श्लथांशुका ।
 पपात शयनोत्सङ्गे दष्टा मकरकेतुना ॥826॥
 तस्याः प्रववृधे क्षिप्रं स कोऽपि विरहानलः ।
 यः सिच्यमानो वाष्पाम्बुपूरैरुज्जृम्भतेऽधिकम् ॥827॥
 अत्रान्तरे जलनिधिं प्रविष्टे वासरेश्वरे ।
 बभूव रागिणी संध्या नलिनीवनशालिनी ॥828॥
 पद्मसंकोचचकिता बभ्रमुर्धमरा भुवि ।
 संध्यया सपदि व्युत्सास्तमोबीजकणा इव ॥829॥
 तिमिरैरञ्जनश्यामैः श्यामावदनकुन्तलैः ।
 चक्रवाकीवियोगाग्निधूमाभैरुत्थितं ततः ॥830॥
 नीलाम्बुजैरिवोत्सृष्टं भ्रमरैरिव मूर्च्छितम् ।
 नीलकण्ठेरिवोद्गीर्णं चचार सुचिरं तमः ॥831॥
 अथादृश्यत चण्डीशजटामण्डलमण्डनम् ।
 श्यामाकर्पूरतिलको रोहिणीरमणः शशी ॥832॥
 दिक्कान्ताकेलिमुकुले निशामौक्तिककुण्डले ।
 स्मरराजसितच्छत्रे शशिनि स्मेरजृम्भिते ॥833॥
 उत्फुल्लकुसुमामोदनन्दितेन्दीवरा मुहुः ।
 पद्मिनीविरहोच्छ्वासा इव बालानिला ववुः ॥834॥
 योषितां हृदयाकाण्डभङ्गयन्त्रोपले विधौ ।
 प्रौढिं प्रयाते पञ्चेषुवहिनकुण्डमहोल्मुके ॥835॥
 श्रीखण्डरससंसिक्तकदलीदलशायिनी ।
 बभूव गाढसंतापक्लान्ता सिद्धपतेः सुता ॥836॥
 न जलाद्रैर्न वसनैर्न हारैर्न सरोरुहैः ।
 तस्या न चन्द्रकान्तैश्च शशाम मदनानलः ॥837॥
 सा लज्जातरला प्राह तां सखीं पार्श्ववर्तिनीम् ।
 अयि त्वमेव मे तत्र कान्तदर्शनसाक्षिणी ॥838॥

किं करोमि क्व गच्छामि कस्यैतत्कथयामि वा ।
 अय कन्याविरुद्धो मे क्रमः कामेन निर्मितः ॥839॥
 (प्रत्यादिशन्ति संदेशं प्रयान्ति स्वयमेव वा ।
 प्रियं प्रणयशालिन्यो निर्लज्जा बत योषितः) ॥840॥
 किं वा संदिश्यते तस्मै लीलया हतचेतसे ।
 युवासौ भाग्यसंपन्नो वाचः कस्य शृणोति वा ॥841॥
 विज्ञप्तोऽसीति कार्पण्यं वदतीति प्रगल्भता ।
 एहीत्याज्ञावलेपोऽयं प्रियोऽसीति विलज्जता ॥842॥
 न जीवामीत्यसदृशं त्वत्प्रियास्मीत्यलक्षितम् ।
 आगच्छामीत्यनुचितं स्मरार्तास्मीति चापलम् ॥843॥
 न जाने सखि किं वाच्यो दैवादासादितोऽपि सः ।
 सर्वथा नष्टसार्थेऽस्मिन्मरणं शरणं मम ॥844॥
 वयस्यामभिधायेत्थं सा निनायाशु निद्रैः ।
 संतापशोककठिनं कुचचन्दनमार्द्रताम् ॥845॥
 जीमूतवाहनोऽप्यस्मिन्नन्तरे विरहाकुलः ।
 तस्मिन्नौरीवरोद्याने चचारेन्दुमुखीं स्मरन् ॥846॥
 स कामभुजगाक्रान्तः कौमुदीविषमूर्च्छितः ।
 संतापविह्वलो भेजे वातूलतरलां स्थितिम् ॥847॥
 तं ध्यानमूकमभ्येत्य क्षामं मधुकरः सखा ।
 उवाच विप्लवः कोऽयं तवापि मनसः सखे ॥848॥
 भजन्ति सततं सन्तो विद्यार्जनपरिश्रमम् ।
 येन न व्यसनापाते मुह्यन्ति मतिविप्लवैः ॥849॥
 इति श्रुत्वा विनिःश्वस्य तप्तो जीमूतवाहनः ।
 क्षणं विलोक्य वसुधां स्वस्थोऽस्मीति तमभ्यधात् ॥850॥
 प्रत्यग्रचन्दनदलैः कल्पिते सुहृदा ततः ।
 निषण्णः शयने प्राप न स संतापतानवम् ॥851॥
 अत्रान्तरे मलयवत्यभ्येत्य विरहासहा ।
 गौर्याश्रमे तरुलताप्रान्ते पाशमकल्पयत् ॥852॥

ततः प्रणम्य गिरिजां हा हतेति विलप्य सा ।
 विधाय साश्रुनयनास्तत्र बाला मृगाङ्गनाः ॥853॥
 जीमूतवाहनो भूयादन्यस्मिन्मे स जन्मनि ।
 विभुरित्यभिधायाभूत्सा पाशाभिमुखी क्षणात् ॥854॥
 तच्छ्रुत्वा सुहृदाहूतस्तूर्णं जीमूतवाहनः ।
 छन्नस्तरुलताजालैः शुश्राव च ददर्श च ॥855॥
 ततो भगवती प्राह पुत्रि मा साहसं कृथाः ।
 भविता चक्रवर्ती ते भर्ता जीमूतवाहनः ॥856॥
 इति देवीवरं प्राप्य सा ददर्श पुरःस्थितम् ।
 जीमूतवाहनं हर्षलज्जामुकुलितेक्षणा ॥857॥
 अत्रान्तरे समभ्येत्य चेटिका तां व्यजिज्ञपत् ।
 दिष्ट्या विवर्धसे देवि कल्पितस्ते महोत्सवः ॥858॥
 त्वद्भ्रात्रा जनकादेशादद्य विद्याधरात्मजः ।
 जीमूतकेतुपुत्राय दातुं त्वां सादरोत्थितः ॥859॥
 तदेहि कल्पितोऽद्यैव विवाहो जनकेन ते ।
 इति श्रुत्वैव सा तूर्णं प्रययौ चारुहासिनी ॥860॥
 जीमूतवाहनोऽप्याशु समेत्य पितुरन्तिकम् ।
 उवाह मङ्गलोदारविवाहोचितभूषणम् ॥861॥
 ततो महोत्सवानन्दिविद्याधरशतानुगः ।
 परिणीय प्रियतमां सोऽभूत्संभोगतत्परः ॥862॥
 प्रेयस्याः सोऽग्रजं तुल्यरूपं मित्रावसुं व्यधात् ।
 विलासकेलिलीलासु प्ररूढप्रेमभाजनम् ॥863॥
 कदाचिदथ विश्रम्भात्स मित्रावसुना सह ।
 चचार जलधेर्वेलावनान्तमवलोकयत् ॥864॥
 ददर्श तत्र शिखराकारं नागास्थिसंचयम् ।
 युगक्षये महाभूतं करकैरिव पूरितम् ॥865॥
 किमेतदिति तेनाशु पृष्टो मित्रावसुस्ततः ।
 उवाच गरुडेनात्र भक्षिता भुजगोत्तमाः ॥866॥

सर्वक्षयभयात्ताक्षर्यस्ततो वासुकिनार्थितः
 विसृष्टं तेन वारेण सदैकं नागमन्त्यसौ ॥867॥
 अयमस्थिचयस्तेषामद्रिकूटसमुच्छ्रयः ।
 उक्त्वेति जनकाहूतस्तूर्णं मित्रावसुर्ययौ ॥868॥
 जीमूतवाहनोऽप्येकः सर्पेषु करुणाकुलः ।
 चचार तत्र निःसारं संसारं कलयन्धिया ॥969॥
 ततो ददर्श करुणाक्रन्दशुष्काधराननाम् ।
 वृद्धाङ्गनां कुमारेण सान्त्वमानां मुहुर्मुहुः ॥870॥
 पूर्णोन्दुसुन्दरमुखं कान्तिधूतदिगन्तरम् ।
 स्फुरत्स्फीलफणारत्नपुञ्जपिञ्जरिताम्बरम् ॥871॥
 आनन्दमिव कासारं संतोषमिव जङ्गमम् ।
 तं वीक्ष्य तनयं वृद्धा (विललापाश्रुगद्गदम् ॥872॥
 हा पुत्र नयनानन्द सौन्दर्यामृतदीधिते ।
 शङ्खपालमहावंशव्यक्तमुक्तामणीयित) ॥873॥
 हा शङ्खचूड लावण्यनिधानमिदमेव ते ।
 वपुर्गरुडचञ्चलवज्रपातासहं कथम् ॥874॥
 भीतेन नागराजेन प्रेषितोऽसि गरुत्मते ।
 सुकुमारशरीरेऽस्मिन्कस्ते त्राणं भविष्यति ॥875॥
 इति पुत्रमुखाभोजमाघ्राय विललाप सा ।
 जीमूतवाहनोऽभ्येत्य तामुवाच कृपाकुलः ॥876॥
 मातः स्थितोऽस्मि ते पुत्रपरित्राणकृतक्षणः ।
 परोपकारः संसारे निःसारे प्राप्यते कुतः ॥877॥
 अयमेव सदापाये काये सारसमुच्चयः ।
 यत्प्रयाति परायासत्राणसत्पुण्यपात्रताम् ॥878॥
 इत्याकर्ण्य परित्रस्ता सुपर्णाशङ्किनी ततः ।
 पुत्रमासाद्य साकम्पा सा पुरः प्रणनाम तम् ॥879॥
 नाहं भुजङ्गाधिपतिर्वितीर्य निजविग्रहम् ।
 विद्याधरो रक्षिताहं त्वत्पुत्रस्येति सोऽभ्यधात् ॥880॥

वृद्धावदत्तं त्वमथ (शङ्खचूडाधिको मम ।
 बहुकल्पशतं धन्यां रक्ष सौम्यामिमां तनुम् ॥881॥
 इति तस्यां ब्रुवाणायां शङ्खचूडोऽतिविस्मितः ।
 तमभ्यधात्स्मितमुखो ललाटरचिताञ्जलिः) ॥882॥
 अभिनन्दितमेतत्ते दर्शनं सत्त्वशालिनः ।
 पूर्णेन्दुरमृतोद्गारिकिरणः कस्य न प्रियः ॥883॥
 अहो नु त्वं निजान्प्राणान्मदर्थं दातुमुद्यतः ।
 सहामहे कथं नाम तृणार्थे रत्नविक्रयम् ॥884॥
 कियन्तो न भावम्भोधौ जाता याताश्च मद्बिधाः ।
 कौस्तुभ्यस्येव भवतः क्र दृष्टः पुनरुद्भवः ॥885॥
 सत्त्वोज्ज्वलं तवैवेतन्मुखेन्दौ शोभते वचः ।
 अन्धकायस्य जगतामनास्थाने तु पातितम् ॥886॥
 मद्द्वियोगान्निविधुरा समाश्वास्या विभो त्वया ।
 माता मे स्या अदृष्टोऽपि साधुः सुचिरबान्धवः ॥887॥
 इति नागकुमारस्य वचः श्रुत्वा कुलोचितम् ।
 जीमूतवाहनः प्राह बत चित्रं प्रभाषसे ॥888॥
 वृद्धेयं त्वां विना पुत्रं कुलालंकरणं सखे ।
 कथं जीवति दुःखं हि जननीनां सुदुःसहम् ॥889॥
 एतां त्रातुं निजात्मानं रक्ष त्वज्जीविता ह्यसौ ।
 अस्याः प्राणपरित्यागे विद्वन्मा कारणं भवः ॥890॥
 शरीरेण मदीयेन द्वयं पाहि महामते ।
 इत्युक्त्वा शङ्खचूडस्य पादयोर्निपपात सः ॥891॥
 फणिसूनुस्तमवदन्निर्बन्धाकुलितस्ततः ।
 श्रुत्वा विवेचितं नैव मादुशामीदृशं वचः ॥892॥
 न नाम शङ्खधवलं शङ्खपालं महाकुलम् ।
 मयापि शङ्खचूडेन सत्त्वभङ्गात्कलङ्क्यते ॥893॥
 आसन्नो गारुडः कालः स्वस्ति गच्छाम्यहं विभो ।
 वधशैले प्रणम्याशु गोकर्णं शशिशेखरम् ॥894॥

उक्त्वेति मात्रानुगते याते तस्मिन्क्षणादभूत् ।
 उच्चण्डाकाण्डकल्पान्तवातव्याकुलितं जगत् ॥895॥
 कालदोर्दण्डशङ्खाभाश्छटाघटितदिकटाः ।
 उत्तस्थुर्मकरास्फारकरालाः सागरोर्मयः ॥896॥
 ततश्चण्डांशुतप्तस्य सुमेरोरिव रश्मिभिः ।
 अभूदौर्वानलेनेव पूरितं पिञ्जरं नभः ॥897॥
 आगतं गरुडं ज्ञात्वा सूचितं पक्षमारुतैः ।
 आरुरोह मदाबद्धः शिलां जीमूतवाहनः ॥898॥
 रत्नांशुकेन संछन्नः स्थितस्तत्र व्यचिन्तयत् ।
 सत्त्वोपकाराय पुनर्जन्म भूयान्ममेति सः ॥899॥
 ततोऽदृश्यत दिग्दाहदारुणच्छविरम्बरे ।
 प्रलयाग्निशिखालोलपक्षाक्षेपः खगेश्वरः ॥900॥
 तस्योरुवेगसंघट्टस्फूर्जद्घनघनारवैः ।
 चुक्रोशाकालकल्पान्तसंभ्रस्तेव जगत्त्रयी ॥901॥
 ततः स तस्य धैर्याब्धिविद्याधरशिरोमणेः ।
 जहार शिरसश्चूडं चूडारत्नेन मण्डितम् ॥902॥
 ततः शरीरमादाय तस्य तुण्डेन खेचरः ।
 गगने वलयाकारं चकार गतिविभ्रमम् ॥903॥
 तच्चशुक्रकचभ्रष्टं रक्तधारापुरःसरम् ।
 अङ्गे मलयवत्यास्तु चूडारत्नमथापतत् ॥904॥
 तद्दृष्ट्वा वज्रसंरुग्णा शिरीषलतिकेव सा ।
 जीमूतकेतवे तन्वी परित्रस्ता न्यवेदयत् ॥905॥
 स्वविद्यया परिज्ञाय स्वसूनोर्जीवितव्ययम् ।
 भार्यास्नुषाभ्यां सहितः सौपर्णीं तां शिलां ययौ ॥906॥
 अत्रान्तरे शङ्खचूडस्तूर्णं तं देशमागतः ।
 गोकर्णमर्णवतटे प्रणिपत्य मनोजवः ॥907॥
 तत्रापश्यन्नखमुखोत्खातस्खलितशेखरम् ।
 विद्याधरेन्द्रमादाय ताक्ष्यमुत्पतितं दिवि ॥908॥

तं वीक्ष्य साश्रुनयनो विनाघातं विदारितः ।
 आत्मानं तद्वधे मत्वा कारणं विललाप सः ॥909॥
 हा सत्त्वविपुलौदार्यधैर्यगाम्भीर्यसागर ।
 हा पूर्णकरुणाकोश हा निष्कारणबान्धव ॥910॥
 इति शोचन्स विपदमनुसर्तुं गरुत्मतः ।
 जगाम जीवितत्यागदृढीकृतविनिश्चयः ॥911॥
 आस्वाद्यास्वाद्य ताक्षर्योऽपि व्योम्नि जीमूतवाहनम् ।
 क्षिप्रं स्थगितसंरम्भं प्रदध्यौ विस्मयाकुलः ॥912॥
 अहो नु सत्त्ववानेष कोऽपि धैर्यमहोदधिः ।
 भक्ष्यमाणस्य यज्ञास्ये जायन्ते पुलकाङ्कुराः ॥913॥
 प्रसन्नवदनः क्षिप्रं जीवशेषोऽपि वर्तते ।
 चिन्तयित्वेत्यपुच्छत्त्वं कोऽसीति विनतात्मजः ॥914॥
 स तं प्राह किमेतेन तव भक्ष्य मामिति ।
 अस्मिन्नवसरे शङ्खचूडोऽभ्येत्य तमब्रवीत् ॥915॥
 हा हा मा मा कृथास्ताक्षर्य साहसं किं न पश्यसि ।
 अस्य विद्याधरेन्द्रस्य स्वस्तिकाङ्कमुरस्तटम् ॥916॥
 अहं स नागस्ते भक्ष्यं पश्य जिह्वालताद्वयम् ।
 विस्फूर्जद्विषफूत्कारं रत्नस्फीताः फणाश्च मे ॥917॥
 इदानीमपि मे देहे मांसशोणितमस्ति भोः ।
 न च पश्यामि ते तृप्तिं स त्वं दूरे स्थितः कुतः ॥918॥
 इत्युक्त्वा विपुलं वक्षः प्रसार्योत्तानविग्रहः ।
 तूर्णं मां भक्षयेत्याह स सुपर्ण पुनः पुनः ॥919॥
 ततोऽस्थिशेषं तं त्यक्त्वा विषण्णे पन्नगेश्वरे ।
 जीमूतवाहनवधूर्गुरुभ्यामाययौ सह ॥920॥
 दृष्ट्वा मलयवत्यग्रे प्राणनार्थं तथागतम् ।
 मुमोहापूर्वशोकाग्निधूमेनेवान्धकारिता ॥921॥
 जीमूतकेतुस्तनयं विलोक्य सह जायया ।
 पपात मूलनिर्लून इव चन्दनपादपः ॥922॥

ताक्षर्येणाश्वास्यमानेषु तेषु जीमूतवाहनम् ।
 संस्पृश्य पाणिना माता शुशोच करुणस्वनम् ॥923॥
 मुहूर्ताच्छेषजीवोऽपि सोऽब्रवीज्जननीं शनैः ।
 मातर्विनश्वरस्यास्य किं शरीरस्य शोच्यते ॥924॥
 भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे ।
 जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः ॥925॥
 उक्त्वेति विसृजन्प्राणानविच्छायमुखच्छविः ॥
 स्फारेण शोकतमसा जगत्संपूरयन्निव ॥926॥
 ततो मलयवत्यासीन्मरणे कृतनिश्चया ।
 शोकस्तम्भेन संरुद्धा न चचाल पपात वा ॥927॥
 अथ साक्षाद्भगवती गौरी तां भक्तवत्सला ।
 समाश्वास सुधासारैस्तद्भर्तारमजीवयत् ॥928॥
 चक्रवर्तिश्रियं चास्मै दत्त्वा क्षिप्रं तिरोदधे ।
 ततो देवाः सगन्धर्वास्तस्य सत्त्वमपूजयन् ॥929॥
 गरुडोऽप्यथ हृष्टात्मा वरदस्तेन याचितः ।
 प्रददौ सर्वनागानां पुण्यामभयदक्षिणां ।
 जीमूतवाहनो हृष्टः प्रययौ दयितासखः ॥930॥
 कथयित्वेति वेतालः पप्रच्छ वसुधाधिपः ।
 सत्त्ववाञ्छाङ्खचूडोऽत्र किं वा जीमूतवाहनः ॥931॥
 इति पृष्टो नृपः प्राह शङ्खचूडोऽत्र सत्त्वभूः ।
 यो बालोऽपि निजौचित्यान्न चचाल महाशयः ॥932॥
 जीमूतवाहनस्यैतदात्मदानं किमद्भुतम् ।
 बोधिसत्त्वः स हि पुरा दत्तवान्बहुशस्तनुम् ॥933॥
 तपस्तीव्रं यशः शुभ्रं श्लाघ्या श्रीः सत्त्वमद्भुतम् ।
 निर्व्याजदानं च नृणां पूर्वाभ्यस्तं हि जायते ॥934॥
 श्रुत्वेत्यलक्षितो गत्वा वेतालः शिंशपातरौ ।
 तेनैव कण्ठपाशेन तथैवोल्लम्बितः स्थितः ॥935॥
 इति षोडशो वेतालः ॥18॥

पुनस्तमादाय ययौ जवेन जगतीपतिः ।
 स्कन्धस्थितः स च प्राह कथेयं श्रूयतामिति ॥936॥
 रूठकाख्ये पुरे राजा श्रीमानासीद्यशोधनः ।
 मांधातुरामनहुषा यत्कीर्त्या विस्मृता इव ॥937॥
 स कदाचित्समभ्येत्य विज्ञप्तो वणिजा भयात् ।
 ममास्ति कन्यकारत्नं देव तस्यास्ति भाजनम् ॥938॥
 इति श्रुत्वा नरपतिर्द्रष्टुं तां प्राहिणोद्विजान् ।
 ते दृष्ट्वोन्मादिनीं नाम्ना तामुन्मादं समाययुः ॥939॥
 इमां भूमिपतिः प्राप्य प्रजाकार्यपराङ्मुखः ।
 ध्रुवं नङ्घति रागेण द्विजास्तत्रेति चिन्तयन् ॥940॥
 ते नरेश्वरमभ्येत्य कन्यां दुर्लक्षणां जगुः ।
 अनादुतां ततो राज्ञा सेनान्ये तां पिता ददौ ॥941॥
 कदाचिदथ मत्तलिमालावलयिते मधौ ।
 उत्फुल्लफुल्लधवले कोकिलालापमालिनि ॥942॥
 मकरन्दपिशङ्गासु दिक्षु दक्षिणमारुतैः ।
 कौडुमेनाङ्गरागेण विलिखन्निव कामिभिः ॥943॥
 राजा गजेन्द्रशैलस्थश्चम्पकापीडशेखरः ।
 अशोकमालासच्छायो मधुमास इवापरः ॥944॥
 पुरे चैत्रोत्सवं द्रष्टुं चचार कमलेक्षणः ।
 विलोक्यमानः कान्ताभिः कुसुमायुधशङ्कया ॥945॥
 दुर्लक्षणेत्यनेनाहं प्रत्याख्यातेति मानिनी ।
 उन्मादिनी ततो राज्ञः सौधात्तनुमदर्शयत् ॥946॥
 नेत्रांशुभिः कन्दलिता पाणिभ्यां जातपल्लवा ।
 बभौ मूर्तेव चैत्रश्रीः सा मुग्धस्मितपुष्पिता ॥947॥
 तारहारकरस्फीतफेनाङ्के कान्तिसागरे ।
 तस्याः कटाक्षैरभवद्यमुनाभ्रान्तिविभ्रमः ॥948॥
 बिम्बाधरारुणदलं लोललोचनषट्पदम् ।
 सा बभार मुखाम्भोजं सुगन्धिस्मितशेखरम् ॥949॥

तां वीक्ष्य चन्द्रवदनां मदनोद्यानकौमुदीम् ।
 अहो नु वञ्चितोऽस्मीति प्रदध्यौ वसुधाधिपः ॥950॥
 राजधानीं प्रविश्याथ स्मरज्वरनिपीडितः ।
 नोद्यानेषु न वापीषु न सौधेष्वाययौ धृतिम् ॥951॥
 दुर्लक्षणेति यैरुक्ता दुर्नयैर्नयबुद्धिभिः ।
 उन्मादिनी ब्राह्मणास्ते निर्गच्छन्तु पुरान्मम ॥952॥
 इत्यादिश्य नृपस्तस्थौ दह्यमान इवानिशम् ।
 कदलीदलशय्यासु श्रीखण्डसलिलोच्छ्रितः ॥953॥
 भिषग्भिः सेव्यमानोऽपि स्वास्थ्यं न प्राप भेषजैः ।
 स्मरज्वरचिकित्सा हि दयितालिङ्गनामृतैः ॥954॥
 विश्रम्भसाक्षिणैकेन सा तस्य विरहव्यथा ।
 विराजनाम्ना विज्ञाता राजन्येन कथान्तरे ॥955॥
 पृष्टोऽब्रवीन्नृपस्तेन सखे तां सुन्दरीं विना ।
 सेनापतिवधूं प्राणाः क्वापि गन्तुं ममोद्यताः ॥956॥
 यौवनोदयशीतांशुं तन्मुखं सुन्दरं दृशोः ।
 धन्याः पश्यन्ति लावण्यरसायनतरङ्गितम् ॥957॥
 भूपतेः परदारेषु संगमो मे न शोभते ।
 प्रमादानृपमूढानां मरणं हि प्रमेयता ॥958॥
 (इत्युक्त्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य क्षामविग्रहः ।
 आनीयतां सेति वचो वयस्याहं न चक्षमहे) ॥959॥
 अन्येद्युर्जातवृत्तान्तः सेनापतिरुपेत्य तम् ।
 स्वैरं बलधरो नाम सप्रणामं व्यजिज्ञपत् ॥960॥
 भाजनं सर्वरत्नानामेकस्त्वं देवतापरः ।
 गृहाणोन्मादिनीं कान्तां ललनारत्नमुत्तमम् ॥961॥
 इति श्रुत्वा विहस्यैनमुवाच वसुधाधिपः ।
 अहो भक्तोऽपि मे भृत्योऽहितं नैव प्रभाषते ॥962॥
 अयं लोको निरालोकः कलिकर्दमसंकुलः ।
 नृपाणां साधुशीलानां चरितैर्हि प्रकाश्यते ॥963॥

तदहं पृथिवीपालो दण्डधारपदे स्थितः ।
 अनीतिगहनावृत्तं व्यसनार्थिं कथं भजे ॥964॥
 कुले जन्मगुणाः सन्ति धर्मे यशसि चादरः ।
 मतिश्च परदारेषु सत्यं न सदृशं मम ॥965॥
 इति ब्रुवाणं राजानं सेनापतिरभाषत ।
 उन्मादिनीं करोम्येनां नर्तकीं सुरमन्दिरे ॥966॥
 भजस्वैतां देवदासीं देव दोषो न विद्यते ।
 इति तेनार्थ्यमानोऽपि तं निनिन्द रुषा नृपः ॥967॥
 ततः सेनापतौ याते तामेवोन्मादिनीं स्मरन् ।
 यशःशरीरममलं विवेश भ्रष्टजीवितः ॥968॥
 तस्मिन्नुपरते राज्ञि सेनानीः शोकविह्वलः ।
 वह्निं विवेश सद्भक्तिः पर्यन्ते हि प्रदृश्यते ॥969॥
 अभिधायेति वेतालः क्षमापालं पृष्टवान्युनः ।
 सेनानीभूमिपालाभ्यां कोऽधिकः सत्त्ववानिति ॥970॥
 राजावदत्स्वामिभक्तिभृत्यानां किमिवाद्भुतम् ।
 श्लाघ्यो नरेन्द्र एवैको प्राणांस्तत्याज न स्थितिम् ॥971॥
 उद्दाममदसंरुद्धा लीलामीलितदृष्टयः ।
 न शृण्वन्ति न पश्यन्ति राजानः कुञ्जरा इव ॥972॥
 नारीणामिव सद्भावो दौर्जन्यं महतामिव ।
 विवेको भूमिपालानां कदा केनोपमीयते ॥973॥
 इति श्रुत्वैव वेतालं प्रयातं शिंशिपातरुम् ।
 पुनरादाय भूपालः प्रययौ पवनोपमः ॥974॥

इति सप्तदशो वेतालः ॥19॥

ततः स्कन्धस्थितो भूयः स बभाषे भुको विभुम् ।
 शृणु राजन्कथामेकां कोऽन्यः कृन्तति संशयान् ॥975॥
 चन्द्रप्रभाभिधानस्य नृपस्योज्जयिनीपतेः ।
 द्विजो बभूव नगरे देवस्वामी महाधनः ॥976॥

चन्द्रस्वामीति तस्याभूत्तनयः श्रुतिसागरः ।
 द्यूतव्यसनसंसक्तो निष्कलङ्काः क्व वा गुणाः ॥977॥
 स वृद्धकितवैर्धूर्तैर्व्याजाद्बहुधनं जितः ।
 बद्ध्वा लताभिरनिशं ताडितो मौनमास्थितः ॥978॥
 मृतोऽयमिति कालेन त्यक्तस्तैर्निर्धनः कृशः ।
 प्रययौ निशि निःशेषकोशक्लेशसमाश्रयः ॥979॥
 स शून्यं देवनिलयं कथंचित्प्राप्य निःसहः ।
 अपश्यत्तुङ्गखट्वाङ्गव्रतिनं भस्मभूषितम् ॥980॥
 दीनं तपस्विना तेन क्षुत्क्षामोऽथ निमन्त्रितः ।
 तद्विद्यानिर्मितं भेजे स विप्रः काश्चनं पुरम् ॥981॥
 तत्र बालमृगाक्षीभिः शशाङ्कशतकान्तिभिः ।
 कृतराजोपचारेण स लेभे स्नानभोजनम् ॥982॥
 विलोलमेखलादाम विरावयति सुन्दरम् ।
 सुरतं सुरसुन्दर्यास्तत्र चित्रमवाप्तवान् ॥983॥
 इति तद्विद्यया दिष्टमनुभूय समुत्थितः ।
 प्रभाते तद्विरहितः पृथुशोकाकुलोऽभवत् ॥984॥
 ततस्तत्कृपया चक्रे प्रत्यहं तन्महाव्रती ॥
 निशि यदृश्यते सर्वं वासरेषु न किंचन ॥985॥
 ततः कदाचिदाराध्य स विप्रस्तमभाषत ।
 भगवन्देहि मे विद्यामिमामीप्सितसिद्धिदाम् ॥986॥
 इति तेनार्थ्यमानोऽसौ प्रोवाच वितताशयः ।
 विद्येयं तीव्रनियमैश्छिन्नरागादिबन्धनैः ॥987॥
 प्राप्यतेऽन्तर्जलजपादामुखं विघ्नकारिणीम् ।
 सलिलान्तः प्रविष्टस्त्वं स्वप्नं द्रक्ष्यसि तत्क्षणात् ॥988॥
 पुनः संजातमात्मानं बन्धुपुत्रकलत्रिणम् ।
 तटस्थितेन च मया स्मारितो यदि विद्यया ॥989॥
 वह्निं प्रवेक्ष्यसि तदा विद्यामेनामुपेष्यसि ।
 इत्युक्त्वा स ददौ तस्मै निजविद्यां नदीतटे ॥990॥

द्विजोऽपि प्राप्य तां जमुं विवेश सलिलान्तरम् ।
 तत्रापश्यत्स विस्मृत्य सर्वमात्मानमात्मना ॥991॥
 हिरण्यपुर्यां संजातं शंकरस्य पुरोधसः ।
 कालेन वर्धमानोऽसौ सह विद्याकलागुणैः ॥992॥
 भार्या शशिप्रभां नाम लेभे विश्रम्भसाक्षिणीम् ।
 युवा वसन्तसंतोषविश्रान्तिसदने वने ॥993॥
 विजहार तथा हारिवपुषा हरिणीदृशा ।
 दासीशतवृतां तत्र रममाणां ददर्श सः ॥994॥
 तां दैवयोगाद्दयितां सर्पेण निहतां भुवि ।
 तां वीक्ष्य विललापासौ कन्दर्पविषमस्थितिः ॥995॥
 हा प्रिये हा मनःसिन्धुचन्द्रिके हा सुलोचने ।
 लक्ष्मीरिवाविनीतस्य क्र मे यातासि सुन्दरि ॥996॥
 इत्यश्रुगद्गदगिरा विलपन्तं चिराय तम् ।
 आयुषोऽर्धं प्रयच्छास्यै देवदूतोऽभ्यधादिति ॥997॥
 तच्छ्रुत्वा स ददौ तस्यै निजस्यार्धमथायुषः ।
 अवासजीवितां तेन तामलिङ्ग्य ननन्द सः ॥998॥
 ततः कालेन तनयं लेभे कमललोचनम् ।
 स्नेहस्य मन्दिरं कान्तं प्रतिबिम्बमिवात्मनः ॥999॥
 इति मायाविकल्पोत्थं स तन्मायां व्यलोकयत् ।
 अत्रान्तरे तदा तेन व्रतिना स विबोधितः ॥1000॥
 स्मृत्वा वह्निप्रवेशाय सहसैव समुद्यतः ।
 बन्धूनां करुणाक्रन्दराविणामशृणोद्गिरः ॥1001॥
 तनयोत्सङ्गया पत्न्या तथा सार्धं मृगीदृशा ।
 प्रार्थ्यमानोऽपि यत्नेन वह्निमेव समाविशत् ॥1002॥
 स्वस्थानुमरणोद्युक्ता दृष्ट्वा भार्याः समातरः ।
 हा पापोऽस्मीति संचिन्त्य मुहूर्तं जडतां ययौ ॥1003॥
 अनिर्दग्धतनुस्तेन पावकेन हिमत्विषा ।
 उदतिष्ठन्नदीतीरादन्तर्जलजपास्थितः ॥1004॥

एतदहनश्चतुर्भागे दृष्ट्वा सर्वं सविस्मयः ।
 न्यवेदयद्यथावृत्तं व्रतिने लम्बिताञ्जलिः ॥1005॥
 दुःखाकुलस्ततः प्राह व्रती हा धिग्विकल्पितः ।
 त्वया विभ्रंशिता सिद्धिस्ता विद्या विस्मृता इति ॥1006॥
 सोऽवदन्निरिविकल्पेन त्वदादिष्टं कृतं मया ।
 न जाने केन विघ्नेन न दग्धोऽहं कृशानुना ॥1007॥
 इत्युक्त्वा शपथं चक्रे स विप्रो व्रतिनः पुरः ।
 तपस्वी भ्रष्टविद्योऽथ तत्कारणमचिन्तयत् ॥1008॥
 कथयित्वेति वेतालः पप्रच्छ पृथिवीपतिम् ।
 राजन्कृते विधानेऽपि सा विद्या किं न दृश्यते ॥1009॥
 इति पृष्टो नृपः प्राह कृतं तेन यथोदितम् ।
 किंतु भावोऽस्य तत्कालं बान्धवेष्वार्द्रतां ययौ ॥1010॥
 तेन प्रणष्टा तत्कोपाद्गुरोरपि चिरस्थिता ।
 विद्यासौ भावदुष्टानां विनश्यन्त्येव सिद्धयः ॥1011॥
 इत्याकर्ण्यैव वेतालः प्रययौ शिंशिपातरुम् ।
 आनिनाय च तं भूयो निरुद्वेगो महीपतिः ॥1012॥
 इत्यष्टादशो वेतालः ॥20॥

सोऽथ स्कन्धस्थितः प्राह राजानं वेगगामिनम् ।
 शृणु नाथ कथामेकां निशा यावन्न शीर्यते ॥1013॥
 वङ्गोलके लवपुरे सार्वभौमः क्षमापतिः ।
 सूर्यप्रभाभिधानोऽभूद्यशःकुसुमकाननम् ॥1014॥
 आख्यातविक्रमे तस्मिन्निखिलां रक्षति क्षितिम् ।
 वणिजस्ताम्रलिप्ताया धनदत्तस्य पुत्रिका ॥1015॥
 विद्याधरी शापबलान्मानुषं भोगमास्थिता ।
 हिरण्यवत्यां जायामामजायत सुलोचना ॥1016॥
 यत्कान्तिमधुना मत्तः प्रबलो विजयी स्मरः ।
 सा यौवनं शनैः प्राप नाम्ना धनवती तनुः ॥1017॥

कालेन त्रिदिवं याते तस्याः पितरि गोत्रजैः।
 हर्तुं द्रविणमाक्षिप्ता तद्धार्या राजसंश्रितैः॥1018॥
 सा दुःखिता च भीता च गृहीत्वाभरणं निजम् ।
 अलक्षिता निशि प्रायाद्दुहित्रा सह विह्वला ॥1019॥
 यान्ती तूर्णं निरालोके शोकैरिव तमोभरैः ।
 विलुप्तदृष्टिः शूलस्थं जघानांसेन सा नरम् ॥1020॥
 स चौरः स्कन्धनिर्घातसंजातविपुलव्यथः ।
 चुक्रोश हा हतोऽस्मीति पर्यन्तश्वासगद्गदम् ॥1021॥
 वणिक्पत्न्या स दृष्टोऽथ प्राह चौरोऽस्मि पापकृत् ।
 इयं तृतीया मे रात्रिः शूलस्थस्यैव वर्तते ॥1022॥
 तीव्रव्यथोऽपि जीवामि पातकैः पूर्वसंचितैः ।
 अकृच्छ्रेण कथं यान्ति प्राणाः कलुषकर्मणः॥1023॥
 इत्युक्त्वा तेन पृष्टासौ निजदुःखमभाषत ।
 ततः प्रणयशोकार्ता येन स्वपुरमत्यजत् ॥1024॥
 अत्रान्तरे शशी नित्यक्षयशोकादिवाधिकम् ।
 उद्ययौ पाण्डुरः स्थूलः कपालशकलच्छविः ॥1025॥
 गतेऽह्नि मित्रदयिते शान्ते संध्याचितानले ।
 तारास्थिसंचयं कर्तुमिवेन्दुरुत्सृजन्करान् ॥1026॥
 दिशः सितांशुकच्छत्रा ज्योत्स्नापूरैः प्रचक्रिरे ।
 शोकादिवोद्धसलिलक्रियां कुमुदपाण्डुराः ॥1027॥
 ततश्चौरोऽवदद्दृष्ट्वा प्रकाशे तत्सुतां पुरः ।
 कन्यैषा दीयतां मह्यं सुवर्णं वितरामि ते ॥1028॥
 मुमूर्षुर्विलसत्येष मा वदेति पृथुस्मिता ।
 त्वया मात्रा वितीर्णैयमवाप्स्यति मदाज्ञया ॥1029॥
 केनापि सह संगम्य पुत्रं त्राणं परत्र मे ।
 अस्ति काश्चनलक्षं मे तेनेमां देहि कन्यकाम् ॥1030॥
 इति श्रुत्वा सुतां तस्मै सा प्रादाद्वारिपूर्वकम् ।
 ददौ तरुतलन्यस्तं तस्यै सोऽप्यखिलं धनम् ।

पुत्रार्थं तामनुज्ञाय कन्यां चौरौ व्यपद्यत ॥1031॥
 ततो भर्तुर्वयस्यस्य गृहं प्राप्य सुपुत्रिका ।
 सती कुमारदत्तस्य युक्त्या चौरं ददाह सा ॥1032॥
 अथ कालेन सा गत्वा निःशेषधनवर्जिते ।
 सूर्यप्रभस्य नगरे तस्थौ हेमचयैः सुखम् ॥1033॥
 तत्रस्था यौवनवती कदाचित्सौधमास्थिता ।
 क्रतौ ददर्श पञ्चेषुसुभगं द्विजपुत्रकम् ॥1034॥
 सोमस्वामीति विख्यातः सुवेषां सुरतप्रियः।
 यस्यां विलासरसिकः स विप्रो यौवनोन्मदः ॥1035॥
 तस्या हारावललिता नर्तकी लोकविश्रुता ।
 हृदये तां समाधत्त विना भूरिधनव्ययम् ॥1036॥
 तथाभूतं व्यसनिनं सा दृष्ट्वा तं द्विजात्मजम् ।
 वणिक्पुत्री स्मराक्रान्ता बभूव ध्याननिश्चला ॥1037॥
 ततो विहाय सा लज्जां मात्रे सर्वं न्यवेदयत् ।
 चौरस्याज्ञां च तां स्मृत्वा तदाह्वानेऽदिशत्सखीम् ॥1038॥
 स च द्विजो मृषा यातः पुत्रार्थं तामभाषत ।
 शतानि पञ्च रूपाणां दीयतां व्ययिनो मम ॥1039॥
 इति श्रुत्वा सखी तस्मै दत्त्वा तच्छतकद्वयम् ।
 एकक्षपाभ्युपगमादानिनाय द्विजं रहः ॥1040॥
 तं दृष्ट्वा कान्तमानीतं निशि शय्यागृहस्थिता ।
 हर्षोत्सिक्ता वणिक्पुत्री नवं भेजे रतोत्सवम् ॥1041॥
 अदृष्टपूर्वसंभोगा वेश्याशतविलासिना ।
 नीता प्रौढेन सा तेन रतौ कामपि निर्वृतिम् ॥1042॥
 तस्मिन्प्रयाते प्रच्छन्नं निशान्ते साभवत्क्षणात् ।
 स्रस्ताङ्गी क्लान्तवदना कृशा मुकुलितेक्षणा ॥1043॥
 ततः कालेन सा पुत्रमसूत रविवर्चसम् ।
 कुन्तीव वर्णसंपूर्णराजलक्षणलक्षितम् ॥1044॥

तस्मिञ्जाते वणिक्पुत्रीं स्वप्ने तज्जननी तथा ।
 आदिदेश शिवः साक्षात्पुत्रोऽयं द्वारि भूपतेः ॥1045॥
 हेमः सहस्रमाधाय मञ्चके त्यज्यतां रहः ।
 इति तद्वचसा सर्वं चक्राते ते यथाश्रुतम् ॥1046॥
 राजापि शंभुना स्वप्ने निर्दिष्टं प्राप्य तं शिशुम् ।
 कौशेयवस्त्रसंछन्नं दिव्यरूपं सकाञ्चनम् ॥1047॥
 सूर्यप्रभस्य तनयः सोऽपि चन्द्रप्रभाभिधः ।
 कालेन यौवनं प्राप कलाविद्याविशारदः ॥1048॥
 तं सर्वगुणसंपन्नं दृष्ट्वा पुत्रं स पार्थिवः ।
 चक्रवर्तिश्रियं तस्मै दत्त्वा वाराणसीं ययौ ॥1049॥
 तपसा तत्र भूपाले प्रयाते शाश्वतं पदम् ।
 चन्द्रप्रभः शोकतप्तो ज्ञात्वा चक्रे जलक्रियाः ॥1050॥
 ततः स राज्यं मन्त्रिभ्यो विन्यस्य पितृवत्सलः ।
 गयाश्राद्धे कृतोत्साहो ब्राह्मणैः सहितो ययौ ॥1051॥
 सौहार्दस्योपकारस्य गुरुभक्तेः कुलस्य च ।
 महतां हि वियोगेषु गयाश्राद्धे प्रतिक्रिया ॥1052॥
 स वाजिकुञ्जरानीकैः संछादितदिगन्तरः ।
 ब्रजन्मन्दाकिनीं प्राप्य पितृश्चक्रे यथोचितम् ॥1053॥
 ततः सर्वेषु तीर्थेषु दत्त्वा बहुधनो धनम् ।
 गयामवाप कालेन पुण्यां कुलविभूषणः ॥1054॥
 ततःशास्त्रोदितं कृत्वा धर्मारण्येऽवसन्नयम् ।
 राजकूपं समासाद्य पिण्डं क्षेप्तुं समुद्ययौ ॥1055॥
 सूर्यप्रभस्य नृपतेः स्वगोत्रे नाम्न्युदीरिते ।
 पुरोहिताग्रतस्तत्र त्रयो हस्ताः समुत्थिताः ॥1056॥
 तद्वीक्ष्य विस्मयाविष्टो मुहूर्तं स्थगितक्रियः ।
 किमेतदिति पप्रच्छ राजा वृद्धगुरुन्दिजान् ॥1057॥
 ते प्राहुः शिवमालोक्य श्रुतिस्मृतिविचक्षणाः ।
 एकश्चौरस्य हस्तोऽयं लाञ्छितः शस्त्रशङ्कुना ॥1058॥

पवित्रकालंकरणः पाणिरन्यो द्विजन्मनः ।
 अयं पद्मनिभो राज्ञः करः कङ्कणभूषितः ॥1059॥
 निश्चयं नाधिगच्छामः कस्मै पिण्डोऽर्प्यतामिति ।
 राजा विप्रवचः श्रुत्वा संदेहाकुलितोऽभवत् ॥1060॥
 वर्णयित्वेति वेतालः पप्रच्छ क्षमापतिं पुनः ।
 राजन्कस्मै स धर्मेण पिण्डस्तेन प्रदीयताम् ॥1061॥
 इति पृष्टो नृपः प्राह स विप्रस्तस्य नो पिता ।
 यो मूल्येन क्षपामेकां तन्मात्रा संगमं व्यधात् ॥1062॥
 राजापि तस्य संस्कारकर्ता संप्राप्तकाञ्चनः ।
 न पिता कर्मसंबन्धाद्राज्यभागी स केवलम् ॥1063॥
 चौर एव पिता तस्य यो दत्त्वा हेमसंचयम् ।
 कन्यां तज्जननीं प्राप पिण्डस्यार्हति वापनम् ॥1064॥
 श्रुत्वेत्यलक्षितः स्कन्धाद्वेतालः प्रययौ जवात् ।
 वृक्षावलम्बिनं तूर्णमानिनाय च तं नृपः ॥1065॥
 इत्येकोनविंशो वेतालः ॥21॥

स शीघ्रगामिनं प्राह नृपं स्कन्धगतः पुनः ।
 निःशब्देऽस्मिन्निरालोके दीर्घाध्वनि कथां शृणु ॥1066॥
 चन्द्रावलोक इत्यासीच्चित्रकूटपुरे नृपः ।
 जहार भूरिरत्नौघः सदा रत्नाकरश्रियम् ॥1067॥
 स मृगव्यरसाकृष्टः कदाचिद्वातरंहसा ।
 तुरगेण हतः प्राप वनं रुचिरपादपम् ॥1068॥
 तत्र फुल्ललताजालकलितालिकुलोत्सवे ।
 विशालतालहिन्तालतमालश्यामलावलौ ॥1069॥
 ददर्श दर्पणस्वच्छं सरो नीरजराजितम् ।
 स्नातसिद्धवधूवृन्दकुचकुङ्कुमपिञ्जरम् ॥1070॥
 समाश्वस्य कृताहारस्तत्र बालविसाङ्करैः ।
 ददर्श कन्यां त्रैलोक्यसारं सारङ्गगामिनीम् ॥1071॥

कटाक्षमधुपां हासपुष्पां किसलयाधराम् ।
 स्तनस्तबकिर्नीं मूर्तां काननस्येव देवताम् ॥1072॥
 तां वीक्ष्य मन्मथशरव्याकुलीकृतचेतनः।
 दत्तशाप इवानेकसायकाभिहतैर्मृगैः ॥1073॥
 मुनेः कण्वस्य तां ज्ञात्वा तत्सख्याभिहितां सुताम् ।
 इन्दीवरप्रभां नाम सुभगां मेनकात्मजाम् ॥1074॥
 गत्वा ययाचे प्रणतः स्थितं निजतपोवने ।
 मुनीन्द्रं चन्द्रवदनां स चास्मै तां ददौ मुदा ॥1075॥
 ततः प्रतिनिवृत्तस्तामादाय तरुणीं नृपः ।
 ब्रजन्प्राप सरस्तीरं संध्ययालिङ्गितेऽहनि ॥1076॥
 अस्तं च तिग्मकिरणे याते भुवनभूषणे ।
 अभूतां रोदसी भूरितिमिरैरावृताम्बरे ॥1077॥
 ततो हरकिरीटेन माद्यन्मदनबन्धुना ।
 शर्वरी शर्वरीशङ्खवलयेनेन्दुनोदितम् ॥1078॥
 केतकीदलतां कर्णे तनौ कर्पूरपूरताम् ।
 हारतां च ययौ ज्योत्स्ना कुचयोर्हरिणीदृशाम् ॥1079॥
 अथाश्वत्थतरोर्मूले बालपल्लवसंस्तरे ।
 एलावल्लीलताकुञ्जे राजा भेजे नवां वधूम् ॥1080॥
 सद्भावभोगसुभगं मन्दलजाभरं शनैः।
 सिषेवे चारुसुरतं सविदग्धोऽतिमुग्धया ॥1081॥
 ततः प्रभाते विकटाकारदंष्ट्रोत्कटाननः।
 ज्वालामुखाभिधोऽभ्येत्य प्राह तं ब्रह्मराक्षसः ॥1082॥
 अस्मिन्ममाश्रमे पाप कन्यया दुर्विनीतया ।
 अहो निज इवोद्याने रमसे विगतत्रपः ॥1083॥
 व्यात्ताननगताटालविकटैर्दन्तसंपुटैः।
 पिष्टो विभ्रष्टपुण्यस्त्वं राजन्न भवसि क्षणात् ॥1084॥
 चन्द्रावलोकः श्रुत्वेति तमेव शरणं ययौ ।
 देशकालावनालोक्य प्रभवन्ति न पण्डिताः ॥1085॥

नृपतौ प्रश्रयजुषि प्रयातः किञ्चिदार्रताम् ।
 ज्वालामुखोऽवदद्राजञ्शृणु येनाभिरक्ष्यसे ॥1086॥
 सत्त्ववर्षः स्वयं पित्रा जनन्या च धृतो दृढम् ।
 पादाभ्यां च कराभ्यां च त्वयैवोद्धृतमस्तकः ॥1087॥
 शिशुर्ममोपहाराय कृताभ्युपगमः स्वयम् ।
 विशस्यतां काननेऽत्र ब्राह्मणः सप्तमेऽहनि ॥1088॥
 नान्यथा तव मोक्षोऽस्ति सानुगस्येति तद्गिरा ।
 बाढमुक्त्वा नरपतिः सभार्यो दुःखितो ययौ ॥1089॥
 अवाप्य श्वखुराङ्गेन सभार्यः स्वपुरं ययौ ।
 प्रदध्यौ मन्त्रिचक्रेण राक्षसाय प्रतिश्रुतम् ॥1090॥
 मुख्यामात्यस्ततो (धीमान्सुमतिर्नाम धीमतः।
 हैमं पुरुषमादाय महार्हं मणिभूषितम् ॥1091॥
 चचारात्मानमेतेन को ददातीति घोषयन् ।)
 निशम्य ब्राह्मणः कश्चिद्बालोऽप्यङ्गीचकार तम् ॥1092॥
 सुवर्णपुरुषं पित्रे दापयित्वा महाशयः ।
 उवाच मातरं दीनां निर्धनं पितरं च सः ॥1093॥
 राज्ञः सपौरभृत्यस्य श्रेयसे वितराम्यहम् ।
 आत्मानं राक्षसायाद्य मूल्येनानेन भूरिणा ॥1094॥
 युष्मद्धारिद्रयनाशाय कुशलं प्रस्तुतं मया ।
 पवनाकम्पिदीपाग्रशिखालोलैर्निजासुभिः ॥1095॥
 इदं मेदोस्थिमांसासृग्बीभत्सं क्षणिकं वपुः।
 सत्यं परोपकारेण यात्येव स्पृहणीयताम् ॥1096॥
 इत्यादि कुत्सयन्कायं जनकं शनकैः शिशुः ।
 चकार धीरं संनद्धो भूमिपालसमीहिते ॥1097॥
 ततः स मन्त्री राजानं कृत्वा विदिततत्कथम् ।
 निनाय पित्रा मात्रा च सहाश्वत्थतलं द्विजम् ॥1098॥
 स्वयमेत्य नृपस्तत्र मण्डलं ब्रह्मरक्षसे ।
 पुरोधसा विधायाशु तं बालं हन्तुमुद्ययौ ॥1099॥

स च स्तब्धकरो मात्रा प्रत्यक्षं वीक्ष्य राक्षसम् ।
 पित्रा निरुद्धचरणः प्रदध्यौ हृदये शिशुः ॥1100॥
 उद्दामकरवालेन राज्ञाद्य निहतस्य मे ।
 भूयात्परोपकारैकप्रवणं जन्म सर्वदा ॥1101॥
 विचिन्त्येति हि सस्मेरं जहास द्विजदारकः ।
 ते नृपप्रमुखा येन बभूवुर्विस्मयाकुलाः ॥1102॥
 तं कृताञ्जलयः सर्वे निवृत्ता वधसाहसात् ।
 किमेतदिति साशङ्काः प्रशशंसुः सराक्षसाः ॥1103॥
 कथयित्वेति वेतालो भूपालं बहलच्छलः ।
 पप्रच्छ ब्राह्मणशिशोरकाण्डस्मितकारणम् ॥1104॥
 राजा जगाद यः कश्चिदबलः परिभूयते ।
 केनापि याति शरणं मातरं पितरं च सः ॥1105॥
 तदसंरक्षितस्त्राणं राजानमधिगच्छति ।
 ततोऽप्यप्राप्य निर्वाणं देवं स्मरति पूजितम् ॥1106॥
 ते सर्व एव तत्रास्य निधनाय समुद्यताः ।
 तान्वीक्ष्याचिन्तयद्बालः स सत्त्वविपुलाशयः ॥1107॥
 अहोऽतिदुःखसारस्य शरीरस्यास्य भङ्गिनः ।
 कृते कुकर्मप्रारम्भो मतेरिति जहास सः ॥1108॥
 इति श्रुत्वेति वेतालः प्रययौ शिंशिपां पुनः ।
 आनिनाय च तं भूयो लम्बमानं नरेश्वरः ॥1109॥
 इति विंशो वेतालः ॥22॥
 ततः स्कन्धस्थितः प्राह वेतालः शृणु भूपते ।
 गतागतपरिश्रान्तः कथामेकां विनोदिनीम् ॥1110॥
 अभूत्पुरि विशालायामर्थदत्ताभिधो वणिक् ।
 अनङ्गमञ्जरी नाम पुत्री तस्याभवत्प्रिया ॥1111॥
 स तां ददौ रूपवतीं ताम्रलिप्तानिवासिने ।
 धनाभिजनतुल्याय वणिजे मणिकर्मणे ॥1112॥

शक्तः क्षणमपि स्थातुं न यदा रहितस्तया ।
 तदा न तत्याज पिता स तां निजगृहात्सदा ॥1113॥
 कदाचित्स्वपुरीं याते सा पत्यौ मणिकर्मणि ।
 जहर्ष कृष्णसर्पेण निर्मुक्तेव निरर्गला ॥1114॥
 राज्यमेतत्सुधा चैषा चन्द्रोऽयमयमुत्सवः ।
 यत्क्षणं नयनेनेष्टो जनः पुण्येन दृश्यते ॥1115॥
 ततः सा यौवनोन्मत्ता ग्रीष्मे चन्दनचर्चिता ।
 उत्फुल्लमल्लिकादामधम्मिल्लहतषट्पदा ॥1116॥
 ददर्श हर्म्यमारुह्य सौन्दर्यकुसुमायुधम् ।
 कमलाकरनामानं युवानं द्विजपुत्रकम् ॥1117॥
 तं वीक्ष्य नयनानन्दबान्धवं साभवत्क्षणात् ।
 नलिनीव विलीनेव दष्टेव मुषितेव च ॥1118॥
 तदालोकनसंजातपृथुवेपथुमोहिता ।
 नेदं युक्तमितीवोक्ता सिञ्जानमणिभूषणैः ॥1119॥
 चन्द्ररागमुखीं पद्मारागरक्तकरोज्वलाम् ।
 सोऽपि तां चिरमालोक्य लावण्यमणिपुत्रिकाम् ॥1120॥
 ययौ विलोलयन्मौलिं रूपातिशयविस्मितः ।
 प्रविष्टामिव तद्वक्त्रे कर्षन्निव शनैर्दृशम् ॥1121॥
 ततः सा प्रौढतापेन ग्लपिता मदनाग्निना ।
 दाहोपकरणं मेने मृणालकदलीवनम् ॥1122॥
 तुषारकिरणस्मेरां शर्वरीं मदनोज्वलाम् ।
 दावानलैर्वलयितामिव धोराममंस्त सा ॥1123॥
 स्तौति स्म पार्वतीमेत्य सा निजोद्यानवर्तिनी ।
 तेन पुष्पशरेणेव संगमो मे भवत्विति ॥1124॥
 कृष्णपक्षेन्दुलेखेव शरन्निर्झरिणीव वा ।
 कान्तिमात्रावशेषाभूत्केयूराहतकङ्कणा ॥1125॥
 तां पाण्डुरमुखीं क्षामां स्मरज्वरभयातुराम् ।
 सखी मालतिका नाम दृष्ट्वा शोकाकुलाभवत् ॥1126॥

साथ गत्वा तदादिष्टा कमलाकरमन्दिरम् ।
 तं ददर्श निजोद्याने प्रच्छन्ना विरहातुरम् ॥1127॥
 तामेव विलपन्तं तु सुहृदाश्वासितं मुहुः ।
 तं समभ्येत्य सा प्राह सख्यास्तां मन्मथव्यथाम् ॥1128॥
 ध्यायति ग्लपते क्षिप्रं शेते मुह्यति वेपते ।
 व्यावर्तते च सुभगा त्वां विना सा सुलोचना ॥1129॥
 चन्दनानीन्धनं यस्मिन्निन्दवो विषविन्दवः ।
 हारो वह्निविकारश्च तेन तापेन सार्दिता ॥1130॥
 इति तद्वचसा सद्यः सुधासारैरिवोत्थितः ।
 निशि प्रायात्तदुद्यानं स तथा चारसूचितः ॥1131॥
 सख्या गिरा तमायातं विज्ञायानङ्गमञ्जरी ।
 उन्मिमील प्रदीपश्रीरिव स्नेहेन पूरिता ॥1132॥
 ततस्तमागतं दृष्ट्वा व्याकोशनयनोत्पला ।
 लज्जां विहाय सोत्कण्ठं कण्ठे जग्राह सुन्दरी ॥1133॥
 अयं लब्धोऽसि सुभग क्व गमिष्यसि मे पुरः ।
 अभिधायेति सास्रं तं तन्वी तत्याज जीवितम् ॥1134॥
 सहसा विगतप्राणां दृष्ट्वा तां कमलाकरः ।
 विलप्य सुचिरं गाढं परिष्वज्याभवद्व्यसुः ॥1135॥
 ततः प्रभाते तद्दुःखमिलिते बन्धुमण्डले ।
 अर्थदत्ते सुतां कोपलज्जाशोकैश्च निन्दति ॥1136॥
 तस्याः स मणिकर्णाख्यः कौमारः पतिराययौ ।
 उत्कण्ठानिर्भरः पश्यन्प्रेयस्याः कुशलं जनम् ॥1137॥
 उद्यानमथ संप्राप्य तामन्यनरसंगताम् ।
 दृष्ट्वैव जीवितत्यक्तां रागी प्रायात्स पञ्चताम् ॥1138॥
 सान्यरागेण निर्दग्धा विपन्नः स च तां विना ।
 अहो नु कोऽप्यरं कामो विदग्धोऽप्याहितभ्रमः ॥1139॥
 ततो भगवती गौरी वणिजां कुलदेवता ।
 गुणैरभ्यर्थिता सर्वान्कृपया तानजीवयत् ॥1140॥

अभिधायेति वेतालः पप्रच्छ पृथिवीपतिम् ।
 रागः कस्याधिको राजन्नेतेभ्यः कथ्यतामिति ॥1141॥
 नृपः प्राह वणिक्पुत्री विप्रश्च झषकेतुना ।
 अवस्थां दशमीं नीतौ भ्रमेण न तदद्भुतम् ॥1142॥
 गाढरागोऽत्र कौमारः पतिरस्या मुमोच यः ।
 सहसा दयितान्प्राणान्वज्रेणेव विदारितः ॥1143॥
 इति श्रुत्वेति वेतालो गत्वा पुनरलम्बत ।
 स चानिनाय तं यत्नादखिन्नो मेदिनीपतिः ॥1144॥
 इत्येकविंशो वेतालः ॥23॥
 अथ स्कन्धगतः प्राह वेतालः शृणु भूपते ।
 ब्रह्मस्थलाग्रहारेऽभूद्विष्णुस्वामी द्विजोत्तमः ॥1145॥
 चत्वारस्तस्य तनया बभूवुः श्रुतिशालिनः ।
 मृते पितरि ते जग्मुर्मातुलानां निवेशनम् ॥1146॥
 सावज्ञमीक्षमाणास्तैर्निर्धनास्तत्र ते स्थिताः ।
 अचिन्तयन्नहो दुःखं दारिद्र्यं मरणाधिकम् ॥1147॥
 गृध्राः प्रयान्ति च शवं नित्यं मांसोपजीविनः ।
 निष्पत्रमपि दग्धं च नित्यमागारिकास्तरुम् ।
 न तु दारिद्र्यसंपृष्टं कश्चित्स्पृशति पूरुषम् ॥1148॥
 शीतलैर्दीर्घनिद्रैश्च निरुच्छ्वाससुखैः शवैः ।
 दरिद्रस्तापनिर्निद्रः सोच्छ्वासः स्पर्धते कथम् ॥1149॥
 एकः प्राह गतोऽद्याहं स्मशानं भूतभीषणम् ।
 दौर्गत्यदुःखादात्मानं परित्यक्तुं समुद्यतः ॥1150॥
 ततः केनापि कारुण्याद्बुधेनेवास्मि रक्षितः ।
 अभुक्त्वा स्वकृतं कर्म मरणं प्राप्यते कुतः ॥1151॥
 इति ध्यात्वा ययुः स्वैरं सर्वे देशान्तरं पृथक् ।
 पुनः संगमसंकेतस्थानमादिश्य ते ततः ॥1152॥
 ततः कालेन ते भ्रान्त्वा पृथिवीं बहुकौतुकाम् ।
 अवाप्तविद्या मिलिताः परस्परमथोचिरे ॥1153॥

अस्थिसंपादिनीं विद्यां जानामीत्यग्रजोऽभ्यधात् ।
 तन्मांसयोजनज्ञोऽहमित्युवाच ततः परः ॥1154॥
 त्वग्रोमन्यासकुशलस्तत्रारमीत्यपरोऽब्रवीत् ।
 जीवितार्पणविज्ञाने दक्षोऽस्मीत्येव तत्परः ॥1155॥
 विद्याप्रभावं ते द्रष्टुं मिथस्तत्र सकौतुकाः ।
 देवादवापुः सिंहस्य कीर्णजीर्णांस्थिसंचयम् ॥1156॥
 तं समग्रं समांसं च कृत्वा त्वग्रोमसंकुलम् ।
 क्रमैश्चतुर्थो विद्यानां पञ्चाननमजीवयत् ॥1157॥
 दंष्ट्रावितङ्कवदनः क्षुत्क्षामः समजायत ।
 जघान तीक्ष्णं करजैः पुरस्ताद्विद्वजपुत्रकान् ॥1158॥
 कथयित्वेति वेतालः पप्रच्छ धरणीपतिम् ।
 ब्रूहि राजन्द्रिजवधोद्भूतं तत्कस्य पातकम् ॥1159॥
 इति पृष्टोऽब्रवीद्राजा यो मृगेन्द्रमजीवयत् ।
 तस्य तत्पातकं घोरमन्येषां नास्त्यसंशयम् ॥1160॥
 इति श्रुत्वेति वेतालो गत्वा पुनरलम्बत ।
 नृपोऽपि तं गृहीत्वा तु प्रायादतुलविक्रमः ॥1161॥
 इति द्वाविंशो वेतालः ॥124॥

भूयः स्कन्धगतः प्राह वेतालो बत भूपते ।
 नास्मादद्यापि निर्बन्धाद्विरतोऽसि कथां शृणु ॥1162॥
 यज्ञस्थलाग्रहारेऽभूत्कलिङ्गविषये द्विजः ।
 यज्ञसोमाभिधः सोमपानपूतः कुलोद्गतः ॥1163॥
 भार्यायां सोमदत्तायां तेनाजनि गुणी सुतः ।
 शशाङ्कविशदाकारो बाल्येऽपि विपुलश्रुतः ॥1164॥
 कालेन यौवनं प्राप देवस्वामी स तत्सुतः ।
 विद्याविनयसौभाग्यलावण्यामृतपूरितः ॥1165॥
 स कृतान्तस्य नैर्घण्यात्कालस्य कालशासनात् ।
 पूर्वकर्म्मोर्मिवैचित्र्यात्प्रययौ पञ्चतां युवा ॥1166॥

नयनोत्सवलावण्यान्कुलाचारगुणाधिकान् ।
 सहते नैव विबुधान्कालः कलिरिवाकुलः ॥1167॥
 पितरौ तस्य शोकार्तौ दृष्ट्वा तारप्रलापिनौ ।
 चक्रन्दुरिव सोद्रेगाः प्रति सत्कारवैर्दिशः ॥1168॥
 ततस्तं बान्धवाः सर्वे समग्रगुणबान्धवाः ।
 निन्युः स्मशानवाचालतमालवलयाकुलम् ॥1169॥
 संस्काराय तमानीतं द्विजसूनुं महाव्रती ।
 श्मशानमठिकावासी ददर्श सुभगाकृतिम् ॥1170॥
 वृद्धो नाम शिवो नाम कुर्वे क्लेशास्पदं मनः ।
 ध्यानयोगसमाधाने तत्त्वे वादी विलोक्य सः ॥1171॥
 त्यक्त्वेदं भुक्तसंभोगं निजं जीर्णं कलेवरम् ।
 प्रत्यग्रब्राह्मणतनुं प्रविशामीत्यचिन्तयत् ॥1172॥
 ततः प्रविश्य मठिकामेक एव कपालधृक् ।
 ध्यात्वा स सार्द्रवाष्पौघगलगद्गदनिःस्वनम् ॥1173॥
 क्रन्दित्वा भस्मधवल्लो ननर्त व्यालवद्भुजः ।
 हेलाललज्जटापीडो द्वितीय इव धूर्जटिः ॥1174॥
 भुजङ्ग इव निर्मोकशेषं त्यक्त्वा स विग्रहम् ।
 शरीरं द्विजपुत्रस्य शून्यागारमिवाविशत् ॥1175॥
 सुप्तोत्थित इव प्राप्तस्ततो जीवं द्विजात्मजः ।
 बभूव हर्षविस्फारजनकोलाहलश्चिरम् ॥1176॥
 प्रार्थ्यमानोऽप्यसौ दीनैर्बन्धुभिर्जनकेन च ।
 तत्कालजातवैराग्यः स महाव्रतमग्रहीत् ॥1177॥
 अभिधायेति वेतालः पप्रच्छ नृपशेखरम् ।
 स किं महाव्रती राजन्रुद च ननर्त च ॥1178॥
 इति पृष्टोऽब्रवीद्भूपः श्रूयतामत्र कारणम् ।
 शरीरमिदमत्यन्तलालितं चिरसंगतम् ॥1179॥
 बाल्ये विवर्धितं मात्रा यौवने सेवितं सुखैः ।
 जीर्णमद्य त्यजामीति स रुरोदातिदुःखितः ॥1180॥

पुनः प्रविश्य सिद्धिर्मे जाता सद्व्रतशालिनः ।
 इति प्रहर्षाद्दर्पाच्च ननर्तावर्तितोत्सवः ॥1181॥
 इति श्रुत्वेति वेतालो ललम्बे शिंशिपातरुम् ।
 नृपोऽपि गत्वा तं तूर्णमानिनाय महाशयः ॥1182॥
 इति त्रयोविंशो वेतालः ॥25॥

पुनः स्कन्धस्थितः प्राह निर्बन्धोऽयं महामते ।
 भोक्तुं गच्छ श्रियं राजन्न चेदेकां कथां शृणु ॥1183॥
 दाक्षिणात्यो नरपतिर्धीमात्राम महाबलः ।
 शत्रुभिर्विजितः पत्न्या पुत्र्या च सहितो ययौ ॥1184॥
 तद्भार्या चन्द्रवत्याख्या कन्या लावण्यवत्यपि ।
 दूराध्वखेदिते चन्द्रविलासे खेदितः शनैः ॥1185॥
 ताभ्यां सहैव भूपालः समुत्तीर्य महाटवीम् ।
 भिल्लपल्लीवनं प्राप छादितं द्वीपिचर्मभिः ॥1186॥
 मयूरपत्रवसनैर्गुञ्जास्रगदामशेखरैः ।
 शबरैराचितं संध्यारक्तशृङ्गैरिवारिभिः ॥1187॥
 तत्र तैः स महीपालो रत्नभूषणलोलुपैः ।
 निहतानेकशबरः पतितः संमुखो रणे ॥1188॥
 तस्मिन्हते भयात्प्रायाद्दुहित्रा सह तद्वधूः ।
 शार्दूलपातवित्रस्ता हरिणीव सुलोचना ॥1189॥
 सा गत्वा दूरमुत्कम्पिकुचश्रोणीभरालसा ।
 पुत्र्या त्रासचलन्नेत्रनीलोत्पलरुचा सह ॥1190॥
 वनं प्रविश्य लवलीलवङ्गैरालताकुलम् ।
 निषसाद सरस्तीरे कमलामोदमन्दिरे ॥1191॥
 अत्रान्तरे मृगकुलक्रीडारसकुतूहली ।
 क्षत्रियश्चण्डसिंहाख्यः सपुत्रः प्राप तद्वनम् ॥1192॥
 नारीचरणमुद्रां तौ तत्र पांसुचयश्रियाम् ।
 विस्मयं जग्मतुर्वीक्ष्य रम्यलेखाविभूषिताम् ॥1193॥

लघुपादाम्बुजामेकां मत्वा दीर्घाङ्गुलिं पराम् ।
 चण्डसिंहः सुतं प्राह हर्षात्सिंहपराक्रमम् ॥1194॥
 कान्तायुगलमेतन्नो यदि दृक्पथमेष्यति ।
 तदेषा दीर्घचरणा योग्या मे तव चापरा ॥1195॥
 इत्युक्त्वा नर्मवचने कृत्वा तौ सत्यसंविदौ ।
 प्रापतुर्वीक्ष्य यत्नेन पूर्णेन्दुवदनायुगम् ॥1196॥
 तौ प्राप्य ललिते नार्यौ स्मृत्वा तां निजसंविदम् ।
 लेभाते स्वगृहं गत्वा ताभ्यां स्मरमहोत्सवम् ॥1197॥
 कन्यां विशालचरणां चण्डसिंहोऽभजत्स्वयम् ।
 चण्डसिंहसुतः प्राप तां कन्याजननीमपि ॥1198॥
 इति तौ सत्यवचसा बद्धौ विनिमयेन च ।
 लब्ध्वा भार्या सुताः काले प्रापतुस्तनयास्तथा ॥1199॥
 वर्णयित्वेति वेतालः पप्रच्छ पृथिवीपतिम् ।
 ते तयोर्विशसंभूताः के भवन्ति परस्परम् ॥1200॥
 इति पृष्टो नृपः प्रायादजानन्प्रश्ननिर्णयम् ।
 तेनाथ तुष्टो वेतालः प्रशंसंस्तमभाषत ॥1201॥
 अनेन राजन्धैर्येण तव प्रज्ञाबलेन च ।
 रोमाश्रकर्कशः कायः कस्य नाम न जायते ॥1202॥
 पापोऽसौ क्षान्तिशीलस्ते प्रस्तुतो विपुले छले ।
 प्रपञ्चनीयो यत्नेन क्षिप्रं बुद्धिमता त्वया ॥1203॥
 घोरे महाप्रेतयागे स त्वां वक्ष्यति दुर्मतिः ।
 अष्टाङ्गकृतभूस्पर्शः प्रणामः क्रियतामिति ॥1204॥
 ततो वाच्यो मृदुगिरा स दुष्टः श्रमणः स्वयम् ।
 अहं समस्तसामन्तमौलिनीताङ्घ्रिपङ्कजः ।
 अशिक्षितप्रणामोऽहं तं त्वमेव प्रदर्शय ॥1205॥
 इति त्वयोक्तः स यदा प्रणामं दर्शयिष्यति ।
 तदा खड्गेन हन्तव्यो हन्ति त्वामन्यथा तु सः ॥1206॥

स चक्रवर्तितां प्रामुं विद्याधरधराभुजाम् ।
समीहिते पशुं कृत्वा त्वां त्रैलोक्यविभूषणम् ॥1207॥
इति सर्वं तवाख्यानं स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ।
प्रायादुक्त्वेति वेतालो निर्गत्य प्रेतविग्रहात् ॥1208॥
राजापि शवमादाय क्षान्तिशीलान्तिकं ययौ ।
यामिन्यां भागशेषायामुत्साहविपुलेक्षणः ॥1209॥

इति चतुर्विंशो वेतालः ॥26॥

तमागतमथालोक्य क्षान्तिशीलः प्रणष्टधीः ।
अनार्यो धर्ममर्यादां तस्योच्चैः प्रशशंस सः ॥1210॥
ततश्चितारजःशुभ्रमण्डले बहुलाञ्छने ।
नृरक्तपूर्णकलशे महातेजोरुदीपके ॥1211॥
उत्तारिते शवे तेन दक्षिणाभिमुखो व्रती ।
नररक्तकृतार्धेण नेत्रधूपेन मन्त्रवित् ॥1212॥
अथाहूय स वेतालं बलिं पुष्पैर्निरन्तरैः ।
उवाच श्रेयसे राजन्प्रणामः क्रियतामिति ॥1213॥
नृपोऽब्रवीन्नास्म्यभिज्ञः प्रमाणं दर्शय स्वयम् ।
श्रुत्वेत्यदर्शयत्सोऽस्मै प्रणतिं दैवमोहितः ॥1214॥
तमष्टाङ्गप्रणामस्थं निजघानासिना नृपः ।
छित्वाथ शीर्षं तत्तूर्णमुद्धृत्यार्चाविधिं व्यधात् ॥1215॥
पुष्पवर्षे निपतिते वेतालः प्रददौ वरम् ।
राज्ञः कथेयं त्रैलोक्यपूजनीया भवत्विति ॥1216॥
ततः साक्षात्समभ्येत्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
प्रशशंसुर्नरपतिं वरैश्च समपूजयन् ॥1217॥
तं प्राह भगवान्विष्णुस्त्वं ममांशो महीपते ।
जातोऽसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छशशाङ्कतः ॥1218॥
त्वं त्रिविक्रमसेनोऽथ राजवंशविभूषणम् ।
भोगापवर्गसुभगां भुक्त्वा विद्याधरश्रियम् ॥1219॥

त्रिपुरारिवरात्प्राप्य विद्याभृच्चक्रवर्तिताम् ।
निजं प्रविश्य नगरं प्रभाते स बभौ श्रिया ॥1220॥
इत्युर्वीवलये तुषारनिकरस्पष्टाट्टहासच्छविः
पाताले फणिनायकस्फुटफणाविस्फाररत्नोज्ज्वला ।
व्योम्नि ब्रह्मविमानहंस विकसत्कान्तिप्रकाशद्युति-
स्तस्याकल्पमनल्पपुण्यपदवी गङ्गेव कीर्तिर्बभौ ॥1221॥

इति पञ्चविंशो वेतालः ॥27॥

इति विप्रः समाश्वास्य ददौ मे मन्त्रमुत्तमम् ।
येन सिद्धेन वेतालः स मया वाहनीकृतः ॥1222॥
तत्प्रभावान्मया दृष्टस्त्वमिहस्थः समागतः ।
इत्युक्त्वा हर्षमतुलं लेभे विक्रमकेसरी ॥1223॥
मृगाङ्कदत्तस्तच्छ्रुत्वा तां शशाङ्कवतीं स्मरन् ।
ब्रजनुज्जयिनीं प्राप सोऽटवीं निर्जलद्रुमाम् ॥1224॥

परिशिष्ट- 1 नीतिप्रदीपः

-वेतालभट्ट

रत्नाकरः किं कुरुते स्वरत्नैः ?
विन्ध्याचलः किं करिभिः करोति ?
श्रीखण्डखण्डैर्मलयाचलः किं ?
परोपकाराय सतां विभूतिः ॥1॥
कर्णावघातनिपुणेन च ताड्यमाना
दूरीकृताः करिवरेण मदान्धबुद्ध्या ।
तस्येव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा
भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने चरन्ति ॥2॥
येनाकारि मृणालपत्रमशनं क्रीडा करिण्या सह
स्वच्छन्दं भ्रमणञ्च कन्दरगणे पीतं पयो निर्झरम् ।
सोऽयं वन्यकरी नरेषु पतितः पुष्पाति देहं तृणैः
यद्दैवेन ललाटपत्रलिखितं तत् प्रोज्झितुं कः क्षमः ॥3॥
शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमताञ्च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवान् इति मे मतिः ॥4॥
व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलात् मत्स्याः समुद्रादपि ।
दुर्नीते हि विधौ किमस्ति चरितं कः स्थानलाभे गुणः
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥5॥
अविदलन्मुकुले वकुले यया
पदमधायि कदापि न हेलया ।
अहह! सा सहसा विधुरे विधौ
मधुकरी वदरीमनुवर्त्तते ॥6॥

गतोऽस्मि तीरं जलधेः पिपासया
स चापि शुष्कश्चलुकीकृतो मया ।
न दृश्यते दोषलवोऽपि तोयधेः
ममैव तत्कर्मफलं विजृम्भते ॥7॥
सिंहक्षुण्णकरीन्द्रकुम्भगलितं रक्ताक्तमुक्ताफलं
कान्तारे बदरीधिया द्रुतमगात् भिल्लस्य पत्नी मुदा ।
पाणीभ्यामवगुहा शुक्लकठिनं तद्वीक्ष्य दूरे जहौ
अस्थाने पततामतीव महतामेतादृशो स्याद् गतिः ॥8॥
किं ते नम्रतया किमुन्नतया किं ते धनच्छायया
किं ते पल्लवलीलया किमनया चाशोक पुष्पश्रिया ।
यत्त्वन्मूलनिषण्णखिन्नपथिकस्तोमः स्तुवन्नन्वयं
न स्वादूनि मृदूनि खादति फलान्युत्कण्ठमुत्कण्ठितम् ॥9॥
दूरे मार्गान्निवससि पुनः कण्टकैरावृतोऽसि
छायाशून्यः फलमपि च ते वानरैरप्यभक्ष्यम् ।
निर्गन्धस्त्वं मधुपरहितः शाल्मले! सारशून्यः
सेवास्माकं भवति विफला तिष्ठ निश्वस्य यामः ॥10॥
हंसा पद्मवनाशया मधुलिहः सौरभ्यलाभाशया
पान्थाः स्वादुफलाशया बलिभुजो गृध्राश्च मांसाशया ।
दूरादुन्नतपुष्परागनिकरैर्निःसारमिथ्योन्नतै
रे रे शाल्मलिपादप! प्रतिदिनं के न त्वया वञ्चिताः ॥11॥
किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्र स्थिता हि तरवस्तरवस्त एव ।
वन्दामहे मलयमेव यदाश्रयेण
शाकोटनिम्बकुटजान्यपि चन्दनानि ॥12॥
निर्वाणदीपे किमु तैलदानं, चौरै गते वा किमु सावधानम् ।
वयोगते किं वनिताविलासः, पयोगते किं खलु सेतुबन्धः ॥13॥
शीतेऽतीते वसनमशनं वासरान्ते निशान्ते
क्रीडारम्भः कुवलयदृशां यौवनान्ते विवाहः ।

सेतोर्बन्धः पयसि गलिते प्रस्थिते लग्नचिन्ता
सर्वञ्चैतद्भवति विफलं स्वस्वकाले व्यतीते ॥14॥
नवं वस्त्रं नवं छत्रं नव्या स्त्री नूतनं गृहम् ।
सर्वत्र नूतनं शस्तं सेवकात्रे पुरातने ॥15॥
समायाति यदा लक्ष्मीर्नारिकेलफलाम्बुवत् ।
विनिर्याति यदा लक्ष्मीर्गजभुक्तकपित्थवत् ॥16॥

नीतिप्रदीप

रत्नाकर अपने रत्नों का क्या (उपभोग) करता है? विन्ध्याचल हाथियों से क्या करता है? मलपाचन चन्दन से क्या करता है? सज्जनों की सम्पदा परोपकार के लिये होती है ॥11॥ कान से फटकारने में दक्ष मद से अन्धी बुद्धि का गजराज भँवरों को मार कर भगा देता है। यह तो उसकी ही दोनों कनपटियों की शोभा की हानि है। भँवरे तो खिले कमलों के वन में विचरण करने लग जाते हैं ॥2॥

जिसने कमल पत्तों का हथिनी के साथ भोजन किया, स्वच्छन्द भ्रमण किया, गुफाओं में झरनों का जलपान किया, वह वनगज लोगों (के हाथों) में पड़कर घास-तिनकों से तन का पालन-पोषण कर रहा है। भाग्य ने जो ललाट के पत्र पर लिख दिया उसे पोंछने में कौन समर्थ है ॥3॥

चन्द्र-सूर्य को ग्रहों की (ग्रहण) पीड़ा, हाथी और साँप का भी बन्धन हो और मेधावी लोगों की गरीबी देखकर मुझे लगता है कि विधाता ही यहाँ बलवान है ॥4॥

केवल आकाश में विचरण करने वाले पंछी संकट पाते हैं, बहुत गहरे पानी वाले सागर से भी मच्छियाँ बाँधी जाती हैं, भाग्य के संकट में ले जाने पर क्या चरित और स्थानलाभ में क्या गुण? संकट के फैले हाथ वाला व्याल दूर से भी पकड़ लेता है ॥5॥

खिले मौलसिरी को न कुचलते हुए जो सरलता से कभी पैर नहीं धरती। हाय वही भँवरी भाग्यहीन होने पर बैर का पीछा कर रही है ॥5॥

प्यास का मारा मैं सागर के तीर गया। वह भी सूख गया तो मैंने उसे चुल्लू बना दिया। इसमें सागर का थोड़ा भी दोष नहीं दीखता। वह तो मेरा कर्मफल व्यापक हो रहा है ॥7॥

सिंह द्वारा खोदे गये हाथी के भाल से गिरे रक्त सने मोती को भिलनी प्रसन्नता से वन में बेर का फल समझकर जल्दी से ले चलती है। दोनों हाथों से छिपाकर (पोंछकर) श्वेत कठोर देखकर उसे दूर फेंक देती है। गलत स्थान पर गिरते महान लोगों की ऐसी गति होती है ॥8॥

तेरी नम्रता से क्या, तेरी उन्नति (ऊँचाई) से क्या? तेरी सघन छाया से क्या? तेरी कोमल पत्तों की लीला से क्या? और हे अशोक (वृक्ष)! तेरी इस पुष्पशोभा सम्पन्नता से क्या? क्योंकि तेरे नीचे थका बैठा पथिकसमूह तेरी प्रशंसा करते हुए भी तेरे स्वादिष्ट कोमल फलों को नहीं खाता है। इसलिए आकांक्षा में आशातुर हो जाता है ॥9॥

हे सेमल के पेड़ ! तू पथ से दूर रहता है, फिर काँटों से घिरा रहता है। छायारहित है, तेरा फल बन्दरों के खाने योग्य नहीं, गन्धहीन है तू, बिन भँवरे का है, तू निस्सार है। हमारी सेवा निष्फल हो रही है। तू ठहर (यहीं बना रह)। निश्वास (उच्छ्वास) लेकर हम तो जाते हैं ॥10॥

हे सेमल के पेड़ ! हंस कमल वन की आशा से, भँवरा सुगन्ध मिलने की आशा से, पथिक स्वादिष्ट फलों की आशा से, बलिभोग करने वाले गिद्ध मांस की आशा से दूर से ऊँचे फलों के रंग समूहों द्वारा मिथ्या असार उन्नतों द्वारा दूर से ऊँचे पुष्पों के रंग समूहों से प्रतिदिन तूने किन-किन को नहीं ठगा ॥11॥

उस सोने के पर्वत या चाँदी के पर्वत से क्या, जहाँ विद्यमान पेड़ केवल पेड़ हैं। हम तो मलय पर्वत का वन्दन करते हैं जिसके सहारे शाखोट, नीम, कुटज भी चन्दन हो जाते हैं ॥12॥

बुझ जाने पर दीपक को तेल देने से क्या ? चोर के जाने पर सावधान होने से क्या? आयु बीतने पर नारी के विलास से क्या? पानी (बह) जाने पर बाँध-बाँधने से क्या मतलब ॥13॥

अपना-अपना समय बीतने पर यह सब निष्फल हो जाता है। शीत बीतने पर कपड़ा, साँझ के समय भोजन, रात बीतने पर कमलनयना की क्रीडा का आरंभ, यौवन बीतने पर विवाह, पानी बह जाने पर बाँध बनाना और प्रस्थान करने पर लग्न (शुभ समय) की चिन्ता ॥14॥

नया वस्त्र, नया छाता, नयी नारी, नया घर सब नया अच्छा होता है। सेवक और अन्न पुराना अच्छा होता है ॥15॥

जब लक्ष्मी आती है तो नारियल के फल के पानी जैसी होती है और जब जाती है तो लक्ष्मी हाथी के खाये कबीट जैसी होती है ॥16॥

वेतालभट्ट के विकीर्ण श्लोक

- (1) मातङ्गाञ्छतशः पुषाण शतशो व्यालीसुतान्संवृणु
प्रीणीथाः शतशस्तु गण्डदृषदः श्रीखण्डशैलेच्छया ।
आस्वर्गस्थलमामहीतलमथापातालमाविष्कृतं
त्वत्कीर्तिस्तु न चन्दनक्षितिरुहादन्यः समालोक्यते ॥

श्रीधरदासकृत सदुक्ति कर्णामृत (1808)

सैकड़ों हाथियों का पालन पोषण करे, सर्पिणी के सैकड़ों बच्चों को ढककर छिपा ले, चन्दन पर्वत (मलय पर्वत) की इच्छा से सैकड़ों कनपटी के पाषाण को प्रसन्न करे। स्वर्ग, धरती और पाताल तक निर्मित आपकी कीर्ति चन्दन वृक्ष के अतिरिक्त अन्य को नहीं देखती।

- (2) वन्यो हस्ती स्फटिकघटिते भित्तिभागेषु बिम्बं
दृष्ट्वा रुष्टः प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु ।
दन्ताघाताकुलितदशनस्तत्पुनर्वीक्ष्यमाणो
मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशङ्कया साहसाङ्क ॥

वही (1597)

प्रबन्धचिन्तामणि (सं. 1361) में कालिदास आदि महाकवियों द्वारा यह स्तुति इस प्रकार उल्लिखित है-

वन्यो हस्ती गलितरदनस्तत्पुनर्वीक्ष्यमाणो
दृष्ट्वा दूरात् प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु ।
दन्ताघाताकुलितदशनस्तत्पुनर्वीक्ष्यमाणो
मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशङ्कया साहसाङ्क ॥

हे साहसांक ! आपके शत्रुओं के भवनों में स्फटिक से बनी भित्तियों पर दूर से अपना बिम्ब देखकर शत्रु गज समझकर दाँतों की चोट से अपने दाँतों को आहत कर फिर ध्यान से देखकर हथिनी की शंका से उसे धीरे-धीरे छूता है।

स्वयम्भूछन्दस् (1-84-1) में वेताल (वेताल) के प्राकृत छन्द का उल्लेख पाया जाता है।

णिच्चं णमो वीअराआ । एवमाइत्ति ।
(नित्यं नमो वीतरागाय । एवमादीति)

इस उक्ति में जैन धर्म के प्रति आस्था प्रकट की गयी है।

